

पूज्य पितामह

श्री गोवर्धन जी शास्त्री

तथा

गुरुवर

प्रो० चन्द्रशेखर जी पाण्डेय

(भू० पू० अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, सनातनधर्म कालेज, कानपुर)

की

दिवंगत आत्माओं

को

सादर समर्पित

भक्त्या भिवन्दनम्

काशीनाथप्रपदविहिताव्याजभक्तिप्रपूर्णो,
गौरीमातृस्तनभरगलत्पुण्यपीयूषपुष्टः ।
विद्याधाम प्रविततशुभाऽऽनन्दिनीसिद्धियुक्तो,
देवः श्रेयो दिशतु सुचिरं कोऽपि गोवर्धनो मे ॥ १ ॥

नमद्वृन्दीनाथप्रमुखबहुसामन्तनिकरे-
रलं मौलिस्यूतोन्मुखमणिमयूखैस्तरलितः ।
प्रभां का मातन्वन् नखविधुरराजत् पदयुगे,
तदीयः पौत्रोऽयं नमति पितरं ब्रह्मधिषणम् ॥ २ ॥

कृतो विद्यारम्भः शुकमुखगलत्कृष्णचरिता-
मृतास्वादेनैवाऽल्पवयसि यदङ्के स्थितवता ।
गिरा गीर्वाणानामलभि कृपया यस्य विमला,
तमेषोऽहं वन्देऽपरमिव गुरुं तातपितरम् ॥ ३ ॥

श्रीचन्द्रशेखरकृपातितिमेव लब्ध्वा,
नाट्यं चकार सरसं भरतोऽपि हृद्यम् ।
अस्त्यद्भुतं किमिह तत्कृपयैव सैषा,
व्याख्या कृतास्ति मयका दशरूपकेऽस्मिन् ॥ ४ ॥

सरःस्वतीपूतसरःसु मज्जतोरहर्निशं ज्ञानततिं वितन्वतोः ।
दिवि प्रकामं च सुरत्वमश्नतोस्तयोः पदाब्जे निहिता नया कृतिः॥५॥

---

१. गोवर्धन इति व्याख्यातुः पितामहा महोपाध्याया गोवर्धनशास्त्रिणः । एतेषां पितरः व्याकरणवाचस्पतयः श्रीकाशीनाथशास्त्रिणः, माता च गौरी नाम्नी । अत्र शब्द-शक्तिमूलकेन ध्वनिना (व्यञ्जनया) पितामहानां देवदेवस्य गणपतेश्च उपमानोपमेय-भावो व्यज्यते । अपरञ्च, 'प्रवितत' इत्यादिपदे 'आनन्दिनी'ति मत्पितामही, गोवर्धन-शास्त्रिणां दाराः; अस्मिन् पक्षे 'आनन्दिनी एव सिद्धिस्तया युक्त' इति योज्यम् । गण-पतिपक्षे तु आसमन्तात् नन्दिनी एतादृशी (चासौ) सिद्धिर्गणपतिवधूः तया सह इति यथाप्रसंगं योजनीयम् । गणेशपक्षे 'गोवर्धन' इति पदं 'गां वर्धयतीति' व्युत्पत्त्या सुष्ठु परिणमति । 'कोपीति' पदद्वयेन भगवतो गणपतेः पितामहचरणानाञ्च महामहित्वं द्योत्यत इति दिक् । २. नखविधुरित्यत्र जातावेकवचनम् । ३. अनेन मम प्रथमे गीर्वाण-वाणीगुरवः पितामहपादा एव आसन्निति सूच्यते । तैरेव भागवत-कौमुदी-रघुवंशादयो मन्या पाठिताः । ४. श्रीचन्द्रशेखरशास्त्रिणः पाण्डेया अनुवादकस्यालङ्कारशास्त्रे नाट्यशास्त्रे च गुरव आसन् । ५. 'मया इत्यर्थः' । ६. तयोः, पितामहानां, चन्द्रशेखरशास्त्रिणां चेति भावः । शिवगणेशयोरित्यपि प्रसङ्गेन व्यज्यत एव । ७. 'पदाब्जे' इति जातावेकवचनम् ।

विषय-सूची

भूमिका 1-41

संस्कृत नाटक की उत्पत्ति व विकास—नाटक का मूल अनुकरणवृत्ति—भारतीय मत—वैदिक संवादों में नाटकीय तत्त्व—पाश्चात्य विद्वानों के मत—पाणिनि, पतञ्जलि तथा कामसूत्र से नाटकों की स्थिति का संकेत—नाट्यशास्त्र का संक्षिप्त इतिहास—भरत—भरत के व्याख्याकार—धनञ्जय तथा धनिक का ऐतिहासिक परिचय—नाट्यशास्त्र के परवर्ती ग्रन्थ।

ग्रन्थ का संक्षेप—रूपक उनके भेद व भेदक तत्त्व—कथावस्तु या इतिवृत्त—अर्थप्रकृति, अवस्था, सन्धि तथा सन्ध्यङ्ग—संस्कृत नाटकों में दुःखान्त नाटकों के अभाव का कारण—विष्कम्भक तथा प्रवेशक—पताका तथा पताकास्थानक—संवाद के प्रकार, स्वगतादि भेद—नेता के धीरललितादि तथा दक्षिणादि भेद—नायक का परिच्छद—नायिका—भेद का आधार—रस की पुष्टि—रस के सम्बन्ध में मत—लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक तथा अभिनव के मत—धनञ्जय का मत—रसविरोध तथा उसका परिहार।

धनञ्जय व धनिक की मान्यताएँ—व्यञ्जना का खण्डन—रस वाक्यार्थ है—रस तथा विभावादि में भाव्यभावक सम्बन्ध है—धनञ्जय के मत में लोल्लट, शंकुक तथा भट्टनायक के मतों का मिश्रण—शान्त रस के सम्बन्ध में धनञ्जय के विचार।

प्राचीन भारतीय रङ्गमञ्च।

प्रथम प्रकाश 1-72

मंगलाचरण तथा ग्रन्थ के उद्देशादि का विवेचन—रूपक परिभाषा व भेद—नृत्य तथा नृत्त के भेद—इतिवृत्त के दो भेद—पताका तथा पताकास्थानक—५ अर्थप्रकृतियाँ—५ अवस्थाएँ—५ सन्धियाँ—मुखसन्धि लक्षण तथा १२ अङ्ग—प्रतिमुखसन्धि लक्षण तथा १३ अङ्ग—गर्भसन्धि लक्षण तथा १२ अङ्ग—अवमर्शसन्धि लक्षण तथा १३ अङ्ग—निर्वहण सन्धि लक्षण तथा १४ अङ्ग—वस्तु का दृश्य तथा सूच्य भेद—सूच्य वस्तु के सूचक ५ अर्थोपक्षेपक—विष्कम्भक के दो भेद—प्रवेशक, चूलिका, अङ्कास्य तथा अङ्कावतार—वस्तु के सर्वश्राव्य, अश्राव्य तथा नियतश्राव्य ये तीन भेद—आकाशभाषित—उपसंहार।

द्वितीय प्रकाश 73-142

नायक का लक्षण—उसके ४ भेद—धीरललित, धीरशान्त, धीरोदात्त, धीरोद्धत—शृङ्गारी नायक के ४ भेद—दक्षिण, शठ, धृष्ट तथा अनुकूल—उसके सहायक, विट, विदूषक, प्रति-

नायक, नायक के सात्त्विक गुण–नायिका के भेद, स्वीया, परकीया तथा सामान्या–मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा तथा ज्येष्ठा कनिष्ठा आदि १३ भेद–अवस्था के आधार पर नायिका के स्वाधीनपतिकादि ८ भेद। नायिका की सहायिकाएँ–नायिका के २० अलङ्कार–नायक के धर्मादि कार्य में सहायक–नायक के व्यवहार (वृत्ति) कैशिकी, कैशिकी के ४ अङ्ग–सात्त्वती, उसके अङ्ग–आरभटी, उसके अङ्ग–नाटक में पात्रों के उपयुक्त संस्कृत, शौरसेनी प्राकृत तथा मागधीप्राकृत के प्रयोग का नियम–पात्रों के आमन्त्रण (सम्बोधन) का प्रकार।

तृतीय प्रकाश १४३ १७५

नाटक–पूर्वरङ्ग–भारती वृत्ति–भारती के प्ररोचनादि भेद–प्रस्तावना (आमुख) के तीन प्रकार–वीथ्यङ्ग–नाटक का इतिवृत्त–नायकानुचित इतिवृत्तांश का परित्याग–अङ्क-विधान–नाटक में वीर तथा शृङ्गार रस–अङ्कों में पात्रों की संख्या व प्रवेश तथा निर्गम–प्रकरण–नाटिका–भाण–प्रहसन–डिम–व्यायोग–समवकार–वीथी–अङ्क–ईहामृग।

चतुर्थ प्रकाश १७६–२८२

रस–विभाव–आलम्बन तथा उद्दीपन–अनुभाव–भाव का लक्षण–सात्त्विक भाव–व्यभिचारी भाव–३३ व्यभिचारियों का सोदाहरण लक्षण–स्थायीभाव तथा भाव–विरोध पर विचार–शान्तरस तथा उसके स्थायी शान्त का निषेध–भावादि का काव्य से सम्बन्ध–व्यञ्जनावादी के पूर्वपक्षी मत का उद्धरण–सिद्धान्तपक्ष की स्थापना–काव्य का वाक्यार्थ स्थायीभाव ही है–रस सामाजिक में रहता है–रसास्वाद के प्रकार–आस्वाद का लक्षण तथा भेद–आठ रसों की संज्ञा–शान्तरस के विषय में पुनः विचार–शृङ्गार रस–संयोग तथा अयोग शृङ्गार–अयोग शृङ्गार के ३ भेद–प्रवास, प्रणयमान तथा ईर्ष्यामान–मान के हटाने के उपाय–करुण तथा अयोग शृङ्गार का भेद–वीररस–बीभत्सरस–रौद्ररस–हास्यरस–हास्य के ६ भेद–अद्भुत रस–भयानक रस–करुणरस–प्रीति, भक्ति आदि का इन्हीं में अन्तर्भाव–मृगयादि का भी इन्हीं में अन्तर्भाव–उपसंहार।

दो शब्द

धनञ्जय के 'दशरूपक' की यह हिंदी व्याख्या आज से कई वर्ष पूर्व ही प्रकाशित हो जानी चाहिये थी, पर समय के अनुकूल न होने से ऐसा न हो पाया। प्रकाशक महोदय ने आज से चार वर्ष पूर्व मुझसे इसकी हिंदी व्याख्या करने को कहा था। उन्हीं दिनों मैंने दशरूपक का कार्य आरम्भ भी कर दिया था, किन्तु लन्दन विश्वविद्यालय के स्कूल आव् ओरियन्टल स्टडीज के निमन्त्रण पर मुझे भाषाविज्ञान विषयक गवेषणा के लिए वहाँ जाना पड़ा। इसलिए अनुवाद कार्य खटाई में पड़ गया। लन्दन से लौटने के बाद मैं पी. एच. डी. उपाधि के थीसिस में व्यस्त रहा। जब मैंने अपना आजीविका-क्षेत्र ही बनारस चुना, तो प्रकाशक महोदय ने पुरानी बात याद दिलाई, और मुझे दशरूपक के अधूरे पड़े अनुवाद को पूरा कर देने को प्रोत्साहित किया।

नाट्यशास्त्र के इतिहास में धनञ्जय का दशरूपक एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। भरत के नाट्यशास्त्र के रूपकविषयक सिद्धान्तों का संक्षिप्त किन्तु सर्वाङ्गीण विवेचन इसकी विशेषता है। यह ग्रन्थ बाद के नाट्यशास्त्र तथा रसशास्त्र के ग्रन्थ-प्रतापरुद्रीय, एकावली, साहित्यदर्पण, नाट्यदर्पण, रसमञ्जरी का उपजीव्य रहा है। ऐसे ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद आवश्यक था। अंग्रेजी भाषा में हॉस ने इसका अनुवाद प्रकाशित कराया था, किन्तु वह केवल कारिकाओं का ही अनुवाद है। मेरी ऐसी धारणा है, कि धनञ्जय की कारिकाएँ स्वतः अपूर्ण हैं। धनिक के अवलोक के बिना वे अधूरी ही हैं, तथा नाट्यशास्त्र का आवश्यक ज्ञान अवलोकयुक्त दशरूपक के अध्ययन पर ही हो सकता है। अतः यहाँ पर मैंने सावलोक दशरूपक की व्याख्या की है।

कारिका, वृत्ति तथा उदाहरणों की व्याख्या करने में मूल का सदा ध्यान रखा गया है। किन्तु भिन्न-भिन्न स्थलों पर आवश्यकतानुसार भिन्नता मिल सकती है। कारिकाभाग तथा वृत्तिभाग में एक ही बात के कहे जाने पर, तथा वृत्तिभाग में विशेषता न होने पर कहीं कहीं दोनों की एक साथ ही व्याख्या कर दी गई है। इसका कारण है, पुनरुक्ति दोष से बचना। वृत्तिभाग के शास्त्रार्थ स्थलों को स्पष्टरूप से समझाने की चेष्टा की गई है। इन स्थलों में मूल भाव की अवहेलना न करते हुए भाव को स्पष्ट किया गया है। ऐसे स्थलों पर पुनरुक्ति को दोष न समझ कर कभी कभी एक ही बात को दो तीन ढङ्ग से समझाया गया है, जिससे हिन्दी के पाठक संस्कृत साहित्य की

शैलीतत्त्वप्रणाली को हृदयङ्गम कर सकें। उदाहरणों की व्याख्या में दो शैलियाँ मिलेंगी। कुछ स्थलों पर पद्यों का शाब्दिक अनुवाद ही किया गया है, तो अन्य स्थलों पर पद्यों के भाव को स्वतन्त्र रूप से स्पष्ट करते हुए पद्य की व्याख्या की गई है। यह शैलीभेद विषय को ध्यान में रखकर किया गया है। व्याख्या में पण्डिताउपन को बचाने की कोशिश की गई है, तथा भाषा में इस दोष को न आने दिया है। किन्तु कुछ स्थलों पर, संस्कृत की शाब्दिक परम्परा का अनुवाद (विशेषरूप से) अक्षरशः स्पष्ट करने के कारण, पण्डिताउपन आ गया हो, तो क्षम्य है। भाषा को प्रवाहमय रखने के कारण कहीं कहीं अरबी-फारसी के प्रचलित शब्दों का प्रयोग हो गया है, किन्तु यह उदाहरणों के अनुवाद में उनके भावों की अभिव्यञ्जना को विशेष स्पष्ट करने में सहायक सिद्ध हुआ है और ऐसे ही स्थलों पर इनका प्रयोग किया गया है।

इस अनुवाद को पण्डित-मण्डली के सम्मुख रखते हुए मैं यह दावा नहीं करता कि यह अनुवाद दोषरहित है। अपनी वस्तु किसे बुरी लगती है। मुझे इसके कई दोष नजर न आये हों। मैं साहित्यशास्त्र के वदोण्य विद्वानों से प्रार्थना करूँगा कि उन दोषों को निर्दिष्ट करने की कृपा करें, जिससे भावी संस्करण में मैं उन्हें हटा सकूँ।

इस अनुवाद को मैं अपने संस्कृत-साहित्य के प्रथम गुरु, अपने पितामह महोपाध्याय पं० गोवर्धन जी शास्त्री की दिवंगत आत्मा को, तथा अपने भारतीय साहित्यशास्त्र एवं नाट्यशास्त्र के आचार्य प्रो० चन्द्रशेखर जी पाण्डेय एम. ए., शास्त्री, भूतपूर्व अध्यक्ष, संस्कृतविभाग, सनातन धर्म कॉलेज, कानपुर की स्वर्गत आत्मा को, श्रद्धाञ्जलि के रूप में भेंट कर रहा हूँ।

काशी दीपावली
सं० २०२१

भोलाशंकर व्यास

भूमिका

(१)

संस्कृत नाटक–उत्पत्ति व विकास

मानव में स्वभाव से ही अनुकरण वृत्ति पाई जाती है। छोटे बच्चों की अविकसित चेतना में भी इसका बीज रूप देखा जाता है। मानव ही नहीं कई पशुओं में भी, विशेषतः बन्दरों में हम इस अनुकरणवृत्ति को मजे से देख सकते हैं। लन्दन के म्यूजियम के चिम्पैंजीज हमारी तरह कुर्सी टेबिल पर बैठ कर प्याले–तश्तरी से चाय पीते हैं, और कभी कभी तो कोई चिम्पैंजीज सुलगी हुई सिगरेट को देने पर अभ्यस्त व्यक्ति की तरह धूम्रपान भी करता हुआ देखा जा सकता है। वैसे मैं डार्विन के विकासवाद का उस हद तक कायल नहीं, जितना कि लोग उसके सिद्धान्त के रबड़ को खींच कर बढ़ाते नजर आते हैं, पर इस विषय में मेरी धारणा आधुनिक जीवशास्त्रियों तथा मनःशास्त्रियों से मिलती है, कि चेतना की अविकसित स्थिति में भी हम अनुकरण-वृत्ति के चिह्न पा सकते हैं। मैं इस भूमिका को लिखने में व्यस्त हूँ, पीछे मेरी छोटी बच्ची जिसकी अवस्था डेढ़ वर्ष से भी कम ही है, मेरे चप्पलों को दोनों पैरों में पहनने की चेष्टा कर रही है। यही नहीं, मुझे रेडियो के वोल्यूम–कन्ट्रोलर को घुमाते देखकर, वह भी वोल्यूम–कन्ट्रोलर घुमाना चाहती है, यदि कभी कभी उसकी इस चेष्टा में बाधा उपस्थित की जाती है, तो वह रुदन के द्वारा उसकी प्रतिक्रिया करती है। बच्चों ही नहीं, बड़ों में भी दूसरे लोगों की चाल–ढाल, रहन–सहन, बोलने का ढंग आदि का व्यंग्यात्मक अनुकरण देखा जाता है। यह क्यों?

अनुकरण वृत्ति का एकमात्र लक्ष्य आनन्द प्राप्त करना, मन का रञ्जन करना ही माना जा सकता है। अज्ञात रूप से मेरी छोटी बच्ची भी हमारी क्रिया–प्रतिक्रियाओं का, व्यवहार का, अनुकरण कर, अपनी मनस्तुष्टि ही सम्पादित किया करती है। हमारे नवयुवक, जिन्हें बड़े–बूढ़ों की हरकतों की नकल कर अपने दिल को बहलाया करते हैं। दिल बहलाना ही इसका एकमात्र कारण है। दिल बहलाने वाली वस्तु में हमें एकाग्रचित्त करने की क्षमता होती है, और कुछ क्षण तक वह हमें केवल मनोराज्य में ही विचरण कराती है। उस विषय के अतिरिक्त दूसरे विषयों से जैसे हम कुछ क्षणों के लिए अलग से हो जाते हैं। यहाँ मैं साधारण 'मनोरञ्जन' की बात कह रहा हूँ, काव्य के रसास्वाद को हम शत प्रतिशत रूप में इस कोटि का नहीं मान सकते, क्योंकि उसमें 'दिल बहलाने के अलावा' कुछ 'और' भी है, और वह कुछ और उससे कम महत्त्वपूर्ण नहीं।

काव्य या कला में भी अनुकरणवृत्ति को मूल कारण मानना अनुचित न होगा। सम्भवतः इसीलिए पाश्चात्य दार्शनिक अरस्तू ने तो 'कला को अनुकरण'[1] ही माना। जहाँ तक नाटक का प्रश्न है, उसमें तो अनुकरण स्पष्टतः दिखाई पड़ता है। धनंजय की नाट्य तथा रूपक की परिभाषाएँ इस बात को अच्छी तरह स्पष्ट कर देती हैं—
'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्', 'रूपकं तत्समारोपात्'।

काव्य और ललित कला; विशेषतः नाटक, मानव तथा मानवेतर प्रकृति का अनुकरण कर उसके द्वारा आनन्द की उत्पत्ति या रसोद्बोध करते हैं। वे केवल बाह्य प्रकृति का ही अनुकरण नहीं करते, किन्तु मानव की अन्त प्रकृति को, उसके मानसिक भावों को भी अनुकृत करते हैं। एक कुशल मूर्तिकार या चित्रकार न केवल किसी सुन्दरी के अवयवों का सुन्दर चित्रण कर सजीवता की अनुकृति करता है, किन्तु उसके मुखमण्डल, नेत्र आदि का टङ्कन या अङ्कन इस प्रकार का करता है, कि वे उसके मनोगत भावों की व्यञ्जना कराने में समर्थ होते हैं। इसी तरह कुशल कवि अपने पात्र के मनोगत रागादि को भी ठीक उसी तरह वर्णित करता है, जैसे उसके बाहरी रूप को। नाटक की सफलता भी तभी मानी जाती है, जब कि नाटककार ने पात्रों की आभ्यन्तर प्रकृति को सुन्दर तथा मार्मिक रूप से अभिव्यक्त किया हो। भारतीय अलङ्कारशास्त्र में रस-सिद्धान्त की महत्ता इसी ओर सङ्केत करती है, और दृश्य काव्य के क्षेत्र में रस की आत्मरूप में प्रतिष्ठा भरत मुनि के भी बहुत पहले ही-नन्दिकेश्वर या और किन्हीं आचार्यों के द्वारा-हो चुकी थी। इस प्रकार नाटक का एकमात्र लक्ष्य मानव तथा मानवेतर प्रकृति का चित्रण ही है।

आजकल की समाजशास्त्रीय प्रगति ने काव्य के उद्भव के विषय में कई नई बातें खोज निकाली हैं। उनका कहना है, कि आदिम सभ्यता वाले लोगों में प्रकृति के रहस्यात्मक तत्त्वों की ओर जिज्ञासा का भाव रहता है। वे इसे समझने की चेष्टा करते हैं। यह जिज्ञासा-वृत्ति आदिम सभ्यता वाले लोगों में जादू की धारणा को उत्पन्न करती है। जादू को समाजशास्त्री काव्य या सङ्गीत के ही नहीं, भाषा के विकास में भी एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व मानते हैं। जादू के द्वारा प्रकृति को अपने वश में करने की प्रक्रिया में नृत्य, गीत तथा उत्सव की दूसरी कर्मकाण्डपद्धति का प्रयोग कई आदिम सभ्यता वाली जातियों में पाया जाता है। समाजशास्त्री इन्हीं उत्सवों में नाटक के भी बीज ढूंढने की चेष्टा करेंगे। अस्तु,

भारतीय परम्परा के अनुसार जैसा कि नाट्यशास्त्र में बताया गया है, नाटक की उत्पत्ति त्रेतायुग में ब्रह्मा के द्वारा की गई थी। सतयुग में लोगोंको किन्हीं मनोरञ्जन के साधनों की आवश्यकता न थी। त्रेतायुग में देवता लोग ब्रह्मा के पास गये, और उनसे प्रार्थना की कि वे किसी ऐसे वेद की रचना करें, जो शूद्रों के द्वारा भी अनुशीलित हो सके, क्योंकि शूद्रों के लिए निःश्रेयस् का कोई साधन न था, वेदाध्ययन

---
1. Art is imitation —Aristotle.

उनके लिए निषिद्ध था। इस पर ब्रह्मा ने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद के आधार पर ही पंचम वेद–नाट्यवेद–की रचना की। इस पंचम वेद में चार अङ्ग पाये जाते हैं —पाठ्य, गीत, अभिनय तथा रस। इन चारों तत्त्वों को ब्रह्मा ने क्रमश ऋक्, साम, यजुष् तथा अथर्ववेद से ग्रहीत किया।[1] इसके बाद ब्रह्मा ने विश्वकर्मा को एक नाट्यगृह बनाने का आदेश दिया, तथा भरत मुनि को इस कला को सम्पादित करने तथा उसकी शिक्षा देने को कहा। ब्रह्मा ने भरत मुनि को सौ शिष्य तथा सौ अप्सराएँ भी इसलिए सौंपी, कि मुनि उन्हें नाट्यकला की व्यावहारिक शिक्षा दें। इस काम में शिव तथा पार्वती ने भी हाथ बँटाया। शिव ने नाट्य में ताण्डव नृत्य का, तथा पार्वती ने लास्य नृत्य का समावेश किया।

नाट्यवेद के विकास के विषय में यह कल्पना कम से कम एक बात की पुष्टि अवश्य करती है, कि भरत के नाट्यशास्त्र की रचना के पूर्व भारतीय नाटक तथा भारतीय रङ्गमञ्च पूर्णत विकसित हो चुके थे। पर, भरत का नाट्यशास्त्र कब लिखा गया? इस प्रश्न का उत्तर हमें खोजना पड़ेगा। भरत के नाट्यशास्त्र की रचनातिथि, तथा महत्ता पर हम आगे प्रकाश डालेंगे। यहाँ तो हमें केवल यह बताना था कि भारतीय परम्परा नाटकों की दैवी उत्पत्ति मानती है।

नाटकों के कई तत्त्वों में से दो तत्त्व विशेष प्रमुख हैं, संवाद तथा अभिनय। संवाद वाले तत्त्व को हम, भारत के प्राचीनतम साहित्य–ऋग्वेद, में ढूँढ सकते हैं। इस तरह नाटक के बीज वेदों में भले से मिल सकते हैं। ऋग्वेद में लगभग १५ सूक्त ऐसे हैं, जिनमें संवाद का तत्त्व पाया जाता है। इन्द्र–मरुत्–संवाद (१।१६५; १।१७०), विश्वामित्र–नदी–संवाद (३।३३), पुरुरवस्–उर्वशी–संवाद (१०।९५), तथा यम–यमी–संवाद (१०।१०) इनमें प्रमुख हैं। वैसे दूसरे संवादों का भी उल्लेख किया जा सकता है, जैसे इन्द्र, इन्द्राणी तथा वृषाकपि का संवाद (१०।८६), अगस्त्य तथा उनकी पत्नी लोपामुद्रा का संवाद (१।१७९)। इन संवादों के आधार पर मैक्स-मूलर ने यह मत प्रकाशित किया था, कि इन सूक्तों का पाठ, यज्ञ के समय इस ढङ्ग से किया जाता रहा होगा, कि अलग अलग ऋत्विक् अलग पात्र (मरुत् या इन्द्र) बनकर मन्त्रों (संवादों) का उच्चारण करते होंगे। प्रोफेसर सिल्वाँ लेवी ने भी इस मत की पुष्टि की है, तथा ऋग्वेद काल में अभिनय की स्थिति मानी है। उनका मत है, कि उस काल में देवताओं के रूप में, यज्ञादि के समय, नाट्याभिनय अवश्य होता होगा।[2]

लेवी तथा मैक्समूलर ही नहीं, श्रोएडर तथा हर्तेल भी इसी मत के हैं, कि ऋग्वेद के सूक्तों में अभिनय तथा संवाद के तत्त्व विद्यमान हैं, जो नाटकों के बीज हैं। हर्तेल का मत है कि वैदिक सूक्त गेय रूप में प्रचलित रहे हैं। अत विभिन्न वक्ताओं

१. जग्राह पाठ्यं ऋग्वेदात् सामभ्यो गीत मेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि॥ (भरत नाट्यशास्त्र १.)

२ कीथ संस्कृत ड्रामा पृ १५–१६.

२ द० भू०

के भेद का प्रदर्शन एक ही गायक (या पाठक) के द्वारा नहीं हो सकता था। इसलिए ऐसे सूक्तों का, जिनमें एक से अधिक वक्ता पाये जाते थे, अनेक पाठकों के द्वारा पढ़ा जाना असंभव नहीं। इस प्रकार ये सूक्त नाट्यकला के आरम्भ कहे जा सकते हैं। श्रोएदर ने ऋग्वेद से कुछ सूक्त उपस्थित किये हैं, जिनको वे नाटक का आदिम रूप मानते हैं, तथा गेय एवं अभिनय दोनों तत्त्वों को वहाँ ढूँढ़ते हैं। ऋग्वेद के मण्डूक सूक्त (७।१०२) के बारे में वे कहते हैं, कि ब्राह्मण लोग मेंढकों से भरे तालाब में खड़े होकर इस सूक्त को गाते होंगे। ऋग्वेद के नवम मण्डल के ११२ वें सोम सूक्त के विषय में भी उनका यही मत है। किन्तु ये दोनों ऊपरी मत निःसार हैं।

डॉ० कीथ ने इन दोनों मतों का खण्डन किया है। वे इन संवादों को नाटकीय संवाद न मान कर कर्मकाण्ड तथा पौरोहित्य धर्म के संवाद मानते हैं। वस्तुतः कर्मकाण्डीय परिपाटी को नाटकीय मान बैठना ठीक नहीं। साथ ही श्रोएदर आदि विद्वानों का यह कहना कि ये सूक्त गाये जाते थे, ठीक नहीं जान पड़ता। गेय तत्त्व के लिए तो सामवेद के मन्त्र थे। ऋग्वेद के मन्त्रों का 'उद्गीथ' न होकर 'शंसन' होता था। हाँ इतना माना जा सकता है, कि ऋग्वेद के इन संवादों में नाटक के बीज विद्यमान हैं, पर इन्हें नाटक का स्थानापन्न मानना ठीक नहीं।

प्रो० श्रोएदर आदि के मत का खण्डन अन्य विद्वानों ने भी किया है। श्री सीताराम जी चतुर्वेदी ने अपने 'अभिनवनाट्यशास्त्रम्' में बताया है, कि नाटक स्वतः एक यज्ञ है, अतः इसे ऋग्वेद के उन सूक्तों का आधार मानकर किसी दूसरे यज्ञ का अङ्ग कैसे माना जा सकता है। साथ ही श्रोएदर आदि नाटक, नृत्य तथा संवाद सभी को एक मान बैठते हैं। कोरा नाच या कोरा संवाद नाट्य कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि नाट्य में सात्त्विक, आङ्गिक, वाचिक तथा आहार्य चारों प्रकार के अभिनयों के द्वारा रससृष्टि की जाती है। उन्होंने अपने मत का प्रदर्शन करते समय यह भी बताया है कि यूरोप वाले विद्वान् प्रत्येक स्थान पर विकासवाद का सिद्धान्त लागू करते हैं, और भारतीय नाटकों की परम्परा का अध्ययन भी इसी आधार पर करते हैं। ऐसा करना ठीक नहीं जान पड़ता। कुछ भी हो, ऋग्वेद के संवादों में नाटक के बीज मानने में कोई अनुचित बात नहीं है।

नाच को नाटक का पूर्वरूप मानने वालों में मैकडोनल भी हैं। उनकी कल्पना है, कि संस्कृत के नट तथा नाटक शब्द 'नट्' धातु से निकलते हैं। यह धातु संस्कृत के 'नृत्' (नाचना) धातु का ही प्राकृत या देशीरूप है। किन्तु यह मत ठीक नहीं है। संस्कृत में नट् तथा नृत् दोनों भिन्न धातु हैं, साथ ही नाट्य, नृत्य तथा नृत्त तीनों शब्दों का अर्थ भी अलग अलग है। दशरूपकार ने वाक्यार्थमय अभिनय के द्वारा रससृष्टि करने को नाट्य माना है (वाक्यार्थाभिनयं रसाश्रयं)। इसी तरह केवल शब्दार्थ का अभिनय कर भावप्रदर्शनमात्र करने को नृत्य तथा ताल लय के साथ हस्त-पाद सञ्चालन का नृत्त कहा है। वे बताते हैं कि ये तीनों भिन्न भिन्न हैं—'अन्यद्

भावाश्रयं नृत्यमन्यत् ताललयाश्रयम्'। यह दूसरी बात है कि नृत्य तथा नृत्त दोनों ही, जिन्हें हम क्रमशः शास्त्रीय मार्ग तथा देशी भी कह सकते हैं, नाटक के उपस्कारक हो सकते हैं। इसी बात को दशरूपककार कहते हैं:—

मधुरोद्धतभेदेन तद्द्वयं द्विविधं पुनः।
लास्यताण्डवरूपेण नाटकाद्युपकारकम्॥

दशरूपककार की साखी पर मैकडोल का नाच और नाटक को एक मान लेने वाला मत धाराशायी हो जाता है।

एक दूसरा मत प्रो० पिशेल का है, जो भारतीय नाटकों की उत्पत्ति पुतलियों के नाच, पुतलिकानृत्य-से मानते हैं। प्रो० पिशेल ने बड़े विस्तार के साथ यह बताया है, कि यूनान में प्राचीन नाटकों के पहले पुत्तलिका का प्रचलन नहीं था, अतः वहां के नाटकों को इसका विकसित रूप नहीं मान सकते। भारत में इनका प्रचार बहुत पुराना रहा है। महाभारत में पुतलियों का वर्णन मिलता है। कथासरित्सागर में भी इन पुतलियों का बड़ा वर्णन है। प्रो० पिशेल ने तो भारतीय नाटक के सूत्रधार की 'संज्ञा' को भी इनसे जोड़ने की चेष्टा की है। वे कहते हैं, कि पुतलियों को नचाते समय नचाने वाला उनके डोरों को-सूत्र को-पीछे से पकड़े रहता है। इसलिए वह 'सूत्रधार' कहलाने लगा, और यही नाम नाटक के प्रयोक्ता को भी दे दिया गया। प्रो० पिशेल के इस मत का खण्डन एक दूसरे पाश्चात्य विद्वान् रिजवे ने ही कर दिया है। 'सूत्रधार' शब्द की पिशेल वाली व्युत्पत्ति के बारे में कहा जा सकता है कि 'सूत्रधार' नाटक की कथावस्तु, नायक, रस आदि का सूत्र (संक्षेप) में वर्णन करता है, इस लिए सूत्रधार कहलाता है, डोरे को पकड़ने के कारण नहीं। शारदातनय ने अपने 'भावप्रकाश' में इस शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है —

सूचयन् काव्यनिक्षिप्तवस्तुनेतृकथारसान्।
नान्दीश्लोकेन सम्यक्ते सूत्रधार इति स्मृतः॥

डॉ० पिशेल एक दूसरा मत भी रखते हैं। इस मत के अनुसार नाटकों का विकास छाया-नाटकों से हुआ है। वाकर्नल कोनो भी इस मत के समर्थक हैं। संस्कृत में कुछ छायानाटक पाये जाते हैं, जिनमें 'दूताङ्गद' विशेष प्रसिद्ध है। छायानाटक में महीन पर्दे के पीछे वास्तविक अभिनेताओं या मूर्तियों के द्वारा अभिनय दिखाया जाता है, सामाजिक पर्दे पर उनकी छायामात्र देखता है। दूताङ्गद आदि संस्कृत के दो चार परवर्ती छायानाटकों के आधार पर भारतीय नाटकों का विकास छायानाटकों से मानना ठीक नहीं जान पड़ता।

कुछ विद्वान् वीरपूजा या इन्द्रध्वज उत्सव जैसे धार्मिक उत्सवों से नाटक का विकास मानते हैं, पर यह ठीक नहीं। संस्कृत के कई नाटकों में वीररस नहीं पाया जाता, उन्हें वीरपूजात्मक कैसे कहा जा सकता है। न यूनानी नाटकों की तरह भारतीय नाटक धार्मिक उत्सव से ही विकसित हुए हैं। कुछ लोग भारतीय नाटकों को यूनानी

नाटकों की देन कहते हैं। वे यह भी बताते हैं कि संस्कृत नाटकों में पर्दे के लिए प्रयुक्त 'यवनिका' शब्द 'यवन' से बना है, जो 'यूनानी' के लिए प्रयुक्त होता था। अतः इस शब्द से भारतीय नाटकों के यूनानी नाटकों के ऋणी होने का संकेत मिलता है। पर यह कल्पना बहुत दूर की है। यूनानी नाटक तो खुले मैदान में होते थे, वहां कोई पर्दा भी नहीं होता था। फिर भारत के नाटकों के पर्दों को 'यवन' से शब्द से सम्बद्ध करना, यूनानी नाटकों से कोई सम्पर्क नहीं रखता जान पड़ता। इस मत के प्रतिष्ठापक वेबर का खण्डन डा० कीथ ने ही कर दिया है। भारत की प्रत्येक साहित्यिक कलात्मक या शास्त्रीय समृद्धि में यूनानी बीज ढूंढना पाश्चात्य विद्वानों का प्रमुख-किन्तु निःसार-लक्ष्य रहा है।

वेदों के बाद महाभारत तथा रामायण में नाटकों का सङ्केत ढूंढा जा सकता है। कीथ के मतानुसार महाभारत तथा रामायण के नट शब्दों ही के आधार पर इस काल में नाटकों का अस्तित्व नहीं माना जा सकता। रामायण में नाटक तथा नट शब्दों का प्रयोग पाया जाता है। आरम्भ में ही अयोध्या के वर्णन में महर्षि वाल्मीकि ने बताया है कि वहाँ नाटक की मण्डलियाँ तथा वेश्याएँ थीं (वधूनाटकसंघैश्च संयुक्ताम्)। राम के अभिषेक के समय भी रामायण में नटों, नर्तकों, गायकों आदि का उपस्थित होना तथा अपनी कलाकुशलता से लोगों को प्रसन्न करना लिखा है —

नटनर्तकसंघानां गायकानां च गायताम्।
यतः कर्णसुखा वाचः शुश्राव जनता ततः॥

महाभारत में नट, शैलूष आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है, और उसके हरिवंश पर्व के ९१ से ९७ अध्याय तक तो नाटक खेले जाने का भी सङ्केत है। वज्रनाभ नामक दैत्य का वध करने के लिए श्री कृष्ण तथा यादवों ने कपट-नटों का वेष धारण कर उसकी पुरी में जाकर रामायण का नाटक खेला। रामायण नाटक के अतिरिक्त इन्होंने कौवेररम्भाभिसार नाटक भी खेला। नाटक का अभिनय इतना सुन्दर हुआ, कि दैत्यों व उनकी पत्नियों ने सुवर्ण के आभूषण खोल खोल कर नटों को दे दिये। इसके पश्चात् प्रद्युम्न ने वज्रनाभ का वध किया तथा उसकी पुत्री प्रभावती से उनका विवाह सम्पन्न हुआ। इस कथा से यह सङ्केत मिलता है कि महाभारत-काल में नाटक का सर्वांगीण रूप विद्यमान था। यह निःसन्देह है। डॉ० ए० बी० कीथ हरिवंश तथा महाभारत (हरिवंशेतर महाभारत) के रचनाकाल में बड़ा अन्तर मानते हैं। वे कहते हैं कि 'महाभारत में कहीं भी नाटक के होने या खेले जाने का सङ्केत नहीं है। जहाँ तक हरिवंश का प्रश्न है, वह बाद का क्षेपक है। हरिवंश की इस नाटक वाली कथा का इतना महत्त्व नहीं, क्योंकि हरिवंश की रचना-तिथि अनिश्चित है।' डॉ० कीथ हरिवंश को ईसा की दूसरी या तीसरी शती से पहले रखने को राजी नहीं।[1]

महाभारत व रामायण के बाद बौद्ध ग्रन्थों, तथा जैन ग्रन्थों एवं वात्स्यायन के

---

1 डॉ० ए० बी० कीथ—संस्कृत ड्रामा परिच्छेद २ पृष्ठ २८.

कामसूत्र में भी नाटकों का तथा नटों का संकेत मिलता है। ईसा की दूसरी शती के बहुत पहले भारत में नाटकों का अस्तित्व न मानने वाले पाश्चात्य पण्डितों के आगे वात्स्यायन के कामशास्त्र से निम्न पंक्तियाँ उपस्थित की जा सकती हैं —

'कुशीलवा श्चागन्तवः प्रेक्षणक मेषां दद्युः। द्वितीयेऽहनि तेभ्यः पूजा नियत लभेरन्। ततो यथाश्रद्ध मेषां दर्शन मुत्सर्गो वा। व्यसनोत्सवेषु चैषां परस्परस्यैककार्यता। (का० सू० १, ४, २८–३१)

अर्थात् बाहर से आये हुए नट पहले दिन नागरिकों को नाटक दिखाकर उनका ठहराव या मेहनताना (पूजा) दूसरे दिन लेवें। यदि लोग देखना चाहें तो, फिर देखें नहीं तो नटों को विदा कर दें। नगर के नटों व आगन्तुक नटों दोनों को एक दूसरे के कष्ट तथा आनन्द में परस्पर सहयोग देना चाहिए।

इस से भी बहुत पहले पाणिनि के अष्टाध्यायी सूत्रों में ही शिलाली तथा कृशाश्व के नटसूत्रों का उल्लेख मिलता है —**पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षु-नटसूत्रयोः** (४।३।११०) **कर्मन्दकृशाश्वादिनिः** (४।३।१११)। इससे शिलाली तथा कृशाश्व इन दो आचार्यों के नटसूत्रों का पता चलता है। डॉ० कीथ, प्रो० सिल्वाँ लेवी भी गवाही भर इन दोनों शब्दों में व्यंग्य मान कर इन्हें किन्हीं आचार्यों (नाट्याचार्यों) का नाम मानने से सहमत नहीं हैं। लेवी के मतानुसार 'शिलाली' का अर्थ है 'जिसके पास शिला की ही शय्या है, और कोई चीज सोने को नहीं' और 'कृशाश्व' का अर्थ है 'जिनके घोड़े दुबले-पतले हैं'। पर इस तरह का अर्थ निकालना कोरा मनगढ़न्त ही जान पड़ता है। कीथ यह भी संकेत करते हैं कि 'नट' शब्द का पाणिनि में पाया जाना पुत्तलिका नृत्यादि की पुष्टि कर सकता है। पाणिनि का काल वे चौथी शताब्दी ई० पू० मानते हैं तथा पाणिनि में 'नाटक' शब्द के अभाव को उस काल में भारतीय नाटकों के न होने का प्रमाण मानते हैं।[1] किन्तु 'नटसूत्र' शब्द वस्तुतः किन्हीं सैद्धान्तिक सूत्रों का संकेत करता है, जिसमें नटों के लिए क्रिया प्रक्रिया, कला-कौशल का विवेचन किया गया होगा। अतः 'शिलाली' व 'कृशाश्व' का लेवी की तरह ऊटपटाँग अर्थ लेना, या कीथ की तरह 'नाटक' शब्द या 'नाटक' के पर्यायवाची शब्द ही पर अड़े रहना पक्षपातशून्य नहीं नजर आता।

महाभाष्यकार पतञ्जलि में तो स्पष्ट रूप से 'कंसवध' तथा 'बलिबन्धन' इन दो कथाओं से सम्बद्ध नाटकों का उल्लेख है। महाभाष्यकार पतञ्जलि का समय निश्चित है, कि वे अग्निमित्र (शुङ्गवंशी राजा) के पुरोहित तथा गुरु थे। वे लिखते हैं कि कंस पहले मर चुका है, इसी तरह बलि का बन्धन भी अतीत काल में हो चुका है, किन्तु ये नट वर्तमान काल में भी हमारी आँखों के सामने कंस को मारते हैं, तथा बलि को बाँधते हैं —

इह तु कथं वर्तमानकालता कंस घातयति बलिं बन्धयतीति

---

1 वही—पृष्ठ ३१।

विरहते कंसे विरयदे च बलौ । अत्रापि युक्ता । कथम् । ये तावदेते शोभनिका (शौभिका) नामैते प्रत्यक्ष कंसं घातयन्ति, प्रत्यक्षं च बलिं बन्धयन्तीति ।[1]

प्रो० वेबर तथा प्रो० ल्यूडर्स पतञ्जलि के इस स्पष्ट सङ्केत को भी उटपटाँग ढङ्ग से सामने रखते हैं । वेबर के मतानुसार पतञ्जलि का सङ्केत पुत्तलिका रूप में कंसवध तथा बालिबन्धन से है । ल्यूडर्स के मतानुसार 'शौभिका' या 'शोभनिका' शब्द इस बात का स्पष्ट प्रमाण है, कि ये नट बिना किसी संवाद (Dialogue) के कंसवध या बलिबन्धन की नकल दिखाते थे । बाद के साहित्य में संवाद प्रयोक्ताओं के लिए 'ग्रन्थिक' शब्द का प्रयोग मिलता है । पर इतनी खेंचातान, और यह गजनिमीलिकायित क्यों, जब कि महर्षि पतञ्जलि की पंक्तियाँ नाट्याभिनय के स्पष्ट सङ्केत हैं ।

कुछ भी हो, महाभाष्यकार पतञ्जलि के पहले ही से कवि भास से लेकर बीसवीं शती के कुछ संस्कृत नाटकों तक संस्कृत नाटकों की एक अक्षुण्ण परम्परा पाई जाती है, जिसमें किन्हीं ग्रीक नाटकीय चीजों को ढूँढ़ना दुराग्रह तथा हठधर्मिता ही होगी । संस्कृत साहित्य का नाटक-अंग इतना समृद्ध है, कि मात्रा तथा गुण दोनों दृष्टियों में विश्व के नाटक साहित्य में उसका विशिष्ट स्थान है । संस्कृत में सैकड़ों एक से एक सुन्दर नाटक लिखे गये, जिनमें असंख्य नाटक अभी भी अन्धकार में पड़े हैं । इनमें से कुछ नाटकों का संकेत किन्हीं अलङ्कार शास्त्र तथा नाट्य शास्त्र में दिये उदाहरणों से मिलता है । कई नाटक अभी २ अन्धकार से प्रकाशित हुए हैं । भास के नाटकों का ही लोगों को १९११ ई० के पहले पता नहीं था, जब कि म० म० त० गणपति शास्त्री ने उनको प्रकाशित किया । भास, कालिदास, शूद्रक, अश्वघोष, भवभूति, मुरारि, विशाखदत्त, भट्टनारायण, राजशेखर, जयदेव आदि प्रमुख नाटककारों के अतिरिक्त जयदेवोत्तर काल (१२५०–१९५०) के सैकड़ों नाटककार ऐसे हैं जिन्होंने सुन्दर कलापूर्ण नाटक लिखे हैं । यह दूसरी बात है, कि जयदेवोत्तरकाल के नाटककारों में कई नाटककार सिद्धान्त व प्रक्रिया के सामञ्जस्य का निर्वाह अपने नाटकों में न कर पाये । नाटकीय सिद्धान्त व नाटकीय प्रक्रिया के सामञ्जस्य की अन्तिम सीमा हम जयदेव का प्रसन्नराघव मान सकते हैं । मेरा तात्पर्य यह नहीं, कि इस काल के सारे ही नाटक रङ्गमञ्चीय प्रक्रिया में खरे न उतरेंगे, किन्तु अधिकों की ऐसी ही दशा है । साथ ही इस काल में भाण-रूपकों की बहुतायत ने भी नाटक-साहित्य की विविधता को कुछ क्षति ही पहुँचाई । इस काल के प्रमुख नाटककारों में वामन भट्ट बाण, शेष कृष्ण, मथुरादास, युवराज रामवर्मा आदि हैं, जिनके क्रमशः पार्वतीपरिणय, कंसवध, वृषभानुजा नाटिका, वसन्ततिलक भाण आदि रचनाएँ हैं । संस्कृत के इस विशाल नाट्यसाहित्य के समुद्र से कुछ रत्नों को निकाल कर उनका महत्त्व बताना बड़ा कठिन है । कालिदास, शूद्रक तथा भवभूति की कवित्रयी तो समस्त संस्कृत नाटककारों की

1. महाभाष्य ३।१।२६ ।

मूर्धन्य है ही । वैसे संस्कृत की प्राचीन परम्परा के पण्डित मुरारि को भवभूति से बढ़ कर मानते जान पड़ते हैं । तभी तो वे कहते हैं:—

(१) मुरारिपदचिन्तायां भवभूतेस्तु का कथा ।
(२) भवभूति मनादृत्य मुरारि मुरारी कुरु ॥

पर भवभूति जैसी रागात्मक उद्भावना मुरारि में कहाँ, वहाँ तो शास्त्रीय पाण्डित्य ही विशेष है। कालिदास का पद निश्चित है, और उसका 'अभिज्ञानशाकुन्तल' समस्त काव्य (साहित्य) का सार-'एसेन्स'-है, इस बात का उद्घोष प्राचीन पण्डितों ने मुक्तकण्ठ से किया है:—

काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्यं शकुन्तला ।
तत्रापि च चतुर्थोऽङ्कः तत्र श्लोकचतुष्टयम् ॥

संस्कृत के इस विशाल तथा सुन्दर नाट्य साहित्य की समृद्धि का श्रेय किसी हद तक भारत के नाट्यशास्त्र जैसे नाटक के सिद्धान्त-ग्रन्थों-लक्षणग्रन्थों-को भी देना होगा। स्वयं कालिदास मुनि भरत के नाटकीय सिद्धान्तों से पथप्रदर्शन पाते रहे होंगे।

(२)

नाट्य-शास्त्र का संक्षिप्त इतिहास.

साहित्य में लक्षण ग्रन्थों व लक्ष्य ग्रन्थों का चोली दामन का साथ है । दोनों एक दूसरे के सहयोगी बन कर साहित्य की श्रीवृद्धि में योग देते हैं । यद्यपि साहित्य के आदि विधायक लक्ष्य ग्रन्थ, काव्यनाटकादि ही हैं, किन्तु ये जहाँ एक ओर लक्षण ग्रन्थों को प्रोत्साहित करते हैं, वहाँ उनके द्वारा नियन्त्रित भी होते हैं । लक्ष्य ग्रन्थों में रचयिता की उच्छृङ्खलता, मनमानी को रोकने थामने के ही लिये लक्षण ग्रन्थों की रचना हुई। ये लक्षण ग्रन्थ भी स्वयं अपने पूर्व के लक्ष्य ग्रन्थों की विशेषताओं, उनके आदर्शों को मान बनाकर लिखे गये, तथा उन्हीं 'मानों' को भावी काव्यों या नाटकों का निकषोपल घोषित किया गया । वाल्मीकि, व्यास आदि कवियों के काव्यों ने ही भामह को अलंकार-विभाजन का मार्ग दिखाया । अन्यथा, रामायण, महाभारत या अन्य पूर्ववर्ती कवियों की कविता के अभाव में भामह के लिए कविताकामिनी के इन सौन्दर्य विधायक उपकरणों का पता लगाना असम्भव नहीं होता क्या ? अरस्तू 'पोयतिका' तथा 'हेतोरिका' को तभी जन्म दे सका, जब उसके आगे एक ओर होमर के 'इलियड' तथा 'ओडेसी' एवं सोफोक्लीज़ के नाटक, तथा तत्कालीन ग्रीक पण्डितों की भाषणशैलियाँ प्रचलित थीं । इन लक्ष्यों के अभाव में लक्षण की स्थापना ही कैसे हो सकती थी । ठीक यही बात संस्कृत के नाट्यशास्त्र के विषय में कही जा सकती है। हम बता चुके हैं कि संस्कृत का नाट्यशास्त्र संस्कृत के नाटक साहित्य की समृद्धि का साक्षी है । आज डेढ़ हजार वर्ष से भी अधिक पूर्व लिखा गया भरत का नाट्यशास्त्र इस बात की पुष्टि करता है कि भरत के पूर्व ही कई प्रौढ़ नाटक लिखे जा चुके होंगे, जो काल के गर्त में लीन हो गये और आज हमें भास ही सबसे पुराने संस्कृत नाटककार दिखाई पड़ते हैं।

जैसा कि हम आगे चलकर बतायेंगे आरम्भ में नाट्यशास्त्र तथा अलङ्कार शास्त्र दो भिन्न शास्त्र थे। राजशेखर की काव्यमीमांसा में इसका स्पष्ट उल्लेख है। यही नहीं 'रस' की विवेचना नाट्यशास्त्र का अङ्ग थी, अलङ्कारशास्त्र में इसका प्रवेश पहले तो निषिद्ध था, बाद में इसे गौण रूप देकर प्रवेशस्वीकृति दे भी दी गई। अन्य ग्रन्थ में रस की मान्यता ने नाट्यशास्त्र तथा अलङ्कारशास्त्र के बीच की खाई पाट दी। फलतः परवर्ती अलंकारशास्त्र के ग्रन्थों में नाट्यशास्त्र का भी समावेश होने लगा जिसके उदाहरण स्वरूप हम साहित्यदर्पण जैसे ग्रन्थ रख सकते हैं। यहाँ पर हम नाट्यशास्त्र के इतिहास पर कुछ शब्द कहते समय शुद्ध अलङ्कारशास्त्र के लेखकों पर सङ्केत करना ठीक नहीं समझेंगे।

(१) भरत :—भरत का 'नाट्यशास्त्र' नाट्यशास्त्र पर सब से प्राचीन ग्रन्थ है। 'नाट्यशास्त्र' पर ही नहीं अलङ्कारशास्त्र सङ्गीत, नृत्य तथा नाटक सभी का इसे प्राचीनतम पथप्रदर्शक मानना होगा। भरत का नाम प्राचीन ग्रन्थों में भरत के परवर्ती ग्रन्थों में दो प्रकार से मिलता है—एक वृद्धभरत या आदिभरत, दूसरे केवल भरत। नाट्यशास्त्र के विषय में भी कहा जाता है कि नाट्यशास्त्र के दो ग्रन्थ मिलते हैं, एक नाट्यवेदागम, दूसरा नाट्यशास्त्र। पहला ग्रन्थ द्वादशसाहस्री, तथा दूसरा ग्रन्थ षट्साहस्री भी कहलाता है। शारदातनय के मतानुसार 'षट्साहस्री' प्रथम ग्रन्थ का ही संक्षिप्त रूप थी।

> एवं द्वादशसाहस्रैः श्लोकैरेकं तदर्थतः।
> षड्भिः श्लोकसहस्रैर्यो नाट्यवेदस्य संग्रहः॥ (भावप्रकाश)

नाट्यशास्त्र के रचयिता भरत का क्या समय है, इस सम्बन्ध में विद्वानों के कई मत हैं। विद्वानों में कई उनके नाट्यशास्त्र का रचनाकाल ईसा के पूर्व द्वितीय शताब्दी में मानते हैं, कई इससे भी पूर्व। दूसरे विद्वान् भरत का समय ईसा की दूसरी या तीसरी शती मानते हैं। कुछ ऐसे भी विद्वान् हैं जो भरत का काल तो तीसरी या चौथी शती मानते हैं, किन्तु नाट्यशास्त्र के इस रूप को उस काल का नहीं मानते। डॉ॰ एस॰ के॰ दे के मतानुसार नाट्यशास्त्र के सङ्गीत वाले अध्याय चौथी शताब्दी की रचना है, किन्तु नाट्यशास्त्र में कई परिवर्तन होते रहे होंगे, और इसका उपलब्ध संस्करण आठवीं शती के अन्त तक हुआ जान पड़ता है।

कुछ भी हो इतना तो अवश्य है कि भरत प्राचीनतम अलङ्कारशास्त्री, रसशास्त्री, व नाट्यशास्त्री ही हैं, जिनका ग्रन्थ हमें प्राप्त है। भरत के विषय में कुछ ऐसे बाह्य और आभ्यन्तर प्रमाण हमें मिलते हैं, जो उनके कालनिर्धारण में कुछ सहायक हो सकते हैं। हम पहले बाह्य प्रमाण ही लेंगे। वैसे तो कालिदास का भी समय मतभेद से रहित नहीं पर अधिकतर विद्वान् उसे चौथी शताब्दी (ईसवी) का ही मानते हैं। कालिदास के विक्रमोर्वशीय नाटक में एक स्थान पर स्पष्ट रूप से भरत का निर्देश मिलता है। निर्देश ही नहीं, भरत उस काल तक इतने प्रसिद्ध हो चुके थे कि कालिदास

इन्द्र के समक्ष भरत के नाटक के अभिनय का सङ्केत करते हैं । तात्पर्य यह है कि नाट्याचार्य भरत कालिदास से पूर्व ही पौराणिक व्यक्तित्व धारण कर चुके थे, वे ऋषि थे, उन्होंने स्वयं ब्रह्मा से नाट्यवेद सीखा था । नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में पाई जाने वाली नाटक की उत्पत्ति की घटना का सूक्ष्म सङ्केत कालिदास के पद्य से भी मिल सकता है। विक्रमोर्वशीय नाटक के प्रथम अङ्क का यह पद्य यों है—

मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयो निबद्धः।
ललिताभिनयं तमद्य भर्ता मरुतां द्रष्टुमनाः स लोकपालः॥

नाट्यशास्त्र के अन्तर्गत कुछ ऐसे स्थल हैं, जो उसकी प्राचीनता की ओर पुष्ट करते हैं। नाट्यशास्त्र में ऐन्द्र व्याकरण, तथा यास्क के उद्धरण हैं, किन्तु पाणिनि के नहीं । अतः नाट्यशास्त्र उस काल की रचना है, जब ऐन्द्र व्याकरण का महत्त्व पाणिनीय व्याकरण के द्वारा घटाया नहीं गया था । नाट्यशास्त्र कई प्राचीनतम सूत्रों व श्लोकों का उद्धरण मिलता है —

अत्रानुवंश्ये आर्ये भवतः। तत्र श्लोकः, आदि—

भाषा व विषयप्रतिपादन की दृष्टि से भी भरत का नाट्यशास्त्र प्राचीनता का द्योतक है। फलतः भरत भी भरतमुनि के नाम से प्रसिद्ध हो गये हैं । भरत का नाट्यशास्त्र कहीं कहीं सूत्रपरिपाटी का आश्रय लेता है। टीकाकारों ने भरत की रचना कई स्थानों पर 'सूत्र' तथा उन्हें 'सूत्रकृत्' कहा है । नान्यदेव भरत के लिए 'सूत्रकृत्' शब्द का प्रयोग करते कहते हैं —**'कलानामानि सूत्रकृदुक्तानि यथा—'** । अभिनव गुप्त भी भरत के नाट्यशास्त्र को 'भरतसूत्र' कहते हैं—

'षट्त्रिंशकं भरतसूत्रमिदं विवृण्वन् ......'

अनुमान है भरत का नाट्यशास्त्र कालीदास से लगभग दो शताब्दी पूर्व का-ईसा की दूसरी शतीका है।

भरत का नाट्यशास्त्र ३७ अध्यायों का ग्रन्थ है । भरत के नाट्यशास्त्र के विषय में प्राचीन टीकाकारों का मत है कि यह ३६ अध्यायों में विभक्त है । अभिनव गुप्त भी अभिनव भारती में इसे 'षट्त्रिंशक'—३६ अध्याय वाला-ही मानते हैं। किन्तु इसके साथ ही अभिनव ३७ वें अध्याय पर भी 'भारती' लिखते हैं, साथ ही इस अध्याय का अलग से मङ्गलाचरण इसका संकेत करता है कि अभिनव ३६ अध्याय की परम्परागत मान्यता को स्वीकार करते हुए भी इस अध्याय की व्याख्या करते हैं। इतना ही नहीं नाट्यशास्त्र के उत्तर व दक्षिण से प्राप्त प्राचीन हस्तलेखों में भी यह भेद पाया जाता है। उत्तर की प्रतियों में ३७ अध्याय हैं, जब कि दक्षिण के हस्तलेखों में ३६ व ३७ दोनों अध्याय एक साथ ही ३६ वें अध्याय में पाये जाते हैं । इसका क्या कारण है ? कुछ लोगों के मतानुसार ३६ वें अध्याय दो अध्यायों में विभक्त, परन्तु 'भारती' के रचयिता अभिनवगुप्तपादाचार्य को ही अभीष्ट था, यद्यपि वे पुरानी '३६ अध्यायवाली परिपाटी को सर्वदा भङ्ग नहीं करना चाहते थे । अभिनवगुप्त अपने शैवसिद्धान्तों का मेल नाट्यशास्त्र के ३६ अध्यायों से मिलाकर, शैव ३६ तत्त्वों

[illegible] सङ्केत करते जान पड़ते हैं । इन तत्त्वों परे स्थित 'अनुत्तर' तत्त्व का सङ्केत करने के लिए उन्होंने ३६ वें अध्याय [illegible] ही ३७ वें अध्याय की रचना की हो । ३७ वें अध्याय की 'अभिनवभारती' का मङ्गलाचरण इसका सङ्केत दे सकता है'—

आकाङ्क्षाणां प्रशमनविधेः पूर्णभावावधीनां
धाराप्राप्तस्तुतिगुरुगिरां गुह्यतत्त्वप्रतिष्ठा।
ऊर्ध्वादन्यः परभुवि न वा यत्समानं चकास्ति
प्रोद्यानन्तं तदह मधुनानुत्तरं धाम वन्दे ॥

नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में नाटक व नाट्यशास्त्र (नाट्यवेद) की उत्पत्ति का वर्णन है, जिसका सङ्केत हम दे चुके हैं। बाद में रङ्गभूमि-रङ्गमञ्च के प्रकार, रङ्गमञ्च के विभिन्न भागों-रङ्गशीर्ष, रङ्गमध्य, रङ्गपृष्ठ, मत्तवारणी, तथा दर्शकों के बैठने के स्थानों का विशद वर्णन है। चतुर्थ तथा पञ्चम अध्याय में पूर्व रङ्गविधान का वर्णन है। इसके बाद भरत ने चारों प्रकार के अभिनयों का क्रमशः वर्णन किया है। हम आगे देखेंगे कि नाट्यशास्त्र में अभिनय चार प्रकार का माना गया है'—सात्त्विक, आङ्गिक, वाचिक तथा आहार्य। नाट्यशास्त्र के छठे तथा सातवें अध्याय में सात्त्विक अभिनय का विचार किया गया है। इसके अन्तर्गत भावाभिव्यक्ति आती है। रसों, भावों, विभावों, अनुभावों व सञ्चारियों का विचार भरत ने यहीं पर किया है। आगे के ६ अध्यायों में, ८ वें से १३ वें अध्याय तक, आङ्गिक अभिनय का विवेचन है। १४ वें अध्याय से २० वें अध्याय तक वाचिक तथा इसके बाद आहार्य अभिनय की विवेचना की गई है। भरत के इसी विभाजन को लेकर आगे के नाट्यशास्त्री चले हैं।

भरत के नाट्यशास्त्र के विषय में एक और बात। कुछ लोगों का यह भी मत है कि नाट्यशास्त्र के रचयिता भरत न होकर भरत का कोई शिष्य था। यह मत अभिनव गुप्त [illegible] समय में भी प्रचलित था। अभिनव ने इस मत का डटकर खण्डन किया है, तथा इस बात को सिद्ध किया है कि नाट्यशास्त्र भरत की ही रचना है। अपने खण्डन का उपसंहार करते [illegible] अभिनव ने 'भारती' में लिखा है—

'एतेन सदाशिवब्रह्मभरतमतत्रयविवेचनेन ब्रह्ममतसारताप्रतिपादनाय मतत्रयीसारासारविवेचनं तद्ग्रन्थखण्डप्रक्षेपेण विहितमिदं शास्त्रम्, न तु मुनिरचितमिति यदाहु र्नास्तिकधुर्योपाध्याया स्तदसत्युक्तम्।'

भरत के नाट्यशास्त्र [illegible] सूत्रों पर कई टीकाएँ व व्याख्याएं लिखी गईं जो नाट्यशास्त्र के विकास में सहायक हुईं। इनमें कई तो अनुपलब्ध हैं। भरतटीका, हर्षकृत वार्तिक, शाक्याचार्य राहुलककृत कारिकाएँ, मातृगुप्तकृत टीका, कीर्तिधरकृत टीका उनमें से हैं, जो उपलब्ध नहीं, इनमें से कुछ के उद्धरण व मत 'भारती' में मिलते हैं। भरत के प्रसिद्ध सूत्र 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात् रसनिष्पत्तिः' की व्याख्या करनेवालों में लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक, व अभिनवगुप्त प्रसिद्ध हैं। अभिनव ने 'भारती' की रचना की है। क्या लोल्लट, शंकुक व भट्टनायक ने भी भरत के नाट्यशास्त्र पर कोई व्याख्याएँ लिखीं [illegible]?

(२) लोल्लट :—अभिनवगुप्त ने अभिनव भारती में भट्ट लोल्लट के मतों का उल्लेख किया है। सम्भवतः लोल्लट ने भरत नाट्यशास्त्र पर कोई व्याख्या लिखी होगी, जो उपलब्ध नहीं। लोल्लट ने ही सर्वप्रथम भरत के रस परक सिद्धान्त की व्याख्या की। भरत के प्रसिद्ध सूत्र **'विभावानुभाव व्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः'** की व्याख्या में उसने 'संयोगात्' से 'कार्यकारण भावरूपसंबंध' तथा 'निष्पत्ति' से 'उत्पत्ति' अर्थ लिया। उन्होंने रस की स्थिति रामादि अनुकार्य पात्रों में मानी, न कि नटों या सहृदयों में। लोल्लट मीमांसक थे, तथा अभिधावादी थे। वे अभिधाशक्ति को ही समस्त काव्यार्थ का साधन मानते हैं। उनका मत था कि शब्द के प्रत्येक अर्थ की प्रतिपत्ति अभिधा से ठीक उसी तरह हो जाती है, जैसे बाण अकेला ही कवच को भेद, शरीर में घुसकर, प्राणों का अपहरण कर लेता है। मम्मट ने इसी मत को इस प्रकार उद्धृत किया है:—**'सोऽयमिषो रिव दीर्घदीर्घतरोऽभिधाव्यापारः'**। लोल्लट के मत का प्रभाव कुछ दूर तक दशरूपककार धनञ्जय एवं अवलोककार धनिक पर भी पाया जाता है। लोल्लट के समय का पता नहीं, किन्तु यह निश्चित है कि लोल्लट व्यञ्जनावाद तथा ध्वनिवाद के उदय के बाद रक्खे जा सकते हैं। यदि ध्वनिकार, आनन्दवर्धन से भिन्न है, तो लोल्लट ध्वनिकार तथा आनन्दवर्धन के बीच के समय में उत्पन्न हुए हैं, अन्यथा वे आनन्दवर्धन के समसामयिक हैं। इस तरह लोल्लट का समय ईसा की नवीं शती माना जा सकता है। जैसा कि लोल्लट के नाम से ही स्पष्ट है, वह काश्मीरी थे।

(३) शङ्कुक :—अभिनव ने भारती में ही शङ्कुक के मत का भी उल्लेख किया है। शङ्कुक ने भी भरत पर कोई व्याख्या लिखी होगी। शङ्कुक की भरतसूत्र की व्याख्या 'अनुमितिवाद' के नाम से प्रसिद्ध है। शङ्कुक नैयायिक थे, तथा उन्होंने विभावादि साधनों एवं रसरूप साध्य में अनुमाप्य-अनुमापकभाव की कल्पना की है। इस प्रकार वे रस को अनुमेय या अनुमितिगम्य मानते हैं। इसके अतिरिक्त वे एक कल्पना और करते हैं—'चित्रतुरगादिन्याय' की कल्पना। इस कल्पना के अनुसार नट सच्चे रामादि नहीं है, वे 'चित्र में लिखे घोड़े की तरह' राम है। इस कल्पना को दशरूपककार ने भी अपनाया है यह हम यथावसर बताएँगे। शङ्कुक ने 'रस' की स्थिति सहृदयों या सामाजिकों में मानी है, ठीक वैसे ही जैसे घोड़े के चित्र को देख कर अनुभव होता है। शङ्कुक ने ही सब से पहले लोल्लट के 'उत्पत्तिवाद' तथा सहृदयों में रसानुभव न मानने वाले सिद्धान्त का खण्डन किया है।

शङ्कुक भी काश्मीरी थे। वे लोल्लट के ही समसामयिक रहे होंगे। राजतरङ्गिणी के मतानुसार शङ्कुक ने भुवनाभ्युदय काव्य लिखा था, तथा वे काश्मीरराज अजितापीड के राज्यकाल में थे:—

अथ मम्मोत्पलकयो रुद्भूद्दारुणो रणः।
रुद्धप्रवाहा यत्रासीद् वितस्ता सुभटैर्हतैः॥

कवि र्बुधमनःसिन्धुशशाङ्कः शङ्कुकाभिधः ।
यमुद्दिश्यकरोत्काव्यं भुवनाभ्युदयाभिधम् ॥ (रा० त० ४, ७०३-४

शार्ङ्गधरपद्धति तथा सूक्तिमुक्तावली में शङ्कुक को मयूर का पुत्र कहा गया है, तथा निम्न पद्य को उसके नाम से उद्धृत किया गया है :—

दुर्वाराः स्मरमार्गणाः प्रियतमो दूरे मनोऽप्युत्सुकं
गाढं प्रेम नवं वयोऽतिकठिनाः प्राणाः कुलं निर्मलम् ।
स्त्रीत्वं धैर्यविरोधि मन्मथसुहृत् कालः कृतान्तोऽक्षमो
नो सख्यश्चतुराः कथं नु विरहस्सोढव्य इत्थं शठः ॥

क्या ये मयूर 'सूर्यशतक' के रचयिता ही है ? यदि ऐसा हो तो शङ्कुक सातवीं शती के आसपास रक्खे जा सकते हैं । किन्तु, नाट्यशास्त्री शङ्कुक को इस काल का मानने में आपत्ति है । स्पष्ट है, दोनों शङ्कुक एक नहीं हैं । भरत के व्याख्याकार, अनुमिति-वाद के प्रतिष्ठापक तथा भुवनाभ्युदय काव्य के रचयिता शङ्कुक एक ही हैं, और हम उन्हें नवीं शती का मान सकते हैं ।

(४) भट्टनायक :—रससूत्र के तीसरे व्याख्याकार भट्टनायक हैं, जिनके मत का विशद उल्लेख अभिनवगुप्त ने किया है । अभिनवगुप्त, जयरथ, महिमभट्ट तथा रुय्यक ने भट्टनायक के मत का उल्लेख किया है, साथ ही इन लोगों ने भट्टनायक की रचना 'हृदयदर्पण' का भी निर्देश किया है । भट्टनायक का 'हृदयदर्पण' स्वतन्त्र ग्रन्थ था, या भरत के नाट्यशास्त्र की टीका इस विषय में दो मत रहे हैं । डॉ० एस० के० दे के मतानुसार हृदयदर्पण टीका न होकर अलङ्कारशास्त्र का स्वतन्त्र ग्रन्थ था । हृदयदर्पण उपलब्ध तो नहीं, पर सुना जाता है कि इसकी एक प्रति दक्षिण में थी, और उससे स्पष्ट है कि यह नाट्यशास्त्र की टीका ही थी । यह प्रति भी अब उपलब्ध नहीं है । भट्टनायक भी लोल्लट तथा शङ्कुक, महिमभट्ट एवं कुन्तक की भाँति अभिधावादी ही हैं, वे व्यञ्जना वृत्ति या ध्वनि जैसी कल्पना से सहमत नहीं । भट्टनायक आनन्दवर्धन के ही समकालीन हैं । सम्भवतः वे भी आनन्दवर्धन के आश्रय काश्मीर-राज अवन्तिवर्मा (८५५-८८४ ई०) के ही राजकवि थे ।

भट्टनायक रस के सम्बन्ध में 'भुक्तिवादी' सिद्धान्त के पोषक हैं । वे काव्य में भावकत्व एवं भोजकत्व दो व्यापारों की कल्पना करते हैं । इस पर भट्ट नायक 'संयोगात्' का अर्थ 'भोज्यभोजक सम्बन्ध' मानते हैं, 'निष्पत्ति' से उनका तात्पर्य 'भुक्ति' (आस्वाद) से है । भट्टनायक रस की स्थिति सहृदय में पूर्णतः सिद्ध करते हैं । वे ही 'साधारणीकरण' के सिद्धान्त के सर्वप्रथम प्रवर्तक हैं, जिसका विस्तार अभिनव ने किया है । भट्टनायक सांख्यमतानुयायी हैं, वे अपने रससम्बन्धी सिद्धान्त में सांख्यदर्शन का ही आश्रय लेते हैं । धनञ्जय व धनिक के मत पर भट्टनायक के प्रभाव को हम यथावसर निर्दिष्ट करेंगे ।

(५) अभिनवगुप्तपादाचार्यः—अभिनवगुप्त एक ओर ध्वनिसम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य हैं, तो दूसरी ओर नाट्यशास्त्र के प्रसिद्ध आचार्य। इसके अतिरिक्त अभिनव का एक तीसरा भी व्यक्तित्व है, वह है उनका शैव दर्शन के आचार्य का व्यक्तित्व। अभिनवगुप्त ने ध्वनिवाद या नाट्यशास्त्र पर कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ न लिखकर टीकाएँ लिखीं हैं। आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक' पर उनकी 'लोचन' टीका तथा भरत के नाट्यशास्त्रपर उनकी 'अभिनवभारती' (भारती) अमूल्य ग्रन्थ हैं। यद्यपि ये दोनों टीका ग्रन्थ हैं, तथापि इनका महत्त्व किन्हीं आकर-ग्रन्थों से कम नहीं, विद्वत्समाज में ये दोनों ग्रन्थ (टीकाएं) अलङ्कारशास्त्र तथा रसशास्त्र के मूर्धन्य ग्रन्थ हैं। इनके अतिरिक्त अभिनव ने तन्त्रशास्त्र तथा शैव आगम पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। इनमें 'तन्त्रालोक' तथा 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका' पर लिखी 'विमर्शिनी' टीका विशेष प्रसिद्ध हैं। अन्तिम रचना अभिनव गुप्त ने १०१५ ई० में की थी। इनके अतिरिक्त अभिनव ने एक तीसरे ग्रन्थ की भी देन अलङ्कारशास्त्र को दी थी, ऐसा जान पड़ता है। अभिनवगुप्त की यह तीसरी साहित्यशास्त्रीय रचना 'काव्यकौतुकविवरण' थी जो अब अनुपलब्ध है। अभिनव के कुल ग्रन्थ ४०–४१ के लगभग हैं।

अभिनव के गुरु पिता, कुल, तथा समय के विषय में अभिनव ने स्वयं अपनी रचनाओं में सङ्केत किया है। अभिनव के पिता नरसिंहगुप्त या चुखुलक थे।[1] उनके गुरु भट्टेन्दुराज[2] तथा भट्टतौत थे। इनके पिता स्वयं शैव आगम के प्रकाण्ड पण्डित तथा शिवभक्त भी थे। गुरु भट्टेन्दुराज कवि भी थे, क्योंकि अभिनव अपने 'लोचन' में उनके पद्यों को उद्धृत करते हैं। भट्ट तौत प्रसिद्ध मीमांसक माने जाते हैं, सम्भवतः अभिनव ने उनसे मीमांसाशास्त्र पढ़ा हो। साहित्यशास्त्र का अध्ययन अभिनव ने भट्टेन्दुराज से ही किया होगा।

अभिनवगुप्तपादाचार्य एक ओर शैव दार्शनिक थे, दूसरी ओर साहित्य में व्यञ्जनावादी तथा ध्वनिवादी। अतः उनका रसपरक सिद्धान्त शैवदर्शन तथा व्यञ्जनावाद की आधारभित्ति पर स्थापित है।[3] वे रस को व्यंग्य मानते हैं, तथा भरतसूत्र के 'संयोगात्' तथा 'निष्पत्ति' के 'व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावरूपात्' तथा 'अभिव्यक्ति' अर्थ करते हैं।

---

१. तस्यात्मजः चुखुलकेति जने प्रसिद्धश्चन्द्रावदाताधिषणो नरसिंहगुप्तः।
यं सर्वशास्त्ररसमज्जनशुभ्रचित्तं माहेश्वरी परमलंकुरुते स्म भक्तिः॥
(तन्त्रालोक ३७)

२. भट्टेन्दुराजचरणाब्जकृताधिवासहृद्यश्रुतोऽभिनवगुप्तपदाभिधोऽहम्॥
(ध्वन्यालोकलोचन)

३. द्रष्टव्य—डॉ० पाण्डेय 'अभिनवगुप्त हिस्टोरिकल एण्ड फिलोसोफिकल स्टडी' इसी विषय का विशद विवेचन मैंने अन्यत्र अपने 'ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त' नामक गवेषणापूर्ण प्रबन्ध के प्रथम भाग में किया है, जो शीघ्र ही प्रकाशित होगा।

वे रस की स्थिति सहृदय में मानते हैं तथा रसदशा को शैवों की 'विमर्शदशा' से जोड़ते जान पड़ते हैं। धनञ्जय व धनिक को अभिनवगुप्त के सिद्धान्तों का पता था या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ये दोनों अभिनव के समसामयिक ही हैं। पर, इन्हें आनन्दवर्धन के व्यंजनावादी मत व रससम्बन्धी मत का पूरा पता था, जो अभिनव से भी पहले रस के व्यंग्यत्व की स्थापना कर चुके थे। तभी तो इन्होंने दशरूपक की कारिका में तथा अवलोकवृत्ति में व्यञ्जना जैसी तुरीया वृत्ति की कल्पना का, तथा रस के व्यंग्यत्व का डटकर विरोध किया है, इसे हम देखेंगे।

रस की चर्वणा, तथा निष्पत्ति के मत के अतिरिक्त अभिनव ने एक और नई स्थापना की है, वह 'शान्त रस' की स्थापना है। भरत नाट्यशास्त्र में आठ ही रसों का हवाला है; किन्तु भरत के ही आधार पर अभिनव ने 'भारती' में शान्त रस जैसे नवम रस की स्थापना की है, जो अभिनव के शैवदर्शन वाले सिद्धान्त को सर्वथा अभीष्ट थी। धनञ्जय व धनिक शान्त जैसे नवम रस को नाट्य में स्थान नहीं देते इसकी विवेचना हम भूमिका के अगले भाग में करेंगे।

अभिनवगुप्त का समय दसवीं शती का अन्त तथा ग्यारहवीं शती का पूर्वभाग है। अभिनव की 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी' की रचना १०१५ ई० में हुई थी, इसका निर्देश स्वयं अभिनव ने ही किया है।

इति नवतितमेऽस्मिन् वत्सरान्ते युगांशे,
तिथिशशिजलधिस्थे मार्गशीर्षावसाने।
जगति विहितबोधामीश्वरप्रत्यभिज्ञां
व्यवृणुत परिपूर्णां प्रेरितश्शम्भुः पादैः॥

इस पद्य के अनुसार यह रचना कलिसंवत् ४०९० अथवा १०१५ ई० में हुई थी।

अभिनवगुप्त का रससिद्धान्त ही मम्मट से लेकर जगन्नाथ पण्डितराज तक मान्य रहा है। संस्कृत के अलङ्कारशास्त्र व नाट्यशास्त्र में अभिनवगुप्त की गणना पहली श्रेणीके आचार्यों में होती रही है।

(६) धनञ्जय:—प्रस्तुत ग्रन्थ 'दशरूपक' के रचयिता धनञ्जय विष्णु के पुत्र थे। ये मालवा के परमारवंश के राजा मुञ्ज (वाक्पतिराज द्वितीय) के राजकवि थे, जिनका समय ९७४-९९५ ई० माना जाता है। धनञ्जय ने अपने पिता व आश्रयदाता का निर्देश अपने ग्रन्थ के ही अन्त में किया है:—

विष्णोः सुतेनापि धनञ्जयेन विद्वन्मनोरागनिबन्धहेतुः।
आविष्कृतं मुञ्जमहीशगोष्ठीवैदग्ध्यभाजा दशरूपमेतत्॥

धनञ्जय की 'दशरूपक' की कारिकाएँ भरत के नाट्यशास्त्र के ही सिद्धान्तों का संक्षेप है। यही कारण है कि दो एक स्थानों पर किये गये कुछ परिवर्तनों के अतिरिक्त, जो प्रमुखतः नायिकाभेद तथा शृङ्गार रस के विषय में हैं,-धनञ्जय भरत के नाट्यशास्त्र का ही आश्रय लेते हैं। वैसे धनञ्जय आङ्गिक, वाचिक या आहार्य अभिनय के उस विस्तृत वर्णन में नहीं जाते, जो हमें नाट्यशास्त्र में उपलब्ध होता है। धनञ्जय

का प्रमुख लक्ष्य वस्तु, नेता तथा रस के विश्लेषण एवं रूपकों के प्रमुख दशभेदों के वर्णन तक ही सीमित है । धनञ्जय को अभीष्ट भी यही था, क्योंकि उनका लक्ष्य तो केवल **'नाट्यानां किन्तु किञ्चित् प्रगुणरचनया लक्षणं सङ्क्षिपामि—'** यही रहा है । धनञ्जय के नाटकसम्बन्धी, रससम्बन्धी या अन्य मतों का विशद विवेचन अगले पृष्ठों में किया जा रहा है ।

धनञ्जय के दशरूपक तथा इनके भाई के द्वारा इसी के कारिकाभाग पर लिखी वृत्ति अवलोक का एक विशेष महत्त्व है । धनञ्जय व धनिक के वस्तुविभाग, पाँच अर्थप्रकृति, अवस्था तथा सन्धियों के अङ्गविभाजन, अर्थोपक्षेपकों का वर्णन, नायक व नायिकाओं का अवस्थानुरूप मनोवैज्ञानिक विभाजन, उनके सहकारियों का वर्णन, रस व उनके साधनों का विश्लेषण का प्रभाव बाद के अलङ्कारशास्त्र व नाट्यशास्त्र के ग्रन्थों पर स्पष्ट परिलक्षित होता है । विद्यानाथ के प्रतापरुद्रीय का नायकनायिकाभेद इसका स्पष्टतः ऋणी है । विश्वनाथ के साहित्यदर्पण के तृतीय परिच्छेद का नायक-नायिकाभेद तथा षष्ठ परिच्छेद का दृश्यकाव्यविवेचन दशरूपक से ही प्रभावित है । यही तक नहीं भानुदत्त की रसमञ्जरी, रसतरङ्गिणी, भावमिश्र की रसतरङ्गी आदि रस व नायिकाभेद के ग्रन्थ भी इसके प्रभाव से अछूते नहीं । १६ वीं शताब्दी का गुणचन्द्र व रामचन्द्र का लिखा हुआ नाट्यशास्त्र का ग्रन्थ 'नाट्यदर्पण' भी दशरूपक को किसी हद तक उपजीव्य बनाकर चलता है । दशरूपक पर धनिक, बहुरूपभट्ट, नृसिंहभट्ट, देवपाणि, क्षोणीधरमिश्र, तथा कुरवीराम की टीकाएँ हैं । इनमें धनिक की अवलोक नामक वृत्ति ही प्रसिद्धि पा सकी है ।

(७) धनिकः—धनिक 'दशरूपक' कारिकाओं के रचयिता धनञ्जय के ही छोटे भाई थे । अवलोक के प्रत्येक प्रकाश के अन्त की पुष्पिका से यह स्पष्ट है कि वे विष्णु के पुत्र थे—

इति श्रीविष्णुसूनोर्धनिकस्य कृतौ दशरूपावलोके रसविचारो नाम चतुर्थः प्रकाशः समाप्तः ॥

कुछ लोगों के मतानुसार कारिकाभाग तथा वृत्तिभाग दोनों एक ही व्यक्ति की रचनाएँ हैं । कई अलङ्कारग्रन्थों में दशरूपक को धनिक की रचना बताया जाता है । यही कारण है कि कारिकाकार तथा वृत्तिकार की अभिन्नता वाला भ्रान्त मत प्रचलित हो गया है । अवलोक में ऐसे कई स्थल हैं जो इस बात का स्पष्ट निर्देश करते हैं, कि कारिकाभाग तथा वृत्तिभाग दो भिन्न भिन्न व्यक्तियों की रचनाएँ हैं ।

धनिक के मतों का विशेष विवेचन हम आगे करेंगे । वैसे धनिक पक्के अभिधावादी तथा व्यञ्जनाविरोधी हैं । वे रस के सम्बन्ध में भट्टनायक के मत को मानते हैं; यद्यपि उस मत में लोल्लट व शङ्कुक के मतों का कुछ मिश्रण कर लेते हैं । वे शान्त रस को नाट्य में स्थान नहीं देते । उनके इन सिद्धान्तों को हम आगे देखेंगे ।

धनिक ने 'अवलोक' के अतिरिक्त साहित्यशास्त्र पर एक दूसरे ग्रन्थ की भी रचना की थी, वह 'काव्यनिर्णय' था । धनिक अपनी वृत्ति के चतुर्थप्रकाश स्वयं इस

ग्रन्थ का उल्लेख करते हुए इससे ७ कारिकाएँ उद्धृत करते हैं—'**यथावोचाम काव्यनिर्णये**—' सम्भवतः यह ग्रन्थ कारिकाओं में था। धनिक स्वयं कवि भी थे। वे स्थान २ पर उदाहरणों के रूप में अपने पद्यों को भी उद्धृत करते हैं।

(८) **विश्वनाथः**—साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ महापात्र अलङ्कारशास्त्र के आचार्यों में माने जाते हैं। साहित्यदर्पण में इन्होंने नाट्यशास्त्र सम्बन्धी मतों का भी उल्लेख किया है। उनके ग्रन्थ का षष्ठ परिच्छेद दृश्यकाव्य का विवेचन करता है। विश्वनाथ व्यञ्जनावादी हैं, तथा रस के विषय में उनके सिद्धान्त अभिनवगुप्त के मत की ही छाया है। हाँ, वे एक दसवें रस–वात्सल्यरस–की स्थापना करते हैं।

विश्वनाथ का समय चौदहवीं शताब्दी में माना जा सकता है, क्योंकि साहित्यदर्पण में उदाहृत पद्यों में एक पद्य में अलाउद्दीन–सम्भवतः अलाउद्दीन खिलजी–का वर्णन मिलता है।[1] विश्वनाथ महाकवि चन्द्रशेखर के पुत्र थे। जो कलिङ्गराज के सान्धिविग्रहिक थे। विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण के अतिरिक्त कई काव्यनाटकादि की रचना की थी, जिनका उल्लेख साहित्यदर्पण में मिलता है।

(९) **रामचन्द्र–गुणचन्द्रकृत 'नाट्यदर्पणः'**—'नाट्यदर्पण' के ये दोनों रचयिता हेमचन्द्राचार्य के शिष्य थे। इनका समय १२ वीं शताब्दी माना जा सकता है। 'नाट्यदर्पण' का नाट्यशास्त्र के ग्रन्थों में एक दृष्टि से महत्त्व है। वह यह है कि नाट्यदर्पण में कई प्राचीन एवं अनुपलभ्य काव्यों तथा नाटकों के उद्धरण पाये जाते हैं। विशाखदेव या विशाखदत्त के देवीचन्द्रगुप्तम् जैसे कई महत्त्वपूर्ण अनुपलब्ध नाटकों का पता इसी ग्रन्थ से मिलता है।

कहा जाता है रामचन्द्र ने लगभग १०० ग्रन्थों की रचना की थी, जिनमें कई नाटक तथा काव्यग्रन्थ थे। रामचन्द्र के तीन चार ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। नाट्यदर्पण का प्रकाशन गायकवाड़ ओरियन्टल सीरिज से हुआ है।

संस्कृत के नाटकों व नाट्यशास्त्रपरक ग्रन्थों के इतिहास पर दृष्टिपात करते समय हमें यह पता चलता है कि १३–१४ वीं शती के बाद सैकड़ों नाटकों की रचना हुई पर एक भी ग्रन्थ नाट्यशास्त्र पर नहीं लिखा गया। इसका क्या कारण है ? नाटक या दृश्यकाव्य वस्तुतः रङ्गमञ्च की वस्तु है, खाली पढ़ने की नहीं। यवनों के भारत में आने से भारत की कला को कुछ धक्का अवश्य पहुँचा, विशेषकर संस्कृत दृश्यकाव्यों के रङ्गमञ्च को। साथ ही कवियों की प्रवृत्ति भी पाण्डित्यप्रदर्शन व जटिलता की ओर इतनी हो गई कि–रङ्गमञ्च से धीरे धीरे सम्पर्क छूटता गया। इसके बीज हम मुरारि के अनर्घराघव में ही देख सकते हैं। दूसरी ओर रङ्गमञ्च का ध्यान रखने वाले नाटकों में से भी कई नाट्यशास्त्र में वर्णित पञ्चसन्धियों के अङ्गों (सन्ध्यङ्गों) के निर्वाह के फेर में इतने पड़ गये कि स्वतन्त्र कला में वे धाघड़ से हो गये। भट्टनारायण के वेणीसंहार, तथा हर्ष की रत्नावली में इन सन्ध्यङ्गों का पूर्ण निर्वाह देखा जा सकता है।

---

१. सन्धौ सर्वस्वहरणं विग्रहे प्राणनिग्रहः। अलावदीननृपतौ न सन्धिर्न च विग्रहः॥

यह दूसरी बात है कि यह निर्वाह हर्ष की रत्नावली के सौन्दर्य को क्षुण्ण नहीं कर पाया है। साथ ही परम्परावादी भारतीय पण्डितों व कवियों ने भरत या अभिनवगुप्त की नाट्यशास्त्र सम्बन्धी तथा रससम्बन्धी मान्यताओं को अन्तिम मान लिया था। वे इन्हीं का अध्ययन, मनन व विवेचन करते रहे। नाट्यशास्त्र व रसशास्त्र में नई कल्पना, नई उद्भावना, नये विचारों के प्रदर्शन की लगन न रही। फलतः नये ग्रन्थ न बन पाये। हम देख चुके हैं 'भारती' के बाद के नाट्यशास्त्र के ग्रन्थ या तो भरत के नाट्यशास्त्र का संक्षेप है, या दशरूपक की नकल। रससिद्धान्त में ये अभिनव के पृष्ठगामी हैं। साथ ही ऐसे ग्रन्थों की गणना एक, दो, या अधिक से अधिक तीन ही है। इस गणना में हम कोरे रस व नायिकाभेद के संस्कृत ग्रन्थों को छोड़ देते हैं।

(२)

धनञ्जय कृत कारिकाएँ व धनिककृत वृत्ति (ग्रन्थ का संक्षेप)

जैसा कि हम बता चुके हैं दशरूपक कारिकाओं में लिखा हुआ ग्रन्थ है। धनञ्जय ने इसके कारिका भाग की रचना की है। इसकी 'अवलोक' नामक वृत्ति के रचयिता धनिक हैं। दशरूपक चार प्रकाशों में विभक्त ग्रन्थ है। इसके प्रथम प्रकाश में रूपकों का वर्णन, कथावस्तु या वस्तु के ६४ संध्यङ्गों का वर्णन, तथा अर्थोपक्षेपकों का वर्णन, किया गया है। द्वितीय प्रकाश नायक तथा नायिका के भेद, उनके गुण, क्रियाएँ तथा उनके सहचरों का वर्णन है। इसी प्रकाश में नाटकीय वृत्तियों का वर्णन किया गया है। तृतीय प्रकाश में दशरूपकों में प्रमुख नाटक का विशद रूप से सलक्षण विश्लेषण किया गया है। तदनन्तर अन्य नौ रूपकों के लक्षणों का निर्देश है। चतुर्थ प्रकाश में रस की विवेचना है। प्रथम, द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ प्रकाश के कारिका भाग में क्रमशः ६८, ७२, ७६, तथा ८४ कारिकाएँ हैं। इस गणना में अन्त के दो पद्य, प्रशस्ति के पद्य छोड़ दिये गये हैं। कारिका भाग में ७ पद्यों को छोड़कर बाकी सारी कारिकाएँ अनुष्टुप् छन्द में हैं।

धनिककृत वृत्ति गद्य में है। इसी वृत्तिभाग में लक्षणों के उदाहरणस्वरूप कई काव्यों तथा नाटकों से पद्यों को उद्धृत किया गया है। अवलोक के अभाव में दशरूपक की कारिकाएँ अपूर्ण हैं, इसी से दशरूपक की 'अवलोक' वृत्ति का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। यहाँ पर सावलोक दशरूपक की रूपरेखा संक्षेप में दे देना आवश्यक होगा।

प्रथम प्रकाश—आरम्भ में मङ्गलाचरण के पश्चात् कारिकाकार ने दशरूपक की रचना के उद्देश्य को बताया है। यहीं वह यह भी संकेत करता है कि दशरूपक कुछ नहीं भरत के नाट्यशास्त्र के मतों का ही संक्षेप है। तदनन्तर वह 'रूपकों में रस ही प्रमुख वस्तु है' इस मत का निर्देश करता है। दूसरों के फल की भाँति, इस ग्रन्थ का

भी फल 'रस' सिद्ध हो जाता है। भारतीय शास्त्रपरम्परा में शास्त्र के ४ अनुबन्ध[1] माने जाते हैं, इन्हें 'अनुबन्ध चतुष्टय' कहते हैं। ये अनुबन्ध हैं—विषय, अधिकारी, सम्बन्ध तथा प्रयोजन है। दशरूपककार ने आरम्भ में ही इनका विवेचन किया है। दशरूपक का विषय क्या है, इसके अध्ययन का अधिकारी कौन है, इस ग्रन्थ का विषय से क्या सम्बन्ध है, तथा इस ग्रन्थ रचना का क्या प्रयोजन है। प्रथम प्रकाश की चतुर्थ कारिका में धनञ्जय ने बताया है कि इस ग्रन्थ का विषय नाट्यवेद है। वह नाट्यवेद, जिसकी रचना में विरिञ्चि, शिव तथा पार्वती ने योग दिया है, जिसकी प्रयोगरचना भरतमुनि ने की है। ऐसे दिव्य, विशाल नाट्यवेद का संक्षेप, इस ग्रन्थ का विषय है, और उसका संक्षिप्त रूप रखना धनञ्जय का अभीष्ट प्रयोजन।

उद्धृत्योद्धृत्य सारं यमखिलनिगमान्नाट्यवेदं विरिञ्चि
श्चक्रे यस्य प्रयोगं मुनि रपि भरतस्ताण्डवं नीलकण्ठः।
शर्वाणी लास्य मस्य प्रतिपद मपरं लक्ष्म कः कर्तुमीष्टे
नाट्यानां किं तु किञ्चित् प्रगुणरचनया लक्षणं संक्षिपामि॥

इसके बाद की कारिका में धनञ्जय ने अधिकारी का सङ्केत करते हुए बताया है कि पण्डित लोग तो भरत का नाट्यशास्त्र ही पढ़ सकते हैं। हाँ, मन्दबुद्धि वहाँ अपनी गति नहीं पाते इसलिए उन लोगों के लिए ही नाट्यवेद का संक्षेप किया गया है।

व्याकीर्णे मन्दबुद्धीनां जायते मतिविभ्रमः।
तस्यार्थस्तत्पदै स्तेन संक्षिप्य क्रियतेऽञ्जसा॥

आगे चलकर धनञ्जय नाट्यवेद,-साथ ही दशरूपक-के सम्बन्ध का निर्वाह करते हुए उसके प्रयोजनरूप 'आनन्दास्वाद' का सङ्केत करते हैं।

अनुबन्ध चतुष्टय के प्रकाशन के बाद कारिकाकार प्रस्तुत विषय की ओर बढ़ते हैं। आरम्भ में नाट्य, रूप, तथा रूपक की परिभाषा दी गई है, तथा रूपकों के दस भेदों का उद्देश—नाममात्र के द्वारा उनका सङ्कीर्तन-किया गया है। इनके लक्षण आगे तृतीय प्रकाश में दिये गये हैं। इसके बाद नृत्य तथा नृत्त, के परस्पर भेद व इनके प्रकारों का सङ्केत है, क्योंकि ये रूपकों के अन्तर्गत प्रयुक्त होते हैं, उसके उपकारक व शोभाविधायक हैं।

तदनन्तर रूपक के ३ भेदकों-वस्तु, नेता तथा रस का निर्देश कर वस्तु की विवेचना आरम्भ की जाती है। वस्तु के आधिकारिक तथा प्रासङ्गिक दो भेद बताकर पताका के प्रसङ्ग में पताकास्थानकों का वर्णन किया गया है। फिर वस्तु के भेदों तथा उसकी पाँच अर्थप्रकृतियों, पाँच अवस्थाओं, पाँच सन्धियों, ६४ संध्यङ्गों का सलक्षण वर्णन है। फिर विष्कम्भक, प्रवेशक, चूलिका, अङ्कास्य तथा अङ्कावतार इन ५ अर्थोपक्षेपकों का निर्देश है।

द्वितीय प्रकाश में रूपकों के दूसरे भेदक नायक या नेता का विवेचन है। नायक के गुणों का उल्लेख करने पर उसके ४ भेद, धीरोदात्त धीरशान्त, धीरललित तथा

[1] अनुबन्ध उसे कहते हैं, जो हमें किसी ज्ञान में प्रवृत्त होने की प्रवृत्ति के प्रयोजकज्ञान का विषय है—अर्थात् वह वस्तु जो हमें किसी प्रवृत्ति की ओर ले जाते हैं:—'प्रवृत्तिप्रयोजकज्ञानविषयत्व मनुबन्धत्वम्।'

धीरोद्धत के लक्षण उपस्थित किये गये हैं। इसके बाद पताकानायक-पीठमर्द, तथा अन्य नेतृसहचरों का वर्णन है। तदनन्तर नायक के सात्त्विक गुणों का सलक्षण वर्णन है। नायक के बाद नायिका का विवेचन प्राप्त होता है। नायिका के तेरह भेदों का सलक्षण वर्णन करते हुए उसके अवस्थानुरूप स्वाधीनभर्तृकादि आठ भेदों का भी लक्षण किया गया है। तब नायिका के बीस अलङ्कारों-शारीरिक, अयत्नज, तथा स्वभावज अलङ्कारों का-वर्णन मिलता है। इसके बाद नायक के परिच्छद (Paraphernalia) का वर्णन कर उसके व्यापाररूप चार नाट्यवृत्तियों-कैशिकी, सात्त्वती, आरभटी तथा भारती का निर्देश किया गया है। इसी सम्बन्ध में प्रथम तीन वृत्तियों के अङ्गों का सलक्षण वर्णन है। तदनन्तर कौन पात्र किसे किस तरह सम्बोधित करे इसका उल्लेख है।

तृतीय प्रकाश में काव्य की स्थापना या प्रस्तावना के प्रकारों का वर्णन है। यहीं भारती वृत्ति तथा उसके अङ्गों का वर्णन है। तदनन्तर प्रस्तावना के तीन प्रकारों—कथोद्घात, प्रवृत्तक, तथा अवलगित का निर्देश है। इसके बाद तेरह वीथ्यङ्गों का वर्णन है। इसी प्रकाश में रूपकों के प्रकरणादि अन्यभेदों का लक्षण बताया गया है।

दशरूपक के चौथे प्रकाश का विशेष महत्त्व है। इस प्रकाश में रस की विवेचना की गई है। रस की परिभाषा बताने के बाद उसके साधनों-विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव तथा व्यभिचारियों का विस्तार से वर्णन किया गया है। अवलोककार ने उन्हें सुन्दर उदाहरण देकर स्पष्ट किया है। तदनन्तर स्थायी भाव के स्वरूप का वर्णन है। यहीं वृत्तिकार ने रसविरोध तथा भावविरोध के सम्बन्ध में अपने मत उपन्यस्त किये हैं। इसके बाद आठ भावों तथा आठ रसों का उल्लेख करते हुए 'शम' नामक स्थायी भाव की स्थिति का नाट्य में खण्डन किया गया है। इसी प्रसङ्ग में रस के व्यङ्ग्यत्व वाले ध्वनिवादी सिद्धान्त का डटकर खण्डन किया गया है। ध्वनिकार के मतों को उद्धृत करके वृत्तिकार उनके व्यञ्जना वृत्ति वाले मत का खण्डन करता है, तथा यह सिद्ध करता है कि व्यङ्ग्यार्थ जैसी कोई वस्तु है ही नहीं, यह सब तात्पर्यार्थ ही है। यहीं वह रस के भावनावादी सिद्धान्त पर जोर देता है तथा विभावादि को भावक एवं रस को भाव्य मानता है। रस के स्वरूप तथा भेदों की विवेचना करने के बाद ग्रन्थ की परिसमाप्ति हो जाती है।

यहाँ हमने दशरूपककार के कारिका भाग तथा वृत्तिभाग के विषय का संक्षेप देने की चेष्टा की। दशरूपककार व वृत्तिकार के नाट्यशास्त्र एवं रस सम्बन्धी अभिनव सिद्धान्तों या मान्यताओं का विशद विवेचना हम भूमिका के अगले भाग में करेंगे।

(४)

रूपक, उनके भेद व भेदक तत्त्व

अंगरेजी में जिस अर्थ में 'ड्रामा' (Drama) शब्द का प्रयोग होता है, उस अर्थ में संस्कृत साहित्य में 'रूपक' शब्द का प्रयोग पाया जाता है। वैसे अधिकतर इस आंग्ल शब्द का अर्थ 'नाटक' शब्द के द्वारा किया जाता है, किन्तु नाटक रूपकों

का एक भेद-मात्र है, वह रूपकों के दस प्रकारों में से एक प्रकार है। वैसे यह प्रकार रूपक का प्रमुख भेद है। जब हम काव्य की विवेचना करने बैठते हैं, तो देखते हैं कि काव्य के दो प्रकार हो सकते हैं—एक श्रव्य काव्य, दूसरा दृश्य काव्य। पहला काव्य सुनने या पढ़ने की वस्तु है, इसमें श्रवणेन्द्रिय के द्वारा बुद्धि एवं हृदय का सम्पर्क काव्य के साथ होता है। दूसरा काव्य मुख्य रूप से देखने की वस्तु है, वैसे यहाँ भी पात्रों के संलाप में श्रव्यत्व रहता है। श्रव्य काव्य का कोई रङ्गमञ्च नहीं, वह अध्ययन-कक्ष की वस्तु है, जब कि दृश्यकाव्य रङ्गमञ्च की वस्तु है, उसका लक्ष्य अभिनय के द्वारा सामाजिकों का मनोरञ्जन, उनमें रसोद्बोध उत्पन्न करना है। यही दृश्य काव्य 'रूपक' कहलाता है। इसे 'रूपक' इसलिए कहा जाता है कि इसमें नट पर तत्तत् पात्र का, रामादि का आरोप कर लिया जाता है[1] उदाहरण के लिए 'भरत-मिलाप' या 'रामराज्य' के चलचित्रों में एक नटविशेष-प्रेम अदीब-पर रामकी, दशरथ अवस्था का, आरोप किया गया है।

प्रमुख रूप से रूपक के दस भेद किए गये हैं। वैसे तो रूपकों से ही सम्बद्ध १८ उपरूपक माने जाते हैं और भरत तथा विश्वनाथ ने उनका उल्लेख किया है, किन्तु धनञ्जय व धनिक ने उपरूपकों का वर्णन नहीं किया है। यह दूसरी बात है कि तृतीय प्रकाश में प्रसङ्गवश उपरूपक के एक प्रमुख भेद-नाटिका-का विवेचन मिलता है। प्रकरणिका, भाणिका, हल्लीश, श्रीगदित, रासक आदि दूसरे उपरूपकों का वहाँ कोई सङ्केत नहीं। वस्तुतः इनमें से कई भेद रूपकों के ही अवान्तर रूप हैं और कुछ भेद ऐसे भी हैं, जिनका सम्बन्ध काव्य से न होकर प्रमुखतः सङ्गीत-कला व नृत्य-कला से है। रूपकों के ये दस भेद-वस्तु, नेता, तथा रस के आधार पर किये जाते हैं।[2] किसी एक रूपक-प्रकार की कथावस्तु (Plot), उसका नायक-नायक की प्रकृति, तथा उसका प्रतिपाद्य रस उसे अन्य प्रकारों से भिन्न करता है। इसी प्रकार इन दसों रूपकों में से प्रत्येक एक दूसरे से, वस्तु, नेता, व रस की दृष्टि से भिन्न है। ये दस रूपक-ये हैं:—नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, डिम, ईहामृग, अङ्क, वीथी और प्रहसन।

नाटकं सथ प्रकरणं भाण व्यायोगसमवकारडिमाः।
ईहामृगाङ्कवीथ्यः प्रहसन मिति रूपकाणि दश ॥

दशरूपककार की पद्धति का वर्णन करते हुए हमारे लिए ठीक यह होगा कि पहले इन तीन भेदकों—वस्तु, नेता तथा रस का विश्लेषण कर दें, फिर प्रत्येक रूपक की विवेचना करें। इन तीन भेदकों के विषय में अधिकतर यह माना जाता है कि ये नाटक के तीन तत्त्व हैं, ठीक वैसे ही जैसे अरस्तू ने रूपक के-प्रमुख रूप से त्रासद

---

१. रूपकं तत्समारोपात् ॥ (कारिका) नटे रामाद्यवस्थारोपेण वर्तमानत्वाद्रूपकं मुखचन्द्रादिवत् ॥ (दशरूपकावलोक)

२. वस्तु नेता रसस्तेषां भेदक—(वही)

(Tragedy) के ६ अङ्ग माने हैं । अरस्तू के मतानुसार रूपक के छः अङ्ग, १. इतिवृत्त, २. आचार, ३. वर्णनशैली, ४. विचार, ५. दृश्य तथा ६. गीत हैं। कुछ विद्वान् इन्हें तत्त्व मानने से सहमत नहीं। वे इन्हें केवल 'भेदक' कहना ठीक समझते हैं। किसी रूपक के तत्त्व उनके मत से १. कथा, २. संवाद और ३. रङ्गनिर्देश ये तीन हैं । इन्हीं तीनों में अरस्तू के रूपक के छहों अङ्ग अन्तर्भावित हो जाते हैं। हमें यहाँ भेदकों का ही वर्णन करना अभीष्ट है।

(१) कथा, वस्तु या इतिवृत्तः—रूपकों का पहला भेदक वस्तु है । इसे ही कथा, इतिवृत्त, कथावस्तु (Plot) आदि नाम से भी पुकारते हैं। वस्तु दो प्रकार की होती है, एक आधिकारिक, दूसरी प्रासङ्गिक । आधिकारिक कथावस्तु मूल वस्तु, तथा प्रासङ्गिक कथावस्तु गौण होती है । आधिकारिक वस्तु की यह संज्ञा इस लिए की गई है, कि इसका सम्बन्ध 'अधिकार' नायक के फलस्वामित्व, या फलप्राप्त करने की योग्यता से है । आधिकारिक वस्तु रूपक के नायक के फल की प्राप्ति से सम्बद्ध होती है, यह नायक के जीवन की उस महासरिता से सम्बद्ध है, जो निश्चित फल की, निश्चित लक्ष्य की ओर बढ़ती है । प्रासङ्गिक वस्तु इसी महासरिता में गिर कर उसके प्रवाह में अपनापन खो देने वाले, किन्तु आधिकारिक वस्तु को गति देने वाले क्षुद्र नदी, नद व नाले हैं। उदाहरण के लिए रामायण की वस्तु में रामचन्द्र की कथा आधिकारिक वस्तु है, सुग्रीव या शबरी की कथा प्रासङ्गिक।

प्रासङ्गिक वस्तु के भी दो भेद किए जाते हैं—पताका तथा प्रकरी । जो कथा काव्य या रूपक में बराबर चलती रहती है–सानुबन्ध होती है—उसे पताका कहते हैं। इस पताका कथा वस्तु का नायक अलग से होता है, जो अधिकारिक वस्तु के नायक का साथी होता है, तथा उससे गुणों में कुछ ही न्यून होता है । इसे 'पताका-नायक' कहते हैं । उदाहरणार्थ, रामायण का सुग्रीव, या मालतीमाधव का मकरन्द पताका-नायक है, तथा उनकी कथा पताका । जो कथा काव्य या रूपक में कुछ ही काल तक चलकर रुक जाती है, वह 'प्रकरी' नामक प्रासङ्गिक कथा वस्तु होती है । रामायण की शबरी वाली कहानी 'प्रकरी' है। जैसा कि हम पहले बता चुके हैं पताका व प्रकरी आधिकारिक कथा के प्रवाह में ही योग देती हैं। सुग्रीव व शबरी की कहानी राम-कथा को आगे बढ़ाने में सहकारी सिद्ध होती हैं।

इस इतिवृत्त के मूल तथा प्रकृति के विषय में भी नाट्यशास्त्र के ग्रन्थों में संकेत दिया गया है। इतिवृत्त मूल की दृष्टि से तीन तरह का होता है:—१ प्रख्यात, २ उत्पाद्य तथा ३ मिश्र। प्रख्यात इतिवृत्त रामायण, महाभारत, पुराण या बृहत्कथादि ऐतिहासिक ग्रन्थों के आधार पर होता है। इस प्रकार का इतिवृत्त प्रसिद्ध कथा से सम्बद्ध रहता है। उदाहरणार्थ, भवभूति के उत्तररचरित तथा मुरारि के अनर्घराघव की कथा रामायण से ली गई है। कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' की कथा महाभारत तथा पद्मपुराण से गृहीत है। भास के स्वप्नवासवदत्तम्, प्रतिज्ञायौगन्धरायणम्; विशाखदत्त

वा मुद्राराक्षस ऐतिहासिक इतिवृत्त से सम्बद्ध है। इनका मूल गुणाढ्य की बृहत्कथा में भी है। जैसा कि हम देखेंगे, नाटक के लिए यह परमावश्यक है कि उसका वृत्त प्रख्यात हो। दशरूपककार ने इतिवृत्त के मूल के विषय में लिखते हुए कहा है—

इत्याद्यशेष मिह वस्तुविभेदजातम्,
रामायणादि च विभाव्य बृहत्कथा च।
आसूत्रये त्तदनु नेतृरसानुगुण्या-
च्चित्रां कथा मुचितचारुवचःप्रपञ्चैः॥

प्रख्यात इतिवृत्त के निर्वाह में कवि या नाटककार को बड़ी सावधानी बरतनी पड़ती है। वह कथा के प्रख्यात इतिवृत्त में अपनी कल्पना के अनुसार हेरफेर करके उसकी वास्तविकता को नहीं बिगाड़ सकता। ऐसा करने से सामाजिकों की वृत्ति को दुःख होता है। उदाहरण के लिए बङ्गाली कवि माइकेल मधुसूदनदत्त के 'मेघनादवध' में मेघनाद का उच्च आदर्श रूप में उपस्थित करना प्रख्यात इतिवृत्त को ठेस पहुँचाता है। इसी तरह का हेरफेर कथा के प्रख्यातत्व को क्षुण्ण करता है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि कवि प्रख्यात इतिवृत्त में कोई हेरफेर कर ही नहीं सकता। यदि प्रख्यात इतिवृत्त की गति कुछ ऐसी हो कि वह नायक के गुणों, उसके धीरोदात्तत्व में बाधक होती हो, तो ऐसी दशा में रस के अनौचित्य दोष को हटाने के लिए कथा के उस अंश में कवि मजे से परिवर्तन कर सकता है। शाकुन्तल नाटक में विवाह के बाद भी शकुन्तला को भूल जाने की दुष्यन्तवाली घटना पद्मपुराण में है। वहाँ दुर्वासाशाप का कोई हवाला नहीं। यह घटना दुष्यन्त के कामुकत्व को स्पष्ट कर उसके चरित्र को नीचा गिरा देती है। कालिदास ने दुष्यन्त के धीरोदात्तत्व को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए दुर्वासाशाप की कल्पना कर ली है।[1] इसी तरह भवभूति ने भी अपने 'महावीर-चरित' में रामभद्र (रामचन्द्र) के धीरोदात्तत्व की रक्षा के लिए वालिवध की प्रसिद्ध घटना में हेर-फेर कर दिया है। प्रख्यात घटना है कि राम ने वालि का वध छल से किया था, पर यह रस के ठीक नहीं पड़ता, न राम के उदात्त चरित्र के ही। अतः भवभूति ने यह कल्पना की है कि वालि स्वयं रामचन्द्र से लड़ने आया और मारा गया।

उत्पाद्य इतिवृत्त कवि का स्वयं का कल्पित होता है—उत्पाद्य कविकल्पितम्। इस इतिवृत्त का प्रयोग कई प्रकार के रूपकों में देखा जाता है, यथा प्रकरण, भाण, प्रहसन। शूद्रक के मृच्छकटिक, भवभूति के मालतीमाधव आदि की कथा उत्पाद्य ही है।

मिश्र इतिवृत्त की पृष्ठभूमि प्रख्यात होती है, पर उसमें बहुत-सा अंश कल्पित भी होता है।

रूपक के समस्त इतिवृत्त को हम कुछ स्थितियों में बाँट लेते हैं। इतिवृत्त को पाँच अर्थप्रकृतियों, पाँच अवस्थाओं तथा पाँच सन्धियों में विभक्त किया जाता है।

---

१ विचिन्तयन्ती य मनन्यमानसा तपोधनं वेत्सि न मामुपस्थितम्।
स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि सन् कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव॥
(शाकुन्तल, चतुर्थ अङ्क)

अर्थप्रकृतियाँ	अवस्थाएँ	सन्धियाँ
१ बीज	आरम्भ	मुख
२ बिन्दु	यत्न	प्रतिमुख
३ पताका	प्राप्त्याशा	गर्भ
४ प्रकरी	नियताप्ति	विमर्श
५ कार्य	फलागम	उपसंहृति

अर्थप्रकृतियाँ नाटकीय इतिवृत्त के पाँच तत्त्व हैं। सारे नाटकीय इतिवृत्त इन नाटकीय तत्त्वों में विभक्त होते हैं। बीज, वृक्ष के बीज की तरह वह तत्त्व है, जो अङ्कुरित होकर नायक के कार्य या फल की ओर बढ़ता है। बिन्दु वह स्थिति है, जब बीज पानी में गिरे तैल के बूँद की तरह फैलता है। इस दशा में इतिवृत्त का बीज फैल कर व्यक्त होने लगता है। पताका के अन्तर्गत पताका नामक आसङ्गिक इतिवृत्त, तथा प्रकरी में दूसरी प्रासङ्गिक वस्तु होती है, यह हम बता चुके हैं।

अवस्थाएं नाटकीय इतिवृत्त की गति को व्यक्त करती हैं। हम देखते हैं मानव का जीवन एक सीधी रेखा की तरह अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँचता। वह टेढ़ा मेढ़ा होता हुआ, अपने उद्देश्य तक पहुँचता है। मानव का जीवन सङ्घर्ष से भरा हुआ है, ये सङ्घर्ष ही उसे गति देते हैं। सङ्घर्ष की चट्टानों को तोड़ता, उन पर विजय प्राप्त करता, आशा और उल्लास के साथ आगे बढ़ता है। मोक्ष जैसी परमानन्द की स्थिति का विश्वासी भारतीय निराशावादी नहीं, सङ्घर्षों से वह डरता नहीं, सङ्घर्ष तो उसकी परीक्षा हैं। यदि वह उनसे निराश भी होता है, दुखी भी होता है, तो वह निराशा, वह दुःख क्षणिक होता है। उस दुःख के काले पर्दे के पीछे सुख, आशा, उल्लास, आनन्द का दिव्य प्रकाश छिपा रहता है। भाव यह है, भारतीय को इस बात में पूर्ण विश्वास है कि जीवन के सङ्घर्षों, विघ्नों पर अवश्य विजय प्राप्त करेगा, उसे अपने लक्ष्य तथा उद्देश्य की प्राप्ति में सफलता मिलेगी, इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं। भारतीय जीवन के 'फलागम' में पूर्ण विश्वास करता है। मानवजीवन का लक्ष्य ही धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष–चतुर्वर्ग फल प्राप्ति है। हम भारतीयों की धारणा पाश्चात्यों की तरह निराशावादी नहीं रही है। यह दूसरी बात है कि यहाँ भी कुछ निराशावादी सिद्धान्त अङ्कुरित हुए, पर आशावाद के प्रताप में वे कुलस-से गये।

काव्य या नाटक का इतिवृत्त कुछ नहीं मानव–जीवन का प्रतिबिम्ब है। 'नाटक मानवप्रकृति का दर्पण है।' भारतीय नाटक साहित्य में, (संस्कृत नाटकसाहित्य में) भारतीय मानव–जीवन पूर्णतः प्रतिबिम्बित हुआ है। यह दूसरी बात है कि उनमें सार्वदेशिकता, सार्वकालिकता, तथा मानव–जीवन के शाश्वत–मूल्यों का भी प्रदर्शन है। भारतीयों के आशावादी दृष्टिकोण के ही कारण यहाँ के नाटकों के नायक के लिए फल प्राप्ति आवश्यक है। नाटक का नायक सङ्घर्षों तथा विघ्नों को कुचलता, पददलित करता दुर्धर्ष गति से आगे बढ़े, तथा अपने लक्ष्य को प्राप्त करे। फलतः यहाँ के इतिवृत्तों का अन्त फल प्राप्ति में ही होगा, नायक की सफलता में ही

होगा; फलभार में या उसकी असफलता में नहीं। यही कारण है कि निराशावादी ग्रीस की तरह भरत ने दुःखान्तकियों या त्रासदों (Tregedy) को जन्म नहीं दिया। यहाँ के नाटकों का इतिवृत्त सदा सुखान्त रहा है। यहाँ के समस्त नाटक उल्लासान्त या सुखान्त (Comedies) है। किन्तु ग्रीस देश के त्रासदों की महत्ता की यहाँ कमी नहीं। भारतीय नाटक वस्तुतः उस अर्थ में 'कॉमेडीज़' नहीं, जो अर्थ इसका वहाँ लिया जाता है। वहाँ 'कॉमेडी' के अन्तर्गत व्यंग्यात्मक प्रहसन आते हैं। इस कोटि में हमारे भाण या प्रहसन आयेंगे। ट्रेजेडी के अन्तर्गत वे महापुरुषों के उदात्त चरित्र को हमारे सामने रखते हैं। ये महापुरुष विरोधी शक्तियों पर विजय प्राप्त नहीं कर पाते, फलतः उनका करुणमय पतन बताया जाता है। निराशावाद का इस प्रकार का परिणाम आवश्यक है। यह दूसरी बात है कि इन महापुरुषों के चरित्र में कुछ ऐसी कमी अवश्य चित्रित की जाती है, जो उन्हें असफलता की ओर ले जाती है। शेक्सपियर के हेमलेट या मेकबेथ उदात्त एवं महापुरुष हैं। किन्तु उनके चरित्र में कुछ कमी भी है, जो उन्हें मृत्यु के गर्त में ले जाती है। नाटक की समाप्ति के साथ सामाजिक के हृदय में उन महापुरुषों की नियतिगत दुरवस्था पर दया उमड़ आती है, वह उनके प्रति सहानुभूति दिखाता है। दूसरी ओर वह जीवन के निराशामय वातावरण के विश्वास की पुष्टि करता है, कोरा भाग्यवादी बन जाता है। ग्रीस की 'दुःखान्तकियाँ' हमें नियतिवादी बनाती हैं, संस्कृत के 'सुखान्त' हमें पुरुषार्थवादी। किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि संस्कृत के नाटकों में संघर्षों या विघ्नों का चित्र उपस्थित करने में कोई कसर रहती है। संघर्ष व विघ्नों का दुर्दम्य रूप उपस्थित करने में संस्कृत नाटककार कुशल है, और उसका नायक भी उन पर विजय पाने में सफल। यही कारण है कि यहाँ नाटकों में एक ओर ग्रीस देश की 'दुखान्तकियों' के तत्त्व की भी स्थिति होती है। यही कारण है कि कुछ लोगों ने संस्कृत के नाटकों को कोरे सुखान्त न कहकर 'सुखोन्मुख दुःखपरक' (Tragi-comedy) माना है। इस सब विवेचन से हमारा तात्पर्य यह है कि नाटकीय इतिवृत्त की ऊपर की पाँच अवस्थाओं में भारतीय दृष्टि से 'फलागम' का विशेष महत्त्व है।

नाटकीय कथा वस्तु की पहली अवस्था आरम्भ है। इस अवस्था के अन्तर्गत नेता में किसी वस्तु की प्राप्ति की इच्छा होती है, यह दूसरी बात है कि उसका प्रकाशन कोई दूसरा पात्र करे। दूसरी अवस्था प्रयत्न है, जब नायक उस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए यत्नशील होता है। तीसरी अवस्था-प्राप्त्याशा में, विघ्नादि के विचार कर लेने के बाद नायक को लक्ष्य प्राप्ति की सम्भावना हो जाती है। चौथी अवस्था-नियताप्ति में उसे सफलता का पूरा विश्वास हो जाता है और पाँचवीं अवस्था में वह 'फलागम' तक पहुँच जाता है। उदाहरण के लिए शकुन्तला नाटक में 'असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा' आदि के द्वारा राजा में शकुन्तला की प्राप्ति की इच्छा के द्वारा आरम्भ अवस्था व्यक्त की गई है। तदनन्तर वह उसकी प्राप्ति के लिए दूसरे व तीसरे अङ्क में प्रयत्नशील है। यही 'प्रयत्न' नामक अवस्था है। चतुर्थ अङ्क में

दुर्वासा का क्रोध विघ्नरूप में उपस्थित होता है, किन्तु वहीं हमें पता चलता है कि उनका क्रोध शान्त हो गया है, और सामाजिकों को नायक दुष्यन्त की शकुन्तला प्राप्ति की सम्भावना हो जाती है। यहाँ प्राप्त्याशा नामक अवस्था है। छठे अङ्क में मुद्रिका के फिर से मिल जाने पर शकुन्तला प्राप्ति नियत हो जाती है। यह प्राप्ति अगले अङ्क में होती है, अतः यहाँ 'नियताप्ति' है। सातवें अङ्क में नायक व नायिका का मिलन हो जाता है, नायक को फल प्राप्ति हो जाती है। यहाँ 'फलागम' नामक अवस्था पाई जाती है।

अर्थप्रकृति तथा अवस्था के अतिरिक्त नाटक की कथावस्तु में पाँच सन्धियाँ भी होती हैं। इन्हें सन्धियाँ इसलिए कहते हैं कि ये पाँच अर्थप्रकृतियों व पाँच अवस्थाओं के मिश्रण से बनती हैं —

> अर्थप्रकृतयः पञ्च पञ्चावस्थासमन्विताः।
> यथासंख्येन जायन्ते मुखाद्याः पञ्च सन्धयः॥
>
> (प्रथम प्रकाश, श्लो॰ २२)

जैसा कि ऊपर पाँचों अर्थप्रकृतियों, अवस्थाओं तथा सन्धियों के नामनिर्देश में बताया है इनका क्रमशः एक दूसरे से सम्बन्ध है। बीज तथा आरम्भ मिलकर मुख को, बिन्दु तथा प्रयत्न मिलकर प्रतिमुख को, पताका तथा प्राप्त्याशा मिलकर गर्भ को, प्रकरी तथा नियताप्ति मिलकर विमर्श को, एवं कार्य तथा फलागम मिलकर उप-संहृति या निर्वहण को जन्म देते हैं। जैसे, शकुन्तला नाटक में प्रथम अङ्क से लेकर द्वितीय अङ्क के उस स्थल तक जब सेनापति चला जाता है, तथा दुष्यन्त कहता है— 'विश्रामं लभतामिदं च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः' मुख सन्धि है। तद-नन्तर तृतीय अङ्क के अन्त तक प्रतिमुख सन्धि है। चतुर्थ अङ्क से पाँचवें अंक के उस स्थल तक जहाँ गौतमी शकुन्तला का अवगुण्ठन हटाती है, गर्भसन्धि है। पाँचवें अङ्क के शेष अंश तथा सम्पूर्ण षष्ठ अङ्क में विमर्श सन्धि है। तदनन्तर सप्तम अङ्क में निर्वहण सन्धि पाई जाती है। एक दूसरा उदाहरण हम रत्नावली से ले सकते हैं। रत्नावली के प्रथम अङ्क व द्वितीय अङ्क के उस स्थल तक जहाँ रत्नावली (सागरिका) वत्सराज उदयन का चित्र बनाना चाहती है, मुखसन्धि है। दूसरे अङ्क के शेष भाग में प्रतिमुख सन्धि है। तृतीय अङ्क में गर्भसन्धि पाई जाती है। चतुर्थ अङ्क में अग्नि काण्डवाली घटना तक विमर्श सन्धि है, तदनन्तर निर्वहण।

पाँचों सन्धियों को ६४ सन्ध्यङ्गों में विभक्त किया गया है। हम यहाँ सन्ध्यङ्गों के नामनिर्देशन में न जायेंगे। सन्ध्यङ्गों के इस विशाल विभाग के विषय में विद्वानों के दो मत हैं कुछ लोग इन्हें जटिल तथा अनावश्यक मानते हैं। डॉ॰ ए॰ बी॰ कीथ की मान्यता है [illegible] नाटकीय इतिवृत्त की दृष्टि से यह विभाजन कोई वास्तविक मूल्य नहीं रखता।[1] रुद्रट के मतानुसार प्रत्येक सन्ध्यङ्ग का प्रयोग अपनी ही सन्धि में करना उपयुक्त

---

[1] कीथ—संस्कृत ड्रामा पृ॰ २९९।

है। किन्तु, दूसरे विद्वानों के मत से सन्ध्यङ्गों के लिए यह नियम निर्धारण ठीक नहीं। साथ ही यह भी आवश्यक नहीं कि नाटकादि में इन ६४ सन्ध्यङ्गों का, सभी का प्रयोग किया जाय। वैसे भट्टनारायण के वेणीसंहार जैसी नाटक-कृतियाँ ऐसी पाई जाती है, जिन्होंने इन सन्ध्यङ्गों का पूरा निर्वाह करने की चेष्टा की है। पर इसका परिणाम यह हुआ है कि भट्टनारायण को वेणीसंहार के द्वितीय अङ्क में भानुमती-दुर्योधन वाले प्रेमालाप की रचना जबर्दस्ती करनी पड़ी है। यह काव्य के रस में न केवल बाधक हुआ है, अपि तु उसने दुर्योधन के चरित्र को उपस्थित करने में गड़बड़ी कर दी है।

कथावस्तु के इस विभाजन के विषय में कीथ का मत है 'कि जहाँ तक सन्धियों,का प्रश्न है, उनका विभाजन इसलिए ठीक है कि इनमें नाटकीय सङ्घर्ष पर ज़ोर दिया गया है, जिस प्रकार नायक विघ्नों पर विजय प्राप्त करके फलप्राप्ति की ओर बढ़ता है यह इस विभाजन का लक्ष्य है किन्तु अर्थप्रकृति की कल्पना व्यर्थ की जान पड़ती है। सन्धियों की कल्पना कर लेने के बाद अर्थप्रकृति का विभाजन अनावश्यक है। साथ ही पाँच सन्धियों का पाँचों अर्थप्रकृतियों व पाँचों अवस्थाओं से क्रम से मेल मिलाने की योजना दोषपूर्ण है।' पाँचों सन्धियाँ कथावस्तु में आवश्यक हैं, विशेष कर नाटक की वस्तु में, क्योंकि उसे 'पञ्चसन्धिसमन्वित' होना ही चाहिए। यह दूसरी बात है कि कई रूपक ऐसे हैं, जिनमें पाँचों सन्धियाँ न होकर चार या तीन ही सन्धियाँ पाई जाती हैं। हम यहाँ नाटक की इन पाँच सन्धियों की गति को एक रेखाचित्र से व्यक्त कर देते हैं।



कथावस्तु के विभाजन पर विचार किया गया। हम देखते हैं दृश्य काव्य रङ्गमञ्च की वस्तु है। उसे रङ्गमञ्च की आवश्यकता के अनुसार दृश्यों का नियोजन करना होता है। कथा-सूत्रों में कई ऐसे भी होते हैं, जिन्हें मञ्च पर नहीं दिखाया जा सकता। कुछ को तो इसलिए कि उसमें समय विशेष लगता है, और कुछ को इसलिए कि वे दर्शकों पर बुरा प्रभाव डाल सकते हैं। कुछ ऐसे भी कथा-सूत्र होते हैं, जो कथा-निर्वाह के लिए जरूरी तो है, पर इतने जरूरी नहीं कि उन्हें मञ्च पर बताया जाय। इस तरह हम दो प्रकार के कथा सूत्र मान सकते हैं—१ दृश्य, तथा २ सूच्य। दृश्य कथासूत्र मञ्च पर दिखाये जाते हैं, उनका अभिनय किया जाता है, सूच्य कथासूत्रों की पात्रों के संवाद के द्वारा सूचना मात्र दे दी जाती है। ये सूचना देने वाले पात्र प्रायः अप्रधान पात्र होते हैं। कभी-कभी सूच्य कथासूत्रों की सूचना नेपथ्य से भी दी जाती है। इन कथासूत्रों के सूचनाप्रकार 'अर्थोपक्षेपक' कह-

लाते हैं, क्योंकि ये सूच्य अर्थ को आक्षिप्त करते हैं। अर्थोपक्षेपक पाँच प्रकार के होते हैं —१ विष्कम्भक, २ प्रवेशक, ३ चूलिका, ४ अङ्कास्य तथा ५. अङ्कावतार। इन पाँचों प्रकार के अर्थोपक्षेपकों में विष्कम्भक तथा प्रवेशक का विशेष महत्त्व है, इन्हीं का प्रयोग नाटकों में प्राय देखा जाता है। हम इन दोनों की विवेचना बाद में करेंगे। पहले, चूलिकादि तीन अर्थोपक्षेपकों को ले लें।

चूलिका में सूच्य अर्थ की सूचना नेपथ्य से, या यवनिका के भीतर से दी जाती है। अङ्कास्य वहाँ होता है, जहाँ किसी अङ्क के अन्त में किसी ऐसी बात की सूचना दी जाय, जिससे अगले अङ्क का आरम्भ हो रहा हो। अङ्कावतार में पहले अङ्क के पात्र पूर्व अङ्क के अर्थ को विच्छिन्न किए बिना ही दूसरे अङ्क में आ जाते हैं। अङ्कास्य या अङ्कावतार में पात्रों के संवाद के द्वारा सूच्य अर्थ की सूचना दी जाती है।

विष्कम्भक तथा प्रवेशक में भी विष्कम्भक विशेष प्रधान है। प्रवेशक विष्कम्भक का ही दूसरा रूप कहा जा सकता है, जहाँ नीच पात्र होते हैं, तथा उसका प्रयोग प्रथम अङ्क के आरम्भ में नहीं होता। विष्कम्भक अर्थोपक्षेपक में दो पात्र होते हैं, ये दोनों पात्र गौण अथवा अप्रधान पात्र होते हैं, किन्तु दोनों (या एक) उच्चकुल के होते हैं। विष्कम्भक के द्वारा भूतकाल की या भविष्यत् काल में होने वाली घटना का सङ्केत किया जाता है। इसका प्रयोग कहीं भी हो सकता है। यहाँ तक कि विष्कम्भक नाटकादि के आरम्भ में, प्रथम अङ्क के आरम्भ में भी प्रयुक्त हो सकता है। इस प्रकार का विष्कम्भक का प्रयोग भवभूति के मालतीमाधव में देखा जा सकता है। विष्कम्भक दो प्रकार का होता है—शुद्ध तथा मिश्र। शुद्ध विष्कम्भक के सभी पात्र मध्यम श्रेणी के तथा संस्कृत वक्ता होते हैं। मिश्र विष्कम्भक में मध्यम श्रेणी तथा निम्न श्रेणी, दोनों तरह के पात्र होते हैं, तथा प्राकृत का भी प्रयोग होता है। शाकुन्तल नाटक में चतुर्थ अङ्क के पूर्व शुद्ध विष्कम्भक पाया जाता है, जहाँ कण्व ऋषि का एक शिष्य आकर हमें बताता है, कि कण्व लौट आये हैं।

प्रवेशक भी विष्कम्भक की भाँति सूचक [illegible] है। इसके पात्र सभी निम्न श्रेणी के होते हैं, तथा प्राकृत भाषा बोलते हैं। प्रवेशक का प्रयोग नाटक [illegible] आरम्भ में कभी नहीं होता, यह सदा दो अङ्कों के बीच प्रयुक्त होता है। अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक में छठे अङ्क के पहले प्रवेशक का प्रयोग पाया जाता है।

इसी सम्बन्ध में 'पताकास्थानक' को भी समझा दिया जाय। नाटककार कभी संवाद या घटना में कुछ ऐसी रचना करता है, जिससे भावी वस्तु या घटना [illegible] सूचना मिल जाती है। दशरूपककार ने पताकास्थानक के दो भेद माने हैं–अन्योक्ति रूप तथा समासोक्तिरूप। रत्नावली से राजा के विदा होते समय नेपथ्य से '**अस्तोऽस्मि पद्मनयने समयो ममैष ·· करोति**' के द्वारा–उदयन के द्वारा–सागरिका के भावी आश्वासन की सूचना दी गई है। यहाँ अन्योक्तिपद्धति वाला पताकास्थानक है। अन्योक्तिपद्धति वाले पताकास्थान में प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दोनों का इतिवृत्त एक [illegible] होता है, ये 'तुल्येतिवृत्त' होते हैं। प्रस्तुत उदयन–सागरिका–व्यापार की व्यञ्जना

(सूचना) अप्रस्तुत दिनकर-पद्मिनी-व्यापार के द्वारा कराई गई है। रत्नावली में ही एक दूसरे स्थान पर समासोक्तिरूप पताकास्थानक भी पाया जाता है। समासोक्ति रूप पताकास्थानक में प्रस्तुत पक्ष तथा अप्रस्तुत पक्ष में विशेषणों की समानता होती है, वे 'तुल्यविशेषण' होते हैं। रत्नावली में कलियों से भरी हुई उद्यानलता को देखते समय की उदयन की उक्ति **'उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुरुचं प्रारब्ध-जृम्भां क्षणात् ..... देव्याः करिष्याम्यहम्'** के द्वारा भावी सागरिकादर्शन से जनित देवीकोप की सूचना दी गई है। यहां लता के विशेषण अप्रस्तुत कामविदग्धा नायिका में भी अन्वित हो जाते हैं।

पाश्चात्य शास्त्रियों की भांति यहां के नाट्यशास्त्रियों ने संवाद (Dialogue) को अलग से तत्त्व नहीं माना है। इसका तात्पर्य यह नहीं, कि वे इसका विवेचन नहीं करते। वस्तुतः वे इसका विवेचन वस्तु के साथ ही करते हैं, तथा इसे वस्तु का ही अङ्ग मानते जान पड़ते हैं। पात्रों का संवाद हमारे यहां तीन तरह का माना गया है:—प्रकाश, स्वगत, अपवारित तथा जनान्तिक। प्रकाश वह उक्ति है, जो सर्वश्राव्य हो, जिसे सारे पात्र सुन सकें। स्वगत वह उक्ति है, जो रङ्गमञ्च के अन्य पात्रों को सुनानी अभीष्ट नहीं। अपवारित तथा जनान्तिक कुछ ही लोगों को-रङ्गमञ्च पर स्थित कुछ ही पात्रों को, सुनाना अभीष्ट होता है। अपवारित में पात्र किसी दूसरे एक ही पात्र को अपनी बात सुनाना चाहता है। जनान्तिक में दो पात्र आपस में गुप्त मन्त्रणा करते हैं। सामाजिक के लिए तो ये सारे ही संवाद श्राव्य होते हैं। इनके अतिरिक्त कभी कभी नेपथ्य से आकाशभाषित का प्रयोग भी किया जाता है।

(२) नेता तथा पात्र:—रूपकों का दूसरा भेदक नेता है। नेता शब्द के साथ नायक का सारा परिकर आ जाता है। नायिका, नायक के साथी, नायिका की सखियाँ आदि, प्रतिनायक और उसके साथी, सभी 'नेता' के अङ्ग माने गये हैं। नाटकादि के इतिवृत्त का नायक वही बन सकता है, जिसमें विनीतत्वादि अनेक गुण[1] विद्यमान हों। नायक को नाट्यशास्त्र में चार प्रकार का माना गया है। यह प्रकार-भेद नायक की प्रकृति के आधार पर किया गया है। ये चारों प्रकार के नायक 'धीर' तो होते ही हैं। धीरत्व के अतिरिक्त इनमें अपनी २ प्रकृतिगत विशेषता पाई जाती है। नायक का पहला प्रकार 'ललित' या धीरललित है, दूसरा 'शान्त' या धीरशान्त (धीरप्रशान्त), तीसरा 'उदात्त' या धीरोदात्त और चौथा 'उद्धत' या 'धीरोद्धत'। इनके उदाहरण क्रमशः वत्सराज उदयन, चारुदत्त, राम तथा भीमसेन दिए जा सकते हैं।

(१) धीरललितः—धीरललित राजपाट की या दूसरी चिन्ताओं से मुक्त होता

---

१. इन गुणों के लिए दशरूपक के द्वितीय प्रकाश की पहली दो कारिकाएँ व उनकी वृत्ति देखिए।

है। वह सङ्गीत, नृत्य, चित्र आदि कला का प्रेमी और रसिक वृत्ति का होता है। प्रेम उसका उपास्य होता है, वह भोगविलास में लिप्त रहता है, तथा प्रायः अनेकपत्नी वाला होता है। धीरललित नायक अधिकतर राजा होता है। उसका राज्यकार्य मन्त्री आदि सम्हाले रहते हैं और वह अन्तःपुर की चहारदीवारी में प्रेम क्रीड़ा किया करता है। यहीं पर वह नई नई सुन्दरियों के प्रति अपने प्रेम-प्रदर्शन की धुन में रहता है। उसके इस व्यापार में वह अपनी महादेवी-महारानी-से सदा डरता हुआ, शङ्कित होकर, प्रवृत्त होता है। भास तथा हर्षवर्धन का वत्सराज उदयन ऐसा ही धीरललित नायक है। रत्नावली तथा प्रियदर्शिका का नायक इन सब गुणों से युक्त है।

(२) धीरप्रशान्त :—धीरप्रशान्त प्रकृति का नायक धीरललित से सर्वथा भिन्न होता है। कुल की दृष्टि से वह शान्त प्रकृति का होता है। शान्त प्रकृति प्रायः ब्राह्मण या वैश्य में ही होती है। अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि धीरप्रशान्त कोटि का नायक या तो ब्राह्मण होता है या वैश्य (श्रेष्ठी)। यह दूसरी बात है कि वह चारुदत्त या माधव की तरह कलाप्रिय भी हो। प्रकरण नामक रूपकभेद का नायक प्रायः धीरप्रशान्त ही होता है। शूद्रक के मृच्छकटिक का नायक 'चारुदत्त' तथा भवभूति के मालतीमाधव प्रकरण का नायक माधव धीरप्रशान्त हैं। दोनों ही कुल से ब्राह्मण हैं। कुछ लोगों के मतानुसार युधिष्ठिर, बुद्ध या जीमूतवाहन को भी इसी कोटि में मानना ठीक होगा, क्योंकि वे शान्त प्रकृति के हैं। अवलोककार धनिक ने इस मत का अच्छी तरह खण्डन किया है। धनिक के मतानुसार वे धीरोदात्त हैं।

(३) धीरोदात्त :—धीरोदात्तप्रकृति का नायक भी प्रायः राजा या राजकुलोत्पन्न होता है। वह निराभिमानी, अत्यन्त गम्भीर, स्थिर तथा अविकत्थन होता है, जिस मत को वह धारण कर लेता है, उसे छोड़ता नहीं है। धीरोदात्त नायक, नायक के सम्पूर्ण आदर्शों से युक्त होता है। नाटक का नायक इसी प्रकृति का चुना जाता है। उत्तर-रामचरित के रामचन्द्र या अभिज्ञानशाकुन्तल का दुष्यन्त धीरोदात्त नायक है।[1]

(४) धीरोद्धत :—धीरोद्धत नायक घमंडी, ईर्ष्यापूर्ण विकत्थन तथा छली होता है। यही कारण है कि वह 'उद्धत' कहा जाता है। परशुराम या भीमसेन धीरोद्धत कोटि के नायक हैं।

रूपक का प्रत्येक नेता इन प्रकारों में से किसी एक प्रकार का होता है। हम आगे बतायेंगे कि किस किस रूपक का नेता किस किस प्रकृति का होता है।

---

(१) राम व दुष्यन्त का धीरोदात्तत्व क्रमशः निम्न पद्यों से स्पष्ट हो जाता है।—

(क) ·················यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा ॥
(उत्तररामचरित, प्रथम अङ्क)

(ख) स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः, प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवं विधैव।
अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णं शमयति परितापं छायया संश्रितानाम् ॥
(शाकुन्तल, द्वितीय अङ्क)

नायक का एक दूसरे ढङ्ग का वर्गीकरण भी किया जाता है। यह वर्गीकरण उसके प्रेमव्यापार एवं तत्सम्बन्धी व्यवहार के अनुरूप होता है। प्रेम की अवस्था में नायक के दक्षिण, शठ, धृष्ट तथा अनुकूल ये ४ रूप देखे जा सकते हैं। ये रूप अपनी परिणीता पत्नी के प्रति किये गये उसके व्यवहार में पाये जाते हैं। दक्षिण नायक एक से अधिक प्रियाओं को एक ही तरह से प्यार करता है। रत्नावली नाटिका का वत्सराज उदयन दक्षिण नायक है। शठ नायक अपनी ज्येष्ठा नायिका के साथ बुरा बर्ताव तो नहीं करता, पर उससे छिप छिप कर दूसरी नायिकाओं से प्रेम करता है। धृष्ट नायक धोखे बाज है, वह ज्येष्ठा नायिका की पर्वाह नहीं करता, कभी २ खुले आम भी दूसरी नायिका-कनिष्ठा से प्रेम करता है। एक ही नायक में भी तीनों अवस्थाएँ मिल सकती हैं। रत्नावली का उदयन वैसे कई स्थान पर दक्षिणरूप में, कई स्थान पर शठरूप में तथा कई स्थान पर धृष्टरूप में सामने आता है। फिर भी उसमें प्रधानता दक्षिणत्व की ही है। अनुकूल नायक सदा एक ही नायिका के प्रति आसक्त रहता है। उत्तररामचरित के रामचन्द्र अनुकूल नायक हैं, जो केवल सीता के प्रति आसक्त हैं।

नायक के अन्तर्गत आठ प्रकार के सात्विकगुणों की स्थिति होना आवश्यक है। वे गुण हैं—शोभा, विलास, माधुर्य, गांभीर्य, स्थैर्य, तेज, ललित्य तथा औदार्य।

नायक का शत्रु प्रतिनायक होता है। वह धीरोद्धत प्रकृति का होता है। जैसे महावीरचरित तथा वेणीसंहार में, रावण तथा दुर्योधन प्रतिनायक हैं। ये राम तथा युधिष्ठिर की फलप्राप्ति में बाधक होते हैं। नायक का साथी पताकानायक, पीठमर्द कहलाता है। वह बुद्धिमान होता है तथा नायक से कुछ ही गुणों में न्यून रहता है। पीठमर्द सदा नायक की सहायता करता है। रामायण का सुग्रीव, तथा मालतीमाधव का मकरन्द 'पीठमर्द' हैं। नायक के दूसरे सहायक भी होते हैं। नायक के राजा होने पर राज्यकार्य, तथा धर्मकार्य में उसके सहायक मन्त्री, सेनापति, पुरोहित आदि होते हैं। प्रेम के समय राजा या नायक के सहकारी विदूषक तथा विट होते हैं।

विदूषक संस्कृत नाटक का एक महत्त्वपूर्ण पात्र है। वैसे तो वह नाटक में हास्य तथा व्यंग्य की रचना कर नाटकीय मनोरंजन का साधन बनता है, किन्तु उसका इससे भी अधिक गंभीर कार्य है। वह राजा के अन्तःपुर का आलोचक भी बनकर आता है। कभी कभी वह अपने संवाद में ऐसा संकेत करता है, जो उसकी तीक्ष्णबुद्धि का संकेत कर देता है, वैसे मोटे तौर पर वह पेटू तथा मूर्ख दिखाई पड़ता है। विदूषक ब्राह्मण जाति का होता है, उसकी वेशभूषा, चाल-ढाल, व्यवहार तथा बातचीत का ढंग हास्यजनक होता है। वह ठिगना, खल्वाट तथा दंतुल होता है। विदूषक प्राकृत भाषा का आश्रय लेता है। संस्कृत नाटकों में वह मोदकप्रिय तथा अपने पेटूपन के लिए मशहूर है। विदूषक राजा (नायक) का विश्वासपात्र व्यक्ति होता है, जिसे राजा अपनी गुप्त प्रेम-मन्त्रणा तक बता देता है। वह कभी कभी राजा के गुप्त प्रेम-व्यवहार में सहायक भी होता है। शकुन्तला का विदूषक, तथा मृच्छकटिक का

मैत्रेय इसके उदाहरण हैं। व्यंग्य, हास्य तथा आलोचक-प्रवृत्ति की दृष्टि से विदूषक की तुलना शेक्सपियर के 'फालस्टाफ' (Falstaff) से की जा सकती है। किन्तु विदूषक में कुछ भिन्नता भी है, कुछ निजी व्यक्तित्व भी है, जो 'फालस्टाफ' के व्यक्तित्व से पूरी तरह मेल नहीं खाता। विदूषक के अतिरिक्त विट भी राजा या नायक का नर्मसुहृत् होता है। विट किसी न किसी कला में प्रवीण होता है, तथ वेश्याओं के व्यवहारादि का पूरा जानकार होता है। भाण नामक रूपक में विट प्रधान पात्र भी होता है, जहाँ वह अपने अनुभव सुनाता है। कालिदास व भवभूति में विट नहीं है। हर्ष के नागानन्द में, तथा मृच्छकटिक में विट का प्रयोग पाया जाता है।

राजा के और भी कई सहायक होते हैं दूत, कुमार, प्राड्विवाक आदि, जिनका प्रयोग नाटककार आवश्यकतानुसार किया करते हैं।

(नायिका-भेद)—नाटकादि रूपक में नायिका का भी ठीक उतना ही महत्त्व है, जितना नायक का, विशेष करके शृङ्गार रस के रूपकों में। नाटिका में तो नायिका का विशेष व्यक्तित्व है। नायिका का वर्गीकरण तीन प्रकार का होता है। पहले ढंग का वर्गीकरण उसके तथा नायक के संबन्ध पर आधृत होता है। दूसरे ढंग का वर्गीकरण एक ओर उसकी उम्र और अवस्था, दूसरी ओर नायक के प्रतिकूलाचरण करने पर उसके प्रति नायिका के व्यवहार के आधार पर किया जाता है। तीसरा वर्गीकरण उसकी प्रेमगत दशा के वर्णन से सबद्ध है। हम यहाँ इन्हीं को क्रमशः लेंगे।

नायिका को मोटे तौर पर तीन तरह का माना जा सकता है —१ स्वीया या स्वकीया, नायक की स्वयं की परिणीता पत्नी, जैसे उत्तररामचरित की सीता। २ अन्या, वह नायिका जो नायक की स्त्री नहीं है। अन्या या तो किसी व्यक्ति की अनूढ़ा कन्या हो सकती है, या किसी की परिणीता पत्नी। अनूढा कन्या का रूप हम शकुन्तला, मालती या सागरिका में देख सकते हैं। परकी या अन्य पत्नी का नायिका के रूप में प्रयोग नीति व धर्म के विरुद्ध होने के कारण नाटकादि में नहीं बताया जाता। ३ सामान्या, साधारण स्त्री या गणिका। कई रूपकों में विशेषतः प्रकरण, प्रकरणिका तथा भाण में गणिका भी नायिका के रूप में चित्रित की जा सकती है। मृच्छकटिक की नायिका वसन्तसेना गणिका ही है।

अवस्था के अनुसार नायिका—१ मुग्धा, २ मध्या तथा ३ प्रौढा या प्रगल्भा। मुग्धा नायिका प्राप्तयौवना होती है, वह बड़ी भोली, प्रेम-कलाओं से अज्ञात, तथा प्रेम-क्रीडा से डरी-सी रहती है। वह नायक के समीप अकेली रहने में डरती है, तथा नायक के प्रतिकूलाचरण करने पर उस पर क्रोध नहीं करती, बल्कि स्वयं आँसू गिराती है। मध्या नायिका सम्प्राप्ततारुण्यकामा होती है, उसमें कामवासना उद्भूत हो जाती है। नायक के प्रतिकूलाचरण करने पर वह क्रुद्ध होती है। ऐसी दशा में उसके तीन रूप होते हैं —१ धीरा, २ अधीरा, ३ धीराधीरा। धीरा मध्या प्रतिकूलाचरण वाले नायक को श्लिष्ट वाक्यों के द्वारा उपालंभ देती है। अधीरा कटु शब्दों का प्रयोग करती है। धीराधीरा मध्या एक ओर रोती है, दूसरी ओर नायक को व्यंग्य भी सुनाती है। इस

प्रकार मध्या तीन प्रकार की होती है। प्रौढ़ा या प्रगल्भा नायिका प्रेमकला में दक्ष होती हैं, प्रेमक्रीड़ा में वह कई प्रकार के अनुभव रखती है। कृतापराध प्रिय के प्रति उसका आचरण मध्या की भाँति ही तीन तरह का हो सकता है। अतः वह भी तीन प्रकार की होती है —१ धीरा, २ अधीरा, ३ धीराधीरा। धीरा प्रौढ़ा प्रिय को कुछ नहीं कहती, वह केवल उदासीन वृत्ति धारण कर लेती है। इस प्रकार वह नायक की कामक्रीड़ा में हाथ नहीं बँटाती और उसमें यांत्रिक-सी होकर अपने क्रोध की व्यञ्जना करती है। अधीरा प्रौढ़ा नायक को डराती, धमकाती और यहाँ तक कि मारती-पीटती भी है। धीराधीरा प्रौढ़ा मध्याधीराधीरा की भाँति ही वक्रोक्ति का प्रयोग करती है। इसके साथ ही मध्या तथा प्रौढ़ा के तीन तीन भेदों का फिर से ज्येष्ठा तथा कनिष्ठा के रूप में वर्गीकरण किया जाता है। ज्येष्ठा नायिका नायक की पहली, तथा कनिष्ठा उसकी अभिनव प्रेमिका होती है। उदाहरण के लिए रत्नावली नाटिका में वासवदत्ता ज्येष्ठा है, सागरिका कनिष्ठा। इस प्रकार मध्या के ६ भेद तथा प्रौढ़ा के भी ६ भेद हो जाते हैं। मुग्धा नायिका केवल एक ही तरह की मानी जाती है। उसे इन भेदों में मिला देने पर इस वर्गीकरण के अनुसार नायिका के १३ भेद होते हैं॥

नायिका का तीसरा वर्गीकरण उसकी दशा को उपस्थित करता है। इसके अनुसार नायिका आठ तरह की होती है —१ स्वाधीनपतिका, २ वासकसज्जा, ३. विरहोत्कण्ठिता, ४. खण्डिता, ५ कलहान्तरिता, ६ विप्रलब्धा, ७ प्रोषितप्रिया तथा ८ अभिसारिका। स्वाधीनपतिका का नायक सर्वथा उसके अनुकूल होता है, जैसे वह उसके आधीन होता है। वासकसज्जा नायिका नायक के आने की राह में सजधज कर बैठी रहती है। नायक के आने के विषय में उसके हृदय में पूर्ण आशा होती है। विरहोत्कण्ठिता का नायक ठीक समय पर नहीं आता, अतः उसके हृदय में खलबली मची रहती है, आशा तथा निराशा का एक संघर्ष उसके दिल में रहता है। खण्डिता का नायक दूसरी नायिका के साथ रात गुजार कर उसका अपराध करता है, और प्रातः जब लौटता है, तो परस्त्रीसम्भोग के चिह्नों से युक्त रहता है जिसे देखकर खण्डिता क्रुद्ध होती है। कलहान्तरिता नायिका कलह के कारण प्रिय से वियुक्त हो जाती है, तथा गुस्से में आकर प्रिय का निरादर करती है। विप्रलब्धा नायिका संकेतस्थल (सहेट) पर प्रिय से मिलने जाती है, पर प्रिय को नहीं पाती, वह प्रिय के द्वारा ठगी गई होती है। प्रोषितप्रिया का प्रियतम विदेश गया होता है। अभिसारिका नायिका सजधजकर या तो स्वयं नायक से मिलने जाती है, या दूती आदि के द्वारा उसे अपने पास बुला लेती है।

नायक के गुणों की भाँति नायिका में भी गुणों की स्थिति मानी गई है। नायिका में ये गुण भूषण या अलङ्कार कहलाते हैं, तथा गणना में बीस हैं। इन बीस अलंकारों में पहले तीन शारीरिक हैं, दूसरे सात अयत्नज, तथा बाकी दस स्वभावज हैं। ये हैं — भाव, हाव, हेला, शोभा कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य, धैर्य लीला विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिंचित, मोट्टायित, कुट्टमित, बिब्बोक, ललित, तथा विहृत।

नायिकाओं में राजा की पटराती महादेवी कहलाती है। यह उच्चकुलोत्पन्न होती है। राजा की रानियों में कई निम्नकुल की उपपत्नियाँ भी हो सकती हैं। इन्हें स्थायिनी ■ भोगिनी कहा जाता है। राजा के अन्तःपुर में कई सेवक होते हैं। कञ्चुकी इनमें प्रधान होता है। यह प्रायः वृद्ध ब्राह्मण होता है। कञ्चुकी के अतिरिक्त यहाँ बौने, कुबड़े, नपुंसक (वर्षवर), किरात आदि भी रहते हैं। अन्तःपुर में रानियों की कई सखियाँ, दासियाँ आदि भी वर्णित की जाती है।

इसी सम्बन्ध में कई नाट्यशास्त्र के ग्रन्थों में पात्रों के नामादि का भी सङ्केत किया गया है, दशरूपक में इसका अभाव है। इनके मतानुसार गणिका का नाम दत्ता, सेना या सिद्धा में अन्त होना चाहिए, जैसे मृच्छकटिक में वसन्तसेना का नाम। दास-दासियों के नाम ऋतुसम्बन्धी पदार्थों से लिये गये हों, जैसे मालतीमाधव में कलहंस तथा मन्दारिका के नाम। कापालिकों के नाम घण्ट में अन्त होते हों, जैसे मालतीमाधव का अघोरघण्ट।

नाटकादि में कौन पात्र किसे किस तरह सम्बोधित करे, इस शिष्टता का सङ्केत भी नाट्यशास्त्र के ग्रन्थों में मिलता है। सामन्तादि राजा को 'देव' या 'स्वामिन्' कहते हैं, पुरोहित या ब्राह्मण उसे 'आयुष्मन्' कहते हैं, तथा निम्न कोटि के पात्र 'भट्ट'। युवराज भी 'स्वामी' कहा जाता है, तथा दूसरे राजकुमार 'भद्रमुख' कहे जाते हैं। देवता तथा ऋषि-मुनि 'भगवन्' कहलाते हैं, तथा मन्त्री एवं ब्राह्मण 'आर्य' नाम से सम्बोधित किये जाते हैं। पत्नी पति को 'आर्यपुत्र' कहती है। विदूषक 'राजा' या नायक को 'वयस्य' कहता है, वह भी उसे 'वयस्य' ही कहता है। छोटे लोग बड़े लोगों को 'तात' कहते हैं, बड़े लोग छोटे लोगों को 'तात' या 'वत्स'। मध्यवर्ग के पुरुष परस्पर 'हंहो' कह कर सम्बोधित करें निम्न वर्ग के लोग 'हण्डे' कहकर। विदूषक महादेवी या उसकी दासियों को 'भवती' कहता है। सेविकाएँ महादेवी या रानियों को 'भट्टिनी' या 'स्वामिनी' कहती हैं। पति पत्नी को 'आर्या' कहता है। राजकुमारियाँ 'भर्तृदारिका' शब्द से सम्बोधित की जाती है। गणिका अज्जुका, कुट्टिनी या वृद्धा को 'अम्बा' कहती है। सखियाँ परस्पर 'हला' कहती है, और दासियों को 'हञ्जा' कहकर सम्बोधित किया जाता है।

३ रस तथा भावः—भारतीय नाट्यशास्त्र में रसविवेचना का विशेष स्थान है। हम बता चुके हैं कि किस तरह दृश्य काव्य में 'रस' की स्थिति भरत के भी पहले से चली आरही है। दृश्यकाव्य के तीन भेदकों में एक 'रस' भी है। 'रस' की व्यञ्जना करना, सामाजिकों के हृदय में रसोद्रेक उत्पन्न करना दृश्य काव्य का प्रमुख लक्ष्य है। दृश्यकाव्य में नटों का यही उद्देश्य है कि उनके अभिनय के द्वारा सामाजिकों में रसोद्बोध हो। रस क्या है? इस विषय में यहाँ तो हम इतना ही कहना चाहेंगे कि काव्य के पठन, श्रवण या दर्शन से जिस आनन्द का अनुभव हमें होता है, वही आनन्द 'रस' कहलाता है। यह रस किन साधनों के द्वारा होता है? इस प्रश्न के उत्तर में भी यहाँ हम इतना ही कहना चाहेंगे कि 'रस की निष्पत्ति, विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी

के संयोग से होती है।' भरत मुनि ने 'रस' की चर्वणा के साधनों के विषय में नाट्यशास्त्र में यही मत व्यक्त किया है—'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः।' विभावादिकों तथा रस के परस्पर सम्बन्ध पर हम आगे विचार करेंगे, जहाँ लोल्लट, शङ्कुक, भट्टनायक, अभिनव तथा धनिक के मतों की विवेचना की जायगी।

पहले हम यहाँ इतना समझ लें कि सहृदय सामाजिकों के हृदय में 'भाव' रहता है। यदि आधुनिक मनोविज्ञान से सहायता ली जाय, तो हम कहेंगे कि 'भाव' मानव-मानस के अर्धचेतन, या अवचेतन भाग में छिपा रहता है। 'भाव' की उद्भूति हमारे व्यावहारिक तथा लौकिक जीवन से ही होती है, भारतीय पण्डित के मत से वह पूर्वजन्म का लौकिक जीवन भी हो सकता है। हम स्वयं अपने जीवन में किसी से प्रेम करते है, किसी के प्रति क्रोध, उत्साह, करुणा प्रदर्शित करते हैं, किसी शेर या साँप को देख कर डरते हैं या किसी कोढ़ी के विकृत शरीर को देखकर जुगुप्सा का अनुभव करते हैं। यही नहीं, दूसरे लोगों को भी इस प्रकार के भाव प्रदर्शित करते देखते हैं। लौकिक तथा व्यावहारिक जीवन में, जब हम इस प्रकार के अनुभव बार-बार प्राप्त करते हैं, तो उनका प्रभाव हमारे चेतन मन पर पड़ता हुआ धीरे-धीरे हमारे अवचेतन मन के अन्तराल में अपना नीड़ बना लेता है। और जब हम काव्य नाटकादि में तत्तत् भाव का चित्रण पढ़ते या देखते हैं, तो वह छिपा भाव उभर कर चेतन मन की लहरों में उतराता नजर आता है। यही भाव काव्य में वर्णित विभावादि के द्वारा पुष्ट होकर रस रूप में परिणत हो जाता है, वह चेतन और अचेतन मन को जैसे कुछ समय के लिए एक करके, उनके बीच की यवनिका को जैसे हटाकर हमें हृदय की उस चरम सोपान सीमा तक पहुँचा देता है, जहाँ हम मनोराज्य में विचरण करते हैं, जहाँ आनन्द ही आनन्द है। और भारतीय रसशास्त्री के मत में यह आनन्द जिसे 'रस' की संज्ञा दी गई है, लौकिक होते हुए भी अलौकिक है, वह दिव्य है, तथा 'ब्रह्मास्वादसहोदर' है।

पर 'रस' के साधन, 'भाव' को 'रस' रूप में परिणत करने वाले, ये विभावादि क्या है? मान लीजिये, हम एक नाटक देख रहे हैं, कालिदास के शकुन्तला नाटक के प्रथम दृश्य को दिखाया जा रहा है। मञ्च पर दुष्यन्त आता है, वह आश्रम के पादपों को सींचती शकुन्तला को देखता है। शकुन्तला स्वयं लावण्यवती है, घड़े को उठाकर नवमल्लिका को पानी पिलाते समय उसके अङ्गों का इस प्रकार का आकुञ्चन प्रसारण होता है कि वह उसके सौन्दर्य को बढ़ा देता है। भौंरे से डर के उसका इधर उधर दौड़ना, काँपना, आँखें हिलाना और चिल्लाना भी दुष्यन्त को उसकी ओर और अधिक आकर्षित करता है। और आगे जाकर दुष्यन्त तथा शकुन्तला के इसी अङ्क में परस्पर विदा होते समय शकुन्तला का दर्भ से पैर के क्षत होने का बहाना बनाना, या लताओं में आँचल के न उलझने पर भी उसे सुलझाने का उपक्रम करना, शकुन्तला के प्रति दुष्यन्त के आकर्षण को परिपुष्ट रूप दे देता है। कण्व ऋषि के आश्रम का एकान्त उपवन तथा मालिनीतीर आदि भी दुष्यन्त के मानस

में शकुन्तला के प्रति 'रति' भाव को व्यक्त कर उसे 'शृङ्गार' के रूप में परिणत करने में कारण होते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं दुष्यन्त के मन में 'रस' व्यक्त होता है, अतः दुष्यन्त 'शृङ्गार' रस का आस्वादकर्ता है, वह 'रति' भाव का आश्रय है। इस भाव को 'रस' रूप में परिणत करने का प्रमुख साधन शकुन्तला है, किन्तु इसके साथ शकुन्तला की चेष्टाएँ तथा उस दृश्य का देश-कालादि भी सहायता करते हैं। ये दोनों विभाव कहलाते हैं। शकुन्तला दुष्यन्त के 'रति' भाव का आलम्बन है तथा देश-कालादि इसके उद्दीपन। जब दुष्यन्त के मन में 'रति' भाव का अनुभव होने लगता है, तो उसके शरीर में कई चिह्न उत्पन्न होते हैं, उसका चेहरा खिल उठता है, कभी उसकी आँखें बार बार शकुन्तला की ओर अपने आप उठती हैं, वह फिर उन्हें समेटता है, इस प्रकार की दुष्यन्त की चेष्टाएँ 'अनुभाव' कहलाती हैं, क्योंकि ये 'रति' भावानुभूति के बाद पैदा होती हैं या उस 'भाव' का अनुभव सामाजिकों को कराती हैं। तीसरे साधन सञ्चारिभाव या व्यभिचारिभाव हैं। हम देखते हैं, शकुन्तला के प्रति 'रति' भाव उत्पन्न होने पर, दुष्यन्त कभी सोचता है कि शकुन्तला ऋषिपुत्री है, अतः वह उसके द्वारा परिणययोग्य नहीं, वह निराशा तथा चिन्ता का अनुभव करता है। कभी उसे अपने मन पर विश्वास होता है, तथा शकुन्तला के विश्वामित्र पुत्री वाले वृत्तान्त को सुनकर हर्ष तथा आशा होती है। इसके पहले ही उसमें उत्सुकता होती है। इस प्रकार ये सभी प्रकार की भावानुभूतियाँ वे अस्थायी भाव हैं, जो थोड़े समय तक रहते हैं, और फिर लुप्त हो जाते हैं। एक क्षणिक भाव उठता है, लुप्त हो जाता है, दूसरा उठता है, लुप्त होता है, इस प्रकार एक स्थायी भाव में कई छोटे भाव सञ्चरण करते रहते हैं। ये भाव स्थायी भाव के सहकारी कारण हैं। इनकी स्थिति ठीक वैसी ही है, जैसे समुद्र में तरङ्गों के उदय व अवसान की। स्थायी भाव समुद्र है, सञ्चारिभाव तरङ्गें। चूंकि ये भाव क्षणिक तथा अस्थिर हैं अतः ये सञ्चारी या व्यभिचारी कहलाते हैं। गिनती में ये सञ्चारी भाव ३३ हैं, जिनके नामादि ग्रन्थ में देखे जा सकते हैं।

हम देखते हैं 'भाव' ही 'रस' का बीज है, रस का मूल रूप है। रस के अनुपर 'न्यूक्लियस' (Mdens) यही 'भाव' है। भाव क्या है, इसे हम बता चुके हैं। भाव को क्षणिक सञ्चारिभावों से अलग करने के लिए स्थायी भाव भी कहा जाता है। साहित्यशास्त्रियों ने आठ या नौ तरह के भाव माने हैं। धनञ्जय नाटक में आठ ही भाव मानते हैं, जैसा कि हम आगे 'धनञ्जय की मान्यताएँ' शीर्षक भूमिका भाग में बतायेंगे। अभिनव व नवीन रसशास्त्रियों को नौ भाव अभीष्ट हैं। ये भाव हैं— रति, उत्साह, जुगुप्सा, क्रोध, हास, विस्मय, भय तथा शोक। इनके अतिरिक्त नवाँ भाव है 'शम'[1]। इन्हीं भावों की परिणति क्रमशः आठ या नौ रसों में होती है— शृङ्गार, वीर, बीभत्स, रौद्र, हास्य, अद्भुत, भयानक, करुण तथा नवें भाव 'शम' का

---

१ आगे जाकर विश्वनाथ ने 'वत्सल' भाव की तथा वात्सल्य रस की भी की। इसी तरह रूपगोस्वामिन् ने 'उज्ज्वलनीलमणि' में 'माधुर्य' रस (भक्ति रस)

रसरूप 'शान्त'। इन आठ रसों में-शान्त की गणना न करने पर चार प्रमुख हैं, चार गौण। ऊपर की सूची के प्रथम चार प्रमुख हैं, द्वितीय क्रमशः प्रथम चार में से एक एक से उद्भूत माने जाते हैं। यथा हास्य को शृङ्गार से, अद्भुत को वीर से, भयानक को बीभत्स से तथा करुण को रौद्र से उद्भूत माना जाता है। इस प्रकार शृङ्गार-हास्य, वीर-अद्भुत, बीभत्स-भयानक, रौद्र-करुण इन रस-युग्मों की स्थिति हो जाती है। इनका सम्बन्ध मन की चार स्थितियों से लगाया जाता है। रसास्वाद के समय सामाजिक का मानस या तो विकसित होता है या फैलता है या क्षुब्ध होता है या उसमें विक्षेप की क्रिया होती है। इस प्रकार इन चार स्थितियों में से प्रत्येक का अनुभव ऊपर के एक एक रस-युग्म में क्रमशः पाया जाता है। यथा, शृङ्गार-हास्य में मानस विकसित होता है, उसमें मन का विकास पाया जाता है। इसी तरह वीर-अद्भुत में मन के विस्तार, बीभत्स-भयानक में क्षोभ तथा रौद्र-करुण में विक्षेप की स्थिति रहती है। भूमिका-भाग में हम यहाँ प्रत्येक रस के स्वरूपादि का विवेचन कर व्यर्थ की कलेवर वृद्धि करना ठीक नहीं समझते। इनके लक्षणादि मूलग्रन्थ में देखे जा सकते हैं।

रसनिष्पत्तिपर विभिन्न मत

हम देख चुके कि भरत मुनि के मतानुसार विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारिभाव के 'संयोग' से रस की निष्पत्ति होती है। रसनिष्पत्ति के विषय में भरत के इस सूत्र की व्याख्या करते हुए लोल्लट, शङ्कुक, भट्ट नायक तथा अभिनवगुप्तपादाचार्य ने अपने अपने रस सम्बन्धी सिद्धान्तों को प्रतिष्ठापित किया है। धनंजय का रस सम्बन्धी मत कोई नवीन कल्पना नहीं है। धनंजय तथा धनिक के मत का विवेचन हम यहा [illegible] पर अगले भूमिका-भाग में करेंगे कि किस तरह उसने लोल्लट, शङ्कुक एवं भट्ट नायक के मतों का समन्वय उपस्थित किया है।

(१) लोल्लट का उत्पत्तिवादः—लोल्लट का रस सम्बन्धी मत, साहित्य शास्त्र में, 'उत्पत्तिवाद' के नाम से विख्यात है। लोल्लट रस को विभावादि के द्वारा उत्पन्न मानते हैं। विभावादि उत्पादक हैं, रस उत्पाद्य। इस प्रकार लोल्लट विभावादि को रस का ठीक उसी तरह कारण मानते हैं, जैसे घटरूप कार्य के मृद्दण्डचक्रादि कारण हैं। लोल्लट की इस मत सरणि पर मीमांसकों का प्रभाव है। लोल्लट स्वयं मीमांसक है। यही कारण है कि वे यहां कार्य कारणवाद, साधारणतः के अर्थ कारण वाद की कल्पना कर 'उत्पत्तिवाद' को जन्म देते हैं। उदाहरण के लिए, भट्ट लोल्लट के मत से जो रति भाव, नायिका 'आलम्बन विभाव' के द्वारा उत्पादित होता है, उपवनादि उद्दीपन विभाव के द्वारा उद्दीप्त होता है, आलिङ्गनकटाक्षादि अनुभावों के द्वारा अनुभूत होता है, तथा औत्सुक्यादि सञ्चारियों के द्वारा पुष्ट होता है, वही रति भाव रस रूप में

की कल्पना की। शृङ्गार प्रकाश में भोज ने केवल एक ही रस माना, शृङ्गार। बाकी सारे रस भोज के मत से शृङ्गार के ही विवर्त हैं। भवभूति सभी रसों को करुण का विवर्त मानते हैं।

उत्पन्न होता है। यह रस नट या सामाजिक के हृदय में पैदा नहीं होता है। राम या दुष्यन्तादि पात्र ही इस रस का अनुभव करते हैं। जैसे नट उनकी नकल करता है, उनकी वेशभूषा में आता है, वैसा व्यवहार करता है, इसीलिए सामाजिक उसे राम या दुष्यन्त समझ बैठते हैं। यह समझना भी भ्रान्ति जनित है। यदि राम या दुष्यन्त को चाँदी मान लें, तो राम या दुष्यन्त बना हुआ वह नट वह शुक्ति (सीप) है, जिसमें हमें रजत की भ्रान्ति हो जाती है। सामाजिक को इस भ्रान्ति से ही क्षणिक आनन्द मिल जाता है।

लोल्लट का यह मत निर्दुष्ट नहीं कहा जा सकता। सामाजिक में रस की स्थिति न मानना इसका सबसे बड़ा दोष है। क्योंकि राम या दुष्यन्त जैसे पात्रों में ही रस मानना तथा सामाजिकों में रस की स्थिति का निषेध करना ठीक नहीं जान पड़ता। देखा जाय, तो राम या दुष्यन्त तो अतीत काल में थे, वर्तमान काल में तो उस नाटकादि के रस का आस्वादकर्ता सामाजिक ही है। यदि सामाजिक को रसास्वाद न हो, तो वह नाटकादि के प्रति प्रवृत्त ही क्यों होने लगा? यही नहीं, विभावादि तथा रस में परस्पर साधारण ढंग के कार्य कारण भाव की कल्पना करना भी एक दोष है, जिसका खण्डन हमें अभिनवगुप्त के मत में मिल सकता है। लोल्लट के मत के प्रथम दोष का निर्देश व उसके मत का खण्डन करते हुए शङ्कुक ने नये मत को प्रतिष्ठापित किया।

(२) **शङ्कुक का अनुमितिवाद**:—लोल्लट के उत्पत्तिवाद का सर्व प्रथम खण्डन नैयायिक शङ्कुक ने किया है। शङ्कुक ने अपने मत की प्रतिष्ठापना में भरत के रससूत्र की नई व्याख्या उपस्थित की। उसके मतानुसार विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव रस की अनुमिति कराते हैं। जैसे हम पर्वत में धुएँ को देखकर 'पर्वत अग्निमान् है, क्योंकि वह धूमवान् है' इस परामर्श के द्वारा पर्वत में वह्नि स्थिति की अनुमिति कर लेते हैं, वैसे ही नट में रामादि के से अनुभावादि देखकर हम वहां रस की स्थिति का अनुमान कर लेते हैं। इस प्रकार विभावादि रस के अनुमापक हैं, रस अनुमाप्य। उनमें उत्पाद्य-उत्पादक-भाव न होकर अनुमाप्य-अनुमापक-सम्बन्ध है। इसी सम्बन्ध में शङ्कुक ने चित्रतुरगादिन्याय की कल्पना भी की है। जैसे चित्र का घोड़ा, वास्तविक घोड़ा न होते हुए भी उसे घोड़ा मानना ही पड़ता है, वैसे ही नट स्वयं राम या दुष्यन्त नहीं है, फिर भी सामाजिक उसे चित्रतुरग की भाँति राम या दुष्यन्त समझता है। तदनन्तर सामाजिक नट के द्वारा रत्यादि भाव का प्रकाशन देखता है, और वह अनुमान कर लेता है कि उसके हृदय में रत्यादि भाव रसरूप में परिणत हो रहे हैं। सामाजिक इस अनुमिति का अनुभव करते समय, इस अनुभव के रसपूर्ण होने के कारण स्वयं भी रसानुभव करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शङ्कुक भी वास्तविक रस रामादि पात्रों में ही मानता है, किन्तु वह लोल्लट की भांति सामाजिकों में उसका सर्वथा अभाव नहीं मानता। शङ्कुक का मत इतने पर भी निर्दुष्ट नहीं कहा जा सकता। रस को अनुमितिगम्य मानना ठीक नहीं जान पड़ता। यह अनुभव सिद्ध है कि रस प्रत्यक्ष प्रमाण संवेद्य है, वह —

ज्ञान का विषय है। अतः प्रत्यक्ष ज्ञान को न मानकर रसास्वाद में अनुमिति की कल्पना करने में कोई साधक प्रमाण नजर नहीं आता।

(३) भट्ट नायक का भुक्तिवादः—भट्ट नायक अपने मत में रसास्वाद के विषय में उत्पत्ति, अनुमिति या अभिव्यक्ति वाले सिद्धान्तों को नहीं मानते। वे रस के विषय में 'भुक्ति' के सिद्धान्त को जन्म देते हैं। उनके मतानुसार विभावादि रस के भोजक हैं, रस भोज्य। भट्ट नायक ने,काव्य के सम्बन्ध में 'अभिधा' शक्ति के अतिरिक्त दो अन्य व्यापारों की कल्पना की है। ये दो नये व्यापार हैं —भावकत्व व्यापार, तथा भोजकत्व व्यापार। भट्ट नायक ने इन दो नये व्यापारों की कल्पना कर हमें रस के स्वरूप को स्पष्ट रूप से समझाने की चेष्टा की है। यह दूसरी बात है कि भट्ट नायक का मत भारतीय रसशास्त्र में मान्य न हो सका हो, किन्तु उसने जिन रस सम्बन्धी गूढ़ बातों का सङ्केत किया है, उनका उपयोग उसके विरोधी अभिनवगुप्त तक ने किया है। रस को अलौकिक रूप देने तथा साधारणी करण के सिद्धान्त को जन्म देने का श्रेय भट्ट नायक को ही जाना चाहिए।

भट्ट नायक के मत से सामाजिक या श्रोता सर्वप्रथम काव्य की अभिधाशक्ति के द्वारा उसके वाच्यार्थ का ज्ञान प्राप्त करता है। तदनन्तर भावकत्व व्यापार के द्वारा वह रामादि पात्रों की भावना के साथ अपनी भावना का तादात्म्य करता है। इसी व्यापार द्वारा रामादि पात्र अपना व्यक्तित्व छोड़ कर साधारणी कृत हो जाते हैं। इस दशा में पहुँचने पर सामाजिक की बुद्धि में रजस् तथा तमस् गुणों का प्रभाव नष्ट हो जाता है, वहाँ केवल सत्त्व गुण का उद्रेक पाया जाता है। रस दशा में सामाजिक समस्त लौकिक इच्छाओं से स्वतन्त्र हो जाता है। इस दशा में जो रसास्वाद होता है, उसका साधन भोजकत्व व्यापार है। भट्ट नायक के इस सिद्धान्त पर सांख्यदर्शनका प्रभाव परिलक्षित होता है।

भट्ट नायक के इस सिद्धान्त में अभिनवगुप्त ने जो दोष निकाला, वह यही है कि भट्ट नायक की भावकत्व व्यापार तथा भोजकत्व व्यापार की कल्पना का कोई शास्त्रीय प्रमाण नहीं।

(४) अभिनवगुप्त का व्यक्तिवादः—भरत के रससूत्र के विषय में अन्तिम मत अभिनवगुप्त का व्यञ्जनावादी मत है। रसशास्त्र तथा अलङ्कारशास्त्र में यह मत अपनी दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक आधारभित्ति के कारण अत्यधिक प्रसिद्धि पा सका है। जैसा कि हम देख चुके हैं अभिनवगुप्त व्यञ्जनावादी तथा ध्वनिवादी आलङ्कारिक हैं। आनन्दवर्धन के द्वारा प्रतिष्ठापित सिद्धान्तों के अनुसार ये रस को ध्वनि का ही एक प्रमुख भेद-रसध्वनि मानते हैं। इसी कारण वे रस को व्यंग्य मानते हैं, तथा उसे अभिधा या लक्षणा के द्वारा प्रतीत न मानकर व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा अभिव्यक्त मानते हैं। काव्य या नाटकादि में प्रयुक्त विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारिभाव रस के अभिव्यञ्जक है, रस अभिव्यङ्ग्य। इस प्रकार अभिनव विभावादि तथा रस में परस्पर व्यङ्ग्य-व्यञ्जक-भाव मानते हैं।

हम देखते हैं कि लौकिक रूप में अपने जीवन में हम कई प्रकार के अनुभव प्राप्त करते हैं। ये अनुभव हमारे मानस में रत्यादि भावों की स्थिति को जन्म देते हैं। प्रत्येक सहृदय के मानस में ये रत्यादि भाव ठीक उसी तरह छिपे पड़े रहते हैं, जैसे नये शराव में छिपी मृत्तिका की सौंधी वास। जब शराव में जल डाला जाता है, तो मृत्तिका की गन्ध अभिव्यक्त हो जाती है, वह कहीं बाहर से नहीं आती, न पानी उस गन्ध को उत्पन्न ही करता है। ठीक इसी तरह जब सहृदय काव्य पढ़ता है या नाट्यादि का अवलोकन करता है, तो उस काव्यनाटकादि में वर्णित विभावादि उसके मानस के अव्यक्त भाव को व्यक्त कर देते हैं, और वह भाव रसरूप में व्यक्त हो जाता है। इस प्रकार सहृदय ही रस का आस्वाद कर सकता है, क्योंकि इसके लिए पूर्व संस्कार अपेक्षित है। यह रस लौकिक भावानुभव से सर्वथा भिन्न होता है, यही कारण है कि इसे अलौकिक विशेषण से विभूषित कर, ब्रह्मास्वादसहोदर बताया जाता है। इस दशा में सहृदय आनन्दघन का अनुभव करता है। इस दशा की तुलना योगी की दशा से की जा सकती है। दोनों दशाओं में पूर्ण आनन्द का अनुभव होता है। अभिनवगुप्त की यह कल्पना रस की तुलना शैव वेदान्त की 'विमर्श' दशा से करती जान पड़ती है, जहाँ साधक 'शिवोऽहम्' का अनुभव करता है।

इस दशा में पहुँचने के लिए यह आवश्यक है कि विभावादि अपने वैयक्तिक रूप को छोड़ दें, साथ ही सामाजिक भी निर्वैयक्तिकता धारण कर लें। उस समय दुष्यन्त-शकुन्तला, राम सीता अपने व्यक्तित्व को छोड़कर केवल नायक तथा नायिका के रूप में हमारे सामने आते हैं, साथ ही हम भी केवल रसानुभावकर्ता बन जाते हैं। इस प्रकार विभावादि केवल विषय-मात्र तथा सामाजिक केवल विषयि-मात्र रह जाता है। इसे ही साधारणीकरण कहा जाता है। अभिनवगुप्त ने 'भारती' में स्पष्ट बताया है कि साधारणीकरण केवल आलम्बन विभाव या आश्रय का ही नहीं, सभी तत्त्वों का—अनुभावादि का भी, होता है। साधारणीकरण के कारण ही रसानुभूति होती है, क्योंकि उस दशा में वैयक्तिक रागद्वेषादि का लोप हो जाता है। रसानुभूति का आनन्द अलौकिक है। इसका आस्वाद प्रपाणक के आस्वाद की भाँति है। प्रपाणक में इलायची, कालीमिर्च, मिश्री, केशर, कर्पूर आदि के मिश्रण से एक अभिनव स्वाद की सृष्टि होती है, जो प्रत्येक वस्तु के अलग अलग स्वाद से सर्वथा भिन्न है। वैसे ही, विभावादि सभी [illegible] आस्वाद मिल कर रस की विशेष प्रकार की चर्वणा को जन्म देता है।

जैसा कि हम आगे धनञ्जय एवं 'धनिक की मान्यताएँ' शीर्षक भूमिका भाग में देखेंगे, दशरूपककार रस को व्यङ्ग्य न मानकर तात्पर्यवृत्तिगम्य मानते हैं, साथ ही विभावादि एवं रस में परस्पर भाव्य-भावक-भाव मानते हैं। उन्हें ध्वनिवादियों का रससम्बन्धी सिद्धान्त मान्य नहीं।

× × ■

रूपक के तीन भेदक तत्त्वों की विवेचना की गई। इनके अतिरिक्त नाट्यादि रूपकों में नाटकीय वृत्तियाँ, संगीत, नृत्य, का भी प्रमुख स्थान है। दशरूप[illegible]

सङ्गीत तथा नृत्य की विवेचना नहीं की है। भरत के *नाट्यशास्त्र* में इन दोनों का क्रमश: वाचिक तथा आङ्गिक अभिनय के अन्तर्गत विवेचन किया गया है। दशरूपककार ने सात्त्विक अभिनय-रस का ही विवेचन किया है। संस्कृत के कई नाटकों में हम सङ्गीत तथा नृत्य का विनियोग पाते हैं। शकुन्तला में आरम्भ में नटी का सङ्गीत तथा पंचम अङ्क में हंसपदिका का गीत है। मालविकाग्निमित्र में मालविका का नृत्य है। पर दशरूपक में ही नहीं, बाद के अलङ्कारशास्त्र के उन ग्रन्थों में भी जो नाट्यशास्त्र के रूपकसम्बन्धी विवेचन का प्रयोग करते हैं, सङ्गीत व नृत्य का विवेचन इसलिए नहीं मिलता, कि वे इन्हें सङ्गीत-शास्त्र के विषय समझने लगे थे।[1]

नाटकीय वृत्तियों को एक ओर नायक का व्यापार बताया गया है, दूसरी ओर रसों से भी उसका सम्बन्ध स्थापित किया गया है। वृत्तियाँ चार हैं:—कैशिकी, सात्वती, आरभटी तथा भारती। भारती, दशरूपककार के मतानुसार शाब्दिक वृत्ति है, इसका प्रयोग विशेषत आमुख या प्रस्तावना में पाया जाता है। कैशिकी वृत्ति का प्रयोग शृङ्गार रस के अनुकूल होता है। इसके चार अङ्ग होते हैं:—नर्म, नर्मस्फिञ्ज, नर्मस्फोट तथा नर्मगर्भ। इन अङ्गों की विवेचना मूल ग्रन्थ में द्रष्टव्य है। सात्वती वृत्ति वीर, अद्भुत तथा भयानक के उपयुक्त होती है। इसका प्रयोग करुण तथा शृङ्गार में भी किया जा सकता है। आरभटी वृत्ति का प्रयोग भयानक, बीभत्स, रौद्र रसों में होता है।

इस भाग को समाप्त करने के पूर्व हम दशरूपकों की तालिका के साथ उनके वस्तु आदि भेदकों का सङ्केत कर देते हैं, जो उनके परस्पर भेद को स्पष्ट कर देंगे।

१ **नाटक**—पंचसन्धियुक्त पौराणिक या ऐतिहासिक वस्तु, ५ से १० तक अङ्क, धीरोदात्त नायक, शृङ्गार या वीररस, कैशिकी या सात्वती वृत्ति।

२ **प्रकरण**—पंचसन्धियुक्त कल्पित वस्तु, ५ से १० तक अङ्क, धीरप्रशान्त नायक, शृङ्गार रस, कैशिकी वृत्ति।

३ **भाण**—धूर्तचरितविषयक कल्पित वस्तु, एक अङ्क, कलावित् विट नायक, एक ही पात्र की उक्ति-प्रत्युक्ति का प्रयोग (Mono-acting) वीर तथा शृङ्गार रस।

४ **प्रहसन**—कल्पित वस्तु, एक अङ्क, पाखण्डी, कामुक, धूर्त आदि पात्र, हास्य रस।

५ **डिम**—पौराणिक वस्तु, चार अङ्क, विमर्श रहित चार सन्धियों में विभक्त वस्तु, धीरोद्धत नायक, हास्य तथा शृङ्गार से भिन्न ६ रस, सात्वती तथा आरभटी वृत्ति।

६ **व्यायोगः**—प्रसिद्ध पौराणिक वस्तु, गर्भ तथा विमर्श रहित तीन सन्धियाँ, एक अङ्क, धीरोद्धत नायक, हास्य तथा शृङ्गार से भिन्न ६ रस, सात्वती तथा आरभटी वृत्ति,—इस रूपक-भेद में स्त्रीपात्र कम होते हैं, पुरुष पात्र अधिक।

७ **समवकार**—देव-दैत्यों से सम्बद्ध प्रसिद्ध पौराणिक वस्तु, विमर्श सन्धि का अभाव बाकी चार सन्धियों की स्थिति, ३ अङ्क, धीरोदात्त तथा धीरोद्धत प्रकृति के १२ नायक; वीर रस, सात्वती तथा आरभटी वृत्ति।

---

[1] नृत्य तथा आंगिक अभिनय का विवेचन नंदिकेश्वर के *अभिनयदर्पण* में विशेषरूप से हुआ है।

८ वीथी—कल्पित वस्तु, एक अङ्क, शृङ्गारप्रिय नायक, शृङ्गार रस, कैशिकी वृत्ति।
९ अङ्क—प्रसिद्ध पौराणिक वस्तु, एक अङ्क, प्राकृत पुरुष नायक, करुण रस, सात्वती वृत्ति।
१० ईहामृग—मिश्रित कथावस्तु, चार अङ्क, गर्भ व विमर्श से रहित तीन सन्धियाँ, धीरोद्धत नायक, शृङ्गार रस।

रस-विरोध तथा उसके निराकरण पर

कभी कभी ऐसा देखा जाता है, एक ही काव्य में एक से अधिक रसों का समावेश कर दिया जाता है। ऐसी दशा में कवि को यह ध्यान रखना पड़ता है कि कहीं ये रस परस्पर विरोधी तो नहीं, तथा प्रमुख भाव या रस की क्षति तो नहीं पहुंचाते। स्थायी भाव या भाव की परिभाषा निबद्ध करते समय दशरूपकार बताता है कि वह लवणाकर के समान है, जो सभी वस्तुएँ आत्मसात् कर लेता है, उन्हें भी खारी बना लेता है। स्थायी भाव वही है, जो सजातीय तथा विजातीय भावों से क्षुण्ण न होता हो।

> विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः।
> आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः॥

भावों का परस्पर विरोध दो तरह से हो सकता है—या तो वे भाव एक साथ एक काव्य में न रह सकें या एक दूसरे के बाधक बन जायें, उनमें बाध्यबाधकभाव हो। जहाँ व्यभिचारियों का प्रश्न है उनका स्थायी के साथ कोई विरोध नहीं हो सकता, साथ ही वे एक साथ न रह सकते हों, यह भी बात नहीं है, क्योंकि वे तो स्थायी भाव के ही अङ्ग बन कर काव्य में आते हैं। उनमें परस्पर बाध्यबाधकभाव भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि अङ्ग होने के कारण व्यभिचारित्व स्थायी भाव के विरोधी नहीं हो सकते।

जहाँ तक स्थायी भाव या रस के विरोध का प्रश्न है, यदि उनके आलम्बन अलग अलग हैं, तो कोई विरोध नहीं होता। उदाहरण के लिए मालतीमाधव में शृङ्गार रस है, उसके पञ्चम अङ्क में बीभत्स का चित्रण है। ऐसी स्थिति में क्या यह विरोधी है? नहीं, मालतीमाधव में एक साथ शृङ्गार तथा बीभत्स का उपनिबन्धन विरोधी इसलिए नहीं पड़ता कि इन दोनों के आलम्बन भिन्न भिन्न हैं। शृङ्गार का आलम्बन मालती है, तो बीभत्स का श्मशान। वहीं रौद्र रस का उपनिबन्धन है, जहां अघोरघण्ट कापालिक माधव के क्रोध का आलम्बन बनता है। यदि अलग अलग आलम्बन बनाकर, विरोधी रसों का उपनिबन्धन किया जाय, तो विरोध नहीं होता, न वे एक दूसरे के बाधक ही होते हैं।

दो परस्पर विरोधी रसों के विरोध-परिहार का एक ढङ्ग यह भी है कि दोनों के बीच ऐसे रस का समावेश कर दिया जो दोनों का विरोधी न हो।

इसी बीच एक प्रश्न उठना सम्भव है। जहां एक ही रस प्रमुख हो, वहां अन्य विरोधी या अविरोधी रसों को उसका अङ्ग मान कर, विरोधाभाव मानना ठीक है। पर

ऐसे भी काव्य हैं, जहां कई रसों का समप्राधान्य देखा जाता है, इन काव्यों में रस-विरोध का परिहार कैसे किया जाय? वृत्तिकार धनिक इस शङ्का के उठाते समय कई ऐसे काव्य-पद्य-उपस्थित करते हैं, जहाँ एक से अधिक भावों का समप्रधान्य देखा जाता है। वृत्तिकार इस शङ्का का निराकरण करते हुए बताते हैं कि वस्तुतः इन स्थलों में भी प्रधान भाव तथा प्रधान रस एक ही है, दूसरे उपन्यस्त रस या भाव गौण ही होते हैं। हम निम्न दो उदाहरणों को ले सकते हैं:—

(१) एक्कत्तो रुअइ पिआ अण्णत्तो समरतूरणिग्घोसो।
पेम्मेण रणरसेण अ भडस्स डोलाइअं हिअअम्॥

(२) एकेनाक्ष्णा प्रवितत्तरुषा वीक्षते व्योमसंस्थं
भानोर्बिम्बं सजललुलितेनापरेणात्मकान्तम्।
अह्नश्छेदे दयितविरहाशङ्किनी चक्रवाकी
द्वौ सङ्कीर्णौ रचयति रसौ नर्तकीव प्रगल्भा॥

यहाँ पहले उदाहरण में हम देखते हैं कि कोई योद्धा समर-यात्रा के लिए तैयार है। युद्ध में जाने के पहले वह प्रिया से विदा ले रहा है। विदा होते समय प्रिया रोकर अपने दुःख की व्यञ्जना कराती है। एक ओर प्रिया का रोना उसके हृदय में प्रेम का सञ्चार करता है, दूसरी ओर युद्ध के तूर्य का शब्द हृदय में वीरता का सञ्चार करता है। इस प्रकार योद्धा का दिल जैसे प्रेम और वीरता के हिंडोले पर, सन्देह-दोला में झूल रहा हो। शङ्का करने वाला यहां दोनों रसों-शृङ्गार तथा वीर-का सम-प्राधान्य मानता है। धनिक इस शङ्का का निराकरण करते बताते हैं कि यहाँ वीररस की ही प्रधानता है, शृङ्गार रस तो गौण है, तथा उसी का पोषक बन कर आया है। ऊपर की गाथा का 'भटस्य' (भडस्स) पद भी इसी बात का सङ्केत करता है।

दूसरे उदाहरण में, सन्ध्याकाल के समय सूर्यास्त से उत्पन्न किसी चक्रवाकी की विरह दशा का वर्णन है। सूर्यास्त हो रहा है, सूर्य का बिम्ब पश्चिम में डूबने जा रहा है, रात्रि के आगमन की आशङ्का से भविष्यत् प्रियविरहशङ्किनी चकवी सूर्यबिम्ब को एक आँख से गुस्से के साथ देख रही है। उसकी दूसरी आँख प्रिय पर लगी है, और इस आँख में आँसू भर आये हैं। इस तरह चकवी, एक कुशल नर्तकी की तरह एक साथ दो रसों की व्यञ्जना करा रही है। यहां हम देखते हैं कि चकवी एक ओर क्रोध का अनुभव कर रही है, दूसरी ओर विरहविदग्धता का। इस प्रकार इस पद्य में एक साथ रति, शोक तथा क्रोध की व्यञ्जना हो रही है। शङ्का को उठाने वाले के मत से यहां तीनों भावों का समप्राधान्य है। धनिक इससे सहमत नहीं। यहां रसविरोध का निराकरण करते हुए वे बताते हैं कि इस काव्य में प्रमुखता भविष्यद्विप्रलम्भ की है, अतः यहां अनेकतात्पर्य की समप्रधानता नहीं है।

'एकेनाक्ष्णा' इत्यादौ तु समस्तमपि वाक्यं भविष्यद्विप्रलम्भविषय-मिति न कश्चिदनेकतात्पर्यम्।'

रस-शास्त्र के अन्य ग्रन्थों में कौन-कौन रस किस किस रस का विरोधी है, इसका विशद वर्णन मिलता है। उदाहरण के लिए शृङ्गार का रौद्र, शान्त तथा करुण से विरोध है। दशरूपककार का प्रमुख लक्ष्य नाट्यशास्त्र के सिद्धान्तों का एक छोटे से पैमाने में समावेश कर देना है। यही कारण है धनञ्जय एवं धनिक अनावश्यक विस्तार में जाना अभीष्ट न समझ कर परस्पर विरोधी रसों की पूरी तालिका नहीं देते। फिर भी रसविरोध तथा उसके परिहार जितना कहा गया है, वह सूत्ररूप होते हुए भी महत्त्वपूर्ण है।

धनञ्जय तथा धनिक की मान्यताएँ

साहित्यशास्त्र, नाट्यशास्त्र तथा रस शास्त्र के सम्बन्ध में कुछ स्थलों पर धनञ्जय तथा धनिक ने दशरूपक में अपने सिद्धान्तों को व्यक्त किया है। धनिक की ये मान्यताएँ [illegible] तीन शीर्षकों में बाँट देते हैं—

(१) धनिक तथा धनञ्जय के द्वारा व्यञ्जना वृत्ति का निषेध।

(२) रस की निष्पत्ति के सम्बन्ध में धनिक का मत।

(३) धनिक तथा धनञ्जय के द्वारा नाट्य में शान्त का निषेध।

(१) धनञ्जय तथा व्यञ्जनावृत्तिः—धनञ्जय तथा धनिक दोनों ही भाट्ट मीमांसकों के द्वारा अत्यधिक प्रभावित हैं। ये अभिधा, लक्षणा तथा तात्पर्य इन तीन [illegible] वृत्तियों को मानते जान पड़ते हैं। ध्वनिवादी की नई कल्पना, व्यञ्जना या तुरीया वृत्ति उन्हें स्वीकृत नहीं। भाट्ट मीमांसक व्यञ्जना वृत्तिगम्य प्रतीयमान अर्थ को तात्पर्यार्थ से भिन्न नहीं मानते। उनका मत है कि प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति तात्पर्य वृत्ति से ही हो सकती है। ध्वनिवादी रस को व्यङ्ग्य मानते हैं, तथा उसकी प्रतीति के लिए व्यञ्जना व्यापार की कल्पना करते हैं। धनिक ने चतुर्थ प्रकाश में इसी मत का खण्डन करते हुए अपने इस मत की प्रतिष्ठापना की है कि स्थायी भाव (रस भी) विभावादि के द्वारा प्रतीत वाक्यार्थ ही है, जैसे किसी वाक्य रूप में अभिहित या प्रकरणादि से बुद्धिस्थ क्रिया, कारकों से युक्त होकर, वाक्यार्थ बन जाती है।

वाच्या प्रकरणादिभ्यो बुद्धिस्था वा यथा क्रिया।
वाक्यार्थः कारकैर्युक्तः स्थायीभावस्तथेतरैः॥

धनञ्जय की इस कारिका का वाक्यार्थ कुछ नहीं, तात्पर्यार्थ ही है, तथा वृत्तिकार धनिक ने इसे स्पष्टतः तात्पर्यवृत्तिगम्य माना है।

इसी कारिका के उपोद्घात के रूप में वृत्तिकार धनिक ने सर्वप्रथम ध्वनिकार के मत को उपस्थित किया है, जो वाच्य तथा रस में, या विभावादि तथा रस में वाच्यवाचकभाव, या लक्ष्यलक्षक भाव नहीं मानते। वे दलील देते हैं कि रस के वाचक शृङ्गारादि शब्दों का प्रयोग काव्य में नहीं होता, यदि ऐसा होने पर रसप्रतीति हो तो वाच्यवाचक सम्बन्ध मान सकते हैं। साथ ही, मान लीजिये शृङ्गारादि शब्दों का प्रयोग हो भी, तो रस प्रतीति हो [illegible] यह आवश्यक नहीं। साथ ही, वाच्यवाचकभाव

ऐसे भी काव्य हैं, जहाँ कई रसों का समप्राधान्य देखा जाता है, इन काव्यों में रस-विरोध का परिहार कैसे किया जाय ? वृत्तिकार धनिक इस शङ्का के उठाते समय कई ऐसे काव्य-पद्य-उपस्थित करते हैं, जहाँ एक से अधिक भावों का समप्राधान्य देखा जाता है। वृत्तिकार इस शङ्का का निराकरण करते हुए बताते हैं कि वस्तुतः इन स्थलों में भी प्रधान भाव तथा प्रधान रस एक ही है, दूसरे उपन्यस्त रस या भाव गौण ही होते हैं। हम निम्न दो उदाहरणों को ले सकते हैं:—

(१) एक्कत्तो रुअइ पिआ अण्णत्तो समरतूरणिग्घोसो।
पेम्मेण रणरसेण अ भडस्स डोलाइअं हिअअम् ॥

(२) एकेनाक्ष्णा प्रविततरुषा वीक्षते व्योमसंस्थं
भानोर्बिम्बं सजललुलितेनापरेणात्मकान्तम्।
अह्नश्छेदे दयितविरहाशङ्किनी चक्रवाकी
द्वौ सङ्कीर्णौ रचयति रसौ नर्तकीव प्रगल्भा ॥

यहाँ पहले उदाहरण में हम देखते हैं कि कोई योद्धा समर-यात्रा के लिए तैयार है। युद्ध में जाने के पहले वह प्रिया से विदा ले रहा है। विदा होते समय प्रिया रोकर अपने दुःख की व्यञ्जना कराती है। एक ओर प्रिया का रोना उसके हृदय में प्रेम का संचार करता है, दूसरी ओर युद्ध के तूर्य का शब्द हृदय में वीरता का संचार करता है। इस प्रकार योद्धा का दिल जैसे प्रेम और वीरता के हिंडोले पर, सन्देह-दोला में झूल रहा हो। शङ्का करने वाला यहां दोनों रसों-शृङ्गार तथा वीर-का सम-प्राधान्य मानता है। धनिक इस शङ्का का निराकरण करते बताते हैं कि यहाँ वीररस की ही प्रधानता है, शृङ्गार रस तो गौण है, तथा उसी का पोषक बन कर आया है। ऊपर की गाथा का 'भटस्य' (भडस्स) पद भी इसी बात का सङ्केत करता है।

दूसरे उदाहरण में, सन्ध्याकाल के समय सूर्यास्त से उत्पन्न किसी चकवाकी की विरह दशा का वर्णन है। सूर्यास्त हो रहा है, सूर्य का बिम्ब पश्चिम में डूबने जा रहा है, रात्रि के आगमन की आशङ्का से भविष्यत् प्रियविरहशङ्किनी चकवी सूर्यबिम्ब को एक आँख से गुस्से के साथ देख रही है। उसकी दूसरी आँख प्रिय पर टकी है, और उस आँख में आँसू भर आये हैं। इस तरह चकवी, एक कुशल नर्तकी की तरह एक साथ दो रसों की व्यञ्जना करा रही है। यहां हम देखते हैं कि चकवी एक ओर क्रोध का अनुभव कर रही है, दूसरी ओर विरहविदग्धता का। इस प्रकार इस पद्य में एक साथ रति, शोक तथा क्रोध की व्यञ्जना हो रही है। शङ्का को उठाने वाले के मत से यहां तीनों भावों का समप्राधान्य है। धनिक इससे सहमत नहीं। यहां रसविरोध का निराकरण करते हुए वे बताते हैं कि इस काव्य में प्रमुखता भविष्यद्विप्रलम्भ की है, अतः यहां अनेकतात्पर्य की समप्रधानता नहीं है।

'एकेनाक्ष्णा' इत्यादौ तु समस्तमपि वाक्यं भविष्यद्विप्रलम्भविषय-मिति न कश्चिदनेकतात्पर्यम्।'

रस-शास्त्र के अन्य ग्रन्थों में कौन-कौन रस किस किस रस का विरोधी है, इसका विशद वर्णन मिलता है। उदाहरण के लिए शृङ्गार का रौद्र, शान्त तथा करुण से विरोध है। दशरूपककार का प्रमुख लक्ष्य नाट्यशास्त्र के सिद्धान्तों का एक छोटे से पैमाने में समावेश कर देना है। यही कारण है धनञ्जय एवं धनिक अनावश्यक विस्तार में जाना अभीष्ट न समझ कर परस्पर विरोधी रसों की पूरी तालिका नहीं देते। फिर भी रसविरोध तथा उसके परिहार जितना कहा गया है, वह सूत्ररूप होते हुए भी महत्त्वपूर्ण है।

धनञ्जय तथा धनिक की मान्यताएँ

साहित्यशास्त्र, नाट्यशास्त्र तथा रस शास्त्र के सम्बन्ध में कुछ स्थलों पर धनञ्जय तथा धनिक ने दशरूपक में अपने सिद्धान्तों को व्यक्त किया है। धनिक की ये मान्यताएँ हम तीन शीर्षकों में बाँट देते हैं:—

(१) धनिक तथा धनञ्जय के द्वारा व्यञ्जना वृत्ति का निषेध।

(२) रस की निष्पत्ति के सम्बन्ध में धनिक का मत।

(३) धनिक तथा धनञ्जय के द्वारा नाट्य में शान्त का निषेध।

(१) **धनञ्जय तथा व्यञ्जनावृत्तिः**—धनञ्जय तथा धनिक दोनों ही भाट्ट मीमांसकों के द्वारा अत्यधिक प्रभावित हैं। ये अभिधा, लक्षणा तथा तात्पर्य इन तीन ही वृत्तियों को मानते जान पड़ते हैं। ध्वनिवादी की नई कल्पना, व्यञ्जना या तुरीया वृत्ति उन्हें स्वीकृत नहीं। भाट्ट मीमांसक व्यञ्जना वृत्तिगम्य प्रतीयमान अर्थ को तात्पर्यार्थ से भिन्न नहीं मानते। उनका मत है कि प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति तात्पर्य वृत्ति से ही हो सकती है। ध्वनिवादी रस को व्यङ्ग्य मानते हैं, तथा उसकी प्रतीति के लिए व्यञ्जना व्यापार की कल्पना करते हैं। धनिक ने चतुर्थ प्रकाश में इसी मत का खण्डन करते हुए अपने इस मत की प्रतिष्ठापना की है कि स्थायी भाव (रस भी) विभावादि के द्वारा प्रतीत वाक्यार्थ ही है, जैसे किसी वाक्य रूप में अभिहित या प्रकरणादि से बुद्धिस्थ क्रिया, कारकों से युक्त होकर, वाक्यार्थ बन जाती है।

> वाच्या प्रकरणादिभ्यो बुद्धिस्था वा यथा क्रिया।
> वाक्यार्थः कारकैर्युक्तः स्थायीभावस्तथेतरैः॥

धनञ्जय की इस कारिका का वाच्यार्थ कुछ नहीं, तात्पर्यार्थ ही है, तथा वृत्तिकार धनिक ने इसे स्पष्टतः तात्पर्यशक्तिगम्य माना है।

इसी कारिका के उपोद्घात के रूप में वृत्तिकार धनिक ने सर्वप्रथम ध्वनिकार के मत को उपस्थित किया है, जो काव्य तथा रस में, या विभावादि तथा रस में वाच्यवाचकभाव, या लक्ष्यलक्षक भाव नहीं मानते। वे दलील देते हैं कि रस के वाचक शृङ्गारादि शब्दों का प्रयोग काव्य में नहीं होता, यदि ऐसा होने पर रसप्रतीति हो तो वाच्यवाचक सम्बन्ध मान सकते हैं। साथ ही, मान लीजिये शृङ्गारादि शब्दों का प्रयोग हो भी, तो रस प्रतीति हो ही यह आवश्यक नहीं। साथ ही, वाच्यवाचकभाव

(१) कुछ लोग शान्तरस को मानते ही नहीं, क्योंकि भरतमुनि ने, उसके विभावादि का प्रतिपादन तथा लक्षण नहीं किया।

(२) कुछ लोग 'शान्तरस' का इसलिए अभाव मानते हैं, कि अनादिकाल से आये हुए रागद्वेष का नष्ट होना असम्भव है।

(३) कुछ लोग शान्त का अन्तर्भाव वीर, वीभत्स आदि रसों में ही कर लेते हैं।

धनञ्जय बतलाते हैं कि वे शम भाव या शान्त रस का निषेध केवल नाटकादि रूपकों में ही करते हैं। शम में समस्त व्यापारों की परिसमाप्ति होनी चाहिए, यह व्यापार समाप्ति अभिनीत नहीं हो सकती। अतः अनभिनेय होने के कारण, शान्त की स्थिति नाटक में अस्वीकृत करनी ही पड़ेगी।

इसी सम्बन्ध में एक प्रश्न और उठता है कि बुद्ध, युधिष्ठिर, जीमूतवाहन आदि में शान्त रस की स्थिति देखी जाती है। कुछ लोग उन्हें धीरप्रशान्त कोटि के नायक मानने की भी भ्रान्ति कर बैठते हैं। जो लोग नागानन्द नाटक में शान्तरस मानते हैं, उन्हें धनिक निम्न उत्तर देते हैं:—

हम देखते हैं कि नागानन्द का नायक जीमूतवाहन एक ओर मलयवती में प्रेम करता है, दूसरी ओर विद्याधर चक्रवर्तित्व प्राप्त करता है। ये दोनों बातें शम भाव के विरुद्ध पड़ती हैं। वस्तुतः जीमूतवाहन दयावीर है, तथा नागानन्द में वीर रस ही है। इस वीररस का मलयवती-प्रेम, तथा विद्याधर चक्रवर्तित्वलाभ से कोई विरोध भी नहीं जान पड़ता। इस सब निर्णय से स्पष्ट है कि नाटक में शान्त रस की स्थिति नहीं मानी जा सकती।

भारतीय रङ्गमञ्च

दृश्य काव्य या रूपक रङ्गमञ्च पर अभिनीत किए जाने की वस्तु है। यही कारण है कि रङ्गमञ्च के साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। भरत के नाट्यशास्त्र में आज से लगभग दो हजार वर्ष पहले के भारतीय रङ्गमञ्च की एक झाँकी देखी जा सकती है। धनञ्जय ने रङ्गमञ्च का संकेत नहीं किया है। हम देख चुके हैं धनञ्जय का लक्ष्य सम्पूर्ण नाट्यशास्त्र के विषयों की विशद विवेचना नहीं था। इस भूमिका-भाग को समाप्त कर देने के पूर्व दो शब्द भारतीय रङ्गमञ्च की बनावट, प्रकार, साजसज्जा के विषय में कह देना अनावश्यक न होगा।

भरत ने नाट्यशास्त्र में नाट्यगृहों का विशद वर्णन किया है। उनके मत से नाटकादि का अभिनय तीन प्रकार के नाट्यगृहों में होता था। ये उत्तम, मध्यम तथा निकृष्ट श्रेणी के होते हैं। पहला १०८ हाथ लम्बा, दूसरा ६४ हाथ लम्बा, तथा तीसरा ३२ हाथ लम्बा होता है। इनमें दूसरा ठीक समझा गया है। समस्त नाट्यगृह को दो भागों में बाँट दिया जाता है—रङ्गमञ्च तथा दर्शकों के बैठने की जगह। दर्शकों के बैठने की जगह में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों के बैठने की अलग अलग जगह होती थी। प्रत्येक वर्ण के व्यक्तियों के बैठने की जगह पर उसका संकेत करने

वाला स्तम्भ होता था। ब्राह्मणों के बैठने की जगह श्वेत स्तम्भ होता था, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों के बैठने की जगह क्रमशः रक्त, पीत तथा नील स्तम्भ। बैठने के आसन लकड़ी या ईंट के होते थे। सामाजिकों के बैठने की जगह के सामने रङ्ग या रङ्गमञ्च होता था। द्वितीय श्रेणी के नाट्यगृह में यह रङ्ग आठ हाथ लम्बा और आठ हाथ चौड़ा होता था। इसके आखिर में रङ्गशीर्ष होता था। रङ्गमञ्च के पीछे पटी या जवनिका होती थी, इसके पीछे नेपथ्य गृह होता था। इसी रङ्गशीर्ष, रङ्गमञ्च तथा रङ्गपीठ इन तीन भागों में विभाजित किया जाता था। रङ्ग के दोनों ओर मत्तवारणी होती थी, जहाँ से पात्र प्रवेश करता था।

भरत के नाट्यशास्त्र में तीन तरह के नाट्यगृहों का उल्लेख है:—प्रथम नाट्यगृह दीर्घ चतुरस्र होता था, जिसे हम 'रेक्टॅंगुलर' कह सकते हैं, इसकी लम्बाई अधिक व चौड़ाई कम होती थी। दूसरे ढङ्ग का नाट्यगृह विकृष्ट चतुरस्र होता था, जिसे हम 'स्क्वायर' कह सकते हैं, जो लम्बाई व चौड़ाई में बराबर होता था। तीसरे ढङ्ग का नाट्यगृह तिकोना होता था, इसे त्र्यस्र कहा गया है। इनमें प्रत्येक में सामाजिकों के बैठने की जगह का तथा रङ्गमञ्च के विभिन्न भागों का विभाजन उसकी बनावट तथा लम्बाई-चौड़ाई के आधार पर किया जाता था।

[illegible] चुके हैं भारतीय रङ्गमञ्च की अभिवृद्धि के साथ ही साथ संस्कृत के नाटकों का विकास हुआ। कालिदास, शूद्रक, हर्ष, भवभूति आदि के नाटक रङ्गमञ्च पर मञ्च से खेले जा सकते हैं, वे कोरे पाठ्य-नाटक नहीं। धीरे धीरे भारतीय रङ्गमञ्च का ह्रास होता गया, किन्हीं कारणों से इन्हें राजाश्रय या लोकाश्रय न मिल पाया। फलतः नाटकों में सिद्धान्त और प्रक्रिया की दृष्टि से समन्वय न हो पाया। संस्कृत नाटक धीरे धीरे पाठ्य-नाटक से बनते गये और उनका एक मात्र लक्ष्य नाट्यशास्त्र के सिद्धान्तों का उदाहरण के रूप में प्रकाशन हो गया। इन नाटकों में धीरे धीरे काव्यत्व बढ़ता गया। इस प्रकार यवनों के भारत में आने के बाद ही भारतीय रङ्गमञ्च तथा संस्कृत नाट्य-साहित्य दोनों अपनी प्राचीन समृद्धि को खो चुके थे।



शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
समर्पण (पिछला पृष्ठ)	२७	महामहिलं	महामहिमत्वं
३०	२८	विषमत्वविरोधरोन	विषमत्वेन
७६	२२	इस तरह में	पर इस तरह में
८२	२८	पद्धंत	पद्धयंत
९१	२४	सन्यताम०	संयताम०
१०४	३०	रल्कशतिते शीर्णं०	०पतिते शीर्णं०
१२६	२९	मखिभि	सखीभि
१४४	१९	नीता	नीती
१३४	१८	मुख्यार्थबाध रतयोगे	मुख्यार्थबाधे तद्योगे
१३५	१८	तयुक्म्	तद्युक्तम्

॥ श्रीः ॥

श्रीधनञ्जयविरचितं

दशरूपकम्

धनिककृतावलोकसहितं चन्द्रकलाहिन्दीव्याख्योपेतं च

प्रथमः प्रकाशः ।

इह सदाचारं प्रमाणयद्भिरविघ्नेन प्रकरणस्य समाप्त्यर्थमिष्टयोः प्रकृताभिमतदेवतयो-र्नमस्कारः क्रियते श्लोकद्वयेन—

> नमस्तस्मै गणेशाय यत्कण्ठः पुष्करायते ।
> मदाभोगघनध्वानो नीलकण्ठस्य ताण्डवे ॥ १ ॥

यस्य कण्ठः पुष्करायते = मृदङ्गवदाचरति, मदाभोगेन घनध्वानः = निबिडध्वनिः, नीलकण्ठस्य = शिवस्य, ताण्डवे = उद्धते नृत्ते, तस्मै गणेशाय नमः । अत्र खण्डश्लेषाक्षिप्यमाणोपमाच्छायालङ्कारः—नीलकण्ठस्य = मयूरस्य ताण्डवे यथा मेघध्वनिः पुष्करायत इति प्रतीतेः ।

संस्कृत के ग्रन्थकारों में ऐसी परिपाटी तथा शिष्टाचार प्रचलित है कि ग्रन्थारम्भ के पूर्व वे अपने इष्टदेवता का स्मरण मङ्गलाचरण के रूप में किया करते हैं। इसी शिष्टाचार को प्रमाण मानकर उसका पालन करते हुए ग्रन्थकार धनञ्जय ने यहाँ सर्वप्रथम मङ्गलाचरण की अवतारणा की है। उनका ग्रन्थ बिना किसी विघ्न के पूरा हो जाय, इसीलिए अपने इष्टदेवता (गणेश तथा विष्णु) को दो श्लोकों से नमस्कार किया गया है।

नीले कण्ठ वाले शिव के ताण्डव नृत्य करने पर मदजल की परिपूर्णता से गम्भीर तथा घोर ध्वनि वाला गणेश का कण्ठ मृदङ्ग के समान आचरण करता है। उन भगवान् गणेश को नमस्कार हो।

यहाँ 'नीलकण्ठ' शब्द का अर्थ 'मयूर' भी होता है। मयूरपक्ष के अर्थ करने पर 'मदाभोगघनध्वान' इस पद में 'घनध्वान' इस खण्ड को लेकर उसका अर्थ 'मेघध्वनि' लिया जा सकता है। इस खण्डश्लेष अलङ्कार के द्वारा शिव तथा गणेश पर मयूर तथा मेघ का उपमानोपमेय भाव आक्षिप्त हो जाता है। अतः यहाँ श्लेष के द्वारा उपमा की छाया व्यञ्जित हो रही है। भाव यह है कि जैसे मयूर के ताण्डव के समय मेघध्वनि मृदङ्ग के समान सुशोभित होती है वैसे ही शिव के उद्धत नृत्य के समय गणेश की गम्भीर कण्ठध्वनि भी वैसी

ही प्रतीत होती है। नृत्य के समय मृदङ्ग भी प्रयुक्त होता है, क्योंकि वह उसकी ताल और गति का नियामक है।

> दशरूपानुकारेण यस्य माद्यन्ति भावकाः।
> नमः सर्वविदे तस्मै विष्णवे भरताय च ॥ २ ॥

एकत्र मत्स्यकूर्मादिप्रतिमानामुद्देशेन, अन्यत्रानुकृतिरूपनाटकादिना यस्य भावका = ध्यातारो रसिकाश्च, माद्यन्ति = हृष्यन्ति, तस्मै विष्णवेऽभिमताय, प्रकृताय भरताय च नमः।

जिन भगवान् विष्णु के मत्स्यकूर्मादि दशावतारों के ध्यानादि से भावुक भक्त प्रसन्न होते हैं, उन सर्वज्ञ भगवान् विष्णु को नमस्कार हो तथा जिन महर्षि भरत के द्वारा निर्दिष्ट दश (नाटकादि) रूपक-भेदों के अवलोकन और पर्यालोचन से सहृदय सामाजिक प्रसन्न होते हैं, उन मुनि भरत को भी नमस्कार हो।

श्रोतुः प्रवृत्तिनिमित्तं प्रदर्श्यते—

> कस्यचिदेव कदाचिद्दयया विषयं सरस्वती विदुषः।
> घटयति कमपि तमन्यो व्रजति जनो येन वैदग्धीम् ॥ ३ ॥

स कंचिद्विषयं प्रकरणादिरूपं कदाचिदेव कस्यचिदेव कवेः सरस्वती योजयति येन प्रकरणादिना विषयेणान्यो जनो विदग्धो भवति।

किसी भी ग्रन्थ के प्रति पाठक या श्रोता को आकृष्ट करना आवश्यक है। इसीलिए उसको प्रवृत्त करने के लिए बताया जाता है कि प्रकरणादिरूप किसी विषय या ग्रन्थ को हर कोई कवि सर्वाङ्गपूर्ण नहीं बना पाता। यह तो देवी सरस्वती की ही कृपा है कि वह किसी किसी विद्वान् के किसी विषय को कभी-कभी इस ढङ्ग से घटित कर देती है कि उस विषय के पर्यालोचन से दूसरा मनुष्य ज्ञानी तथा विदग्ध हो जाता है।

स्वप्रवृत्तिविषयं दर्शयति—

> उद्धृत्योद्धृत्य सारं यमखिलनिगमान्नाट्यवेदं विरिञ्चि-
> श्चक्रे यस्य प्रयोगं मुनिरपि भरतस्ताण्डवं नीलकण्ठः।
> शर्वाणी लास्यमस्य प्रतिपदमपरं लक्ष्म कः कर्तुमीष्टे
> नाट्यानां किन्तु किञ्चित्प्रगुणरचनया लक्षणं संक्षिपामि ॥ ४ ॥

यं नाट्यवेदं वेदेभ्यः सारमादाय ब्रह्मा कृतवान्, यत्प्रबद्धमभिनयं भरतश्चकार करणाङ्गहारानकरोत्, हरस्ताण्डवमुद्धतं, लास्यं सुकुमारं नृत्तं पार्वती, कृतवती तस्य सामस्त्येन लक्षणं कर्तुं कः शक्तः, तदेकदेशस्य तु दशरूपस्य संक्षेपः क्रियत इत्यर्थः।

ग्रन्थ के आरम्भ के पूर्व यह भी अपेक्षित है कि अपने विषय का उल्लेख कर दिया जाय। अतः दशरूपककार धनञ्जय अपने ग्रन्थ के विषय तथा उसकी पर्यालोचना में आश्रित सरणि का सङ्केत करते हैं।

समस्त वेदों के जिस सार को लेकर भगवान् ब्रह्मा ने नाट्य नामक (पञ्चम) वेद की रचना की जिस वेद से सम्बद्ध अभिनय प्रयोग को हाथ तथा पाँव के समायोग एवं अङ्गविक्षेप के द्वारा भरत मुनि ने (व्यावहारिक रूप में) घटित किया जिसमें भगवान् शिव ने ताण्डव (उद्धत) नृत्य का तथा भगवती पार्वती ने लास्य (कोमल) नृत्य का समावेश किया, इस

नाट्यवेद के सम्पूर्ण लक्षण को कौन कर सकता है ? यद्यपि देवताओं और महापुरुषों ■ द्वारा निबद्ध इस नाट्यशास्त्र की सिद्धान्तसरणि का विवेचन अस्मादृश लौकिक प्राणियों के लिए असम्भव है, फिर भी उन नाट्यों के लक्षणों को लेकर कुछ कुछ संक्षेप करता हूँ।

विषयैक्यप्रसक्तं पौनरुक्त्यं परिहरति—

व्याकीर्णे मन्दबुद्धीनां जायते मतिविभ्रमः।
तस्यार्थस्तत्पदैस्तेन संक्षिप्य क्रियतेऽञ्जसा ॥ ५ ॥

व्याकीर्णे = विक्षिप्ते विस्तीर्णे च रसशास्त्रे मन्दबुद्धीनां पुंसां मतिमोहो भवति, तेन तस्य नाट्यवेदस्यार्थस्तत्पदैरेव संक्षिप्य ऋजुवृत्त्या क्रियत इति।

नाट्यवेद का विवेचन तो भगवान् ब्रह्मा तथा भरत मुनि कर चुके हैं; तो फिर से उसी ■ वर्णन करना क्या पिष्टपेषण न होगा; इस आशङ्का ■ उत्तर देते हुए ग्रन्थकार कहता है कि नाट्यशास्त्र (रसशास्त्र) बड़ा विस्तृत तथा गहन है, अतः मन्दबुद्धि वालों को बुद्धिभ्रम हो जाता है, वे वास्तविक ज्ञान को प्राप्त नहीं कर पाते। इसलिये इस ग्रन्थ में उसी (भरतमुनिप्रणीत) नाट्यवेद के अर्थ को लेकर उन्हीं पदों के द्वारा सीधे ढंग से संक्षिप्त कर दिया है। अतः यह ग्रन्थ कोई स्वतन्त्र अभिनव ग्रन्थ न होकर उसी का छोटा रूप है। इसलिए इसकी रचना में कोई पिष्टपेषण नहीं।

इदं प्रकरणं दशरूपज्ञानफलम्। दशरूपं किं फलमित्याह—

आनन्दनिस्यन्दिषु रूपकेषु व्युत्पत्तिमात्रं फलमल्पबुद्धिः।
योऽपीतिहासादिवदाह साधुस्तस्मै नमः स्वादुपराङ्मुखाय ॥ ६ ॥

तत्र केचित्—

'धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम् ॥'

इत्यादिना त्रिवर्गादिव्युत्पत्तिं काव्यफलत्वेनेच्छन्ति तन्निरासेन, स्वसंवेद्यः परमानन्दरूपो रसास्वादो, दशरूपाणां फलं न पुनरितिहासादिवत् त्रिवर्गादिव्युत्पत्तिमात्रमिति दर्शितम्। नम इति सोल्लुण्ठम्।

हमारे ग्रन्थ का विषय या प्रकरण दशरूपक (रूपक के नाटकादि दस भेद) है, तथा इस प्रकरण का फल है इन दस रूपकों का ज्ञान। किन्तु दशरूप का फल क्या है, इस प्रश्न के उपस्थित होने पर बताते हैं कि रूपकों के पर्यालोचन का लक्ष्य केवल व्युत्पत्ति या लौकिक ज्ञान न होकर रसरूप अलौकिक आस्वाद का अनुभव है।

रूपक (अलौकिक) आनन्द से प्रवण रहते हैं। इनका लक्ष्य (फल) सहृदय को अलौकिक आनन्दरूप रस का आस्वाद कराना है। कोई अल्पबुद्धि विद्वान् इन रूपकों का फल केवल इतना ही मानता है कि इनसे व्युत्पत्ति होती है, ठीक वैसे ही जैसे इतिहास, पुराण आदि के पठन से लौकिक ज्ञान प्राप्त होता है। इस तरह के मत वाला विद्वान् रस के आस्वाद से पराङ्मुख है; उसमें सहृदयता या रसिकता का सर्वथा अभाव है। ऐसे विद्वान् को हमारा नमस्कार है।

कुछ लोगों का कहना है कि 'सत्काव्य के सेवन करने से धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष में एवं कलाओं में विदग्धता प्राप्त होती है तथा अध्येता में कीर्ति तथा प्रीति का सन्निवेश होता है।' इस मत वाले लोग काव्य का फल या प्रयोजन धर्म आदि त्रिवर्ग का ज्ञान ही मानते हैं।

इस मत का खण्डन करते हुए धनञ्जय यह ध्वनित करना चाहते हैं कि दशरूपकों के अनुशीलन का फल स्वसंवेद्य परमानन्दरूप रसास्वाद है, इतिहासादि के अध्ययन की तरह नहीं जो कोरे त्रिवर्गादि ज्ञान का ही कारण है। यहाँ इस मत के प्रवर्तक (आचार्य भामह) को जो नमस्कार किया है वह उनका मजाक उड़ाने के लिए है।

'नाट्यानां लक्षणं संक्षिपामि' इत्युक्तम्, किं पुनस्तन्नाट्यमित्याह—

अवस्थानुकृतिर्नाट्यं—

काव्योपनिबद्धधीरोदात्ताद्यवस्थानुकारश्चतुर्विधाभिनयेन तादात्म्यापत्तिर्नाट्यम्।

'नाट्यों का संक्षिप्त लक्षण देता हूँ' ऐसा कहने पर, नाट्य क्या है यह प्रश्न उठाना स्वाभाविक है, अतः उसको स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि '**अवस्था के अनुकरण को ही नाट्य कहते हैं**'। जहाँ काव्य में निबद्ध या वर्णित धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित, धीरप्रशान्त प्रकृति के नायकों (तथा तत्तत्प्रकृतिगत नायिकाओं तथा अन्य पात्रों) का आङ्गिक, वाचिक, आहार्य तथा सात्त्विक इन चार ढंग के अभिनयों के द्वारा अवस्थानुकरण किया जाता है, वह नाट्य है। अवस्थानुकरण से यह तात्पर्य है कि चाल-ढाल, वेश-भूषा, आलाप-प्रलाप आदि के द्वारा पात्रों की प्रत्येक अवस्था का अनुकरण इस ढंग से किया जाय कि नटों में पात्रों की 'तादात्म्यापत्ति' हो जाय। जैसे नट दुष्यन्त की प्रत्येक प्रवृत्ति की ऐसी अनुकृति करे कि सामाजिक उसे दुष्यन्त ही समझें। नाट्य के समय दुष्यन्त और नट का भेद न रहे उनमें परस्पर अभेदप्रतिपत्ति हो जाय।

—रूपं दृश्यतयोच्यते।

तदेव नाट्यं दृश्यमानतया रूपमित्युच्यते नीलादिरूपवत्।

यही नाट्य रूप भी कहलाता है। नाट्य केवल श्रव्य काव्य न होकर रङ्गमञ्च के ऊपर अभिनीत भी होता है, अतः यह दृश्य है, देखा जा सकता है। जैसे हम नीले-पीले आदि रंग को देखते हैं तथा हमारे चक्षुरिन्द्रिय के विषय को रूप कहते हैं, उसी तरह चक्षुर्ग्राह्य होने के कारण नाट्य रूप भी कहलाता है।

रूपकं तत्समारोपात्—

नटे रामाद्यवस्थारोपेण वर्तमानत्वाद्रूपकं मुखचन्द्रादिवत्, इत्येकस्मिन्नर्थे प्रवर्तमानस्य शब्दत्रयस्य 'इन्द्रः पुरन्दरः शक्रः' इतिवत्प्रवृत्तिनिमित्तभेदो दर्शितः।

यही नाट्य रूप रूपक भी कहलाता है, क्योंकि उसमें आरोप पाया जाता है। जैसे रूपक अलङ्कार में हम देखते हैं कि मुख पर चन्द्रमा का आरोप कर दिया जाता है—'मुखचन्द्र' (मुखरूपी चन्द्रमा) वैसे ही नाट्य में नट पर रामादि पात्रों की अवस्था का आरोप किया जाता है, अतः इसे रूपक भी कहते हैं। जिस तरह इन्द्र, पुरन्दर, शक्र तीनों नामों से पुकारते हैं, वैसे ही एक ही अर्थ में नाट्य, रूप तथा रूपक तीनों शब्दों का प्रयोग होता है, इसे बताया गया है।

—दशधैव रसाश्रयम् ॥ ७ ॥

रसानाश्रित्य वर्तमानं दशप्रकारकम्, एवेत्यवधारणं शुद्धाभिप्रायेण। नाटिकायाः संकीर्णत्वेन वक्ष्यमाणत्वात्।

रसों पर आश्रित यह नाट्य केवल दस ही तरह का होता है। शुद्ध नाट्य केवल दस ही तरह का होता है, इस अवधारण के लिए 'ही' (एव) का प्रयोग किया गया है। नाटिका

का समावेश रूपक के शुद्ध भेदों में नहीं। उनका वर्णन संकीर्ण रूपकों में आगे किया जायगा, इसीलिए रूपक केवल दस तरह के माने हैं।

तानेव दशभेदानुद्दिशति—

नाटकं सप्रकरणं भाणः प्रहसनं डिमः।
व्यायोगसमवकारौ वीथ्यङ्केहामृगा इति॥ ८॥

इन दस भेदों का उल्लेख करते हैं:—'नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, समवकार, वीथि, अङ्क, ईहामृग'।

ननु—

'डोम्बी श्रीगदितं भाणो भाणीप्रस्थानरासकाः।
काव्यं च सप्त नृत्यस्य भेदाः स्युस्तेऽपि भाणवत्॥'

इति रूपकान्तराणामपि भावादवधारणानुपपत्तिरित्याशङ्क्याह—

अन्यद्भावाश्रयं नृत्यम्—

रसाश्रयान्नाट्याद्भावाश्रयं नृत्यमन्यदेव तत्र भावाश्रयमिति विषयभेदान्नृत्यमिति नृतेर्गात्रविक्षेपार्थत्वेनाङ्गिकबाहुल्यात्तत्कारिषु च नर्तकव्यपदेशाल्लोकेऽपि च 'अत्र प्रेक्षणीयकम्' इति व्यवहारान्नाटकादेरन्यन्नृत्यं तद्भेदत्वाच्छ्रीगदितादेरवधारणोपपत्तिः। नाटकादि च रसविषयम्, रसस्य च पदार्थीभूतविभावादिसंसर्गात्मकवाक्यार्थहेतुकत्वाद्वाक्यार्थाभिनयात्मकत्वं रसाश्रयमित्यनेन दर्शितम्। नाट्यमिति च 'नट अवस्पन्दने' इति नटेः किञ्चिच्चलनार्थत्वात्सात्त्विकबाहुल्यम्, अत एव तत्कारिषु नटव्यपदेशः। यथा च गात्रविक्षेपार्थत्वे समानेऽप्यनुकारात्मकत्वेन नृत्तादन्यन्नृत्यं तथा वाक्यार्थाभिनयात्मकान्नाट्यात्पदार्थाभिनयात्मकमन्यदेव नृत्यमिति।

इस विषय में यह आशङ्का हो सकती है कि कोई कोई ग्रन्थकार का मत भिन्न है, जैसे 'नृत्य के डोम्बी, श्रीगदित, भाण, भाणी, प्रस्थान, रासक तथा काव्य ये सात भेद होते हैं, ये भाण की तरह ही होते हैं'। इस तरह तो दूसरे रूपक भी सिद्ध होते हैं, फिर 'रूपक दस ही हैं' इस प्रकार अवधारण करना ठीक नहीं जान पड़ता; इसका उत्तर देते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि '(नृत्य नाट्य से भिन्न है) भावाश्रय नृत्य बिलकुल अलग चीज है'। नाट्य या रूपक रसों पर आश्रित है, जब कि नृत्य भाव पर आश्रित है, अतः ये दोनों भिन्न-भिन्न हैं।[1] नाट्य रसाश्रित है, नृत्य भावाश्रित; इसलिये उनमें विषयभेद है; तथा 'नृत्य' शब्द की व्युत्पत्ति 'नृत्' धातु से हुई है जिसका अर्थ है 'गात्रविक्षेप'; जिसका तात्पर्य आङ्गिक अभिनय की बहुलता है, (जब कि नाट्य में चारों तरह के अभिनय पाये जाते हैं), साथ ही नृत्यकला-विशारद नर्तक कहलाते हैं (नट नहीं); साथ ही नृत्य केवल देखने भर की चीज है, वहाँ श्रवणीय कुछ नहीं होता; कथोपकथन का वहाँ अभाव रहता है; लौकिक व्यवहार में 'यहाँ

1. नाट्य में पात्रों का सर्वाङ्गीण चित्रण करते हुए रस की परिपुष्टता की जाती है, जो भाव की चरम परिपोषसीमा है, जब कि नृत्य में केवल भावों की अभिव्यञ्जना ही रहती है। नाट्य में कथोपकथन आवश्यक होता है, जब कि नृत्य में केवल गात्रविक्षेपादि से ही भावव्यञ्जना होती है। नाट्य या रूपक का उदाहरण शाकुन्तल नाटक है, नृत्य का उदय शंकर के भाव-नृत्य।

प्रेक्षणीयक (दृश्य) है' ऐसा प्रयोग नृत्य के लिए पाया जाता है, इसलिए नाटकादि रूपकों से नृत्य सर्वथा भिन्न वस्तु है अतः 'दस ही रूपक हैं' यह अवधारण श्रीगदितादि के विषय में संगत बैठ जाता है। नाटकादि रूपक कोरे भाव पर आश्रित न होकर, रसपरक होते हैं। रस समस्त काव्य के उस वाक्यार्थ से निष्पन्न होता है, जो काव्य में प्रयुक्त पदों के अर्थरूप विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों के संसर्ग से युक्त होता है, इसलिए वाक्यार्थरूप अभिनय का पाया जाना (अर्थात् वाचिक अभिनय की सत्ता) ही रसाश्रय है इस बात का संकेत किया गया है। 'नाट्य' शब्द की व्युत्पत्ति 'नट अवस्पन्दने' धातु से हुई है, जहाँ नट धातु का अर्थ अवस्पन्दन, या कुछ २ चञ्चलता है, अतः नाट्य में सात्त्विक अभिनय की बहुलता होती है, इसीलिए नाट्यविशारद नट कहलाते हैं। जैसे गात्रविक्षेप के समान रूप से दोनों में पाये जाने पर भी नृत्य नृत्त से सर्वथा भिन्न इसलिए है कि प्रथम में अनुकरण पाया जाता है, दूसरे में नहीं, वैसे ही वाक्यार्थरूप (वाचिक) अभिनय वाले नाट्य से पदार्थरूप अभिनय वाला नृत्य भी अलग चीज है।

प्रसङ्गान्नृत्तं व्युत्पादयति—

नृत्तं ताललयाश्रयम् ।

तालश्चञ्चत्पुटादिः, लयो द्रुतादिः, तन्मात्रापेक्षोऽङ्गविक्षेपोऽभिनयशून्यो नृत्तमिति ।[1]

ऊपर के विवेचन में प्रसङ्गवश 'नृत्त' का उल्लेख हो गया है, अतः उसकी व्युत्पत्ति की जाती है। नृत्त ताल तथा लय पर आश्रित होता है। नृत्त में केवल अङ्गविक्षेप पाया जाता है, अभिनय का वहाँ अभाव रहता है। यह नृत्त ताल के आधार पर मात्रा का अनुसरण करता है, तथा लय के आधार पर गति (द्रुत, मन्द या मध्य) का आश्रय लेता है। इसमें किसी भी प्रकार के अभिनय की सत्ता नहीं होती, कोरा गात्रविक्षेप रहता है, जो ताल तथा लय के द्वारा नियमित होता है।

अनन्तरोक्तं द्वितीयं व्याचष्टे—

आद्यं पदार्थाभिनयो मार्गो देशी तथा परम् ॥ ९ ॥

नृत्यं पदार्थाभिनयात्मकं मार्ग इति प्रसिद्धम्, नृत्तं च देशीति। द्विविधस्यापि द्वैविध्यं दर्शयति—

इन्हीं नृत्य तथा नृत्त की पुनः व्याख्या करते हुए बताते हैं कि 'पहला पदार्थाभिनयरूप नृत्य मार्ग भी कहलाता है, तथा दूसरा (नृत्त) देशी भी कहलाता है।' शास्त्रीयपद्धति से समन्वित पदार्थाभिनयरूप गात्रविक्षेप नृत्य कहलाता है। यह शास्त्रीय होने के कारण मार्ग भी कहलाता है। नृत्त में कोरा गात्रविक्षेप है, जो ताललयसमन्वित है, पर शास्त्रीय नहीं, अतः इसे 'देशी' के नाम से भी पुकारते हैं।[2]

मधुरोद्धतभेदेन तद्द्वयं द्विविधं पुनः ।
लास्यताण्डवरूपेण नाटकाद्युपकारकम् ॥ १० ॥

---

१. ताल सङ्गीत में स्वर की मात्रा का तथा नृत्त में पदविक्षेप की मात्रा का नियामक होता है। जैसे सङ्गीत में १६ मात्रा के पद में पहली, पाँचवीं और तेरहवीं पर ताल दिया जाता है, नवीं पर ताली छोड़ दी जाती है, इसी तरह नृत्त की भी ताल दी जाती है। लय नृत्त की गति को तीव्र, मन्द या मध्यम करने की सूचना देती है।

२. मार्ग या नृत्य का उदाहरण दक्षिण में प्रचलित 'भरतनाट्यम्' या कथक नृत्य या उदयशंकर के भावनृत्य हैं। देशी या नृत्त के उदाहरण हैं लोकनृत्य जैसे भीलों का गरबा।

सुकुमारं द्वयमपि लास्यम्, उद्धतं द्वितयमपि ताण्डवमिति। प्रसङ्गोक्तस्योपयोगं दर्शयति—तच्च नाटकाद्युपकारकमिति, नृत्यस्य क्वचिदवान्तरपदार्थाभिनयेन नृत्तस्य च शोभाहेतुत्वेन नाटकादावुपयोग इति।

ये दोनों ही फिर से दो ढंग के होते हैं—मधुर तथा उद्धत, मधुर लास्य कहलाता है, और उद्धत ताण्डव। ये दोनों तरह के नृत्य तथा नृत्त नाटकादि रूपकों के उपस्कारक होते हैं। ये दोनों प्रसङ्गोक्त नृत्य और नृत्त विषय के उपयोगी हैं इसलिए 'नाटकाद्युपकारक' पद का प्रयोग किया है। नाटकादि में पदार्थाभिनय के रूप में भावाश्रय नृत्य का तथा शोभाजनक होने के कारण नृत्त का प्रयोग पाया जाता है।

शास्त्रीय नृत्य में कोमल भावों तथा उद्धत भावों की व्यञ्जना में भिन्न २ सरणि का आश्रय लिया जाता है। इसीलिए इसे दो तरह का माना है सुकुमार लास्य और उद्धत ताण्डव। इसी तरह देशी नृत्त का भी हाल है। लोकनृत्तों में प्रयुक्त भैरोजी, भवानी के नृत्त जिन्हें हम गाँवों में देखते हैं, उद्धत होते हैं। जब कि सावन या होली के अवसर पर प्रचलित कामिनियों के लोकनृत्य मधुरता तथा सुकुमारता लिये होते हैं।

अनुकारात्मकत्वेन रूपाणामभेदात्किंकृतो भेद इत्याशङ्क्याह—

वस्तु नेता रसस्तेषां भेदकः—

वस्तुभेदान्नायकभेदाद्रसभेदाद्रूपाणामन्योन्यं भेद इति।

सभी रूपकों में अनुकरण पाया जाता है अतः उनमें कोई भेद नहीं दिखाई देता, फिर यह भेद क्यों किया जाता है, इस भेद के कारण क्या है, इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं:—इन रूपकों को एक दूसरे से भिन्न करने वाले तीन तत्त्व हैं—वस्तु, नेता तथा रस। वस्तुभेद नायकभेद तथा रसभेद की दृष्टि से ही इनमें परस्पर भेद है।

वस्तुभेदमाह—

—वस्तु च द्विधा।

वस्तुभेद को बताते हुए कहते हैं कि—वस्तु दो तरह की होती है।

कथमित्याह—

तत्राधिकारिकं मुख्यमङ्गं प्रासङ्गिकं विदुः॥ ११॥

प्रधानभूतमाधिकारिकं यथा रामायणे रामसीतावृत्तान्तः, तदङ्गभूतं प्रासङ्गिकं यथा तत्रैव विभीषणसुग्रीवादिवृत्तान्त इति।

इनमें मुख्य वस्तु आधिकारिक (कथावस्तु) कहलाती है तथा अङ्गरूप वस्तु प्रासङ्गिक (कथावस्तु) कहलाती है। नाटकादि रूपकों में प्रधानभूत कथा को आधिकारिक कहते हैं, जैसे रामायण काव्य में राम तथा सीता का वृत्तान्त। इसी आधिकारिक कथा के अङ्गरूप में जिन उपकथाओं का समावेश होता है, वे प्रासङ्गिक कहलाती हैं, जैसे रामायणकथा में ही विभीषण का वृत्तान्त, सुग्रीव का वृत्तान्त या वैसी ही दूसरी कथाएँ।

निरुक्त्याऽऽधिकारिकं लक्षयति—

अधिकारः फलस्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभुः।
तन्निर्वृत्तमभिव्यापि वृत्तं स्यादाधिकारिकम्॥ १२॥

फलेन स्वस्वामिसंबन्धोऽधिकारः फलस्वामी चाधिकारी तेनाधिकारेणाधिकारिणा वा निर्वृत्तम् = फलपर्यन्ततां नीयमानमितिवृत्तमाधिकारिकम्।

आधिकारिक शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए उसका लक्षण करते हैं। 'फल पर स्वामित्व प्राप्त करना अधिकार कहलाता है, तथा उस फल का स्वामी अधिकारी कहलाता है। उस फल या फलभोक्ता के द्वारा फल प्राप्ति तक निर्वाहित वृत्त या कथा आधिकारिक वस्तु कहलाती है।' उदाहरण के लिए राक्षसवध, सीताप्राप्ति तथा रामराज्य की स्थापना रामायण कथा का फल है, इसके स्वामी या भोक्ता राम हैं, अतः आरम्भ से रावणवध, सीताप्राप्ति तथा राज्याभिषेक तक की कथा आधिकारिक कथावस्तु है।

प्रासङ्गिकं व्याचष्टे—

प्रासङ्गिकं परार्थस्य स्वार्थो यस्य प्रसङ्गतः।

यस्येतिवृत्तस्य परप्रयोजनस्य, सतस्तत्प्रसङ्गात्स्वप्रयोजनसिद्धिस्तत्प्रासङ्गिकमितिवृत्तं प्रसङ्गनिर्वृत्तेः।

अब प्रसङ्गोपात्त प्रासङ्गिक वस्तु की व्याख्या करते हैं। जो कथा या वृत्त दूसरे (आधिकारिक के) प्रयोजन के लिए होती है, किन्तु प्रसङ्ग से जिसका स्वयं का फल भी सिद्ध हो जाता है, वह प्रासङ्गिक वृत्त है। प्रासङ्गिक इतिवृत्त का प्रमुख ध्येय आधिकारिक वृत्त की फलनिर्वहणता में सहायता प्रतिपादित करना है, किन्तु प्रसङ्गतः उसका स्वयं का भी फल होता है, जैसे सुग्रीवकथा का प्रयोजन बालिवध तथा राज्यलाभ, तथा विभीषणवृत्त का प्रयोजन लङ्काराज्यप्राप्ति।

प्रासङ्गिकमपि पताकाप्रकरीभेदाद्द्विविधमित्याह—

सानुबन्धं पताकाख्यं प्रकरी च प्रदेशभाक् ॥ १३ ॥

दूरं यदनुवर्तते प्रासङ्गिकं सा पताका सुग्रीवादिवृत्तान्तवत्—पताकेवासाधारणनायकचिह्नवत्तदुपकारित्वात्, यदल्पं सा प्रकरी श्रमणादिवृत्तान्तवत्।

वह प्रासङ्गिक इतिवृत्त भी पताका तथा प्रकरी दो तरह का होता है। 'जो प्रासङ्गिक कथा अनुबन्धसहित होती है, तथा रूपक में दूर तक चलती रहती है, वह पताका कहलाती है। तथा जो कथा केवल एक ही प्रदेश तक सीमित रहती है, वह प्रकरी कहलाती है।' रामायण की कथा में सुग्रीव व विभीषण का वृत्तान्त पताका है, वह दूर तक चलती है, वह मुख्य नायक के पताका चिह्न की तरह आधिकारिक कथा तथा मुख्य नायक की पोषक होती है। (पताका का नायक भिन्न होता है तथा वह पताकानायक कहलाता है।) रामायण में छोटे-छोटे वृत्त प्रकरी हैं जैसे श्रमणा शबरी आदि की कथाएं।

पताकाप्रसङ्गेन पताकास्थानकं व्युत्पादयति—

प्रस्तुतागन्तुभावस्य वस्तुनोऽन्योक्तिसूचकम्।
पताकास्थानकं तुल्यसंविधानविशेषणम् ॥ १४ ॥

प्राकरणिकस्य भाविनोऽर्थस्य सूचकं रूपं पताकावद्भवतीति पताकास्थानकं तच्च तुल्येतिवृत्ततया तुल्यविशेषणतया च द्विप्रकारम्—अन्योक्तिसमासोक्तिभेदात्। यथा रत्नावल्याम्—

'यातोऽस्मि पद्मनयने समयो ममैष सुप्ता मयैव भवती प्रतिबोधनीया।
प्रत्यायनामयमितीव सरोरुहिण्याः सूर्योऽस्तमस्तकनिविष्टकरः करोति ॥'

पताका के साथ ही यहाँ पताकास्थानक की व्युत्पत्ति करते हुए बताते हैं कि 'जहाँ प्रस्तुत भावी वस्तु की समान वृत्त या समान विशेषण के द्वारा अन्योक्तिमय सूचना हो, उसे

पताकास्थानक कहते हैं।' कवि कभी-कभी रूपक में एक स्थान पर भविष्य में घटित होने वाली घटना का सङ्केत कर देता है। यह सूचना पताका या ध्वजा की भाँति भावी वृत्त की सूचना देती है, इसलिये पताकास्थानक कहलाती है। यह सङ्केत या तो घटनाओं की समानता के आधार पर होता है या फिर उनमें समान विशेषणों के पाये जाने के कारण होता है। एक में (प्रथम भेद में) अन्योक्ति या अप्रस्तुतप्रशंसा का आश्रय लिया जाता है, द्वितीय में समासोक्ति का। रत्नावली नाटिका के निम्न पद्य में समान इतिवृत्तरूप अन्योक्ति प्रणाली वाला पताकास्थानक पाया जाता है।

'हे पद्म के से नेत्र वाली (पद्म जैसे नेत्रवाली), मेरे जाने का समय आ गया है, यह मैं जा रहा हूँ। प्रातःकाल तुम्हें सोने से मैं ही जगाऊँगा।' अस्ताचल के मस्तक पर किरणें रखे हुए यह सूर्य इस प्रकार पद्मिनी को (अपने लौट आने का) विश्वास दिला रहा है।

यहाँ पर सूर्य-पद्मिनी वर्णन के द्वारा भावी उदयन-रत्नावलीरूप वृत्तान्त की अन्योक्तिमय व्यञ्जना, पताकास्थानक ही है। इसी नाटिका के निम्न पद्य में समान विशेषण वाला पताकास्थानक भी पाया जाता है।

यथा च तुल्यविशेषणतया—

'उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचं प्रारब्धजृम्भां क्षणा-
दायासं श्वसनोद्गमैरविरलैरातन्वतीमात्मनः ।
अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रुवं
पश्यन् कोपविपाटलद्युति मुखं देव्याः करिष्याम्यहम् ॥'

---

१. प्रश्न होता है कहाँ सूर्यवर्णन भी जब प्रसङ्ग में प्रस्तुत है, तो फिर अप्रस्तुतप्रशंसा कैसे होगी। धनिककृत टीका में यहाँ स्पष्ट अस्ताचलगामी सूर्य से वत्सराजवासवदत्तावृत्तान्त की प्रतीति में अन्योक्ति या अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार मानते हैं। यही वृत्तिकार धनिक भी कहते हैं। हमारे मतानुसार यह अन्योक्ति गम्यमान है, जिसका व्यङ्ग्य उपमा मानकर उपमानोपमेय भाव माना जा सकता है। सन्ध्याकाल के प्रसङ्ग में कहे गये इस पद्य में प्रासङ्गिक भी सूर्यकमलिनी वृत्तान्त स्पष्ट है। उसे अप्रासङ्गिक मानने पर अप्रस्तुतप्रशंसा हो सकती है। यदि नायक-नायिका वृत्तान्त को अप्रस्तुत मान लेंगे, तो सारी गड़बड़ी हो जायगी। वहाँ भी समासोक्ति बनेगी, क्योंकि समासोक्ति में समान कार्य भी होता है। हम इस मत से सहमत नहीं हैं। नाटिका में यह राजा की अभिसार के समय कही गई है, अतः प्रासङ्गिक तथा प्रस्तुतार्थ इसे ही मानना होगा। हाँ, भावी प्रस्तुत नायक नायिकावृत्तान्त की आर्थी व्यञ्जना से मानकर वस्तु से उपमा अलङ्काररूप व्यङ्ग्य मान लेंगे। यही गड़बड़ आगे के उदाहरण में भी पड़ेगी। यद्यपि वहाँ समासोक्ति ठीक बैठ जाती है। पर अप्रस्तुत नायक-नायिका रूप अर्थ 'सामान्य' रूप में लेंगे या 'सागरिका-उदयन रूप विशेष' अर्थ में। यदि प्रथम विकल्प माना जाय, तो पताकास्थानक मानने में कुछ कठिनाई मानना होगा। यदि द्वितीय विकल्प, तो वह तो नाटिका का प्रस्तुत प्रतिपाद्य अवश्य है। हमारे समझ में दोनों में केवल यही भेद है, एक तुल्येतिवृत्तरूप है, दूसरा तुल्यविशेषण रूप। अप्रस्तुतप्रशंसा या समासोक्ति मानने की सारी गड़बड़ का कारण धनिक की वृत्ति की पङ्क्ति है। वस्तुतः यहाँ दोनों में व्यङ्ग्यार्थ प्रतीति है। विश्वनाथ इसीलिए इस प्रकरण में अन्योक्तिसमासोक्ति का प्रयोग नहीं करते (देखिये साहित्यदर्पण षष्ठ प० ४८-४९), न भरत ही (देखिये ना० शा० २१, ३१-३५)। वे दोनों दूसरे अर्थ को 'तुल्यार्थ' मानते हैं, अर्थात् वह व्यङ्ग्य सिद्ध करता है।

मैं उन्नत कलियों वाली, पीले रंग वाली, खिलती हुई इस उद्यानलता को देख रहा हूँ जो वायु के निरन्तर वेग के कारण अपनी शिखाओं को व्यक्त कर रही है तथा मदन नामक पौधों से आवृत है। इसे देखते हुए हुए ऐसा प्रतीत होता है कि मैं कामवासना से उत्कण्ठित, पीली पड़ी हुई, जँभाई लेती हुई, सकाम दूसरी स्त्री को देख रहा हूँ जो निरन्तर निःश्वास ले लेकर अपनी कामपीडा को व्यक्त कर रही हो। अतः मैं ऐसी कल्पना करता हूँ कि इस लता को देखकर मैं अन्य स्त्री को देखने के समान देवी वासवदत्ता का अपराध कर रहा हूँ तथा इस अपराध से मैं निश्चय ही देवी के मुख को क्रोध से आरक्त कान्तिवाला बना दूंगा।

यहाँ लता के वर्णन में तुल्यविशेषणों के द्वारा अपर नायिका की सूचना दी गई है, जो रत्नावली संबद्ध भावी वृत्त को संकेतित करती है। अतः यहाँ दूसरे ढंग का पताकास्थानक है।

---

१. हम देखते हैं, धनञ्जय तथा धनिक केवल दो तरह का पताकास्थानक मानते हैं। एक तुल्येतिवृत्तरूप, दूसरा तुल्यविशेषणरूप। प्रथम का उदाहरण 'यातोऽस्मि पद्मनयने' इत्यादि पद्य है, दूसरे का 'उद्दामोत्कलिकां' आदि पद्य। भरत एवं विश्वनाथ दोनों ही चार चार तरह के पताकास्थानक मानते हैं। विश्वनाथ की परिभाषाएँ भरत के ही श्लोकों की नकल है, कहीं 'परिकीर्त्यते' की जगह 'परिकीर्तितम्' कर दिया है, तो 'इष्यते' की जगह 'उच्यते', इनमें कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है। भरत की परिभाषा यों है।

'जहाँ किसी एक अर्थ (वस्तु) के चिन्तन के समय नाटककार के भावी पदार्थ होने के कारण उसी चिह्नों वाले अन्य अर्थ का भी प्रयोग किया जाय, वहाँ पताकास्थानक होता है।

(१) जहाँ सहसा ही प्रेमानुकूल व्यापार (उपचार) के कारण उत्कृष्ट प्रयोजनसिद्धि हो, वहाँ पहला पताकास्थानक होता है।

(२) अत्यधिक श्लिष्ट शब्दों वाला, अनेकार्थबोधक, काव्यबन्धादि का मङ्गलसूचक पताकास्थान दूसरे ढंग का होता है।

(३) जहाँ वक्ता का अर्थ अव्यक्त, किन्तु सविनय हो, तथा श्लिष्ट उत्तर से युक्त हो, वहाँ तीसरा पताकास्थानक होता है।

(४) जहाँ दो अर्थ वाले श्लिष्ट वचनविन्यास का प्रयोग काव्य में हो, तथा वह प्रधानेतर अर्थ की प्रतीति कराए, वहाँ चौथा (अन्य) पताकास्थानक होता है।'

यत्रार्थे चिन्त्यमानेऽपि तल्लिङ्गार्थः प्रयुज्यते। आगन्तुकेन भावेन पताकास्थानकं च तत्॥
सहसैवार्थसम्पत्तिर्गुणवत्युपचारतः। पताकास्थानकमिदं प्रथमं परिकीर्त्यते॥
वचः सातिशयं श्लिष्टं काव्यबन्धसमाश्रयम्। पताकास्थानकमिदं द्वितीयं परिकीर्तितम्॥
अर्थोपक्षेपणं यत्र लीनं सविनयं भवेत्। श्लिष्टप्रत्युत्तरोपेतं तृतीयमिदमिष्यते॥
द्व्यर्थो वचनविन्यासः सुश्लिष्टः काव्ययोजितः। उपन्याससुयुक्तश्च तच्चतुर्थमुदाहृतम्॥
(नाट्य शा० २१। ३१–३५)

यहाँ जब तक इनके उदाहरण न दिये जाँय, विषय स्पष्ट न होगा। विश्वनाथ के उदाहरण यों हैं:—

(१) रत्नावली में वासवदत्ता के रूप में सागरिका को लतापाश से मरता देख कर, राजा पहले उसे वासवदत्ता ही समझता है। बाद में सागरिका को पहचान लेने पर उसकी गुणवती अर्थसम्पत्ति (उत्कृष्ट प्रयोजनसिद्धि) होती है।

(२) वेणीसंहार में सूत्रधार के 'रक्तप्रसाधितभुवः क्षतविग्रहाश्च, स्वस्था भवन्तु कुरुराजसुताः सभृत्याः' में अनेकार्थबोधक श्लिष्ट शब्दों से नायक की मङ्गलकामना की गई है।

एवमाधिकारिकद्विविधप्रासङ्गिकभेदात्त्रिविधस्यापि त्रैविध्यमाह—

प्रख्यातोत्पाद्यमिश्रत्वभेदात्त्रेधापि तत्त्रिधा ।
प्रख्यातमितिहासादेरुत्पाद्यं कविकल्पितम् ॥ १५ ॥
मिश्रं च संकरात्ताभ्यां दिव्यमर्त्यादिभेदतः ।

इति निगदव्याख्यातम् ।

इस तरह इतिवृत्त आधिकारिक, पताका तथा प्रकरी (प्रासंगिक के दो भेद) तीन प्रकार है, यह फिर से तीन तीन तरह का होता है। यह तीन तरह का इतिवृत्त प्रख्यात, उत्पाद्य तथा मिश्र इस तरह फिर से तीन तीन प्रकार का है। प्रख्यात इतिहास, पुराण आदि से गृहीत होता है, उत्पाद्य कवि की स्वयं की कल्पना होता है, तथा मिश्र में दोनों की खिचड़ी रहती है। साथ ही यह वृत्त दिव्य, मर्त्य तथा दिव्यादिव्य होता है।

तस्येतिवृत्तस्य किं फलमित्याह—

कार्यं त्रिवर्गस्तच्छुद्धमेकानेकानुबन्धि च ॥ १६ ॥

धर्मार्थकामाः फलं तच्च शुद्धमेकैकमेकानुबन्धं द्वित्र्यनुबन्धं वा ।

इस इतिवृत्त का प्रयोजन या फल क्या है, इस प्रश्न का उत्तर देते हुए बताते हैं कि इसका फल (कार्य) धर्म, अर्थ तथा कामरूप त्रिवर्ग है। यह फल कभी तो इनमें से एक ही हो सकता है, कभी दो वर्ग और कभी तीनों वर्ग।

---

(३) वेणीसंहार के दूसरे अङ्क में जब राजा (दुर्योधन) भानुमती से कहता है कि मेरी दोनों जाँघें (ऊरुयुगल) ही तुम्हारे बैठने को पर्याप्त हैं, तो ठीक उसी वक्त 'कञ्चुकी उपस्थित होकर कहता है—'देव, तोड़ डाला'। इस प्रकार यहाँ सामाजिक एक बार 'पर्याप्तमेव करभोरु ममोरुयुग्मम्' सुनने के बाद ही कञ्चुकी की उक्ति 'देव, भग्नम्' सुन कर सहम जाता है। आगे राजा जब पूछता है 'किसने', तो कञ्चुकी उत्तर देता है—'भीमसेन ने'। और फिर धीरे से पता चलता है कि भीम ने राजा का रथ तोड़ डाला है। इस तरह यहाँ तीसरा पताका स्थानक है। इसका दूसरा उदाहरण उत्तररामचरित से दिया जा सकता है —

राम —' यदि परमसह्यस्तु विरहः ' के बाद ही 'कञ्चुकी—देव, उपस्थित ', में सामाजिक विरह तथा उपस्थित का सम्बन्ध समझ बैठता है, जो भावी घटना का सूचक है। वैसे कञ्चुकी तो दुर्मुख के उपस्थित होने की सूचना देने आता है।

(४) चौथा उदाहरण 'उद्दामोत्कलिकां' ही है, जिसे धनिक ने दिया है।

इस तरह धनंजय व धनिक वाला दूसरा पताकास्थानक भरत व विश्वनाथ का चौथा है। पर उनका पहला अन्योक्तिवाला (१) दुर्व्यवसितस्य पताकास्थानक ऊपर के तीनों में से किस में आयगा? वह पहले और तीसरे में तो नहीं आ सकता। क्या 'पद्मनयने' को श्लिष्ट मानकर उसे दूसरे प्रकार में पताकास्थानक में मान सकते हैं?

किंतु परिभाषा में भरत 'अतिशयश्लिष्ट' का विशेषण देते हैं। 'यातोऽस्मि०' आदि पद्य का रूप 'अतिशयश्लिष्ट' नहीं कहा जा सकता। तो हमारे मत से यह उदाहरण भरत के दूसरे पताकास्थानक में भी नहीं आ पाता।

स्पष्ट है, धनंजय का यह भेद अन्य प्रकार का है। अगर इसे चौथे ही प्रकार का मान लिया जाय, तो यहाँ कुछ संगति बैठ जायगी। पर फिर भी धनंजय ने दूसरे पताकास्थानक क्यों माना था? यह प्रश्न बना ही रहता है?

तत्साधनं व्युत्पादयति—

स्वल्पोद्दिष्टस्तु तद्धेतुर्बीजं विस्तार्यनेकधा ।

स्तोकोद्दिष्टः कार्यसाधकः पुरस्तादनेकप्रकारं विस्तारी हेतुविशेषो बीजवद्बीजं यथा रत्नावल्यां वत्सराजस्य रत्नावलीप्राप्तिहेतुरनुकूलदैवो यौगन्धरायणव्यापारो विष्कम्भके न्यस्तः—'यौगन्धरायण—कः संदेहः ('द्वीपादन्यस्मात्-' इति पठति)' इत्यादिना 'प्रारम्भेऽस्मिन्स्वामिनो वृद्धिहेतौ' इत्यन्तेन ।

यथा च वेणीसंहारे द्रौपदीकेशसंयमनहेतुर्भीमक्रोधोपचितयुधिष्ठिरोत्साहो बीजमिति । तच्च महाकार्यावान्तरकार्यहेतुभेदादनेकप्रकारमिति ।

इस विस्तारूप फल के साधन की विवेचना करते हुए बताते हैं कि 'रूपक के आरंभ में अल्परूप में संकेतित वह तत्त्व जो रूपक के फल का कारण है तथा इतिवृत्त में अनेकरूप में पल्लवित होता है, बीज कहलाता है। अल्परूप में निर्दिष्ट हेतु जो वृत्त के कार्य (फल) का साधक है, तथा वृक्ष के बीज की तरह पल्लवित होकर अनेकशाख वृक्ष की भाँति वृक्ष के रूप में विस्तृत होता है, वह पारिभाषिक रूप में बीज कहलाता है। रत्नावली नाटिका के वृत्त का कार्य उदयन व रत्नावली का मिलन करा देना है, जो मन्त्री यौगन्धरायण को अभीष्ट है। नाटिका के विष्कम्भक में ही यौगन्धरायण की वह चेष्टा, जिसे भाग्य की भी अनुकूलता प्राप्त है, बीज के रूप में सामने रक्खी गई है। यौगन्धरायण 'इसमें क्या सन्देह है' कहते हुए तथा 'अनुकूल भाग्य कहीं से भी लाकर इष्ट वस्तु को प्राप्त करा देता है' (द्वीपादन्यस्मादपि०) इत्यादि उक्ति से आरम्भ करके 'स्वामी की उन्नति के कार्य को प्रारम्भ करके तथा दैव के द्वारा सहायता मिलने पर मैं अपने कार्य में सफलता प्राप्त करूँगा' इस उक्ति तक बीज का संकेत करता है।

वेणीसंहार नाटक में द्रौपदी का केश संयमन नाटक का फल है। इस कार्य का हेतु भीम के क्रोध से परिपुष्ट युधिष्ठिर का उत्साह है, यही इस नाटक का बीज है।[1] यह बीज भी महाकार्य तथा अवान्तरकार्य का हेतु होने के कारण दो तरह का है।

अवान्तरबीजस्य संज्ञान्तरमाह—

अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुरच्छेदकारणम् ॥ १७ ॥

यथा रत्नावल्यामवान्तरप्रयोजनानङ्गपूजापरिसमाप्तौ कथार्थविच्छेदे सत्यनन्तरकार्यहेतुः 'उदयनस्येन्दोरिवोद्वीक्षते । सागरिका—(श्रुत्वा) कहं एसो सो उदयणणरिन्दो जस्स अहं तादेण दिण्णा ।' (कथमेष स उदयननरेन्द्रो यस्याहं तातेन दत्ता) इत्यादि । बिन्दुर्जले तैलबिन्दुवत्प्रसारित्वात् ।

महाकार्य बीज का संकेत हो चुका है, अब अवान्तरबीज की दूसरी संज्ञा (नाम) बताते हुए कहते हैं कि जहाँ किसी दूसरी कथा (अर्थ) से विच्छिन्न हो जाने पर इतिवृत्त को

---

१. वेणीसंहार नाटक में बीज 'स्वस्था भवन्तु मयि जीवति धार्तराष्ट्राः' इस भीमोक्ति से लेकर—

मन्थायस्तार्णवाम्भःप्लुतकुहरचलन्मन्दरध्वानधीरः ।
कोणाघातेषु गर्जत्प्रलयघनघटान्योन्यसंघट्टचण्डः ॥
कृष्णाक्रोधाग्रदूतः कुरुकुलनिधनोत्पातनिर्घातवातः ।
केनास्मत्सिंहनादप्रतिरसितसखो दुन्दुभिस्ताडितोऽयम् ॥

तथा 'क्रोधज्योतिरिदं महत्कुरुवने यौधिष्ठिरं जृम्भते' तक सूचित हुआ है।

जोड़ने और आगे बढ़ाने के लिए जो कारण होता है, वह बिन्दु कहलाता है। जैसे रत्नावली नाटिका में वासवदत्ता के द्वारा कामदेव की पूजा कर अनन्तर वृत्त है, इससे एक अर्थ समाप्त हो जाता है और कथा में विशृङ्खलता आ जाती है। इसे संश्लिष्ट या शृङ्खलाबद्ध करने के लिए वहाँ नेपथ्य से मागधों की उक्ति के द्वारा 'महाराज उदयन के चरणों की बाट लोग इसी तरह देख रहे हैं जैसे चन्द्रमा की किरणों की' यह सूचना देकर सागरिका के रूप में वहाँ रहती हुई रत्नावली के द्वारा 'क्या यही वह राजा उदयन है, जिसके लिए पिताजी ने मुझे दे दिया है' यह उक्ति कहलवा कर कथा का अविच्छेद (संधान) कर दिया है। यह अविच्छेदकारण बिन्दु वृत्त में आगे जाकर ठीक वैसे ही प्रसारित होता है जैसे तेल की बूँद पानी में फैलती है। इसीलिए इसे बिन्दु कहते हैं।

इदानीं पताकाद्यं प्रसङ्गादुपक्रमोक्तं क्रमार्थमुपसंहरन्नाह—

> बीजबिन्दुपताकाख्यप्रकरीकार्यलक्षणाः।
> अर्थप्रकृतयः पञ्च ता एताः परिकीर्तिताः॥ १८॥

अर्थप्रकृतयः = प्रयोजनसिद्धिहेतवः।

पताका तथा प्रकरी का वर्णन ग्रन्थकार ने क्रम के अनुसार नहीं किया था, इसलिये अब क्रम को ठीक करने के लिए उपसंहार करते हुए पाँच अर्थप्रकृतियों का विवेचन करते हैं:— रूपक में बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी तथा कार्य ये पाँच अर्थप्रकृतियाँ होती हैं। अर्थप्रकृति से तात्पर्य उन तत्त्वों से है जो प्रयोजन सिद्धि के कारण होते हैं।[1] अर्थ से तात्पर्य प्रयोजन या वस्तु के फल से है, ये पाँचों इसी अर्थ की प्रकृति से संबद्ध होते हैं।[2]

---

१. प्रश्न होता है नाटकीय कथावस्तु में बिन्दु एक ही होता है, या अनेक? बिन्दु की परिभाषा के अनुसार बिन्दु जहाँ कथा, एक प्रयोजन सिद्धि के पूरे होने के कारण टूट जाता है, वहाँ उसे जोड़ कर आगे बढ़ाता है। इस तरह तो बिन्दु अनेक हो सकते हैं। हमारे मत में किसी नाटक में बिन्दु अनेक हो सकते हैं।—

२. अर्थप्रकृति को स्पष्ट करते हुए धनिक बताते हैं कि वे (रूपक के नायक की) प्रयोजनसिद्धि के हेतु हैं—'प्रयोजनसिद्धिहेतवः'। पर इस परिभाषा पर एक आपत्ति होती है। अर्थप्रकृतियाँ पाँच हैं:—बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी तथा कार्य। जहाँ तक पहली चार अर्थप्रकृतियों की बात है, वे प्रयोजनसिद्धिहेतु हैं हो। पर पाँचवी अर्थप्रकृति पर आते ही धनिक की परिभाषा गड़बड़ा जाती है। कार्य नामक अर्थप्रकृति स्वयं 'प्रयोजन' है। फिर 'प्रयोजन' स्वयं उसी का सिद्धिहेतु कैसे बन सकता है? या तो ये दोनों प्रयोजन भिन्न होने चाहिए या फिर कार्य से इतर चार ही अर्थप्रकृति में प्रयोजनसिद्धिहेतुत्व मानना चाहिए।

धनिक की भाँति विश्वनाथ भी 'प्रयोजनसिद्धिहेतवः' कहकर चुप रह जाते हैं। वस्तुतः वे षष्ठ परिच्छेद में धनिक की नकल करते हैं। इस समस्या को एक ढंग से सुलझाया जा सकता है। कार्य या प्रयोजन दो तरह के माने जाने चाहिए। एक प्रमुख कार्य जो नाटक का खास कार्य है, जैसे रामकथा में रावण का वध। दूसरा अवान्तरकार्य जैसे विभीषण का मिलना आदि। ऐसा मानने पर अवान्तर कार्य प्रमुख कार्यरूप प्रयोजन का सिद्धिहेतु बन जायगा। पर क्या धनंजय, धनिक तथा विश्वनाथ को यह अभीष्ट था। यदि ऐसा हो तो उन्हें संकेत करना चाहिए था। इसके अभाव में हम इस मत को दुष्ट ही मानेंगे।

३. यहाँ पताका तीसरी तथा प्रकरी चौथी अर्थप्रकृति मानी गई है। पताका का उदाहरण रामकथा में सुग्रीव-वृत्तान्त तथा प्रकरी का शबरी वृत्तान्त दिया है। इस तरह तो रामकथा में शबरी [illegible] वृत्तान्त पहले आता है, सुग्रीव का बाद में। रामकथा में इस हिसाब से प्रकरी

अन्यदवस्थापञ्चकमाह—

अवस्थाः पञ्च कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः ।
आरम्भयत्नप्राप्त्याशानियताप्तिफलागमाः ॥ १९ ॥

पाँच अर्थप्रकृतियों का निर्देश कर देने पर अब पाँच अवस्थाओं को बताते हैं —'फल की इच्छा वाले नायकादि के द्वारा प्रारब्ध कार्य की पाँच अवस्थाएँ होती हैं—आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति तथा फलागम'।

यथोद्देशं लक्षणमाह—

औत्सुक्यमात्रमारम्भः फललाभाय भूयसे ।

इदमहं सम्पादयामीत्यध्यवसायमात्रमारम्भ इत्युच्यते, यथा रत्नावल्याम्—'प्रारम्भेऽस्मिन् स्वामिनो वृद्धिहेतौ दैवे चेत्थं दत्तहस्तावलम्बे ।' इत्यादिना सचिवायत्तसिद्धेर्वत्सराजस्य कार्यारम्भो यौगन्धरायणमुखेन दर्शितः ।

इन्हीं पाँचों के नामानुसार लक्षण बता रहे हैं —अत्यन्त फललाभ की उत्सुकता मात्र ही आरम्भ कहलाती है। किसी भी फल की प्राप्ति के लिए नायकादि में इच्छा होती है तथा उसके प्रति उत्सुकता होती है। इस उत्सुकता मात्र का पाया जाना ही आरम्भ है क्योंकि प्राप्ति के लिए की गई चेष्टा का समावेश 'यत्न' नामक दूसरी अवस्था में हो जाता है। 'मैं इसे करूँ' सिर्फ इतनी चेष्टा ही आरम्भ है, जैसे रत्नावली नाटिका में 'स्वामी की उन्नति के हेतु का आरम्भ कर लेने पर तथा भाग्य के द्वारा इस तरह सहायता किये जाने पर' आदि उक्ति के द्वारा वत्सराज उदयन के उस कार्यारम्भ की घटना यौगन्धरायण के मुँह से दिखाई गई है, जिसकी सिद्धि मंत्री यौगन्धरायण पर आश्रित है। यहाँ यौगन्धरायण ने उदयन-रत्नावली-मिलन रूप फल के प्रति उत्सुकता प्रदर्शित की है।

अथ प्रयत्नः—

प्रयत्नस्तु तदप्राप्तौ व्यापारोऽतित्वरान्वितः ॥ २० ॥

तस्य फलस्याप्राप्तावुपाययोजनादिरूपश्चेष्टाविशेषः प्रयत्नः, यथा रत्नावल्यामालेख्याभिलेखनादिर्वत्सराजसमागमोपायः—'तहावि णत्थि अण्णो दंसणुवाओ त्ति जहा-तहा आलिहिअ जधासमीहिअं करिस्सं ।' (तथापि नास्त्यन्यो दर्शनोपाय इति यथा तथालिख्य यथासमीहितं करिष्यामि ।) इत्यादिना प्रतिपादितः ।

उस फल की प्राप्ति न होने पर, उसे पाने के लिए बड़ी तेजी के साथ जो उपाय

तीसरी अर्थप्रकृति हो जायगी, पताका चौथी। इसे कैसे सुलझाना होगा? इस अपने मत को हमने सन्धि के प्रकरण में फुटनोट में संकेतित किया है, वहाँ देखना चाहिए।

१ दशरूपककार के मत से अर्थप्रकृति तथा अवस्था का भेद स्पष्ट नहीं होता। ये दोनों ही कथावस्तु में पाई जाती हैं। पर आखिर इनमें अन्तर क्या है? हमारे मतानुसार बीज आदि पाँच अर्थप्रकृति वस्तु के उपादान कारण हैं। इसे हम वस्तु का 'मेटीरियल' कह सकते हैं। जहाँ भी ये पाँच अर्थप्रकृति होंगी, कथा का ढाँचा खड़ा हो जायगा। अवस्था नायक की मनोदशा से संबद्ध है, यह तथ्य अवस्था की परिभाषा से स्पष्ट है। इस प्रकार यह जँचता है कि ५ अर्थप्रकृति नाटकीय कथावस्तु का औपादानिक विभाजन (Physical division) है, जब कि ५ अवस्था नायक की मनोदशा की दृष्टि से वस्तु का मनोवैज्ञानिक विभाजन (Psychological division) है। इस मत के लिये मैं प्रो० कान्तानाथ शास्त्री तैलंग का ऋणी हूँ।

योजनायुक्त व्यापार या चेष्टा होती है, वह प्रयत्न है। प्रयत्न के अन्तर्गत नायक या नायिका अपनी अभीप्सित वस्तु को प्राप्त करने के व्यापार में संलग्न रहते हैं। जैसे रत्नावली में नायिका सागरिका वत्सराज को प्राप्त करना चाहती है, इस प्राप्ति के उपाय रूप में वह वत्सराज के चित्र का आलेखन करती है। यहीं से नाटिका में यत्न नामक अवस्था पाई जाती है। 'वत्सराज उदयन के दर्शन का कोई दूसरा उपाय नहीं, फिर भी मैं जैसे तैसे उनका चित्र बनाकर इच्छा को पूर्ण करती हूँ।' इस उक्ति के द्वारा यत्न की सूचना दी गई है।

प्राप्त्याशामाह—

उपायापायशङ्काभ्यां प्राप्त्याशा प्राप्तिसंभवः।

उपायस्यापायशङ्कायाश्च भावादनिर्धारितैकान्ता फलप्राप्तिः प्राप्त्याशा। यथा रत्नावल्यां तृतीयेऽङ्के वेषपरिवर्ताभिसरणादौ समागमोपाये सति वासवदत्तालक्षणापायशङ्कया—'एवं जदि अआलवादाली विअ आअच्छिअ अण्णदो ण णइस्सदि वासवदत्ता।' ('एवं यद्यकालवातालीवागत्यान्यतो न नेष्यति वासवदत्ता।') इत्यादिना दर्शितात्वादनिर्धारितैकान्ता समागमप्राप्तिरुक्ता।

जहाँ उपाय तथा विघ्न की आशंका के कारण फलप्राप्ति के विषय में कोई ऐकान्तिक निश्चय नहीं हो पाता, फल प्राप्ति की संभावना उपाय व विघ्नाशंका दोनों में दोलायमान रहती है, वहाँ प्राप्त्याशा नामक अवस्था होती है। जैसे रत्नावली नाटिका के तीसरे अंक में रत्नावली के वेष बदल कर अभिसरण करने वाले समागम के उपाय के होने पर भी, विदूषक की 'अगर अकाल वायु की तरह बीच में ही आकर देवी वासवदत्ता दूसरी ओर न ले जाय तो ऐसा ही होगा' इस उक्ति के द्वारा वासवदत्ताजनित विघ्न की आशंका दिखा कर समागमप्राप्ति के अनैकान्तिक निश्चय की सूचना दी गई है। यहाँ विदूषक की इस उक्ति से नायक तथा सामाजिकों को यह संदेह हो जाता है कि कहीं फलप्राप्ति में कोई विघ्न उपस्थित न हो जाय।

नियताप्तिमाह—

अपायाभावतः प्राप्तिर्नियताप्तिः सुनिश्चिता ॥ २१ ॥

अपायाभावादवधारितैकान्ता फलप्राप्तिर्नियताप्तिरिति। यथा रत्नावल्याम्—'विदूषक—सागरिआ दुक्करं जीविस्सदि' ('सागरिका दुष्करं जीविष्यति।') इत्युपक्रम्य 'किं ण उवाअं चिन्तेसि।' ('किं नोपायं चिन्तयसि?') इत्यनन्तरम् 'राजा—वयस्य! देवीप्रसादनं मुक्त्वा नान्यमत्रोपायं पश्यामि।' इत्यनन्तराङ्कार्थबिन्दुनानेन देवीलक्षणापायस्य प्रसादनेन निवारणान्नियता फलप्राप्तिः सूचिता।

जब विघ्न के अभाव के कारण फल की प्राप्ति निश्चित हो जाती है तो नियताप्ति नामक अवस्था होती है। हम देख चुके हैं कि प्राप्त्याशा में फलप्राप्ति के बारे में नायक का मानस सन्देह से विचलित रहता है। किंतु नियताप्ति में प्राप्ति निश्चित हो जाती है, उसका मानस एक बात को ('फल प्राप्ति अवश्य होगी' इसे) निश्चित कर लेता है।[1] जैसे

1. भारतीय नाटक सभी सुखान्त होते हैं। अतः एकान्त निश्चय के बाद सदा फलप्राप्ति ही होगी। भारतीय नाट्यशास्त्र की कसौटी पर पाश्चात्य ढंग के दुःखान्त नाटकों की मीमांसा करने पर 'फलप्राप्ति नहीं होगी' इस निश्चय की दशा में नियताप्ति मानी जा सकेगी। किन्तु 'नियताप्ति' शब्द की व्युत्पत्ति भी सुखान्त रूपकों के ही अनुरूप है।

रत्नावली नाटिका में रत्नावली के तहखाने में बन्द किये जाने पर उसकी दशा के विषय में विचार करते हुए विदूषक बताता है कि 'सागरिका बड़ी मुश्किल से जिन्दगी काटेगी इसके बाद वह राजा से पूछता है—'तुम उसके छुटकारे का कोई उपाय क्यों नहीं सोचते ?' इसके उत्तर में राजा कहता है—'मित्र, इस विषय में देवी वासवदत्ता को खुश करने के अलावा कोई उपाय नहीं दिखाई देता।' यहाँ भावी (चतुर्थ) अङ्क की घटना के बिन्दु के रूप में सूचित इस देवीप्रसादन से वासवदत्ताजनित विघ्न समाप्त हो जायगा। इस प्रसादन की भावना के कारण फलप्राप्ति की निश्चिति सूचित की गई है।

फलयोगमाह—

समग्रफलसंपत्तिः फलयोगो यथोदितः।

यथा रत्नावल्या रत्नावलीलाभचक्रवर्तित्वावाप्तिरिति।

समस्त फल की प्राप्ति हो जाने पर फलयोग (फलागम) कहलाता है। इस लक्षण में फल के साथ 'समग्र' विशेषण प्रयुक्त हुआ है। इसका तात्पर्य यह है कि अधूरे फल मिलने तक 'नियताप्ति' अवस्था ही मानी जायगी। रत्नावली नाटिका में उदयन को रत्नावली का लाभ तथा तज्जनित चक्रवर्तित्वप्राप्ति नाटिका का फलागम है।

संधिलक्षणमाह—

अर्थप्रकृतयः पञ्च पञ्चावस्थासमन्विताः ॥ २२ ॥

यथासंख्येन जायन्ते मुखाद्याः पञ्च संधयः।

अर्थप्रकृतीनां पञ्चानां यथासंख्येनावस्थाभिः पञ्चभिर्योगात् यथासंख्येनैव वक्ष्यमाणा मुखाद्याः पञ्च संधयो जायन्ते।

रूपक की अर्थप्रकृति तथा अवस्था का वर्णन करने पर उन दोनों के मिश्रण से सम्भूत संधियों का वर्णन करते हैं। **बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी तथा कार्य ये पाँच अर्थप्रकृतियाँ जब क्रम से अवस्था, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति तथा फलागम इन पाँच अवस्थाओं से मिलती हैं, तो क्रमशः मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श तथा उपसंहृति (उपसंहार) इन पाँच संधियों की रचना होती है।**[१]

---

१ धनञ्जय के मत से पाँचों अर्थ प्रकृतियों में से एक एक, अवस्था के एक एक अंग से मिलकर ५ संधियों का निर्माण करती है। संधि की परिभाषा तो धनञ्जय दूसरी ही देते हैं, कि जहाँ एक अवान्तर प्रयोजन पूर्ण हो जाय और मुख्य प्रयोजन से जोड़ते हुए कथांशों को आगे के प्रयोजन से सम्बद्ध कर दिया जाय, वहाँ वह सम्बन्ध संधि कहलाता है। पर परिभाषा में तो कहीं अर्थप्रकृति तथा अवस्था के मिश्रण की बात नहीं है। धनञ्जय की परिभाषा के मतानुसार तो यह मिश्रण सिद्ध नहीं होता। भरत में इस बात का कोई संकेत नहीं मिलता। (दे० ना० शा० २१–३६–३७) विश्वनाथ ने भी धनञ्जय के ही मत का अनुसरण किया है, वे भी यही कहते हैं —

यथासंख्यमवस्थाभिराभिर्योगात्तु पञ्चभिः। पञ्चधैवेतिवृत्तस्य भागाः स्युः पञ्च संधयः ॥ (सा० द० ६.७४)

पर यह योग मानने पर एक गड़बड़ी हो सकती है। प्रकरी का सम्बन्ध विमर्श या अवमर्श से माना गया है। पर कहीं यह गर्भ में पाई जाती है। उदाहरण के लिए राम की कथा में शबरीवृत्तान्त प्रकरी माना जाता है। पर राम कथा में वहाँ गर्भसंधि ही चल रही है जो सुग्रीव के मिलन तक चलती है। फिर तो सारा सिद्धान्त गड़बड़ा जायगा। हमारे मत से यह पाँच अर्थप्रकृति तथा पाँच अवस्था का मेल ५ संधि मानकर मेल मिलाने की कोशिश में ही सारी त्रुटि की जड़ है।

संधिसामान्यलक्षणमाह—

अन्तरैकार्थसंबन्धः संधिरेकान्वये सति ॥ २३ ॥

एकेन प्रयोजनेनान्वितानां कथांशानामवान्तरैकप्रयोजनसंबन्धः संधिः ।

सन्धि का सामान्य लक्षण बताते हुए कहते हैं कि किसी एक प्रयोजन से परस्पर संबद्ध (अन्वित) कथांशों को जब किसी दूसरे एक प्रयोजन से संबद्ध किया जाय, तो यह सम्बन्ध सन्धि कहलाता है। एक ओर कथांशों का सम्बन्ध अर्थप्रकृति के रूप में कार्य से है, दूसरी ओर अवस्था के रूप में फलागम से दोनों को सम्बद्ध करने पर सन्धि हो जाती है।

के पुनस्ते संधयः[1]—

मुखप्रतिमुखे गर्भः सावमर्शोपसंहृतिः ।

ये सन्धियाँ कौन सी हैं?—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श (विमर्श) तथा उपसंहृति (उपसंहार या निर्वहण)।

यथोद्देशं लक्षणमाह—

मुखं बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससम्भवा ॥ २४ ॥

अङ्गानि द्वादशैतस्य बीजारम्भसमन्वयात् ।

बीजानामुत्पत्तिरनेकप्रकारप्रयोजनस्य रसस्य च हेतुर्मुखसंधिरिति व्याख्येयं तेन त्रिवर्गफले प्रहसनादौ रसोत्पत्तिहेतोरेव बीजत्वमिति ।

क्रम से उनका लक्षण बताते हुए कहते हैं कि 'मुखसन्धि में नाना प्रकार के रस को उत्पन्न करने वाली बीजोत्पत्ति पाई जाती है। बीजारम्भ के लिये प्रयुक्त होने के कारण इस मुखसन्धि के बारह अंग हैं। मुखसन्धि में ही रूपक के बीज की स्थापना की जाती है। यही बीज काव्य या नाटक के विभिन्न रसों को उत्पन्न करता है, उनका हेतु है। अन्य रूपकों में तो धर्मादि में से कोई एक वर्ग हेतु या बीज के रूप में होता है, किन्तु प्रहसन, भाण आदि में स्पष्टरूप से कोई वर्ग (पुरुषार्थ) हेतु के रूप में नहीं दिखाई देता। इसका समाधान करते हुए बताते हैं कि वहाँ भी हास्य आदि रस की उत्पत्ति तो होती ही है, अतः रसोत्पत्तिहेतु (रस का आलम्बन, समाज का उपहास्य पक्ष) ही बीज माना जायगा।

अस्य च बीजारम्भार्थयुक्तानि द्वादशाङ्गानि भवन्ति तान्याह—

उपक्षेपः परिकरः परिन्यासो विलोभनम् ॥ २५ ॥

युक्तिः प्राप्तिः समाधानं विधानं परिभावना ।

उद्भेदभेदकरणान्यन्वर्थान्यथ लक्षणम् ॥ २६ ॥

इसमें बीज के आरम्भ के लिए प्रयुक्त द्वादश अंग होते हैं, उन्हीं का वर्णन करते हैं— उपक्षेप, परिकर, परिन्यास, विलोभन, युक्ति, प्राप्ति, समाधान, विधान, परिभावना, उद्भेद, भेद तथा करण इन मुख के बारह अङ्गों के नाम अन्वर्थ हैं, अब इनका लक्षण कहेंगे।

एतेषां स्वसंज्ञाव्याख्यातानामपि सुखार्थं लक्षणं क्रियते—

बीजन्यास उपक्षेपः—

यथा रत्नावल्याम्—(नेपथ्ये)

द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात् ।

आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूतः ॥'

---

(१) 'संधयः' इत्यपि पाठः ।

इत्यादिना यौगन्धरायणो वत्सराजस्य रत्नावलीप्राप्तिहेतुभूतमनुकूलदैवं स्वव्यापारं बीजत्वेनोपक्षिप्तवानित्युपक्षेपः ।

रूपक के आरम्भिक अंश में जब कवि बीज का न्यास करता है, तो उसे उपक्षेप कहते हैं। जिस प्रकार कृषक वृक्षादि के फल की इच्छा से भूमि में बीज का निक्षेप करता है, उसी प्रकार कवि भी कार्यरूप फल के हेतुरूप बीज का निक्षेप रूपक के प्रथम अंक या प्रथम भाग में किया करता है। जैसे रत्नावली नाटिका में मंच पर प्रवेश करने के पहले ही यौगन्धरायण अपने कार्य को बीजरूप में डाल देता है। यौगन्धरायण का कार्य वत्सराज उदयन तथा रत्नावली का मिला देना है, तथा वह इनके मिलाप के लिए व्यापार में संलग्न है, जिसमें उसे दैव की अनुकूलता भी प्राप्त है। इस बीजरूप व्यापार की सूचना यौगन्धरायण ने निम्न नेपथ्योक्ति के द्वारा दी है —

'अनुकूल होने पर दैव अपनी ईप्सित वस्तु को दूसरे द्वीप से, समुद्र के बीच से, या दिशाओं के अन्त से कहीं से भी लाकर एकदम मिला ही देता है।' इस प्रकार रत्नावली प्राप्ति रूप कार्य के बीज का न्यास होने से यहाँ उपक्षेप है।[1]

परिकरमाह—

—तद्बाहुल्यं परिक्रिया ।

यथा तत्रैव—'अन्यथा क्व सिद्धादेशप्रत्ययप्रार्थितायाः सिंहलेश्वरदुहितुः समुद्रे प्रवहणभङ्गमग्नोत्थितायाः फलकासादनम् ।' इत्यादिना 'सर्वथा स्पृशन्ति स्वामिनमभ्युदयाः ।' इत्यन्तेन बीजोत्पत्तेरेव बहूकरणात्परिकरः ।

जब बीजन्यास का बाहुल्य पाया जाय तो उसे परिकर या परिक्रिया कहते हैं। जहाँ बीज की सूचना देकर पात्र उस बीजन्यास की पुष्टि आदि करते हुए उसे दृढ करे उसे परिकर कहेंगे। जैसे रत्नावली नाटिका में ही यौगन्धरायण अपने पक्ष के बीज का बाहुल्य प्रकाशित करते हुए बीजोत्पत्ति को पल्लवित करता है। इसकी सूचना यौगन्धरायण की इन उक्तियों से होती है—'(यदि दैव अनुकूल न होता) तो सिद्ध पुरुषों के वचनों पर विश्वास करके सिंहलपति की जिस पुत्री को वत्सराज उदयन से विवाहित करने के लिए प्रार्थित किया गया है, वह जहाज के टूट जाने से समुद्र में मग्न होने पर भी एक तख्ते के सहारे कैसे लग जाती' तथा 'ऐसा ज्ञात होता है स्वामी की उन्नति सब तरह से हो रही है (उन्नति स्वामी का सब तरह से स्पर्श कर रही है)'।

परिन्यासमाह—

तन्निष्पत्तिः परिन्यासः—

यथा तत्रैव—

'प्रारम्भेऽस्मिन्स्वामिनो वृद्धिहेतौ दैवे चेत्थं दत्तहस्तावलम्बे ।
सिद्धेर्भ्रान्तिर्नास्ति सत्यं तथापि स्वेच्छाकारी भीत एवास्मि भर्तुः ॥'

इत्यनेन यौगन्धरायणः स्वव्यापारदैवयोर्निष्पत्तिमुक्तवानिति परिन्यासः ।

बीजन्यास के बाहुल्यरूप परिकर की सिद्धि या परिपक्वावस्था (निष्पत्ति) परि-

---

१. रत्नावली के लङ्का से आने वाले जहाज के टूट जाने पर, डूब जाने की खबर प्रसिद्ध कराकर दैववशात् उसे यौगन्धरायण सागरिका के रूप में वासवदत्ता की दासी बनाकर रख लेता है। वह इसे जानता है कि सागरिका ही रत्नावली है। तथा उसे पूर्ण विश्वास है उसकी इच्छा पूर्ण होगी, क्योंकि दैव उसके अनुकूल है।

न्यास कहलाती है। धीरे धीरे रूपक के पात्र को अपने फलबीज के विषय में और अधिक विश्वास हो जाता है। जब उसकी क्रिया की सिद्धि की धवना की जाती है तो उसे परिन्यास कहते हैं। जैसे यौगन्धरायण को अपने व्यापार तथा दैव दोनों पर यह पूर्ण विश्वास है कि उसे सिद्धि अवश्य होगी, उसका बीज अवश्य निष्पन्न होगा। इसकी व्यंजना वह निम्नपद्य के द्वारा देता है—

अपने स्वामी वत्सराज उदयन की उन्नति के लिये मैंने यह कार्य (रत्नावली मिलापरूप) शुरू कर दिया है, इस कार्य में दैव भी मुझे इस तरह हाथ से सहारा दे रहा है (कि जहाज के टूटने पर भी रत्नावली बचकर मेरे हाथ लग गई) और कार्य सिद्धि के विषय में भी मुझे कोई संदेह नहीं है, इतना होने पर भी मैं यह मनमानी बात (रत्नावली संगोपन) करने के कारण स्वामी से डर रहा हूं।

यहां यौगन्धरायण को अपनी सिद्धि के प्रति पूर्ण आस्था है। बीज डाल देने तथा उसके बाहुल्य के बाद जिस तरह रूपक को सिद्धि तथा बीज-निष्पत्ति की आस्था होती है, उसी तरह रूपक के पात्र को भी। जब वह इसकी अभिव्यंजना करता है, तो वह परिन्यास नामक नाटकीय तत्त्व कहलाता है।

विलोभनमाह—

—गुणाख्यानं[1] विलोभनम् ॥ २७ ॥

यथा रत्नावल्याम्—

'अस्तापास्तसमस्तभासि नभसः पारं प्रयाते रवा-
वास्थानीं समये समं नृपजनः सायंतने संपतन्।
संप्रत्येष सरोरुहद्युतिमुषः पादांस्तवासेवितुं
प्रीत्युत्कर्षकृतो दृशामुदयनस्येन्दोरिवोद्वीक्षते ॥'

इति वैतालिकमुखेन चन्द्रतुल्यवत्सराजगुणवर्णनया सागरिकायाः समागमहेत्वनुराग-बीजानुगुण्येनैव विलोभनाद्विलोभनमिति।

यथा ■ वेणीसंहारे—

'मन्थायस्तार्णवाम्भः प्लुतकुहरवलन्मन्दरध्वानधीरः
कोणाघातेषु गर्जत्प्रलयघनघटान्योन्यसंघट्टचण्डः।
कृष्णाक्रोधाग्रदूतः कुरुकुलनिधनोत्पातनिर्घातवातः
केनास्मत्सिंहनादप्रतिरसितसखो दुन्दुभिस्ताडितोऽयम् ॥'

इत्यादिना 'यशोदुन्दुभि' इत्यन्तेन द्रौपद्या विलोभनाद्विलोभनमिति।

जब (फल से संबद्ध किसी वस्तु के) गुणों का वर्णन किया जाय तो उसे विलोभन कहते हैं। कोई भी व्यक्ति किसी वस्तु के गुणों के कारण ही उस पर लुब्ध होता है, रूपक में भी नायकादि को फल की ओर लुब्ध करने के लिए कवि उसके गुणों का आख्यान करता है। नायकादि में इष्टप्राप्ति का लोभ उत्पन्न करने के कारण यह तत्त्व 'विलोभन' कहलाता है। जैसे रत्नावली नाटिका में ही वैतालिक चन्द्रमा तथा वत्सराज के समान गुणों के वर्णन के द्वारा सागरिका ■ विलोभन करते हैं, जो समागम (उदयन रत्नावली मिलन) के हेतुरूप अनुराग बीज को सागरिका के हृदय में बढ़ा रहे हैं। इस प्रकार निम्न पद्य में विलोभन पाया जाता है—

(१) 'गुणाख्यानात्' इत्यपि पाठः।

अस्त होने के समय समस्त शोभा (तेज) से शून्य सूर्य के आकाश के पार चले जाने पर, सभी राजालोग शाम के समय एकत्रित होकर प्रीति तथा उन्नति के विधायक वत्सराज उदयन के, कमल की शोभा का अपहरण करने वाले, चरणों का सेवन करने के लिए राजमण्डप में उसी तरह बाट देख रहे हैं, जैसे प्रीति तथा उन्नति के विधायक, चन्द्रमा की, कमल की शोभा को छीन लेने वाली, किरणों की बाट देख रहे हों।

(यहाँ शाम के समय मानो चन्द्रोदय के साथ ही साथ वत्सराज उदयन के गुणों का वर्णन किया गया है। 'पादान्' के श्लिष्ट प्रयोग से अनुप्राणित उपमा अलंकार चन्द्र तथा उदयन के उपमानोपमेय भाव को व्यक्त करता है।)

अथवा, जैसे वेणीसंहार नाटक में युधिष्ठिर के द्वारा युद्ध घोषणा किये जाने व रणदुन्दुभि के बजने से द्रौपदी का विलोभन किया गया है। निम्न पद्य में भीम ने रणदुन्दुभि के गुणों के आख्यान के द्वारा नाटक की नायिका द्रौपदी का विलोभन किया है।

यह दुन्दुभि किसने बजाया है, जिसकी आवाज हमारे सिंहनाद के समान है। इसका धीर तथा गम्भीर शब्द मथन के समय चञ्चल तथा क्षुब्ध समुद्र-जल से छिद्रों (गुहाओं) के भरने से शब्द करते हुए चञ्चल मंदराचल के गंभीर गर्जन के सदृश है, तथा जब एक साथ सैकड़ों ढक्कायें तथा हजारों भेरियाँ बजाई जाती हैं तो ऐसी प्रचण्ड आवाज होती है जैसे गरजते हुए प्रलय के मेघ परस्पर टकरा रहे हों। यह रणदुन्दुभि कौरवों के प्रति उत्पन्न द्रौपदी के क्रोध का अग्रदूत है, तथा कुरुकुल के भावी संहार का उत्पातसूचक प्रलयकालीन झंझावात है।

अथ युक्ति —

सम्प्रधारणमर्थानां युक्तिः —

यथा रत्नावल्याम्—'मयापि चैना देवीहस्ते सबहुमानं निक्षिपता युक्तमेवानुष्ठितम्। कथितं च मया यथा बाभ्रव्यः कञ्चुकी सिंहलेश्वरामात्येन वसुभूतिना सह कथंकथमपि समुद्रादुत्तीर्य कोशलोच्छित्तये गतस्य रुमण्वतो घटित' इत्यनेन सागरिकाया अन्तःपुरस्थाया वत्सराजस्य सुखेन दर्शनादिप्रयोजनावधारणाद्बाभ्रव्यसिंहलेश्वरामात्ययोः स्वनायकसमागमहेतुप्रयोजनत्वेनावधारणाद्युक्तिरिति।

जहाँ अर्थों का (पात्र के अभीष्ट तथ्यों का) अवधारण या समर्थन किया जाय, वहाँ युक्ति होती है। जैसे अन्तःपुर में स्थित सागरिका बड़े मजे से वत्सराज के दृष्टिपथ में आ सकती है, इस प्रयोजन का समर्थन करने से तथा बाभ्रव्य एवं सिंहलेश्वर के मन्त्री वसुभूति का सागरिका (रत्नावली) तथा वत्सराज के समागम के प्रयोजन के समर्थन करने के कारण यहाँ युक्ति की व्यंजना इन पंक्तियों में की गई है — मैंने भी सागरिका को सम्मानपूर्वक देवी वासवदत्ता के हाथों सौंप कर ठीक ही किया है। मैंने यह भी कह दिया है कि कञ्चुकी बाभ्रव्य सिंहलेश्वर के मंत्री वसुभूति के साथ किसी तरह समुद्र में डूबने से बच गया है और कोशल के जीतने के लिए प्रस्थित सेनापति रुमण्वान् के साथ है।' यहाँ 'मैंने यह ठीक ही किया है' इस वाक्य से यौगन्धरायण ने अपने कार्य का समर्थन (अवधारण) किया है, अतः यहाँ युक्ति नामक नाट्यांग तत्त्व है।

अथ प्राप्तिः —

—प्राप्तिः सुखागमः।

यथा वेणीसंहारे—'चेटी—भट्टिणि ! परिकुविदो विअ कुमारो लक्खीयदि।' (भर्त्रि ! परिकुपित इव कुमारो लक्ष्यते।) इत्युपक्रमे 'भीम —

मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपाद्दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः ।
संचूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू संधिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन ॥

द्रौपदी—(श्रुत्वा सहर्षम्) णाध असुदपुव्वं खु एदं वअणं ता पुणो पुणो भण ।' (नाथ ! अश्रुतपूर्वं खल्वेतद्वचनं तत्पुनः पुनर्भण) इत्यनेन भीमक्रोधबीजान्वयेनैव सुखप्राप्त्या द्रौपद्याः प्राप्तिरिति ।

यथा च रत्नावल्याम्—'सागरिका—(श्रुत्वा सहर्षं परिवृत्य सस्पृहं पश्यन्ती) कधं अअं सो राआ उदअणो जस्स अहं तादेण दिण्णा ता परप्पेसणदूसिदं मे जीविदं एदस्स दंसणेण बहुमदं संजादम् ।' (कथमयं स राजोदयनो यस्याहं तातेन दत्ता तत्परप्रेषणदूषितं मे जीवितमेतस्य दर्शनेन बहुमतं संजातम्) इति सागरिकायाः सुखागमात्प्राप्तिरिति ।

जहाँ (फल की प्राप्ति की आशा में)-सुख का आगम हो, वहाँ प्राप्ति नामक मुखाङ्ग होता है । जैसे वेणीसंहार नाटक के प्रथम अङ्क में जब चेटिका द्रौपदी को यह सूचना देती है कि 'स्वामिनि, कुमार भीमसेन क्रुद्ध से नजर आते हैं,' और जब भीम निम्न उक्ति को सुनाता है—

क्रोध के कारण मैं सौ कौरवों को युद्ध में न मथ दूँ ; दुःशासन की छाती से खून को न पीऊँ ; सुयोधन की दोनों जाँघों को गदा से न तोड़ूँ ? तुम्हारे राजा युधिष्ठिर किसी (भी) शर्त पर (कौरवों से) सन्धि करते रहें ; (मुझे इसकी कोई परवाह नहीं) ।

तब द्रौपदी हर्ष के साथ कहती है—'स्वामिन् , ऐसा वचन पहले कभी नहीं सुना, इसलिये फिर से (बार बार) कहिए ।' यहाँ भीम के क्रोध के संबन्ध के कारण द्रौपदी को सुखप्राप्ति होती है (इसलिए कि भीम उसकी प्रतिज्ञा पूर्ण कर उसकी खुली वेणी को अवश्य आबद्ध करेगा), अतः प्राप्ति मानी गई है ।

अथवा, जैसे रत्नावली नाटिका में वैतालिकों की उक्ति सुनकर सागरिका हर्ष के साथ इधर उधर सस्पृह दृष्टि से देखती हुई कहती है—'क्या यही वह राजा उदयन है, जिसके लिए पिताजी ने मुझे दे दिया है; अब तो दूसरे लोगों की सेवा करने से कलुषित मेरा जीवन इसके दर्शन से सफल हो गया है ।' यहाँ सागरिका को सुख की प्राप्ति हुई है, अतः यहाँ भी प्राप्ति है ।

अथ समाधानम्—

बीजागमः समाधानम्—

यथा रत्नावल्याम्—'वासवदत्ता—तेण हि उवणेहि मे उवअरणाइं । ('तेन ह्युपनय मे उपकरणानि ।') सागरिका—भट्टिणि एदं सव्वं सज्जम् । ('भर्त्रि ! एतत्सर्वं सज्जम् ।') वासवदत्ता—(निरूप्यात्मगतम्) अहो पमादो परिअणस्स जस्स एव्व दंसणपहादो पअत्तेण रक्खीअदि तस्स ज्जेव कहं दिट्ठिगोअरं आअदा, भोदु एव्वं दाव । (प्रकाशम्) हञ्जे साअरिए कीस तुमं अज्ज पराहीणे परिअणे मअणूसवे सारिअं मोत्तूण इहागदा ता तहिं ज्जेव गच्छ ।' ('अहो प्रमादः परिजनस्य यस्यैव दर्शनपथात्प्रयत्नेन रक्ष्यते तस्यैव कथं दृष्टिगोचरमागता, भवतु एवं तावत् । चेटि सागरिके ! कथं त्वमद्य पराधीने परिजने मदनोत्सवे सारिकां मुक्त्वेहागता तस्मात्तत्रैव गच्छ ।') इत्युपक्रमे 'सागरिका—(स्वगतम्) 'सारिआ दाव मए सुसंगदाए हत्थे समप्पिदा पेक्खिदुं

च मे कुदूहलं ता अलक्खिदा पेक्खिस्सम् ।' ('सारिका तावन्मया सुसंगताया हस्ते समर्पिता प्रेक्षितुं च मे कुतूहलं तदलक्षिता प्रेक्षिष्ये ।') इत्यनेन । वासवदत्तया रत्नावली-वत्सराजयोर्दर्शनप्रतीकारात्सागरिकया सुसंगतार्पितसारिकत्वेन च वत्सराजसमा-गमहेतोर्बीजस्योपादानात्समाधानमिति ।

यथा च वेणीसंहारे—'भीमः—भवतु पाञ्चालराजतनये श्रूयतामचिरेणैव कालेन

'चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघातसंचूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य ।
स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणिरुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः ॥'

इत्यनेन वेणीसंहारहेतोः क्रोधबीजस्य पुनरुपादानात्समाधानम् ।

बीज का उपादान; फिर से बीज का युक्ति के द्वारा व्यवस्थापन समाधान कहलाता है। जैसे रत्नावली नाटिका में सागरिका वत्सराज को देखने की इच्छा से मदनपूजा के स्थान पर आ जाती है, उसकी यह इच्छा बीजागम के रूप में इन पंक्तियों से स्पष्ट है।

वासवदत्ता—तो पूजासामग्री मेरे पास ले आओ।

सागरिका—स्वामिनि, यह सब तैयार है।

वासवदत्ता (देखकर अपने आप)—दासियों का प्रमाद कैसा है, जिसकी (राजा की) दृष्टि से बचाने के लिये हम बड़े प्रयत्न से इसकी रक्षा करते हैं, उसी के दृष्टिपथ में (यह) कैसे आ रही है। ठीक है मैं मामले को यों संभाल लूंगी। (प्रकट) अरी सागरिके, सब दासियों के दूसरे काम में संलग्न होने पर सारिका को छोड़कर तुम यहाँ मदनोत्सव में कैसे आ गई ? इसलिए वहीं चली जाओ।

सागरिका—(स्वगत) मैना तो मैंने सुसंगता के हाथों सौंप रक्खी है, तथा वत्सराज को देखने की मेरी उत्सुकता है, इसलिए मैं छिपकर देखूँगी।

यहाँ एक ओर वासवदत्ता रत्नावली तथा वत्सराज के परस्पर दर्शन का प्रतीकार करती है तथा दूसरी ओर सागरिका मैना को सुसंगता के हाथों सौंप कर छिपकर वहाँ (राजा को) देखती है। यहाँ रत्नावली (सागरिका) की इस चेष्टा में वत्सराजसमागम के हेतुरूप बीज का उपादान किया गया है, अतः यहाँ समाधान नामक मुखांग है।

अथवा, जैसे वेणीसंहार नाटक में निम्न अंश के द्वारा द्रौपदी को आश्वस्त करता हुआ भीम कौरवसंहार की सूचना देकर बीज का समाधान कर रहा है।

'ठीक है। देवि पांचालराजपुत्रि सुनो, थोड़े ही दिनों में चंचल हाथों से घुमाई हुई गदा के प्रहारों से टूटी जाँघों वाले दुर्योधन के घने चिकने खून से रंगे हाथों वाला भीम तुम्हारे बालों को सँवारेगा।'

यहाँ वेणीसंहार के कारण भीम के क्रोध (बीज) का बार बार उपादान हुआ है, अतः समाधान है। समाधान के द्वारा पात्र दूसरे लोगों को इस बात का विश्वास दिलाता है कि फलप्राप्ति अवश्य होगी।

अथ विधानम्—

—विधानं सुखदुःखकृत् ॥ २८ ॥

यथा मालतीमाधवे प्रथमेऽङ्के—'माधवः—

'यान्त्या मुहुर्वलितकन्धरमाननं त-
दावृत्तवृन्तशतपत्रनिभं वहन्त्या ।

दिग्धोऽमृतेन च विषेण च पक्ष्मलाक्ष्या
गाढं निखात इव मे हृदये कटाक्षः ॥

यद्विस्मयस्तिमितमस्तमितान्यभाव—
मानन्दमन्दममृतप्लवनादिवाभूत् ।

तत्संनिधौ तदधुना हृदयं मदीय—
मङ्गारचुम्बितमिव व्यथमानमास्ते ॥'

इत्यनेन मालत्यवलोकनस्यानुरागस्य समागमहेतोर्बीजानुगुण्येनैव माधवस्य सुखदुःखकारित्वाद्विधानमिति ।

यथा च वेणीसंहारे—'द्रौपदी—णाध पुणोवि तुम्हेहिं अहं आअच्छिअ समासासिदव्वा । ('नाथ पुनरपि त्वयाहमागत्य समाश्वासयितव्या ।') भीम—ननु पाञ्चालराजतनये किमद्याप्यलीकाश्वासनया ।

'भूयः परिभवक्लान्तिलज्जाविधुरिताननम् ।
अनिःशेषितकौरव्यं न पश्यसि वृकोदरम् ॥'

इति सङ्ग्रामस्य सुखदुःखहेतुत्वाद्विधानमिति ।

जहाँ (नायकादि के हृदय में) सुख तथा दुःख पैदा हो, वहाँ विधान कहलाता है। फलप्राप्ति की इच्छा सुख तथा दुःख या नायकादि में रह रहकर संचार किया करती है, इसी को विधान के नाम से पुकारा जाता है। जैसे मालतीमाधव नाटक में मालती को देखने के बाद माधव सुख व दुःख का अनुभव करता है, इसका पता इन पद्यों से लगता है।

माधव—टेढे झुके हुए वृन्त वाले कमल के समान, टेढी गरदन वाले उस मुख का वहन करती हुई, रोमयुक्त आँखों वाली जाती हुई मालती ने अमृत और विष में (एक साथ) डुबा हुआ कटाक्ष (रूपी तीर) जैसे मेरे हृदय में बहुत गहरा गडा दिया है।

उस मालती के नजदीक होने पर मानो अमृत के सेचन से जो मेरा हृदय विस्मय के कारण स्पन्दन हो गया था, तथा उसके दूसरे भावों का अस्त हो गया था, एवं वह आनन्द से मन्द गति वाला हो गया था, वही मेरा हृदय अब (उसके अभाव में) इस तरह तड़प रहा है, मानो अंगारों का स्पर्श कर रहा हो।

यहाँ मालती तथा माधव के भावी अनुराग तथा समागम का हेतु मालत्यवलोकन मालतीदर्शन बीज के अनुरूप होने के कारण माधव में सुख तथा दुःख को उत्पन्न कर रहा है, अतः यहाँ विधान नामक मुखाङ्ग है।

अथवा जैसे वेणीसंहार में संग्रामजनित सुख तथा दुःख का वर्णन करके भीम ने विधान का संनिवेश किया है।

द्रौपदी—नाथ, तुम फिर भी आकर मुझे आश्वासन दिला जाना।

भीम—अरे पाञ्चालराजपुत्रि, अब भी झूठे आश्वासनों की क्या जरूरत है। हार की ग्लानि तथा लज्जा से रहित मुख वाले वृकोदर को कौरवों को निःशेष न करने तक तुम फिर से न देखोगी।

अथ परिभावना—

परिभावोऽद्भुतावेशः—

यथा रत्नावल्याम्—'सागरिका—(दृष्ट्वा सविस्मयम्) कधं पच्चक्खो ज्जेव अणङ्गो पूअं पडिच्छेदि । अहंपि इध ट्ठिदा ज्जेव णं पूजइस्सम् । ('कथं प्रत्यक्ष एवानङ्गः

पूजां प्रतीच्छते । तत् अहमपीह स्थितैवैनं पूजयिष्यामि ।') इत्यनेन वत्सराजस्यानङ्गरूपतयापह्नवादनङ्गस्य च प्रत्यक्षस्य पूजाग्रहणस्य लोकोत्तरत्वादद्भुतरसावेशः परिभावना ।

यथा च वेणीसंहारे—'द्रौपदी—किं दाणिं एसो पलअजलधरत्थणिदमंसलो खणे खणे समरदुन्दुभी ताडीअदि ।' ('किमिदानीमेष प्रलयजलधरस्तनितमांसलः क्षणे क्षणे समरदुन्दुभिस्ताड्यते') इति लोकोत्तरसमरदुन्दुभिध्वनेर्विस्मयरसावेशाद्द्रौपद्याः परिभावना ।

जहाँ अद्भुत आवेश हो अर्थात् आश्चर्य की भावना पात्र में पाई जाती हो, वहाँ **परिभाव या परिभावना** होती है। जैसे रत्नावली नाटिका में मदनपूजा के समय स्वयं उदयन की उपस्थिति देखकर छिपकर देखती हुई सागरिका आश्चर्य के साथ कहती है—'अरे, क्या प्रत्यक्ष कामदेव ही पूजा ग्रहण कर रहा है ! तो मैं भी यहीं से इसकी पूजा करूँगी।' यहाँ वत्सराज को कामदेव बनाकर उसकी स्वयं की सत्ता का निराकरण (अपह्नव) किया गया है तथा प्रत्यक्ष अनंग के द्वारा पूजाग्रहण अलौकिक है इसलिये सागरिका की उक्ति में अभिव्यक्त अद्भुत रस के आवेश के कारण यहाँ 'परिभावना' नामक मुखांग है।

अथवा जैसे वेणीसंहार में समरदुन्दुभि की लोकोत्तर ध्वनि को सुनकर द्रौपदी में अद्भुत रस का आवेश पाया जाता है, जिसकी व्यञ्जना द्रौपदी की इस उक्ति हो रही है—'इस समय प्रलय की मेघध्वनि के समान गंभीर ध्वनि वाला यह समर दुन्दुभि क्षण-क्षण में क्यों बजाया जा रहा है ?'

अथोद्भेदः—

—उद्भेदो गूढभेदनम् ।

यथा रत्नावल्यां वत्सराजस्य कुसुमायुधव्यपदेशगूढस्य वैतालिकवचसा 'अस्तापास्त' इत्यादिना 'उदयनस्य' इत्यन्तेन बीजानुगुण्येनैवोद्भेदनादुद्भेदः ।

यथा च वेणीसंहारे—'आर्य किमिदानीमध्यवस्यति गुरुः ।' इत्युपक्रमे (नेपथ्ये)

यत्सत्यव्रतभङ्गभीरुमनसा यत्नेन मन्दीकृतं
यद्विस्मर्तुमपीहितं शमवता शान्तिं कुलस्येच्छता ।
तद्द्यूतारणिसंभृतं नृपसुताकेशाम्बराकर्षणैः
क्रोधज्योतिरिदं महत्कुरुवने यौधिष्ठिरं जृम्भते ॥

भीमः—(सहर्षम्) जृम्भतां जृम्भतां संप्रत्यप्रतिहतमार्यस्य क्रोधज्योतिः ।' इत्यनेन छन्नस्य द्रौपदीकेशसंयमनहेतोर्युधिष्ठिरक्रोधस्योद्भेदनादुद्भेदः ।

जहाँ अब तक छिपे हुए (गूढ) बीज को प्रकट कर दिया जाय अर्थात् गूढ का भेदन हो, उसे उद्भेद कहते हैं। (पहले की स्थिति तक बीज का पोषण हो रहा है, अनुकूल भूमि, जल तथा खाद्य को पाकर बीज यहाँ फूट पड़ता है—कवि बीज का संकेत तो पहले ही कर देता है, किन्तु बीज के साधनादि का अवगुण्ठन, स्पष्टतः इसी के अंतर्गत हटाता है।)

जैसे रत्नावली में कुसुमायुध के व्याज से वत्सराज की वास्तविक सत्ता छिपी थी, किन्तु वैतालिक की उक्ति में 'उदयन' शब्द के द्वारा उस गूढ वस्तु का भेदन होने से यह उद्भेद है। यह गूढभेद बीज का ही सहायक या साधन है।

अथवा जैसे 'हे आर्य अब बड़े भाई क्या करना चाहेंगे'—सहदेव के यह पूछने पर ही; नेपथ्य से निम्न पद्य सुनाई देता है—

अपने सत्यव्रत के भंग से डरने वाले युधिष्ठिर ने जिस क्रोध को मन्दा कर लिया था, कुल की शान्ति की इच्छा वाले शान्तिप्रिय राजा ने जिस क्रोध को भुलाने की भी इच्छा की, युधिष्ठिर की वही क्रोधाग्नि, जो द्रौपदी के बालों व वस्त्रों के खींचने से, चूतरूपी अरणि (काष्ठ-दण्ड) से उत्पन्न हुई है, कौरवों के घने (बड़े) जंगल में फैल रही है।

इसे सुनकर हर्ष के साथ भीम कहता है—'पूज्य आर्य की क्रोधाग्नि अब बेरोकटोक फैले, बेरोकटोक फैले।' यहाँ द्रौपदी के बालों के बांधे जाने के कारणभूत युधिष्ठिरकोप का उद्भेदन किया गया है, जो अब तक गूढ ही रहा है।

अथ करणम्—

करणं प्रकृतारम्भः—

यथा रत्नावल्याम्—'णमो दे कुसुमाउह ता अमोहदंसणो मे भविस्ससि त्ति। दिट्ठं जं पेक्खिदव्वं ता जाव ण कोवि मं पेक्खइ ता गमिस्सम्।' (नमस्ते कुसुमायुध तदमोघदर्शनो मे भविष्यसीति। दृष्टं यत्प्रेक्षितव्यं तद्यावत्र कोऽपि मां प्रेक्षते तद्गमिष्यामि।) इत्यनेनानन्तराङ्कप्रकृतनिर्विघ्नदर्शनारम्भणात्करणम्।

यथा च वेणीसंहारे—'तत्पाञ्चालि गच्छामो वयमिदानीं कुरुकुलक्षयाय इति। सहदेवः—आर्य! गच्छाम इदानीं गुरुजनानुज्ञाता विक्रमानुरूपमाचरितुम्।' इत्यनेनानन्तराङ्कप्रस्तूयमानसङ्ग्रामारम्भणात्करणमिति। एवंच वेणीसंहारे उद्देशप्रतिनिर्देशवैषम्यं क्रियाक्रमस्याविवक्षितत्वादिति।

रूपक की कथा के अनुरूप प्रकृत कार्य का जहाँ आरम्भ हो, वहाँ करण होता है। (करण के द्वारा भावी अंक के वृत्त की व्यञ्जना भी कराई जाती है) जैसे रत्नावली में, 'हे कामदेव, मेरे लिए सफलदर्शन बनोगे। जो मुझे देखना चाहिए था, वह देख लिया। अब मैं इस ढंग से चली जाऊँ कि मुझे कोई न देख पाये।' रत्नावली की इस उक्ति के द्वारा भावी अंक में वर्णित निर्विघ्न-दर्शन-प्रसङ्ग के आरम्भ की व्यञ्जना कराई गई है, अतः करण नामक मुखाङ्ग है।

और जैसे वेणीसंहार में—(भीम) 'हे द्रौपदि, अब हम कौरवों के नाश के लिए जा रहे हैं।' (सहदेव) 'आर्य, अब गुरुजनों की आज्ञा पाकर पराक्रम के योग्य कार्य करने को चलें।' इस कथनोपकथन के द्वारा भावी अंक में प्रस्तूयमान युद्ध का आरम्भ व्यञ्जित है, अतः करण है। यहाँ भीम व सहदेव दोनों के वाक्यों में सभी जगह (दोनों स्थानों पर) उद्देश तथा विधेय के क्रम में व्यतिक्रम पाया जाता है। वाक्य में पहले उद्देश (कुरुकुलक्षयाय, विक्रमानुरूपमाचरितुम्) का प्रयोग होना चाहिए, बाद में विधेयरूप क्रिया (गच्छामः) का। किन्तु इस वाक्य में पहले क्रिया (गच्छामः) का प्रयोग किया गया है, बाद में उद्देश का, यह दोष नजर आता है—इस शङ्का के उपस्थित होने पर इसका निराकरण करते हुए धनिक कहते हैं कि यहाँ 'गच्छामः' क्रिया कवि को विवक्षित न होकर, 'कुरुकुलक्षय' या 'विक्रमानुरूपाचरण' ही विवक्षित है, अतः वही विधेय होने के कारण यहाँ बाद में प्रयुक्त हुआ है।

अथ भेदः—

—भेदः प्रोत्साहना मता ॥ २९ ॥

यथा वेणीसंहारे—'णाह! मा क्खु जण्णसेणीपरिभवुद्दीविदक्कोहा अणवेक्खिदसरीरा परिक्कमिस्सध जदो अप्पमत्तसंचरणीआइं सुणीअन्ति रिवुबलाइं।' (नाथ ! ■

खलु याज्ञसेनीपरिभवोद्दीपितकोपा अनपेक्षितशरीरा परिक्रमिष्यथ यतोऽप्रमत्तसञ्चरणीयानि श्रूयन्ते रिपुबलानि ।) भीम —अयि सुक्षत्रिये !

'अन्योन्यास्फालभिन्नद्विपरुधिरवसासान्द्रमस्तिष्कपङ्के
मग्नानां स्यन्दनानामुपरिकृतपदन्यासविक्रान्तपत्तौ ।
स्फीतासृक्पानगोष्ठीरसदशिवशिवातूर्यनृत्यत्कबन्धे
संग्रामैकार्णवान्तःपयसि विचरितुं पण्डिताः पाण्डुपुत्राः ॥'

इत्यनेन विषण्णाया द्रौपद्याः क्रोधोत्साहबीजानुगुण्येनैव प्रोत्साहनाद्भेद इति ।

एतानि च द्वादशमुखाङ्गानि बीजारम्भद्योतकानि साक्षात्पारम्पर्येण वा विधेयानि । एतेषामुपक्षेपपरिकरपरिन्यासयुक्त्युद्भेदसमाधानानामवश्यंभावितेति ।

जहाँ प्रोत्साहन पाया जाय, अर्थात् पात्र को बीज के प्रति प्रोत्साहित किया जाय, वहाँ भेद होता है ।

जैसे वेणीसंहार के निम्न कथनोपकथन में क्रोध उत्साह रूप बीज ▇ अनु-रूप वचन के द्वारा भीम विषण्ण द्रौपदी को प्रोत्साहित करता है । अतः यहाँ भेद नामक मुखाङ्ग होगा ।

द्रौपदी—नाथ यज्ञसेनी के पराभव से उद्दीप्त कोप वाले होकर, अपने शरीर को भूल कर युद्ध में न लड़ना, क्योंकि शत्रुओं की सेना सावधानी से घूमे जाने योग्य है ऐसा सुना जाता है ।

भीम—अरी सुक्षत्रिये ! पाण्डव के पुत्र उस संग्रामरूपी समुद्र के जल के बीच घूमने में कुशल हैं, जिसमें आपस के टकराने से टूटे हुए हाथियों के खून, चर्बी और मस्तक के सान्द्र कीचड़ में मग्न रथों के ऊपर होकर पदाति सेना पार हो रही हो तथा जिसमें जीभर कर खून पी पीकर पानगोष्ठी में चिल्लाती हुई अमङ्गल शृगालियों के शब्दरूपी तूर्य की ताल पर कबन्ध नाच रहे हों ।

मुख सन्धि के ये १२ अङ्ग बीज नामक अर्थप्रकृति तथा आरम्भ नामक अवस्था के व्यञ्जक हैं इनका संपादन साक्षात् रूप से या परम्परा से नाटक या रूपक में किया जाना चाहिए । इन बारह में से भी उपक्षेप, परिकर, परिन्यास युक्ति, उद्भेद व समाधान इन अङ्गों का मुखसन्धि में उपादान सर्वथा आवश्यक है ।

अथ साङ्गं प्रतिमुखसन्धिमाह—

ल[1]क्ष्यालक्ष्यतयोद्भेदस्तस्य प्रतिमुखं भवेत् ।
बिन्दुप्रयत्नानुगमादङ्गान्यस्य त्रयोदश ॥ ३० ॥

तस्य बीजस्य किंचिल्लक्ष्य किंचिदलक्ष्य इवोद्भेदः—प्रकाशनं तत्प्रतिमुखम् । यथा रत्नावल्यां द्वितीयेऽङ्के वत्सराजसागरिकासमागमहेतोरनुरागबीजस्य प्रथमाङ्कोपक्षिप्तस्य सुसङ्गताविदूषकाभ्यां ज्ञायमानतया किंचिल्लक्ष्यस्य वासवदत्तया च चित्रफलकवृत्तान्तेन किंचिदुन्नीयमानस्य दृश्यादृश्यरूपतयोद्भेदः प्रतिमुखसन्धिरिति ।

वेणीसंहारेऽपि द्वितीयेऽङ्के भीष्मादिवधेन किंचिल्लक्ष्यस्य कर्णादिवधाच्चालक्ष्यस्य क्रोधबीजस्योद्भेदः ।

'सहभृत्यगणं सबान्धवं सहमित्रं ससुतं सहानुजम् ।
स्वबलेन निहन्ति संयुगे न चिरात्पाण्डुसुतः सुयोधनम् ॥'

---

(१) 'लक्ष्यालक्ष्य इवोद्भेदः' इति पाठान्तरम् ।

इत्यादिभि—

'दुःशासनस्य हृदयक्षतजाम्बुपाने
दुर्योधनस्य च यथा गदयोरुभङ्गे ।
तेजस्विनां समरमूर्धनि पाण्डवानां
ज्ञेया जयद्रथवधेऽपि तथा प्रतिज्ञा ॥'

इत्येवमादिभिश्चोद्भेदः प्रतिमुखसंधिरिति ।

अब प्रसङ्गोपात्त प्रतिमुख संधि का अङ्गों सहित वर्णन करते हैं—उस बीज का कुछ-कुछ दिखाई देना और कुछ दिखाई न देना और इस लक्ष्यालक्ष्य रूप में फूट पड़ना (उद्भिन्न होना) प्रतिमुख संधि का विषय है। इस संधि में बिन्दु नामक अर्थप्रकृति तथा प्रयत्न नामक अवस्था का मिश्रण होता है। इसके तेरह अङ्ग होते हैं। (मुखसंधि में बीज बोया जाता है, उसे उचित वातावरण में पोषण मिलता है। इस पोषण के द्वारा प्रतिमुख संधि में आकर वह फूटने लगता है, किन्तु जिस तरह पहले पहल निकलता बीजाङ्कुर कुछ-कुछ अस्पष्ट अवस्था में होता है, ठीक वैसे बीज का अङ्कुर थोड़े अस्पष्टरूप में प्रतिमुख संधि में उद्भिन्न होता है।)

जैसे रत्नावली के प्रथम अङ्क में वत्सराज व सागरिका के (भावी) समागम के हेतुरूप जिस अनुरागबीज को बोया गया है, उसे दूसरे अङ्क में सुसंगता व विदूषक जान जाते हैं, इसलिए वह कुछ-कुछ प्रकट हो जाता है, तथा चित्रफलकवृत्तान्त के कारण वासवदत्ता के द्वारा कुछ-कुछ गृहीत हो जाता है। इस प्रकार बीज के अङ्कुर का दृश्य और कुछ अदृश्य रूप में उद्भिन्न होना प्रतिमुखसंधि है।

वेणीसंहार में भी युधिष्ठिर का क्रोधबीज भीमादि के भाव से लक्ष्य हो गया है, किन्तु अभी कर्ण आदि के वध के न होने से अलक्ष्य है। अतः लक्ष्यालक्ष्य रूप में उसका उद्भेद प्रतिमुख की व्यञ्जना करता है।

'पाण्डु का पुत्र युधिष्ठिर बड़ी जल्दी भृत्यों, बान्धवों, मित्रों, पुत्रों तथा अनुजों से युक्त दुर्योधन को अपनी सेना के द्वारा युद्ध में (निश्चय ही) मार डालेगा।'[1] (इत्यादि वाक्यों के द्वारा, जिनसे बीज-युधिष्ठिर कोप—लक्ष्य हो रहा है), तथा, दुर्योधन की निम्न उक्ति के द्वारा जहाँ दुर्योधन का साहस बीज को अलक्ष्य बना रहा है, प्रतिमुखसंधि अभिव्यञ्जित है—

युद्धस्थल में की गई तेजस्वी पाण्डवों की प्रतिज्ञा दुःशासन के हृदय के खून को पीने के विषय में जैसी थी, तथा गदा से दुर्योधन की जाँघ को तोड़ने के विषय में जैसी थी, वैसी ही जयद्रथ के वध के विषय में समझी जानी चाहिए।

(भाव यह है जैसे पाण्डव न तो दुःशासन का ही खून पी सके, न मेरी जाँघें ही गदा से तोड़ सके वैसे ही जयद्रथ को भी न मार सकेंगे, उनकी प्रतिज्ञा पूरी न हो सकेगी। यहाँ दुर्योधन पाण्डवों के लिए प्रयुक्त 'तेजस्वी' विशेषण के द्वारा उनकी असफलता की खिल्ली उड़ाता हुआ, तथा उन्हें कोरा वाक्साहसी बताता हुआ व्यङ्ग्य कर रहा है।)

अस्य च पूर्वोपक्षिप्तबिन्दुरूपबीजप्रयत्नार्थानुगतानि त्रयोदशाङ्गानि भवन्ति, तान्याह—

विलासः परिसर्पश्च विधूतं शमनर्मणी ।

---

१. यह वेणीसंहार के द्वितीय अंक में दुर्योधन के कंचुकी की उक्ति है, जिसे विश्वास हो गया है कि युधिष्ठिर अवश्य विजयी होगा।

नर्मद्युतिः प्रगमन निरोधः पर्युपासनम् ॥ ३१ ॥
पज्र पुष्पमुपन्यासो वर्णसंहार इत्यपि ।

पहले अङ्क में जिस बीज को डाल दिया है, जो बिन्दु के रूप में प्रकटित होने वाला है, उस बीज तथा प्रयत्न से अनुगत इस प्रतिमुखसन्धि के जो तेरह अङ्ग होते हैं उनका वर्णन करते हैं—विलास, परिसर्प, विधूत, शम, नर्म, नर्मद्युति, प्रगमन, निरोध, पर्युपासन, पज्र, पुष्प, उपन्यास तथा वर्णसंहार।

यथोद्देशं लक्षणमाह—

रत्यर्थेहा विलासः स्यात्—

यथा रत्नावल्याम्—'सागरिका—हिअअ पसीद पसीद किं इमिणा आआसमेत्तफलेण दुल्लहजणप्पत्थणाणुबन्धेण। ('हृदय, प्रसीद प्रसीद किमनेनायासमात्रफलेन दुर्लभजनप्रार्थनानुबन्धेन।') इत्युपक्रमे 'तहावि आलेक्खगदं तं जणं कदुअ जधासमीहिदं करिस्सम्, तहावि तस्स णत्थि अण्णो दंसणोवाओत्ति।' ('तथाप्यालेख्यगतं तं जनं कृत्वा यथासमीहितं करिष्यामि। तथापि तस्य नास्त्यन्यो दर्शनोपाय।') इत्येतैर्वत्सराजसमागमरतिं चित्रादिजन्यामप्युद्दिश्य सागरिकाव्यापारचेष्टाप्रयत्नोऽनुरागबीजानुगतो विलास इति।

उन्हीं का नाम के साथ-साथ लक्षण कहते हैं—

रति की इच्छा को विलास अङ्ग कहते हैं।[1] (जहाँ नायक नायिका में परस्पर एक दूसरे के प्रति रति का इच्छा व्यक्त की गई हो वहाँ विलास होगा) जैसे रत्नावली में सागरिका वत्सराजसमागमरति की इच्छा को लेकर चित्रादि के द्वारा ही उसे प्राप्त करने की चेष्टा करती करती है। यह चेष्टा प्रयत्न की अवस्था से सम्बद्ध है तथा यहाँ रत्नावली का अनुरागरूपी बीज साथ साथ व्यञ्जित हो रहा है, अतः रति की इच्छा से यहाँ विलास है। इसकी व्यञ्जना सागरिका की निम्न उक्ति से होती है—'हृदय, प्रसन्न हो, प्रसन्न हो, दुर्लभजन (वत्सराज उदयन) की इस इच्छा के आग्रह से क्या लाभ, जिसका फल केवल दुःख ही है—अर्थात् जिस वत्सराज उदयन को कभी प्राप्त नहीं किया जा सकता, उसकी इच्छा करना केवल दुःख के ही लिए है।' फिर भी उसे चित्रित कर इच्छानुसार अवश्य करूँगी, फिर भी उसे देखने का कोई दूसरा उपाय नहीं है।'

अथ परिसर्पं—

—दृष्टनष्टानुसर्पणम् ॥ ३२ ॥

परिसर्पः—

यथा वेणीसंहारे—'कञ्चुकी—योऽयमुद्यतेषु बलवत्सु अथवा किं बलवत्सु वासुदेवसहायेष्वरिष्वप्यन्तःपुरसुखमनुभवति इदमपरमयथातथं स्वामिनः—

(१) 'प्रगयणम्' इत्यपि पाठः। (२) 'रत्युत्थेहा' इत्यपि पाठः।

१ संस्कृत टीकाकार सुदर्शनाचार्य 'रत्यर्थेहा' का अर्थ 'सुरतार्थेच्छा' करते हैं, किन्तु रति का अर्थ सामान्यनिष्ठ ही लेना ठीक होगा, सुरत के प्रकरण में विशेषनिष्ठ नहीं यह हमारा मत है। वैसे वात्स्यायन मैथुन कई तरह के मानते हैं—दर्शनादि भी। लेकिन लौकिक अर्थ में सुरत केवल एक ही प्रकार का मैथुन है।

'आशस्त्रग्रहणादकुण्ठपरशोस्तस्यापि जेता मुने-
स्तापायास्य न पाण्डुसूनुभिरयं भीष्मः शरैः शायितः ।
प्रौढानेकधनुर्धरारिविजयश्रान्तस्य चैकाकिनो
बालस्यायमरातिलूनधनुषः प्रीतोऽभिमन्योर्वधात् ॥'

इत्यनेन भीष्मादिवधे दृष्टस्याभिमन्युवधान्नष्टस्य पक्षपाता पाण्डवानां वासुदेवसहायानां संग्रामलक्षणबिन्दुबीजप्रयत्नान्वयेन कञ्चुकिमुखेन बीजानुसर्पणं परिसर्प इति ।

यथा च रत्नावल्यां सारिकावचनचित्रदर्शनाभ्यां सागरिकानुरागबीजस्य दृष्टनष्टस्य 'क्वासौ क्वासौ' इत्यादिना वत्सराजेनानुसरणात्परिसर्प इति ।

जब बीज एक बार दृष्ट हो गया हो, किन्तु फिर दिखाई देकर नष्ट हो जाय, और उसकी खोज की जाय, तो वह खोज परिसर्प कहलाती है ।

जैसे वेणीसंहार में द्वितीय अङ्क में भीष्मादि के मरण से बीज दृष्ट हो गया था, किन्तु अभिमन्यु के वध से वह फिर से नष्ट हो गया । किन्तु कृष्ण की सहायता से युक्त, बलवान् पाण्डवों के युद्धरूप बिन्दु, बीज तथा प्रयत्न के सम्बन्ध से कंचुकी के मुख से निम्न पद्य में फिर से बीज की खोज की गई है, इसलिये यहाँ परिसर्प नामक प्रतिमुखाङ्ग मानना होगा—

जिन मुनि परशुराम का परशु शस्त्रग्रहण के समय से कभी किसी के आगे कुण्ठित न हुआ, उन्हीं परशुराम को जीतने वाले भीष्म [illegible] पाण्डुपुत्रों के द्वारा बाणों से गिरा देना इस दुर्योधन को दुःखी न बना सका । वही दुर्योधन अनेकों प्रौढ धनुर्धर शत्रुओं के विजय से थके हुए, शत्रुओं के द्वारा काटे गये धनुष वाले, अकेले बालक अभिमन्यु के मारे जाने से प्रसन्न हो रहा है ।

और जैसे रत्नावली में, मैना के वचन तथा चित्रदर्शन के द्वारा सागरिका का अनुराग बीज क्रम से दृष्ट तथा नष्ट हो गया है, उसी की 'वह कहाँ है, वह कहाँ है' कहकर वत्सराज के द्वारा खोज की जाती है, अतः यहाँ परिसर्प अङ्ग है ।

अथ विधुतम्—

—विधूतं स्यादरतिः—

यथा रत्नावल्याम्—'सागरिका—सहि अहिअं मे सन्तावो बाधेदि । ('सखि ! अधिकं मे सन्तापो बाधते ।') (सुसङ्गता दीर्घिकातो नलिनीदलानि मृणालिकाश्चानीयास्या अङ्गे ददाति) सागरिका—(तानि क्षिपन्ती) सहि ! अवणेहि एदाइं किं अआरणे अत्ताणं आआसेसि । णं भणामि—('सखि ! अपनयैतानि किमकारणे आत्मानमायासयसि । ननु भणामि—')

'दुल्लहजणाणुराओ लज्जा गरुई परव्वसो अप्पा ।
पिअसहि विसमं पेम्मं मरणं सरणं णवर एक्कम् ॥'
(दुर्लभजनानुरागो लज्जा गुर्वी परवश आत्मा ।
प्रियसखि विषमं प्रेम मरणं शरणं केवलमेकम् ॥)

इत्यनेन सागरिकाया बीजान्वयेन शीतोपचारविधूननाद्विधूतम् ।

यथा च वेणीसंहारे भानुमत्या दुःस्वप्नदर्शनेन दुर्योधनस्यानिष्टशङ्कया पाण्डवविजयशङ्कया वा रतेर्विधूननमिति ।

जहाँ अरति हो वहाँ विधूत नामक अङ्ग होता है । (अरति से यह तात्पर्य है कि

बीज के नष्ट होने पर पात्र उसमें दुःखित होकर लक्ष्य को अलक्ष्य मान कर उसकी इच्छा छोड़ देता है, इसी को विधूत कहते हैं जहाँ रति का विधूनन कर दिया गया हो।) जैसे रत्नावली में सागरिका का अनुराग बीज अरति के कारण विधूत कर दिया गया है। कामपीडासन्तप्त सागरिका अपनी सखी सुसंगता से कहती है—'सखि मुझ बड़ी ताप-पीडा हो रही है।' (सुसंगता बावली से कमल के पत्तों और मृणालों को लाकर इसके अङ्ग पर रखती है)। सागरिका—(उन्हें फेंकती हुई) सखि, इन्हें हटाले, व्यर्थ में ही क्यों अपने आपको तकलीफ दे रही है। मैं सच कहती हूँ—हे प्रियसखि, दुर्लभ व्यक्ति के प्रति प्रेम, गहरी लाज, पराधीन आत्मा, (इस प्रकार की स्थिति में) प्रेम विषम है, ठीक नहीं है, अब तो केवल एक मरना ही (मेरी) शरण है। यहाँ सागरिका ने बीजान्वय से शीतोपचार को हटा दिया है, अत यह विधूत है।

और जैसे वेणीसंहार में दूसरे अङ्क में बुरा स्वप्न देखने पर दुर्योधन की पत्नी भानुमती की रति इसलिए विधूत हो जाती है कि या तो वह दुर्योधन के अनिष्ट से आशङ्कित हो जाती है, या पाण्डवों के विजय की आशंका से भयभीत हो उठती है।

अथ शम —

—तच्छमः शमः।

तस्या अरतेरुपशम शमो यथा रत्नावल्याम्—राजा—वयस्य! अनया लिखि तोऽहमिति यत्सत्यमात्मन्यपि मे बहुमानस्तत्कथ न पश्यामि।' इति प्रक्रमे 'सागरिका—(आत्मगतम्) हिअअ! समस्सस मणोरहोवि दे एत्तिअ भूमिं ण गदो।' ('हृदय! समाश्वसिहि मनोरथोऽपि त एतावतीं भूमिं न गत।') इति किंचिदरत्युपशमाच्छम इति।

जब उस अरति की शान्ति हो जाती है, वह शम नामक प्रतिमुखाङ्ग है। जैसे रत्नावली में, जब सागरिका अपने प्रति राजा की रति जान लेती है, तो उसकी अरति शान्त हो जाती है (क्योंकि उसे वत्सराज की प्राप्ति की आशा हो जाती है।) यह शम नामक प्रतिमुखाङ्ग इन पंक्तियों से स्पष्ट है—

राजा—मित्र, इसने मेरा चित्र बनाया है, इस बात से सचमुच मुझे अपने आप पर गर्व है, तो अब मैं इस चित्रफलक को क्यों न देखूँगा।

सागरिका (सुनकर-अपने आप) हृदय, आश्वस्त रह, तेरी इच्छा भी इतनी ऊँची मंजिल तक न पहुँच पाई है।

अथ नर्म—

परिहासवचो नर्म—

यथा रत्नावल्याम्—'सुसङ्गता—सहि! जस्स कए तुम आअदा सो अअं पुरदो चिट्ठदि। ('सखि! यस्य कृते त्वमागता सोऽयं पुरतस्तिष्ठति') सागरिका-(सासूयम्) सुसङ्गदे! कस्स कए अहं आअदा। ('सुसङ्गते! कस्य कृतेऽहमागता।') सुसङ्गदा—अइ अप्पसङ्किदे! ण चित्तफलअस्स ता गेण्ह एदम्। ('अयि आत्मशङ्किते! ननु चित्रफलकस्य। तद्गृहाणैतत्।') इत्यनेन बीजाश्रित परिहासवचन नर्म।

---

१ यहाँ धनिक ने 'शीतोपचारविधूननाद् विधूतम्' लिखा है हमारा मत है कि गाथा में प्रिय को दुर्लभ बताया है, तथा इसके द्वारा 'अरति' की व्यञ्जना हो रही है, अत इसमें 'विधूत' का कारण यों ठीक जान पड़ता है— प्रियस्य दुर्लभत्वेन आत्मपारवश्यादिना च सूचितेन प्रेम्णो विषमत्वेनारतेर्व्यञ्जनाद् विधूत, यद्वा विषमत्वविशेषणेन प्रेम्णो विधूननाद्विधूतम्।'

यथा च वेणीसंहारे—'(दुर्योधनश्चेटीहस्तादर्घपात्रमादाय देव्याः समर्पयति पुनः) भानुमति—(अर्घं दत्त्वा) हला ! उवणेहि मे कुसुमाइं जाव अवराणं पि देवाणं सवरिं णिवत्तेमि । ('हला उपनय मे कुसुमानि यावदपरेषामपि देवानां सपर्यां निवर्तयामि ।'[1]) (हस्तौ प्रसारयति, दुर्योधनः पुष्पाण्युपनयति, भानुमत्यास्तत्स्पर्शजातकम्पाया हस्तात्पुष्पाणि पतन्ति ।)' इत्यनेन नर्मणा दुःस्वप्नदर्शनोपशमार्थं देवतापूजाविघ्नकारिणा बीजोद्घाटना-त्परिहासस्य प्रतिमुखाङ्गत्वं युक्तमिति ।

नर्म से तात्पर्य परिहास के वचनों से है । (नर्म के अन्तर्गत पात्रों का परिहास पाया जाता है ।) जैसे रत्नावली नाटिका में इस वार्तालाप से नर्म की व्यञ्जना हो रही है ।

'सुसंगता—जिसके लिए तुम आई हो, वह तुम्हारे सामने ही है ।

सागरिका—(रत्नावली) सुसंगता, मैं किसके लिये आई हूँ ?

सुसंगता—अरी अपने आप पर वहम करने वाली, इस चित्रफलक के लिये । तो इसे ले लो ।'

यह परिहास वचन यहाँ बीज से सम्बद्ध है, यहाँ नर्म नामक प्रतिमुखाङ्ग है ।

और जैसे वेणीसंहार में, जब भानुमती देवपूजा कर रही है, तो दुर्योधन वहाँ पहुँच कर चुपचाप दासी के हाथ से अर्घपात्र लेकर भानुमती को सौंपता है । भानुमती (अर्घ देकर) अरी दासी, जरा फूल लाओ, मैं दूसरे देवताओं की पूजन कर लूँ । (भानुमती पुष्प लेने को हाथ बढ़ाती है, दुर्योधन पुष्पों को सौंपता है, उसके स्पर्श से कम्पित भानुमती के हाथ से फूल गिर जाते हैं ।) यहाँ भानुमती दुःस्वप्नदर्शन की शान्ति के लिए देव-पूजा कर रही है, किन्तु यह दुर्योधनकृत परिहासरूप नर्म उस पूजा में विघ्न उपस्थित कर बीज का ही उद्घाटन कर रहा है । यह परिहास प्रतिमुखाङ्ग रूप नर्म ही है ।

अथ नर्मद्युतिः—

—द्युतिस्तज्जा द्युतिर्मता ॥ ३३ ॥

यथा रत्नावल्याम्—'सुसङ्गता—सहि अदिणिट्ठुरा दाणिं सि तुमम् जा एवं वि भट्टिणा हत्थावलम्बिदा कोवं ण मुञ्चसि । ('सखि ! अतिनिष्ठुरेदानीमसि त्वं यैवमपि भर्त्रा हस्तावलम्बिता कोपं न मुञ्चसि ।') सागरिका—(सभ्रूभङ्गमीषद्विहस्य) सुसङ्गदे ! दाणिं पि ण विरमसि ।' ('सुसङ्गते ! इदानीमपि न विरमसि ।') इत्यनेनानुरागबीजो-द्घाटनान्वयेन धृतिर्नर्मजा द्युतिरिति दर्शितमिति ।

धैर्य की स्थिति नर्मद्युति कहलाती है । (नर्मद्युति के अन्तर्गत पात्र में धैर्य का सञ्चार पाया जाता है ।)

जैसे रत्नावली की निम्न पंक्तियों में धृति के द्वारा अनुराग बीज उद्घाटित हो रहा है, यहाँ परिहास से उत्पन्न धृति (नर्मद्युति) पाई जाती है ।

सुसंगता—सखि, तुम अब बड़ी निष्ठुर हो गई हो, जो स्वामी के इस प्रकार हाथ से पकड़े जाने पर भी गुस्सा भी नहीं छोड़ती ।

सागरिका (टेढ़ी भौंहे करके, कुछ हँस कर)—सुसंगता, अब भी चुप नहीं रहती ।

अथ प्रगमनम्—

उत्तरा वाक्प्रगमनम्—

यथा रत्नावल्याम्—'विदूषक—भो वअस्स ! दिट्ठिआ वड्ढसे । ('भो वयस्य !

(१) 'प्रगयणम्' इत्यपि पाठः ।

दिष्ट्या वर्धसे ।') राजा—(सकौतुकम्) वयस्य ! किमेतत् । विदूषक—भो ! एदं क्खु तं जं मए भणिदं तुमं एव्व आलिहिदो को अण्णो कुसुमाउहव्ववदेसेण णिह्नवीअदि ।' ('भो ! एतत्खलु तद्यन्मया भणितं त्वमेवालिखितः कोऽन्य कुसुमायुधव्यपदेशेन निह्नूयते ।') इत्यादिना

'परिच्युतस्तत्कुचकुम्भमध्यात्किं शोषमायासि मृणालहार ! ।
न सूक्ष्मतन्तोरपि तावकस्य तत्रावकाशो भवतः किमु स्यात् ॥'

इत्यनेन राजविदूषकसागरिकासुसङ्गतानामन्योन्यवचनेनोत्तरोत्तरानुरागबीजोद्घाटनात्प्रगमनमिति ।

जहाँ पात्रों में परस्पर उत्तरोत्तर वचन पाये जायँ (जिनसे बीज का साहाय्य प्रतिपादित हो), वहाँ प्रगमन होता है। जैसे रत्नावली नाटिका में विदूषक व राजा, सागरिका व सुसंगता के परस्पर उत्तरोत्तर वचन अनुराग बीज को प्रगट करते हैं, अतः वहाँ प्रगमन है। प्रगमन की व्यञ्जना विदूषक व राजा की इस बातचीत से हो रही है—

विदूषक—मित्र, बड़ी खुशी की बात है, तुम्हारी वृद्धि हो रही है।

राजा—(कौतुक से) मित्र, क्या बात है।

विदूषक—अरे, यह वही है जो मैंने कहा था कि इस चित्र में तुम्हीं चित्रित हो, कामदेव के नाम से और दूसरे किस व्यक्ति को छिपाया गया है।

राजा—हे मृणालहार, उसके वक्ष स्थल के बीच से गिर कर क्यों सूख रहा है। अरे जहाँ तेरे सूक्ष्म तन्तु के लिए भी जगह नहीं, वहाँ तुम्हारी गुञ्जायश कैसे हो सकती है।

अथ निरोधः—

—हितरोधो निरोधनम् ।

यथा रत्नावल्याम्—'राजा—धिङ्मूर्ख !

प्राप्ता कथमपि दैवात्कण्ठमनीतैव सा प्रकटरागा ।
रत्नावलीव कान्ता मम हस्ताद्भ्रंशिता भवता ॥'

इत्यनेन वत्सराजस्य सागरिकासमागमरूपहितस्य वासवदत्ताप्रवेशसूचनेन विदूषकवचसा निरोधान्निरोधनमिति ।

हित की रोक (रोध) हो जाने पर निरोधन होता है। (प्राप्तव्य वस्तु की प्राप्ति से नायकादि को रोक दिया जाय उसमें अवरोध उत्पन्न कर दिया जाय, वहाँ निरोधन होगा।)

जैसे रत्नावली में सागरिकासमागम वत्सराज का अभीष्ट हित है, किन्तु वासवदत्ता के प्रवेश की सूचना देकर विदूषक उसमें अवरोध उत्पन्न कर देता है। अतः वहाँ निरोधन है, जिसकी व्यञ्जना राजा की निम्न उक्ति से होती है—

'मूर्ख तुझे धिक्कार है। किसी तरह दैव की कृपा से प्राप्त, अनुराग से युक्त (जिसका प्रेम प्रकट हो गया है), प्रिया (सागरिका) को मैं कण्ठ से भी न लगा पाया था कि तूने उसे उसी तरह हाथ से गँवा दिया जैसे दैववश प्राप्त, उज्ज्वल रत्नावली (रत्नमाला) को गले में डालने के पहले ही गँवा दिया जाय।'

अथ पर्युपासनम्—

पर्युपास्तिरनुनयः—

यथा रत्नावल्याम्—'राजा—

प्रसीदेति ब्रूयामिदमसति कोपे न घटते
करिष्याम्येवं नो पुनरिति भवेदभ्युपगमः ।
न मे दोषोऽस्तीति त्वमिदमपि हि ज्ञास्यसि मृषा
किमेतस्मिन् वक्तुं क्षममिति न वेद्मि प्रियतमे ॥'

इत्यनेन चित्रगतयोर्नायकयोर्दर्शनात्कुपिताया वासवदत्ताया अनुनयनं नायकयोरनुरागोद्घाटनान्वयेन पर्युपासनमिति ।

(नायकादि के द्वारा किसी का) अनुनय-विनय पर्युपास्ति या पर्युपासन कहलाता है। (नायक्य के निरोध पर नायकादि उस अवरोध के निवारण के लिए, इस अंग के अंतर्गत अनुनय करते हैं।)

जैसे रत्नावली नाटिका में, वत्सराज व सागरिका का एक चित्र में आलेखन देखकर वासवदत्ता क्रुद्ध हो जाती है। राजा उसका अनुनय करता है। यह अनुनय उन (वत्सराज सागरिका) दोनों के प्रेम को प्रकट कर उसका साहाय्य संपादित करता है, अतः यह पर्युपासन है। इसकी व्यंजना राजा की उक्ति के निम्न पद्य में हुई है।

'हे वासवदत्ते, 'तुम खुश हो जाओ' यह कहना इसलिए ठीक नहीं है, कि तुम नाराज नहीं हो। 'मैं ऐसा फिर कभी नहीं करूँगा' यह कहने पर अपराध स्वीकार करना हो जाता है। 'मेरा कोई दोष नहीं है' ऐसा कहने पर तुम इसे भी झूठ समझोगी। इसलिये हे प्रियतमे, इस मौके पर मुझे क्या कहना चाहिए यह भी नहीं जानता।'

अथ पुष्पम्—

—पुष्पं वाक्यं विशेषवत् ॥ ३४ ॥

यथा रत्नावल्याम्—'(राजा सागरिका हस्ते गृहीत्वा स्पर्शं नाटयति) विदूषकः— भो ! एसा अपुव्वा सिरी तए समासादिदा। ('भो ! एषापूर्वा श्रीस्त्वया समासादिता।')
राजा—वयस्य ! सत्यम्।

श्रीरेषा पाणिरप्यस्याः पारिजातस्य पल्लवः।
कुतोऽन्यथा स्रवत्येष स्वेदच्छद्मामृतद्रवः ॥'

इत्यनेन नायकयोः साक्षादन्योन्यदर्शनादिना सविशेषानुरागोद्घाटनात्पुष्पम्।

जहाँ विशिष्ट वाक्यों द्वारा बीजोद्घाटन हो, अथवा जहाँ पर वाक्य विशेष रूप बीजोद्घाटन से करे, वह पुष्प कहलाता है। (प्रथम अंक में निक्षिप्त बीज पल्लवित होकर, इस अंग में पुष्पोत्पत्ति करता है—जिस तरह वृक्ष में पुष्पाविर्भाव भावीफलप्राप्ति का साहाय्य सम्पादित करता है, वैसे रूपक में यह अंग भी है।)

जैसे रत्नावली नाटिका में उदयन व सागरिका का अनुराग परस्पर दर्शन आदि से विशेष रूप से प्रकट हो जाता है। इस पुष्प की व्यंजना विदूषक व वत्सराज का निम्न कथनोपकथन देता है।

(राजा सागरिका को हाथ से स्पर्श करने का अभिनय करता है।)

विदूषक—अरे मित्र, तुमने तो अपूर्व श्री को पा लिया है।

राजा—मित्र सच कहते हो। यह श्री है, और इसका हाथ कल्पवृक्ष का पल्लव है। नहीं तो, यह (हाथ) स्वेद के व्याज से अमृतद्रव को कैसे (कहाँ से) छोड़ता है।

अथोपन्यासः—

उपन्यासस्तु[1] सोपायम्—

यथा रत्नावल्याम्—'सुसङ्गता—भट्टा ! अलं सङ्काए मए वि भट्टिणो पसाएण कीलिदं एव्व ता किं कण्णाभरणेण अदो वि मे गरुओ पसाओ जं कीस तुए अहं एत्थ आलिहिद त्ति कुविदा मे पिअसही सागरिआ ता पसादीअदु ।' ('भर्तः ! अलं शङ्कया मयापि भर्तुः प्रसादेन क्रीडितमेव तत्किं कर्णाभरणेन, अतोऽपि मे गुरुः प्रसादो यत्कथं त्वयाहमत्रालिखितेति कुपिता मे प्रियसखी सागरिका तत्प्रसाद्यताम् ।') इत्यनेन सुसङ्गतावचसा सागरिका मया लिखिता सागरिकया च त्वमिति सूचयता प्रसादोपन्यासेन बीजोद्भेदादुपन्यास इति ।

उपाययुक्त या हेतुप्रदर्शक वाक्य उपन्यास कहलाता है। जैसे रत्नावली में सुसंगता यह बता कर कि चित्र में सागरिका मैंने आलिखित की है और सागरिका ने तुम, इस वाक्य में प्रसन्नता (हेतु) का उपन्यास कर बीज का उद्भेद किया है। अतः सुसंगता की इस उक्ति में उपन्यास है—

'स्वामिन्, सन्देह न करें, मुझे भी तो आपकी खुशी से प्रसन्नता है, इस कर्णाभूषण की क्या जरूरत है। इससे ज्यादा खुशी तो मुझे इसमें होगी कि आप मेरी प्यारी सखी सागरिका को खुश करें, क्योंकि वह मुझ से इसलिए नाराज है कि मैंने उसे इस चित्र में आलिखित कर दिया है।'

—वज्रं प्रत्यक्षनिष्ठुरम् ।

यथा रत्नावल्याम्—'वासवदत्ता—(फलकं निर्दिश्य) अज्जउत्त ! एसावि जा तुह समीवे एदं किं वसन्तअस्स विण्णाणम् ।' ('आर्यपुत्र ! एषापि या तव समीपे एतत्किं वसन्तकस्य विज्ञानम् ।') पुनः 'अज्जउत्त ! ममावि एदं चित्तकम्मं पेक्खन्तीए सीसवेअणा समुप्पण्णा ।' ('आर्यपुत्र ! ममाप्येतच्चित्रकर्म पश्यन्त्याः शीर्षवेदना समुत्पन्ना ।') इत्यनेन वासवदत्तया वत्सराजस्य सागरिकानुरागोद्भेदनात्प्रत्यक्षनिष्ठुराभिधानं वज्रमिति ।

जहाँ नायकादि के प्रति कोई पात्र प्रत्यक्षरूप में निष्ठुर वचन का प्रयोग करे वह (वज्र के समान तीक्ष्ण व मर्मभेदी) वाक्य वज्र कहलाता है।

जैसे रत्नावली में वासवदत्ता इन दोनों के प्रेम को जान कर क्रुद्ध होती हुई निम्न कटु वचनों को वत्सराज से कहती है, यहाँ वज्र प्रतिमुखाङ्ग है।

'(चित्रफलक को दिखा कर) आर्यपुत्र, यह (सागरिका) तुम्हारे पास जो (चित्रित) है, क्या यह तुम्हारे मित्र वसन्तक (विदूषक) की करामात (कौशल, विज्ञान) है? × × × आर्यपुत्र, मेरे भी इस चित्रकर्म को देख कर सिरदर्द हो आया है।'

अथ वर्णसंहारः—

चातुर्वर्ण्योपगमनं वर्णसंहार इष्यते ॥ ३५ ॥

यथा वीरचरिते तृतीयेऽङ्के—

'परिषदियमृषीणामेष वृद्धो युधाजित्

सह नृपतिरमात्यैर्लोमपादश्च वृद्धः ।

---

(१) 'प्रसादनमुपन्यासः' इति पाठान्तरम् ।

अयमविरतयज्वा ब्रह्मवादी पुराणः
प्रभुरपि जनकानामद्रुहो याचकास्ते ॥'

इत्यनेन ऋषिक्षत्रियामात्यादीनां संगतानां वर्णानां वचसा रामविजयशंसिनः परशुरामदुर्णयस्याशोदयाच्चनाद्वारेणोद्वेगाद्वर्णसंहार इति।

एतानि च त्रयोदश प्रतिमुखाङ्गानि मुखसंध्युपक्षिप्तबिन्दुलक्षणावान्तरबीजमहाबीजप्रयत्नानुगतानि विधेयानि। एतेषां च मध्ये परिसर्पप्रशमवज्रोपन्यासपुष्पाणां प्राधान्यम्, इतरेषां यथासंभवं प्रयोग इति।

जहाँ चारों वर्ण (ब्राह्मणादि वर्ण) एक साथ एकत्रित हों, वहाँ वर्णसंहार होता है। जैसे महावीरचरित के तृतीय अङ्क में ऋषि, क्षत्रिय, अमात्य आदि (चारों) वर्ण इकट्ठे होकर वचनों के द्वारा रामविजय की आशंसा वाले परशुराम के गुस्से की शान्ति की प्रार्थना करते हैं। अतः यहाँ वर्णसंहार है, जिसकी सूचना इस अङ्क के निम्न पद्य से हुई है।

'यह ऋषियों का समाज, यह वृद्ध युधाजित्; अमात्यगण के साथ राजा, और बूढ़े रोमपाद, और यह निरन्तर यज्ञ करने वाले, पुराने (विख्यात) आत्मज्ञानी जनकों के राजा (राजा जनक) भी द्रोहरहित आपकी प्रार्थना करते हैं।'

प्रतिमुखसन्धि के ये तेरह अङ्ग, मुखसन्धि के द्वारा डाले गये बिन्दु रूप दूसरे बीज, महाबीज तथा प्रयत्न के साथ-साथ उपनिबद्ध किये जाने चाहिये। इनमें से परिसर्प, प्रशम, वज्र, उपन्यास तथा पुष्प प्रधान हैं, बाकी अङ्गों का प्रयोग यथा संभव हो सकता है।

अथ गर्भसंधिमाह—

गर्भस्तु दृष्टनष्टस्य बीजस्यान्वेषणं मुहुः।
द्वादशाङ्गः पताका स्यान्न वा स्यात्प्राप्तिसंभवः ॥ ३६ ॥

प्रतिमुखसंधौ लक्ष्यालक्ष्यरूपतया स्तोकोद्भिन्नस्य बीजस्य सविशेषोद्भेदपूर्वकः सान्तरायो लाभः पुनर्विच्छेदः पुनः प्राप्तिः पुनर्विच्छेदः पुनश्च तस्यैवान्वेषणं वारंवारं सोऽनिर्धारितैकान्तफलप्राप्त्याशात्मको गर्भसंधिरिति। तत्र चौत्सर्गिकत्वेन प्राप्तायाः पताकाया अनियमं दर्शयति—'पताका स्यान्न वा' इत्यनेन। 'प्राप्तिसंभवस्तु' स्यादेवेति' दर्शयति—'स्यात्' इति। यथा रत्नावल्यां तृतीयेऽङ्के वत्सराजस्य वासवदत्तालक्षणापायेन तद्वेषपरिग्रहसागरिकाभिसरणोपायेन च विदूषकवचसा सागरिकाप्राप्त्याशा प्रथमं पुनर्वासवदत्तया विच्छेदः पुनः प्राप्तिः पुनर्विच्छेदः पुनस्तस्या निवारणोपायान्वेषणम् 'नास्ति देवीप्रसादनं मुक्त्वान्य उपायः' इत्यनेन दर्शितमिति।

जब बीज के दिखने के बाद फिर से नष्ट हो जाने पर उसका अन्वेषण बार-बार किया जाता है, तो गर्भसंधि होती है। यह गर्भसंधि बारह अङ्गों वाली होती है। इसमें वैसे तो पताका (अर्थप्रकृति) तथा प्राप्तिसम्भव (अवस्था) का मिश्रण पाया जाता है, किन्तु पताका का होना अनिवार्य नहीं; वह हो भी सकती है, नहीं भी; किन्तु प्राप्तिसंभव का होना बहुत जरूरी है।

जिस बीज को प्रतिमुखसन्धि में कभी लक्ष्य और कभी अलक्ष्य (लक्ष्यालक्ष्य रूप में) देखा गया है, क्योंकि वह बहुत थोड़ा फूटा है, वही बीज यहाँ आकर विशेष रूप से फूट पड़ता है। किन्तु एकदम विघ्नरहित नहीं है, इसमें कभी तो विच्छेद (विघ्न) होता है, फिर से उसकी प्राप्ति होती है, फिर वियोग (विच्छेद) हो जाता है, और इस प्रकार बार-बार उसी की

खोज की जाती है। यहाँ प्राप्ति की सम्भावना तो होती है, किन्तु फल का ऐकान्तिक निश्चय नहीं हो पाता। यह गर्भसन्धि की विशेषता है। यहाँ पताका का होना आवश्यक नहीं है।

इसका निदर्शन 'पताका हो या न हो' (पताका स्यान्न वा) इसके द्वारा किया गया है। प्राप्तिसम्भव तो होना ही चाहिए इसकी सूचना 'स्यात्' के द्वारा की गई है। जैसे रत्नावली के तीसरे अङ्क में वत्सराज की फलप्राप्ति में वासवदत्ता के द्वारा विघ्न होता है, किन्तु सागरिका के अभिसरण के उपाय से विदूषक के वचन सुनकर राजा को प्राप्ति की आशा हो जाती है। पहले वासवदत्ता उसमें विच्छेद उपस्थित करती है, फिर से प्राप्ति होती है, फिर विच्छेद हो जाता है। फिर विघ्न के निवारण के उपाय तथा फल-हेतु का अन्वेषण किया जाता है। इस अन्वेषण की व्यञ्जना राजा की इस उक्ति से होती है—'मित्र, अब वासवदत्ता को मानने के अलावा और कोई उपाय नहीं है।'

स च द्वादशाङ्गो भवति। तान्युद्दिशति—

अभूताहरणं मार्गो रूपोदाहरणे क्रमः।
संग्रहश्चानुमानं च तोटकाधिबले तथा ॥ ३७ ॥
उद्वेगसंभ्रमाक्षेपाः लक्षणं च प्रणीयते।

इस गर्भसंधि के बारह अङ्ग होते हैं—अभूताहरण, मार्ग, रूप, उदाहरण, क्रम, संग्रह, अनुमान, तोटक, अधिबल, उद्वेग, संभ्रम, आक्षेप; इन अङ्गों के लक्षण (आगे) बताये जाते हैं।

यथोद्देशं लक्षणमाह—

अभूताहरणं छद्म—

यथा रत्नावल्याम्—'साहु रे अमच्च वसन्तअ साहु अदिसइदो तए अमच्चो जोगन्धराअणो इमाए संधिविग्गहचिन्ताए।' ('साधु रे अमात्य वसन्तक साधु अतिशयितस्त्वयामात्यो यौगन्धरायणोऽनया सन्धिविग्रहचिन्तया।') इत्यादिना प्रवेशकेन गृहीतवासवदत्तावेषाया सागरिकाया वत्सराजाभिसरणं छद्म विदूषकसुसङ्गताश्लक्ष्णकथन-भाषानुवादद्वारेण दर्शितमित्यभूताहरणम्।

जहाँ छद्म या कपट हो वहाँ अभूताहरण होता है। (कपट के द्वारा जहाँ प्राप्ति कराने की चेष्टा की जाय) जैसे रत्नावली में वासवदत्ता का वेष बना कर सागरिका वत्सराज के समीप अभिसरण करती है, इस छद्म की सूचना प्रवेश की द्वारा विदूषक तथा काञ्चनमाला बनी हुई सुसंगता के कथनोपकथन [illegible] दी गई है—

'हे अमात्य वसन्तक तुम बड़े कुशल हो। इस सन्धि विग्रह की चिन्ता के द्वारा तुमने अमात्य यौगन्धरायण को भी जीत लिया।

अथ मार्गः—

—मार्गस्तत्त्वार्थकीर्तनम् ॥ ३८ ॥

यथा रत्नावल्याम्—'विदूषकः—दिट्ठिआ वड्ढसि समीहिदब्भधिकाए कज्जसिद्धीए। ('दिष्ट्या वर्धसे समीहिताभ्यधिकया कार्यसिद्ध्या।') राजा—वयस्य कुशलं प्रियायाः। विदूषकः—अइरेण सअं ज्जेव्व पेक्खिअ जाणिहिसि। ('अचिरेण स्वयमेव प्रेक्ष्य ज्ञास्यसि।') राजा—दर्शनमपि भविष्यति। विदूषकः—(सगर्वम्) कीस ण भविस्सदि जस्स दे उवहसिदविहप्फदिबुद्धिविहवो अहं अमच्चो। ('कथं न भवि-

ष्यति यस्य ते उपहसितबृहस्पतिबुद्धिविभवोऽयममात्य ।') राजा—तथापि कथमिति श्रोतुमिच्छामि। विदूषक—(कर्णे कथयति) एवम् ।' ('एवम्') इत्यनेन यथा विदूषकेण सागरिकासमागमः सूचित तथैव निश्चितरूपो राज्ञे निवेदित इति तत्त्वार्थकथनान्मार्ग इति ।

जहाँ निश्चित तत्त्व का (अर्थप्राप्ति रूप तत्त्व का) कीर्तन हो, वह मार्ग है। (यहाँ नायकादि के प्रति किसी शुभचिन्तक पात्र के द्वारा प्राप्ति के मार्ग की सूचना दी जाती है।) जैसे रत्नावली में वासवदत्ता के वेष में सागरिकाभिसरण की सूचना देकर, विदूषक सागरिकासमागम का निश्चय राजा को दिला देता है। इस प्रकार तत्त्वार्थनिवेदन के कारण निम्न पङ्क्तियों में मार्ग नामक गर्भाङ्ग है।

'विदूषक—बड़ी खुशी की बात है, तुम्हारी कार्यसिद्धि के ईप्सित ढङ्ग से पूर्ण होने से तुम्हारी वृद्धि हो रही है।

राजा—वयस्य, प्रिया कुशल तो है।

विदूषक—शीघ्र ही खुद ही देखकर सारी बात जान लोगे।

राजा—क्या दर्शन भी होगा।

विदूषक—(घमण्ड से) क्यों नहीं होगा, जब तुम्हारा मुझ जैसा मन्त्री है, जिसने बृहस्पति के बुद्धिवैभव को भी तुच्छ समझ कर हँस दिया है।

राजा—फिर जरा किस ढंग से यह होगा, इसे सुनना चाहता हूँ।

विदूषक—(कान में कहता है) ऐसे।'

अथ रूपम्—

रूपं वितर्कवद्वाक्यम्—

यथा रत्नावल्याम्—'राजा—अहो किमपि कामिजनस्य स्वगृहिणीसमागमपरिभाविनोऽभिनवं जनं प्रति पक्षपातस्तथाहि—

प्रणयविशदां दृष्टिं वक्त्रे ददाति न शङ्किता
घटयति घनं कण्ठाश्लेषे रसान्न पयोधरौ ।
वदति बहुशो गच्छामीति प्रयत्नधृताप्यहो
रमयतितरां सङ्केतस्था तथापि हि कामिनी ॥

कथं चिरयति वसन्तकः किं नु खलु विदितः स्यादयं वृत्तान्तो देव्या ।' इत्यनेन रत्नावलीसमागमप्राप्त्याशानुगुण्येनैव देवीशङ्कयाद वितर्काद्रूपमिति ।

जहाँ प्राप्ति की प्रतीक्षा करते समय नायकादि तर्कवितर्कमय वाक्यों का प्रयोग करें, उसे रूप कहते हैं। (प्राप्ति की प्रतीक्षा में कभी-कभी यह भी डर बना रहता है कि कहीं कोई विघ्न उपस्थित न हो जाय, इस द्विविध विचार की व्यञ्जना रूप में होती है।) जैसे रत्नावली में यह वितर्क कि कहीं वासवदत्ता ने इस बात को न जान लिया हो, रत्नावली समागम की प्राप्त्याशा का ही सादृश्य प्रतिपादित करता है। यह वितर्करूप इन पंक्तियों में ध्वनित है।

'राजा—अपनी गृहिणी (पत्नी) के समागम से परिभावित कामी मनुष्य का नये व्यक्ति (नई प्रेमिका) के प्रति किसी दूसरे ही [illegible] का पक्षपात होता है, जैसे—यद्यपि (छिप कर) संकेत स्थल में अभिसरणार्थ आई हुई प्रेमिका, शङ्कित होने के कारण नायक के मुख की ओर प्रेमभरी नजर से नहीं देख पाती, कण्ठ से आलिङ्गन करते समय प्रेम से स्तनों को जोर से

छाती से नहीं हटाती; तथा बड़ी कोशिश से रोके जाने पर भी बार-बार 'मैं जाती हूँ' इस तरह जाने का डर दिखाती है, तथापि वह कामी मनुष्य को अत्यधिक सुख पहुँचाती है, यह बड़े आश्चर्य की बात है।

अथोदाहरणम्—

—सोत्कर्षं स्यादुदाहृतिः।

यथा रत्नावल्याम्—'विदूषकः—(सहर्षम्) ही ही भोः, कोसम्बीरज्जलाहेणावि ण तादिसो पिअवअस्सस्स परितोसो आसि यादिसो मम सआसादो पिअवअणं सुणिअ भविस्सदि त्ति तक्केमि।' ('ही ही भोः कौशाम्बीराज्यलाभेनापि न तादृशो वयस्यस्य परितोष आसीत् यादृशो मम सकाशात्प्रियवचनं श्रुत्वा भविष्यतीति तर्कयामि।') इत्यनेन रत्नावलीप्राप्तिवार्तापि कौशाम्बीराज्यलाभादतिरिच्यत इत्युत्कर्षाभिधानादुदाहृतिरिति।

उत्कर्ष या उन्नति से युक्त वाक्य उदाहृति या उदाहरण कहलाता है। जैसे रत्नावली में विदूषक रत्नावली प्राप्ति की बात को कौशाम्बीराज्य-लाभ से भी बढ़कर बताता है, अतः निम्न वाक्य सोत्कर्ष होने से उदाहरण का सूचक है—

'विदूषक—(हर्ष के साथ) हा, हा, मेरे पास से प्रियवचन सुन कर तुम्हें जितनी प्रसन्नता होगी, उतनी कौशांबी के राज्य लाभ से भी न हुई होगी।'

अथ क्रमः—

क्रमः संचिन्त्यमानाप्तिः—

यथा रत्नावल्याम्—'राजा—उपनतप्रियासमागमोत्सवस्यापि मे किमिदमत्यर्थमुत्ताम्यति चेतः, अथवा—

तीव्रः स्मरसंतापो न तथादौ बाधते यथासन्ने।
तपति प्रावृषि सुतरामभ्यर्णजलागमो दिवसः॥

विदूषकः—(आकर्ण्य) भोदि सागरिए। एसो पिअवअस्सो तुमं ज्जेव उद्दिसिअ उक्कण्ठाणिब्भरं मन्तेदि। ता णिवेदेमि से तुहागमणम्।' ('भवति सागरिके! एष प्रियवयस्यस्त्वामेवोद्दिश्योत्कण्ठानिर्भरं मन्त्रयति तन्निवेदयामि तस्मै तवागमनम्') इत्यनेन वत्सराजस्य सागरिकासमागममभिलषत एव भ्रान्तसागरिकाप्राप्तिरिति क्रमः।

जहाँ आप्ति (इष्ट वस्तु की प्राप्ति) का चिन्तन किया जाय, तथा वह वस्तु प्राप्त हो जाय वहाँ क्रम नामक गर्भसन्धि का अङ्ग होता है। जैसे रत्नावली में निम्न पंक्तियों में वत्सराज सागरिका के समागम की अभिलाषा ही कर रहा था, कि भ्रान्त सागरिका (सागरिका के रूप में वासवदत्ता) आ जाती है, अतः क्रम है।

'राजा—प्रियासमागम के उत्सव के नजदीक आ जाने पर भी मेरा चित्त इतना ज्यादा बेचैन क्यों हो रहा है। अथवा, कामदेव की तीव्र पीड़ा आरम्भ में इतना नहीं सताती जितना इष्ट वस्तु के आने के काल के नजदीक होने पर। (सच है) बादलों के बरसने के पहले का दिन बरसात में बहुत तपा करता है।

विदूषक—(सुन कर) अरी सागरिके, यह प्रियवयस्य तुम्हें ही उद्देश करके बड़े उत्कण्ठित ढंग से चिन्ता कर रहा है। इसलिये, मैं तुम्हारे आगमन की सूचना इन्हें दे देता हूँ।'

अथ क्रमान्तरं मतभेदेन—

—भावज्ञानमथापरे ॥ ३६ ॥

यथा रत्नावल्याम्—'राजा—(उपसृत्य) प्रिये सागरिके !

'शीतांशुर्मुखमुत्पले तव दृशौ पद्मानुकारौ करौ
रम्भागर्भनिभं तवोरुयुगलं बाहू मृणालोपमौ ।
इत्याह्लादकराखिलाङ्गि रभसान्निःशङ्कमालिङ्ग्य मा-
मङ्गानि त्वमनङ्गतापविधुराण्येह्येहि निर्वापय ॥'

इत्यादिना 'इह ,तदप्यस्त्येव बिम्बाधरे' इत्यन्तेन वासवदत्तया वत्सराजभावस्य ज्ञातत्वात्क्रमान्तरमिति ।

दूसरे लोगों के मत से क्रम की परिभाषा भिन्न है। वे (दूसरे लोग) भाव के ज्ञान को क्रम मानते हैं। (इस मत के अनुसार जहाँ दूसरे पात्र के द्वारा नायकादि के भाव का ज्ञान हो जाय, वहाँ क्रम होता है।) जैसे रत्नावली में वासवदत्ता (जो कि सागरिका की जगह स्वयं संकेत स्थल पर आ जाती है) निम्न पद्य से वत्सराज उदयन के रत्नावली विषयक अनुराग-भाव को जान जाती है अतः क्रम है।

राजा—(नजदीक आकर) प्रिये सागरिके, तेरा मुख चन्द्रमा है, तुम्हारी दोनों आँखें कमल हैं, तुम्हारे दोनों करतल पद्म के समान हैं, तुम्हारी दोनों जाँघें केले के गर्भ के सदृश हैं, और तुम्हारे दोनों हाथ (बाहू) मृणाल के समान हैं। इस तरह तुम्हारे सारे अङ्ग (मुझे) आह्लाद देने वाले हैं, हे आह्लादकराखिलाङ्गि, आओ, आओ, निःशङ्क और शीघ्रता से मेरा आलिङ्गन कर कामताप से पीडित मेरे अङ्गों को शान्त करो। × × × 'इस बिम्बाधर में वह भी मौजूद है ही।'

अथ संग्रहः—

संग्रहः सामदानोक्तिः—

यथा रत्नावल्याम्—'साधु वयस्य ! साधु इदं ते पारितोषिकं कटकं ददामि ।' इत्याभ्यां सामदानाभ्यां विदूषकस्य सागरिकासमागमकारिणः संग्रहात्संग्रह इति ।

जहाँ नायकादि अनुकूल आचरण करने वाले पात्र को साम व दान से प्रसन्न करें, वहाँ साम व दान की उक्ति संग्रह कहलाती है। जैसे रत्नावली में राजा सागरिका का समागम कराने वाले विदूषक को साम व दान से अनुगृहीत करता है, अतः संग्रह है।

राजा—वयस्य बहुत अच्छा, बहुत अच्छा मैं तुम्हें यह कड़ा इनाम देता हूँ।

अथानुमानम्—

—अभ्यूहो लिङ्गतोऽनुमा ।

यथा रत्नावल्याम्—'राजा—धिङ् मूर्ख ! त्वत्कृत एवायमापतितोऽस्माकमनर्थः ।

कुतः—

'समारूढा प्रीतिः प्रणयबहुमानात्प्रतिदिनं
व्यलीकं वीक्ष्येदं कृतमकृतपूर्वं खलु मया ।
प्रिया मुञ्चत्यद्य स्फुटमसहना जीवितमसौ
प्रकृष्टस्य प्रेम्णः स्खलितमविषह्यं हि भवति ॥

विदूषकः—भो वयस्य ! वासवदत्ता किं करिष्यतीति न जानामि सागरिका पुन

दुक्कर जो वस्सदि त्ति तक्केमि।' ('भो वयस्य! वासवदत्ता किं करिष्यतीति न जानामि सागरिका पुनर्दुष्करं जीविष्यतीति तर्कयामि।') इत्यत्र प्रकृष्टप्रेमस्खलनेन सागरिकानुरागजन्येन वासवदत्ताया मरणाभ्यूहनमनुमानमिति॥

जहाँ किन्हीं हेतुओं (लिंगों) के आधार पर नायकादि के द्वारा तर्क किया जाय, वहाँ अनुमा या अनुमान होता है। (धूम पर्वत में अग्नि की सत्ता का अनुमापक लिङ्ग है। 'यत्र यत्र धूम तत्र तत्र वह्नि' इस व्याप्ति के आधार पर वह पर्वत में अग्नि की सत्ता सिद्ध कर देता है—पर्वतोऽयं वह्निमान् (धूमात्)। इसी तरह जहाँ किन्हीं हेतुओं से किसी भी बात का अनुमान तर्कसरणि के आधार पर हो, वहाँ अनुमान नामक गर्भाङ्ग होगा। यथा, रत्नावली नाटिका में सागरिका से प्रेम करने से राजा प्रकृष्ट प्रेम से स्खलित हो गया है, इसलिए इस बात को जान कर वासवदत्ता जिन्दी न रह सकेगी, इस प्रकार प्रकृष्ट प्रेमस्खलन हेतु के द्वारा वासवदत्तामरण का तर्क अनुमान है, जिसकी सूचना निम्न पद्य में हुई।

'राजा—धिक्कार है, मूर्ख, तुमने ही यह सारा अनर्थ हमारे सिर डाला है। क्योंकि, (हम दोनों का) प्रेम दिन प्रति दिन प्रेम के सम्मान करने से बढ गया था, मेरे द्वारा अब तक कभी न किये इस अपराध को किया देखकर यह प्रिया वासवदत्ता इसे बर्दाश्त न करती हुई आज सचमुच जीवन का त्याग कर देगी। प्रकृष्ट (बहुत बढे हुए) प्रेम [illegible] (एक व्यक्ति का) गिरना (दूसरे के लिए) असहनीय ही होता है।'

विदूषक—हे मित्र, वासवदत्ता क्या करेगी, यह तो नहीं जानता, हाँ [illegible] रिका बड़ी मुश्किल से जिन्दी रह सकेगी इतना अनुमान जरूर करता हूँ।'[1]

अथाधिबलम्—

अधिबलमभिसंधिः—

यथा रत्नावल्याम्—'काञ्चनमाला—भट्टिणि! इअं सा चित्तसालिआ। ता वसन्तअस्स सण्णं करेमि ('भर्त्रि! इयं सा चित्रशालिका तद्वसन्तकस्य संज्ञां करोमि।') (छोटिकां ददाति)' इत्यादिना वासवदत्ताकाञ्चनमालाभ्यां सागरिकासुसङ्गतावेषाभ्यां राजविदूषकयोरभिसंधीयमानत्वादधिबलमिति।

जहाँ किन्हीं पात्रों के द्वारा नायकादि का अभिप्राय जान लिया जाय, वहाँ अधिबल होता है। जैसे रत्नावली नाटिका में वासवदत्ता व काञ्चनमाला सागरिकाभिसरण की बात जान कर सागरिका तथा सुसंगता का वेष बनाकर संकेत स्थल (चित्रशाला) को जाती है। वहाँ वे दोनों राजा व विदूषक से मिलती हैं तथा उनका अभिप्राय जान लेती हैं, अत अधिबल है। काञ्चनमाला की इस उक्ति से इसकी सूचना दी गई है।

'भट्टिणि, यह वह चित्रशाला है। तो मैं वसन्तक को संकेत करती हूं।' (ताली का संकेत देती है।)

अथ तोटकम्—

—संरब्धं तोटकं वचः॥ ४०॥

यथा रत्नावल्याम्—'वासवदत्ता-(उपसृत्य) अज्जउत्त! जुत्तमिणं सरिसमिणम्।' (पुन सरोषम्) अज्जउत्त उट्ठेहि किं अज्जवि आहिजादिए सेवादुक्खमणुभवीअदि, कञ्चणमाले! एदेण ज्जेव पासेण बधिअ आणेहि एणं दुट्ठबम्हणं। एदं पि दुट्टकण्णअं

---

१. यहाँ राजा व विदूषक दोनों की उक्ति में 'अनुमान' पाया जाता है।

अग्गदो करेहि ।')('आर्यपुत्र ! युक्तमिदं सदृशमिदम् ।' आर्यपुत्र उत्तिष्ठ किमद्याप्याभिजात्या सेवादुःखमनुभूयते, काञ्चनमाले ! एतेनैव पाशेन बद्ध्वानयैनं दुष्ट ब्राह्मणम् एतामपि दुष्टकन्यकामग्रतः कुरु ।') इत्यनेन वासवदत्तासंरब्धवचसा सागरिकासमागमान्तरायभूतेनाऽनियतप्राप्तिकारणं तोटकमुक्तम् ।

क्रोध से युक्त वचन तोटक कहलाता है। जैसे रत्नावली में सागरिकासमागम के विघ्न उपस्थित करते हुए वासवदत्ता क्रुद्ध वचन के द्वारा उदयन की फलप्राप्ति को अनिश्चित बना देती है। अतः यह तोटक है। वासवदत्ता की इस उक्ति में तोटक है—'(आगे बढ़कर) आर्यपुत्र, यह ठीक है, आपके सदृश है। (फिर रोष से) आर्यपुत्र उठो, क्या अब भी कुलीनता सेवा दुःख का अनुभव करती है। काञ्चनमाला, इसी पाश से इस दुष्ट ब्राह्मण (वसन्तक) को बाँध कर ले आ, और इस दुष्ट लड़की को भी आगे कर।'

यथा च वेणीसंहारे—

'प्रयत्नपरिबोधितः स्तुतिभिरद्य शेषे निशाम्'

इत्यादिना।

'धृतायुधो यावदहं तावदन्यैः किमायुधैः'

इत्यन्तेनान्योन्यं कर्णाश्वत्थाम्नोः संरब्धवचसा सेनाभेदकारिणा पाण्डवविजयप्राप्त्याशान्वितं तोटकमिति ।

और जैसे वेणीसंहार में कर्ण और अश्वत्थामा के परस्पर क्रुद्ध वचनों के कारण कौरवों की सेना में भेद हो जाता है, और इससे पाण्डवविजय की प्राप्त्याशा की सहायता होती है, अतः यहाँ तोटक है। इसका आभास अश्वत्थामा की 'तुम आज स्तुतियों के प्रयत्नों से जगाये हुए, रात को सोवोगे' इस उक्ति से लेकर 'जब तक मैं आयुध धारण किये हूँ, तब तक दूसरे आयुधों से क्या लाभ' इस उक्ति तक पाया जाता है।

ग्रन्थान्तरे तु—

तोटकस्यान्यथाभावं ब्रुवतेऽधिबलं बुधाः ।

यथा रत्नावल्याम्—'राजा—देवि एवमपि प्रत्यक्षदृष्टव्यलीकः किं विज्ञापयामि—

'आताम्रतामपनयामि विलक्ष एष

लाक्षाकृतां चरणयोस्तव देवि मूर्ध्ना ।

कोपोपरागजनितां तु मुखेन्दुबिम्बे

हर्तुं क्षमो यदि परं करुणा मयि स्यात् ॥'

दूसरे नाट्यशास्त्र के ग्रन्थों में अधिबल व तोटक दोनों के लक्षण भिन्न बताये गये हैं। इनके विद्वानों के मतानुसार तोटक का उलटा ही अधिबल है। दशरूपककार के मत से क्रुद्धवचन तोटक है, अतः क्रुद्धवचन का उलटा विनीत व दीन वचन, अधिबल है। वे दूसरे नाट्यशास्त्री दीन वचनों को अधिबल मानते हैं, जैसे रत्नावली में राजा की इस उक्ति में—

'देवि, इस तरह मेरे अपराध के प्रत्यक्ष देख लेने पर मैं क्या अर्ज कर सकता हूँ। हे देवि लज्जित होकर मैं अपने सिर से तुम्हारे दोनों पैरों की अलक्तक (लाक्षा) की ललाई को हटा रहा हूँ। (पोंछ रहा हूँ)। लेकिन क्रोध रूपी ग्रहण से पैदा हुई पूर्ण मुखचन्द्र की ललाई को भी तभी हटा सकता हूँ, जब तुम्हारी विशेष दया मेरे प्रति हो जाय।'

संरब्धवचनं यत्तु तोटकं तदुदाहृतम् ॥ ४१ ॥

यथा रत्नावल्याम्—'राजा—प्रिये वासवदत्ते ! प्रसीद प्रसीद । वासवदत्ता—(अश्रूणि धारयन्ती) अज्जउत्त ! मा एवं भण अण्णसङ्कन्ताइं खु एदाइं अक्खराइं त्ति ।' '(आर्यपुत्र मैवं भण । अन्यसंक्रान्तानि खल्वेतान्यक्षराणीति ।)'

यथा च वेणीसंहारे—'राजा—अये सुन्दरक ! कच्चित्कुशलमङ्गराजस्य । पुरुषः—कुसलं सरीरमेत्तकेण । ('कुशलं शरीरमात्रकेण ।') राजा—किं तस्य किरीटिना हता धौरेयाः, क्षतः सारथिः, भग्नो वा रथः । पुरुषः—देव ! ण भग्गो रहो भग्गो से मणोरहो । ('देव न भग्नो रथः । भग्नोऽस्य मनोरथः') राजा—(ससंभ्रमम्) कथम् ।' इत्येवमादिना संरब्धवचसा त्रोटकमिति ।

इन दूसरे पण्डितों के मत से संरब्ध (उद्विग्न) वचन त्रोटक है । जैसे रत्नावली में—

'राजा—प्रिये, वासवदत्ते, प्रसन्न हो, प्रसन्न हो ।

वासवदत्ता—(आंसू भर कर) आर्यपुत्र, ऐसा मत कहो । ये अक्षर और दूसरे के लिए हो गये हैं ।' और जैसे वेणीसंहार में—

राजा—अरे सुन्दरक, अङ्गराज कर्ण कुशल तो है ?

पुरुष—उनका केवल शरीर कुशल है ।

राजा—क्या उनके घोड़े अर्जुन ने मार दिये, सारथि घायल कर दिया, या रथ तोड़ दिया ?

पुरुष—देव, उनका रथ नहीं, मनोरथ तोड़ डाला ।

राजा—(उद्विग्न होकर) कैसे ।'

अथोद्वेगः—

उद्वेगोऽरिकृता भीतिः—

यथा 'रत्नावल्याम्—'सागरिका—(आत्मगतम्) कहं अकिदपुण्णेहिं अत्तणो इच्छाए मरिदुं वि ण पारीअदि ।' ('कथमकृतपुण्यैरात्मन इच्छया मर्तुमपि न पार्यते ।') इत्यनेन वासवदत्तातः सागरिकाया भयमित्युद्वेगः । यो हि यस्यापकारी स तस्यारिः ।

यथा च वेणीसंहारे—'सूतः—(श्रुत्वा सभयम्) कथमासन्न एवासौ कौरवराजपुत्रमहावनोत्पातमारुतो मारुतिरनुपलब्धसंज्ञश्च महाराजः, भवतु दूरमपहरामि स्यन्दनम् । कदाचिदयमनार्यो दुःशासन इवास्मिन्नप्यनार्यमाचरिष्यति ।' इत्यरिकृता भीतिरुद्वेगः ।

शत्रुओं के द्वारा किया गया भय उद्वेग कहलाता है । जैसे रत्नावली में वासवदत्ता सागरिका का अपकार करने वाली है अतः उसकी शत्रु है । जब वह सागरिका को पकड़ कर ले जाती है तो सागरिका को भय होता है, अतः यह उद्वेग है । सागरिका की इस उक्ति में इसी का संकेत है—

'क्या पुण्य न करने के कारण इच्छा से मरा भी नहीं जाता ।'

और जैसे वेणीसंहार में, सूत की निम्न उक्ति उसके भय की व्यञ्जक है । '(सुनकर डर के साथ) क्या यह कौरव राजकुमारों के महान् वन के लिए भीषण झंझावात (प्रलय वात) के समान भीमसेन समीप ही आ गया है और महाराज बेहोश हैं । ठीक है, रथ को दूर ले जाता हूँ । शायद यह दुःशासन की तरह इनके साथ भी अनुचित व्यवहार कर बैठे ।'

अथ संभ्रमः—

—शङ्कात्रासौ च संभ्रमः ।

यथा रत्नावल्याम्—'विदूषक—(पश्यन्) का उण एसा ! (ससंभ्रमम्) कधं देवी वासवदत्ता अत्ताणं वावादेदि । ('का पुनरेषा ! कथं देवी वासवदत्तात्मानं व्यापादयति' ।) राजा—(ससंभ्रममुपसर्पन्) क्वासौ क्वासौ ।' इत्यनेन वासवदत्ताबुद्धिगृहीतायाः सागरिकाया मरणशङ्कया संभ्रम इति ।

यथा च वेणीसंहारे—'(नेपथ्ये कलकलः) अश्वत्थामा—(ससंभ्रमम्) मातुल ! मातुल ! कष्टम् । एष भ्रातुः प्रतिज्ञाभङ्गभीरुः किरीटी समं शरवर्षैर्दुर्योधनराधेयावभिद्रवति । सर्वथा पीतं शोणितं दुःशासनस्य भीमेन ।' इति शङ्का । तथा '(प्रविश्य संभ्रान्तः सप्रहारः) सूतः—त्रायतां त्रायतां कुमारः ।' इति त्रासः । इत्येताभ्यां शङ्कात्रासाभ्यां दुःशासनद्रोणवधसूचकाभ्यां पाण्डवविजयप्राप्त्याशान्वितः संभ्रम इति ।

जहाँ पात्रों में शंका एवं भय का संचार हो, वहाँ संभ्रम माना जाता है । जैसे रत्नावली में वासवदत्ता की बुद्धि से गृहीत सागरिका के मरने की आशङ्का निम्न उक्ति से की जाती है, अतः यहाँ संभ्रम है ।

विदूषक—(देखकर) यह कौन है ! (घबरा कर) क्या देवी वासवदत्ता अपने आप को मार रही है (आत्महत्या कर रही है) ।

राजा—(घबराहट के साथ आगे बढ़ते हुए) वह कहाँ है, वह कहाँ है ।

और जैसे वेणीसंहार में, तीसरे अंक में त्रास तथा शंका द्रोण तथा दुःशासन के वध की द्योतक हैं, इनसे पाण्डवों की विजय की प्राप्त्याशा अभिव्यक्त है, अतः यहाँ संभ्रम नामक गर्भाङ्ग है, जिसकी व्यञ्जना निम्न स्थल पर हुई है ।

'(नेपथ्य में कोलाहल) अश्वत्थामा (घबराकर)—मामा, मामा, बड़े दुःख की बात है । भाई की प्रतिज्ञा के भङ्ग होने से डरा हुआ यह अर्जुन बाणों की वर्षा के साथ दुर्योधन व कर्ण का पीछा कर रहा है । भीम ने सचमुच दुःशासन का खून पी ही लिया । यहाँ अश्वत्थामा को शंका हो रही है कि भीम कहीं अपनी प्रतिज्ञा पूरी न कर ले । 'इसी के आगे जब भीड़ घायल हुआ दुःशासन का सारथि अश्वत्थामा के पास आकर उसे बचाने को कहता है—'कुमार दुःशासन की रक्षा करो, उसे बचाओ', तो त्रास की अभिव्यञ्जना होती है ।

अथाक्षेप—

गर्भबीजसमुद्भेदादाक्षेपः परिकीर्तितः ॥ ४२ ॥

यथा रत्नावल्याम्—'राजा-वयस्य देवीप्रसादनं मुक्त्वा नान्यमुपायं पश्यामि ।' पुनः कथान्तरे 'सर्वथा देवीप्रसादनं प्रति निष्प्रत्याशीभूताः स्मः' पुनः 'तत्किमिह स्थितेन देवीमेव गत्वा प्रसादयामि ।' इत्यनेन देवीप्रसादायत्ता सागरिकासमागमसिद्धिरिति गर्भबीजोद्भेदादाक्षेपः ।

यथा च वेणीसंहारे—'सुन्दरक—अहवा किमेत्थ देव्वं उवालहामि तस्स क्खु एदं णिब्भच्छिदविदुरवअणबीअस्स परिभूदपिदामहहिदोवदेसङ्कुरस्स सउणिप्पोच्छाहणारूढमूलस्स कूडविसवाडिणो पञ्चालीकेसग्गहणकुसुमस्स फलं परिणमेदि ।' ('अथवा किमत्र दैवमुपालभामि तस्य खल्विदं निर्भर्त्सितविदुरवचनबीजस्य परिभूतपितामहहितोपदेशाङ्कुरस्य शकुनिप्रोत्साहनारूढमूलस्य कूटविषशाखिनो पाञ्चालीकेशग्रहणकुसुमस्य फलं परिणमति' ।) इत्यनेन बीजमेव फलोन्मुखतयाक्षिप्तम् इत्याक्षेपः ।

एतानि द्वादश गर्भाङ्गानि प्राप्त्याशाप्रदर्शकत्वेनोपनिबन्धनीयानि । एषां च मध्ये-

ऽभूताहरणमार्गतोटकाधिबलाक्षेपाणां प्राधान्यम् इतरेषां यथासम्भव प्रयोग इति साङ्गो गर्भसंधिरुक्तः ।

जहाँ गर्भ एवं बीज, अथवा गर्भ के बीज का उद्भेद हो, वहाँ बीज को विशेष रूप से प्रकट किया जाय, वहाँ आक्षेप कहलाता है। जैसे रत्नावली में राजा की निम्न उक्ति से यह स्पष्ट होता है कि सागरिका प्राप्ति वासवदत्ता की प्रसन्नता पर ही आश्रित है। इसके द्वारा उदयन गर्भ बीज को प्रकट कर देता है, अतः यहाँ आक्षेप है।

'राजा—मित्र, अब देवी वासवदत्ता को मनाने के अलावा मुझे कोई उपाय नजर नहीं आता। × × × देवी के प्रसन्न होने के बारे में हमें बिल्कुल आशा नहीं रही है × × × तो यहाँ रुके रहने से क्या फायदा। जाकर महादेवी को ही क्यों न प्रसन्न करूं।

और जैसे वेणीसंहार में, सुन्दरक की निम्न उक्ति के द्वारा बीज की फलोन्मुखता का आक्षेप कर उसे प्रकट कर दिया गया है—'अथवा मैं ईश्वर को क्यों दोष दूँ। यह तो उसी षड्यन्त्र रूपी विषवृक्ष का फल पक रहा है, जिसका बीज विदुर के वचनों की अवहेलना करना था, जिसका अंकुर भीष्मपितामह के हितोपदेश का तिरस्कार था, जो शकुनि के प्रोत्साहन की जड़ पर टिका था एवं जिसका फूल द्रौपदी के बालों को घसीटना था।'

ये गर्भसन्धि के बारहों अंग प्राप्त्याशा के पोषक तथा प्रदर्शक के रूप में निबद्ध होने चाहिएँ। इनमें अभूताहरण, मार्ग, तोटक, अधिबल तथा आक्षेप प्रमुख हैं, बाकी का यथासम्भव प्रयोग हो सकता है। यहाँ तक गर्भसन्धि के अङ्गों का वर्णन किया गया।

अथावमर्शः—

> क्रोधेनावमृशेद्यत्र व्यसनाद्वा विलोभनात्।
> गर्भनिर्भिन्नबीजार्थः सोऽवमर्श इति स्मृतः ॥ ४३ ॥

अवमर्शनमवमर्शः पर्यालोचनं तच्च क्रोधेन वा व्यसनाद्वा विलोभनेन वा 'भवितव्यमनेनार्थेन' इत्यवधारितैकान्तफलप्राप्त्यवसायात्मा गर्भसन्ध्युद्भिन्नबीजार्थसम्बन्धो विमर्शोऽवमर्शः, यथा रत्नावल्यां चतुर्थेऽङ्केऽग्निविद्रवपर्यन्तो वासवदत्ताप्रसत्त्या निरपायरत्नावलीप्राप्त्यवसायात्मा विमर्शो दर्शितः। यथा च वेणीसंहारे दुर्योधनरुधिराक्तभीमसेनागमपर्यन्तः—

> 'तीर्णे भीष्ममहोदधौ कथमपि द्रोणानले निर्वृते
> कर्णाशीविषभोगिनि प्रशमिते शल्येऽपि याते दिवम्।
> भीमेन प्रियसाहसेन रभसादल्पावशेषे जये
> सर्वे जीवितसंशयं वयममी वाचा समारोपिताः ॥'

इत्यत्र 'स्वल्पावशेषे जये' इत्यादिभिर्विजयपर्यायसमस्तभीष्मादिमहारथवधादवधारितैकान्तविजयावमर्शनादवमर्शनं दर्शितमित्यवमर्शसंधिः।

जहाँ क्रोध से, व्यसन से या विलोभन (लोभ) से जहाँ फल प्राप्ति के विषय में विचार या पर्यालोचन किया जाय, तथा जहाँ गर्भसन्धि के द्वारा बीज को प्रगट कर (फोड़) दिया गया हो, वह अवमर्श संधि कहलाती है।

अवमर्श' शब्द की व्युत्पत्ति 'अव' उपसर्ग पूर्वक 'मृश्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय से हुई है, जिसका अर्थ वही है जो इसके 'ल्युट्' वाले रूप अवमर्शन का है। दोनों का अर्थ है विचार,

(१) 'सोऽवमर्शोऽङ्गसंग्रहः' इति पाठान्तरम्।

विवेचन या पर्यालोचन। यह फलप्राप्ति की पर्यालोचना क्रोध, व्यसन या विलोभन के द्वारा हो सकती है। 'यह चीज जरूर होगी' इस प्रकार फलप्राप्ति के निश्चय का निर्धारण जहाँ पाया जाय तथा गर्भसन्धि के द्वारा प्रकटित बीज से जहाँ सम्बन्ध पाया जाता है,' वह पर्यालोचन (विमर्श) 'अवमर्श' कहलाता है। जैसे रत्नावली के चौथे अंक में वासवदत्ता की प्रसन्नता से रत्नावली की प्राप्ति बिना किसी विघ्न के सम्भव है, इस विमर्श की सूचना अग्निदाह तथा उससे लोगों के भयत्रस्त करने के वर्णन तक दी गई है।

और जैसे वेणीसंहार में, दुर्योधन के खून से लथपथ होकर भीमसेन आता है, उस वर्णन तक विमर्श (अवमर्श) सन्धि है। यहाँ युधिष्ठिर नीचे के पद्य में 'और बहुत थोड़ी बची है' (स्वल्पावशेषे जये) के द्वारा, समस्त शत्रुओं, भीष्मादि महारथियों के वध से अब विजय निश्चित रूप से निर्धारित हो गई है, इस बात की पर्यालोचना करता है, अतः अवमर्श दिखाया गया है:—

'किसी तरह भीष्मरूपी महासमुद्र को भी पार कर लिया, द्रोणरूपी अग्नि भी बुझ चुका है, कर्ण रूपी जहरीला साँप भी शान्त हो चुका, और शल्य भी स्वर्ग चला गया। इतना होने पर तथा विजय के बहुत थोड़ा रह जाने पर साहसी भीमसेन ने शीघ्रता के साथ हम सब को वाणी के द्वारा जीवन के संशय से मुक्त बना दिया है।'

तस्याङ्गान्याह—

तत्रापवादसंफेटौ विद्रवद्रवशक्तयः
द्युतिः प्रसङ्गश्छलनं व्यवसायो विरोधनम् ॥ ४४ ॥
प्ररोचना विचलनमादानं च त्रयोदश ।

इस अवमर्श सन्धि के अंगों का वर्णन करते हैं:—अपवाद, संफेट, विद्रव, द्रव, शक्ति, द्युति, प्रसंग, छलन, व्यवसाय, विरोधन, प्ररोचना, विचलन और आदान—अवमर्श के ये तेरह अंग होते हैं।

यथोद्देशं लक्षणमाह—

दोषप्रख्याऽपवादः स्यात्—

यथा रत्नावल्याम्—'सुसङ्गता—सा खु तवस्सिणी भट्टिणीए उज्जइणिं णीअदित्ति पवादं करिअ अद्धरत्ते ण जाणीअदि कहिंपि णीदेत्ति। ('सा खलु तपस्विनी भट्टिन्योज्जयिनीं नीयत इति प्रवादं कृत्वाऽर्धरात्रे न ज्ञायते कुत्रापि नीतेति।') 'विदूषक—(सोद्वेगम्) अदिणिग्घिणं क्खु कदं देवीए।' ('अतिनिर्घृणं खलु कृतं देव्या।') पुनः—'भो वअस्स! मा खु अण्णधा संभावेहि सा [illegible] देवीए उज्जइणीं पेसिदा अदो अप्पिअं त्ति कहिदम्।' ('भो वयस्य! मा खल्वन्यथा सम्भावय [illegible] खलु देव्योज्जयिन्यां प्रेषिता अतोऽप्रियमिति कथितम्') राजा—अहो निरनुरोधा मयि देवी।' 'इत्यनेन वासवदत्तादोषप्रख्यापनादपवादः।

यथा च वेणीसंहारे—'युधिष्ठिर—पाञ्चालक! कच्चिदासादिता तस्य दुरात्मनः कौरवापसदस्य पदवी? पाञ्चालक—न केवलं पदवी स एव दुरात्मा देवीकेशपाशस्पर्शपातकप्रधानहेतुरुपलब्धः।' इति दुर्योधनस्य दोषप्रख्यापनादपवाद इति।

जहाँ किसी पात्र के दोषों का वर्णन किया जाय, वहाँ अपवाद होता है। जैसे रत्नावली में राजा सागरिका के प्रति वासवदत्ताकृत व्यवहार को सुनकर वासवदत्ता के दोष [illegible] वर्णन करता है, अतः यहाँ अपवाद है।

'सुसंगता—उन्हें उज्जैन ले जाया जा रहा है इस तरह की अफवाह उड़ा कर देवी वासवदत्ता के द्वारा आधी रात के समय पता नहीं वह बेचारी (सागरिका) कहाँ ले जाई गई।'

विदूषक (घबराकर)—देवी ने बड़ी कठोरता की है। × × × हे मित्र, कोई दूसरी बात न समझना, वह तो सचमुच देवी ने उज्जयिनी भेज दी है, इस लिये यह समाचार अप्रिय है ऐसा हमने कहा है।

राजा—अरे, देवी वासवदत्ता मेरे प्रति बड़ी निष्करुण है।'

और जैसे वेणीसंहार में निम्न वार्तालाप में दुर्योधन के दोषों का वर्णन है, अतः अपवाद नामक अवमर्शांग है।

'युधिष्ठिर—पाञ्चालक, क्या उस नीच कौरव दुर्योधन के मार्ग का पता चला।

पांचालक—उसका मार्ग ही नहीं देवी द्रौपदी के केशपाश के हाथ रूपी पाप का प्रधान कारण वह दुष्ट स्वयं भी पा लिया गया है।

अथ संफेट—

—संफेटो रोषभाषणम्।

यथा वेणीसंहारे—भो कौरवराज! कृतं बन्धुनाशदर्शनमन्युना मैवं विषादं कृथाः—पर्याप्ताः पाण्डवाः समरायाऽहमसहाय इति।

पञ्चानां मन्यसेऽस्माकं यं सुयोधं सुयोधन।
दर्शितस्यात्तशस्त्रस्य तेन तेऽस्तु रणोत्सवः॥

इत्थं श्रुत्वाऽसूयातिमक्षां निक्षिप्य कुमारयोर्दृष्टिमुक्तवान् धार्तराष्ट्रः—

कर्णदुःशासनवधात्तुल्यावेव युवां मम।
अप्रियोऽपि प्रियो योद्धुं त्वमेव प्रियसाहसः॥

'इत्युत्थाय च परस्परक्रोधाधिक्षेपपरुषवाक्कलहप्रस्तावितघोरसंग्रामौ—'इत्यनेन भीमदुर्योधनयोरन्योन्यरोषसंभाषणाद्विजयबीजान्वयेन संफेट इति।

रोष से युक्त बातचीत (रोषभाषण) संफेट नामक विमर्शांग है। जैसे वेणीसंहार में निम्न उक्तियों में भीमसेन तथा दुर्योधन के रोष संभाषण के कारण संफेट है। यह रोषसंभाषण पाण्डवों की भावी विजय से अन्वित है।

'भीम—हे कौरवराज, भाई के नाश के कारण उत्पन्न शोक व्यर्थ है। इस तरह शोक मत करो कि पाण्डव युद्ध में सबल हैं और मैं असहाय हूँ।

'हे दुर्योधन, हम पाँचों में से जिस किसी को तुम अच्छा लड़ाका समझो, कवच धारण किये हुए तथा शस्त्रों से युक्त उसी के साथ तुम्हारा द्वन्द्व युद्ध रूपी उत्सव हो जाय'।

(इसे सुनकर दुर्योधन भीम व अर्जुन दोनों की ओर असूयाभरी दृष्टि डाल कर (भीम से) कहता है—)

'वैसे तो कर्ण तथा दुःशासन दोनों के मारने के कारण तुम दोनों मेरे लिए बराबर (अनिष्टकारी) हो। वैसे तुम बड़े अप्रिय हो किन्तु फिर भी लड़ने के लिए तुम्हीं प्रिय हो, क्योंकि तुम प्रिय साहस हो।' (इस तरह उठ कर एक दूसरे के प्रति गुस्से से परुष शब्दों का प्रयोग करते हुए तथा घोर संग्राम को विस्तारित करते हुए भीम व दुर्योधन (गदायुद्ध में प्रवृत्त हो गये)।

अथ विद्रव—

विद्रवो वधबन्धादिः—

यथा छलितरामे—

'येनावृत्य मुखानि साम पठतामत्यन्तमायासितं
बाल्ये येन हृताक्षसूत्रवलयप्रत्यर्पणैः क्रीडितम् ।
युष्माकं हृदयं स एष विशिखैरापूरितांसस्थलो
मूर्च्छाघोरतमःप्रवेशविवशो बद्ध्वा लवो नीयते ॥'

यथा च रत्नावल्याम्—

'हर्म्याणां हेमशृङ्गश्रियमिव शिखरैरर्चिषामादधान
सान्द्रोद्यानद्रुमाग्रग्लपनपिशुनितात्यन्ततीव्राभितापः ।
कुर्वन्क्रीडामहीध्रं सजलजलधरश्यामलं धूमपातै—
र्वैष प्लोषार्तयोषिज्जन इह सहसैवोत्थितोऽन्तःपुरेऽग्निः ॥'

इत्यादि, पुनः । 'वासवदत्ता—अज्जउत्त ! ण क्खु अहं अत्तणो कारणादो भणामि एसा मए णिग्घिणहिअआए संजदा सागरिआ विवज्जदि ।' ('आर्यपुत्र ! न खल्वहमात्मनः कारणाद्भणामि एषा मया निर्घृणहृदयया संयता सागरिका विपद्यते ।) इत्यनेन सागरिकाभयवन्धादिभिर्विद्रव इति ।

किसी पात्र का मारा जाना, बँध जाना (बन्दी हो जाना), आदि (अर्थात् भय से पलायन आदि करना) विद्रव कहलाता है। जैसे छलितराम नाटक[1] में—

'जिस लव ने बचपन में सामवेद पढ़ते हुए तुम्हारे मुँह को बन्द करके बहुत तकलीफ दी थी, जिसने अक्षसूत्रों की माला को छिपाकर फिर से वापस देकर खेल किया था, वह तुम्हारा हृदय—यह लव, जिसका वक्षःस्थल तीरों से बिंध गया है और जो मूर्च्छा के अन्धकार के कारण बेबस हो गया है, बाँध कर के लाया जा रहा है।'

और जैसे रत्नावली नाटिका में सागरिका के बन्धन, मरण की आशंका, तथा अग्निरूप भय के वर्णन के कारण निम्न स्थल में विद्रव नामक विमर्शांग है।

जो अपनी लपटों के किनारों से जैसे महलों के सोने के कँगूरों की शोभा को धारण कर रहा है, जो अपने तीव्र ताप की सघनता घने बाग के पेड़ों के अग्र भाग को झुलसा कर दे रहा है, ऐसा अग्नि एकदम अन्तःपुर में फैल गया है। इसके धुएँ से क्रीडापर्वत पानी से भरे बादलों के समान काला हो गया है, तथा इसके ताप से अन्तःपुर की स्त्रियाँ भयभीत हो उठी हैं।'

वासवदत्ता—आर्यपुत्र, मैं अपने लिए नहीं कहती, निष्करुण मेरे द्वारा बन्दी बनाई हुई यह सागरिका मर रही है (जल रही है)।'

अथ द्रव—

—द्रवो गुरुतिरस्कृतिः ॥ ४५ ॥

यथोत्तरचरिते—

'वृद्धास्ते न विचारणीयचरितास्तिष्ठन्तु हुं वर्तते
सुन्दस्त्रीदमनेऽप्यखण्डयशसो लोके महान्तो हि ते ।
यानि त्रीण्यकुतोमुखान्यपि पदान्यासन्खरायोधने
यद्वा कौशलमिन्द्रसूनुदमने तत्राप्यभिज्ञो जनः ॥'

---

1. यह नाटक अनुपलब्ध है। कवि का नाम मायुराज था।

इत्यनेन लवो रामस्य गुरोस्तिरस्कारं कृतवानिति द्रवः ।

यथा च वेणीसंहारे—'युधिष्ठिरः—भगवन् कृष्णाग्रज सुभद्राभ्रातः !

ज्ञातिप्रीतिर्मनसि न कृता क्षत्रियाणां न धर्मो
रूढं सख्यं तदपि गणितं नानुजस्यार्जुनेन ।
तुल्यः कामं भवतु भवतः शिष्ययोः स्नेहबन्धः
कोऽयं पन्था यदसि विगुणो मन्दभाग्ये मयीत्थम् ॥'

इत्यादिना बलभद्रं गुरुं युधिष्ठिरस्तिरस्कृतवानिति द्रवः ।

जहाँ बड़े व्यक्तियों (गुरुओं) का तिरस्कार हो, वहाँ द्रव नामक विमर्शांग होता है—जैसे उत्तररामचरित में निम्न पद्य में लव पूज्य रामचन्द्र का तिरस्कार करता है अतः द्रव है—

'वे बड़े लोग हैं अतः उनके चरित्र की चर्चा करना ठीक नहीं। जैसे भी हों रहने दो। ताड़का (सुन्द की स्त्री) के मारने पर भी अखण्डित यशवाले वे लोग महान् हैं। खर के साथ युद्ध करते समय मुँह को बिना फेरे ही जो पीछे तीन कदम रखे गये और बालि (इन्द्रसूनु) के वध के समय जो कौशल बताया गया, उसे भी सभी लोग जानते हैं।'

और जैसे वेणीसंहार में, युधिष्ठिर पूज्य बलभद्र का तिरस्कार करता है, अतः द्रव है—

'भगवन् कृष्णाग्रज, सुभद्रा के भाई, बलराम न तो तुमने जाति की प्रीति का ही विचार किया, न क्षत्रियधर्म ही का विचार किया। तुम्हारे छोटे भाई कृष्ण का अर्जुन के साथ जो प्रेम है, जो मित्रता है उसका भी कोई ख्याल नहीं किया। ठीक है, पर तुम्हारा दोनों शिष्यों (भीम व दुर्योधन) के साथ समान स्नेह होना चाहिए। फिर यह कौन सा बर्ताव है कि तुम मुझ मन्दभाग्य के प्रति इस तरह नाराज हो।'

अथ शक्तिः—

विरोधशमनं शक्तिः—

यथा रत्नावल्याम्—'राजा—

सव्याजैः शपथैः प्रियेण वचसा चित्तानुवृत्त्याधिकं
वैलक्ष्येण परेण पादपतनैर्वाक्यैः सखीनां मुहुः ।
प्रत्यासत्तिमुपागता नहि तथा देवी रुदत्या यथा
प्रक्षाल्येव तयैव बाष्पसलिलैः कोपोऽपनीतः स्वयम् ॥'

इत्यनेन सागरिकालाभविरोधिवासवदत्ताकोपोपशमनाच्छक्तिः ।

यथा चोत्तरचरिते लवः आह—

'विरोधो विश्रान्तः प्रसरति रसो निर्वृतिघन-
स्तदौद्धत्यं क्वापि व्रजति विनयः प्रह्वयति माम् ।
झटित्यस्मिन्दृष्टे किमपि परवानस्मि यदि वा
महार्घस्तीर्थानामिव हि महतां कोऽप्यतिशयः ॥'

विरोध का शान्त हो जाना शक्ति कहलाता है। जैसे रत्नावली में निम्न पद्य में सागरिकालाभ का विरोध करने वाली वासवदत्ता के क्रोध की शान्ति का संकेत मिलता है, अतः यह शम है।

'झूठी शपथों से, प्यारे वचन से, अधिक प्रेम के बर्ताव से, अत्यधिक लज्जा से, पैरों पर गिरने

से वश बार बार सखियों के वचनों से देवी वासवदत्ता वैसी प्रसन्न न हो सकी जैसा इसने खुद ही रोकर अपने आँसू के पानी से धोकर ही क्रोध को निकाल दिया।'

और जैसे उत्तर रामचरित में राम को देखकर लव कहता है—

'मेरा विरोध शान्त हो गया है, एक शान्त सघन रस जैसे हृदय में फैल रहा है, वह उद्धतता पता नहीं कहाँ चली गई है, विनम्रता मुझे झुका रही है। यदि इन्हें देखते ही मैं एक दम पराधीन हो गया हूँ तो बड़े व्यक्तियों का प्रभाव ठीक उसी तरह महार्घ तथा महत्त्वपूर्ण होता है, जैसे पवित्र स्थानों का।'

अथ द्युतिः—

—तर्जनोद्वेजने द्युतिः।

यथा वेणीसंहारे—'एतच्च वचनमुपश्रुत्य रामानुजस्य सकलदिक्प्रपूरिताशातिरिक्तमुद्भ्रान्तसलिलचरशतसंकुलं त्रासोद्वृत्तनक्रग्राहमालोड्य सरःसलिलं भैरवं च गर्जित्वा कुमारवृकोदरेणाभिहितम्—

जन्मेन्दोरमले कुले व्यपदिशस्यद्यापि धत्से गदां
मां दुःशासनकोष्णशोणितसुराक्षीबं रिपुं भाषसे।
दर्पान्धो मधुकैटभद्विषि हरावप्युद्धतं चेष्टसे
मत्त्रासान्नृपशो विहाय समरं पङ्केऽधुना लीयसे॥'

इत्यादिना 'त्यक्तोत्थित 'साम्प्रतम्' इत्यनेन दुर्वचनजलावलोडनाभ्यां दुर्योधनतर्जनोद्वेजनकारिभ्यां पाण्डवविजयानुकूलदुर्योधनोत्थापनहेतुभ्यां भीमस्य द्युतिरुक्ता।

किसी पात्र का तर्जन तथा उद्वेजन करना द्युति कहलाता है। जैसे वेणीसंहार में भीमसेन दुर्वचन तथा जलावलोडन (सरोवर के पानी के मथने) से दुर्योधन को भयभीत (तर्जित तथा उद्वेजित) करता है, तथा ये तर्जन व उद्वेजन एक ओर दुर्योधन के पानी से बाहर निकलने के तथा पाण्डव विजय के कारण हैं। अतः यहाँ द्युति है। इसका संकेत इस उक्ति में है—

'कृष्ण के इस वचन को सुनकर सारे निकुञ्ज से भरी दिशाओं के घिरे सरोवर के पानी को हिलाकर, जो डरे हुए सैकड़ों जलजन्तुओं से युक्त था, तथा जिसके मगर और घड़ियाल डर से डूबते-उतराते थे,—तथा जोर से गर्जना करके कुमार भीमसेन ने कहा—

अपने आपको चन्द्रमा के निर्मल कुल में उत्पन्न कहता है, तथा अभी भी गदा धारण किये है, दुःशासन के गरम खून की शराब से मस्त मुझे शत्रु कहता है, घमण्ड से अन्धा होकर मधुकैटभ के शत्रु कृष्ण के प्रति भी उद्धत व्यवहार करता है, (और) हे नीच मानव, मेरे डर से युद्धभूमि को छोड़कर अब कीचड़ में छिपता है।'

अथ प्रसङ्गः—

गुरुकीर्तनं प्रसङ्गः—

यथा रत्नावल्याम्—'देव योऽसौ सिंहलेश्वरेण स्वदुहिता रत्नावली नामायुष्मती वासवदत्तां दग्धामुपश्रुत्य देवाय पूर्वं प्रार्थिता सती प्रतिदत्ता।' इत्यनेन रत्नावल्या लाभानुकूलाभिजनप्रकाशिना प्रस्तुतगुरुकीर्तनेन प्रसङ्गः।

यथा मृच्छकटिकायाम्—'चाण्डालकः—एष सागरदत्तस्य सुत आर्यविनयदत्तस्य नप्ता, चारुदत्तो व्यापादयितुं वध्यस्थानं नीयते एतेन किल गणिका वसन्तसेना सुवर्ण-

लोभेन व्यापादितेति।' ('एष सागरदत्तस्य सुत आर्यविनयदत्तस्य नप्ता चारुदत्तो व्यापादयितुं वध्यस्थानं नीयते एतेन किल गणिका वसन्तसेना सुवर्णलोभेन व्यापादितेति।')

चारुदत्तः—

मखशतपरिपूतं गोत्रमुद्भासितं यत्

सदसि निबिडचैत्यब्रह्मघोषैः पुरस्तात्।

मम निधनदशायां वर्तमानस्य पापै-

स्तदसदृशमनुष्यैर्घुष्यते घोषणायाम् ॥'

इत्यनेन चारुदत्तवधाभ्युदयानुकूलं प्रसङ्गाद्गुरुकीर्तनमिति प्रसङ्गः।

जहाँ पूज्य व्यक्तियों (गुरुओं), मातापिता आदि का संकीर्तन हो, वहाँ प्रसंग नामक विमर्शाङ्ग होता है। (अथवा जहाँ महत्त्वपूर्ण (गुरु) वस्तु की चर्चा हो वहाँ प्रसंग होता है)।[1] जैसे रत्नावली नाटिका में यौगन्धरायण निम्न उक्ति के द्वारा प्रसंग से गुरु (पूज्य, सिंहलेश्वर) का संकीर्तन करता है (अथवा राजा के प्रति महत्त्वपूर्ण समाचार को कहता है), इस 'गुरु कीर्तन' के द्वारा रत्नावली के लाभ के अनुकूल सम्बन्धियों का प्रकाशन किया गया है, अतः यह प्रसंग है—'स्वामिन्, देवी वासवदत्ता को जला हुआ सुनकर पहले से ही प्रार्थित की रत्नावली नामक पुत्री सिंहलेश्वर ने स्वामी को दी है,"'(यही वह है)।'

और जैसे मृच्छकटिक में, जब चाण्डाल चारुदत्त को वसन्तसेना के वध के दण्ड के लिए मारने ले जाते हैं, तब उनकी घोषणा सुनकर चारुदत्त अपने कुल, शील, तथा अभ्युदय का स्मरण कर प्रसंग से उनका कीर्तन करता है, अतः गुरुकीर्तन होने के कारण निम्न स्थल में यहाँ भी प्रसंग नामक अवमर्शाङ्ग है।

'चाण्डाल—यह सागरदत्त का पुत्र, आर्य विनयदत्त का पौत्र, चारुदत्त वध के लिये वध्यस्थान ले जाया जा रहा है। इसने सोने के लोभ से गणिका वसन्तसेना को मार दिया है।

चारुदत्त—जो मेरा गोत्र (कुल) चैत्यों के ब्रह्मघोषों के द्वारा सभा में सैकड़ों यज्ञों से पवित्र तथा देदीप्यमान होता था, वही आज मेरे मृत्यु की अवस्था में वर्तमान होने पर (चाण्डालों जैसे) नीच तथा पापी (अयोग्य) मनुष्यों के द्वारा घोषणा के रूप में घोषित किया जा रहा है।

अथ छलनम्—

—छलनं चावमाननम् ॥ ४६ ॥

यथा रत्नावल्याम्—राजा—अहो निरनुरोधा मयि देवी।' इत्यनेन वासवदत्तये-प्सासंपादनाद्वत्सराजस्यावमाननाच्छलनम्। यथा च रामाभ्युदये सीतया परित्यागेनाऽवमाननाच्छलनमिति।

जहाँ कोई पात्र किसी दूसरे की अवज्ञा (अपमान) करे, वह छलन कहा जाता है। जैसे रत्नावली में वासवदत्ता रत्नावली समागम में विघ्न उपस्थित करती है, इस प्रकार वह वत्सराज की ईप्सित वस्तु का सम्पादन नहीं करने के कारण उसकी अवज्ञा करती है, अतः अवमान के कारण यहाँ छलन नामक अवमर्शाङ्ग है। इसकी व्यंजना राजा की इस उक्ति से होती है—

---

१. 'गुरुकीर्तन' की व्युत्पत्ति, गुरूणां कीर्तनं भी हो सकती है, गुरु चैतत् कीर्तनं भी हो सकती है। अतः हमने कोष्ठक में गुरुकीर्तन के कर्मधारय वाले अर्थ को भी स्पष्ट कर दिया है। [illegible] उदाहरणों को देखते हुए दोनों व्युत्पत्ति ठीक जैसी हैं।

'अरे, देवी वासवदत्ता मेरे प्रति बड़ी निष्करुण है।' अथवा जैसे रामाभ्युदय नामक नाटक में सीता को खोज कर उसकी अवज्ञा (अपमान) की गई है, अतः छलन है।

अथ व्यवसायः—

व्यवसायः स्वशक्त्युक्तिः—

यथा रत्नावल्याम्—'ऐन्द्रजालिकः—

किं धरणीए मिअङ्को आआसे महिहरो जले जलणो।
मज्झह्णम्मि पओसो दाविज्जउ देहि आणत्तिम्॥

अहवा किं बहुणा जम्पिएण—

मज्झ पइण्णा एसा भणामि हिअएण जं महसि दट्ठुम्।
तं ते दावेमि फुडं गुरुणो मन्तप्पहावेण॥'

(' किं धरण्यां मृगाङ्क आकाशे महीधरो जले ज्वलनः।
मध्याह्ने प्रदोषो दर्श्यतां देह्याज्ञप्तिम्॥

अथवा किं बहुना जल्पितेन।

मम प्रतिज्ञैषा भणामि हृदयेन यद्वाञ्छसि द्रष्टुम्।
तत्ते दर्शयामि स्फुटं गुरोर्मन्त्रप्रभावेण॥')

इत्यनेनैन्द्रजालिको मिथ्याग्निसंभ्रमोत्पादनेन वत्सराजस्य हृदयस्थसागरिकादर्शनानुकूलां स्वशक्तिमाविष्कृतवान्।

यथा च वेणीसंहारे—

'नूनं तेनाद्य वीरेण प्रतिज्ञाभङ्गभीरुणा।
बध्यते केशपाशस्ते स चास्याकर्षणे क्षमः॥'[1]

इत्यनेन युधिष्ठिरः स्वदण्डशक्तिमाविष्करोति।

जहाँ कोई पात्र अपने सामर्थ्य के विषय में कहे, (जहाँ स्वशक्त्युक्ति पाई जाय), वहाँ व्यवसाय नामक अवमर्शाङ्ग होता है। जैसे रत्नावली के चतुर्थ अङ्क में ऐन्द्रजालिक झूठी आग फैला कर वत्सराज के हृदय में स्थित सागरिका के दर्शन के अनुकूल अपनी शक्ति को प्रकट करता है। इसकी प्रकटता इन दो गाथाओं से हुई है, ऐन्द्रजालिक की उक्तियाँ हैं:—

'आज्ञा दीजिये, क्या मैं पृथ्वी पर चन्द्रमा, आकाश में पर्वत, जल में आग, और मध्याह्न के समय प्रदोष (रात्रि का प्रारम्भ) दिखा दूँ। अथवा मैं ज्यादा डींग क्यों मारूँ। मेरी प्रतिज्ञा यह है, मैं हृदय से कह रहा हूँ, आप जो कुछ देखना चाहते हैं, गुरुजी के मन्त्र के प्रभाव के कारण मैं वही आपको दिखा सकता हूँ।'

और जैसे वेणीसंहार के निम्न पद्य में, युधिष्ठिर भीम की वीरता का वर्णन करते हुए अपनी दण्डशक्ति को प्रकट कर रहे हैं.—

'प्रतिज्ञा के पूर्ण न होने से डरने वाले उस वीर भीमसेन के द्वारा आज तुम्हारा यह जूड़ा (केशपाश) जरूर बाँधा जायेगा। और वह उसके पूर्ण करने में पूर्णतया शक्त है।'

---

१. यहाँ मूल में 'बध्यते' पाठ है, किन्तु यहाँ वर्तमान का प्रयोग निकटवर्ती भविष्य के अर्थ में हुआ है—'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा।'

अथ विरोधनम्—

—संरब्धानां विरोधनम्।

यथा वेणीसंहारे—'राजा—रे रे मरुत्तनय किमेवं वृद्धस्य राज्ञः पुरतो निन्दितव्यमात्मकर्म श्लाघसे ? अपि च—

कृष्टा केशेषु भार्या तव तव च पशोस्तस्य राज्ञस्तयोर्वा
प्रत्यक्षं भूपतीनां मम भुवनपतेराज्ञया द्यूतदासी।
अस्मिन्वैरानुबन्धे वद किमपकृतं तैर्हता ये नरेन्द्रा
बाह्वोर्वीर्यातिभारद्रविणगुरुमदं मामजित्वैव दर्पः ॥

(भीमः क्रोधं नाटयति) अर्जुनः—आर्य प्रसीद किमत्र क्रोधेन ?

अप्रियाणि करोत्येष वाचा शक्तो न कर्मणा।
हतभ्रातृशतो दुःखी प्रलापैरस्य का व्यथा ॥

भीमः—अरे भरतकुलकलङ्क !

अद्यैव किं न विसृजेयमहं भवन्तं
दुःशासनानुगममाशु कटुप्रलापिन्।
विघ्नं गुरुर्न कुरुतो यदि मत्कराग्र-
निर्भिद्यमानरणितास्थिनि ते शरीरे ॥

अन्यच्च मूढ !

शोकं स्त्रीवन्नयनसलिलैर्यत्परित्याजितोऽसि
भ्रातुर्वक्षःस्थलविदलने यच्च साक्षीकृतोऽसि।
आसीदेतत्तव कुनृपतेः कारणं जीवितस्य
क्रुद्धे युष्मत्कुलकमलिनीकुञ्जरे भीमसेने ॥

राजा—दुरात्मन् भरतकुलापसद पाण्डवपशो ! नाहं भवानिव विकत्थनाप्रगल्भः। किंतु—

द्रक्ष्यन्ति नचिरात्सुप्तं बान्धवास्त्वां रणाङ्गणे ॥
मद्गदाभिन्नवक्षोऽस्थिवेणिकाभङ्गभीषणम् ॥'

इत्यादिना संरब्धयोर्भीमदुर्योधनयोः स्वशक्त्युक्तिर्विरोधनमिति।

जहाँ क्रुद्ध पात्रों के द्वारा परस्पर स्वशक्ति का प्रकटीकरण हो, वहाँ विरोधन नामक अवमर्शाङ्ग होता है। (यहाँ मूल के 'संरब्धानां' के साथ ४७ वीं कारिका के प्रथम चरण का 'स्वशक्त्युक्ति' पद अनुवर्तित हो जाता है।) जैसे वेणीसंहार में निम्न स्थल में क्रुद्ध भीम व दुर्योधन दोनों अपनी-अपनी शक्ति को वचनों द्वारा प्रकट करते हैं, अतः विरोधन है।

'राजा (दुर्योधन)—रे वायु के पुत्र इस तरह बूढ़े राजा (धृतराष्ट्र) के सामने अपने निन्दनीय कर्म की प्रशंसा क्यों करता है ? और भी—

तेरी तुझ पशु की, उस राजा (युधिष्ठिर) की और उन दोनों की स्त्री की, इस जुएँ में जीती हुई दासी (द्रौपदी) को, लोक के स्वामी मेरी आज्ञा से राजाओं के सामने बालों

(१) 'संरम्भोक्ति' इत्यपि पाठः।

से सींचा गया। इस वैर में क्या तो सभी उन राजाओं ने तेरा क्या बिगाड़ा था, जो युद्ध में मारे गये। दोनों भुजाओं के अतिशय बलरूपी धन के भारी मद वाले मुझे जीते बिना ही (इतना) घमण्ड ?

(भीम गुस्से का अभिनय करता है) अर्जुन—आर्य, प्रसन्न हों, क्रोध करना व्यर्थ है।

यह दुर्योधन वाणी से हमारा अप्रिय (बुरा) कर रहा है, कर्म से बुरा करने में यह अशक्त है। सौ भाइयों के मरने के कारण यह दुःखी है, इसके प्रलाप से हमें कोई ■ ■ (क्रोध) नहीं।

भीम—अरे भरतकुलकलङ्क! हे कटुप्रलापिन्, क्या मैं तुझे आज ही दुःशासन के अनुगमन के लिए न भिजा दूँ (मैं तुझे आज ही अवश्य मार डालूँ)। काश, मेरे हाथों के भ्रमप्रहार के द्वारा तोड़ी जाने वाली शब्द करती हुई हड्डियों वाले तेरे शरीर में मूर्ख धृतराष्ट्र व गांधारी विघ्न न करते होते। और भी मूर्ख, तुम्हारे कुलरूपी कमलिनी को नष्ट करने वाले हाथी, भीमसेन के क्रुद्ध होने पर (भी) तुझ दुष्ट राजा के जीवित रहने का कारण यह है, कि तूने भाई के वक्षःस्थल को फटते समय साक्षी होकर देखा और भीरुओं की तरह आँसुओं के द्वारा शोक का त्याग कर दिया।

राजा—दुष्ट भरतकुलापसद नीच पाण्डव, अरे तेरी तरह मैं डींग मारने वाला नहीं हूँ, किन्तु—तेरे बान्धव आज जल्दी ही मुझे युद्धभूमि में सोया हुआ देखेंगे। तेरा वक्षःस्थल, व हड्डियों का ढाँचा मेरी गदा से टूटा हुआ होगा और उस दशा में तू बड़ा भीषण प्रतीत होगा।'

अथ प्ररोचना—

सिद्धामन्त्रणतो भाविदर्शिका स्यात्प्ररोचना ॥ ५७ ॥

यथा वेणीसंहारे—'पाञ्चालक ! अहं च देवेन चक्रपाणिना' इत्युपक्रम्य 'कृतं सन्देहेन—

पूर्यन्तां सलिलेन रत्नकलशा राज्याभिषेकाय ते
कृष्णाऽत्यन्तचिरोज्झिते च कबरीबन्धे करोतु क्षणम्।
रामे शातकुठारभासुरकरे क्षत्रद्रुमोच्छेदिनि
क्रोधान्धे च वृकोदरे परिपतत्याजौ कुतः संशयः ॥'

इत्यादिना मङ्गलानि कर्तुमाज्ञापयति देवो युधिष्ठिर' इत्यन्तेन द्रौपदीकेशसंयमन-युधिष्ठिरराज्याभिषेकयोर्भाविनोरपि सिद्धत्वेन दर्शिका प्ररोचनेति।

जहाँ कोई सिद्ध व्यक्ति अपने वचनों के द्वारा भावी घटना की सूचना इस तरह दे, जैसे वह सिद्ध हो, वहाँ प्ररोचना नामक अवयवाङ्ग होता है। जैसे वेणीसंहार में पाञ्चालक (दूत) युधिष्ठिर ■ पास आकर भगवान् कृष्ण का वचन सुनाता है कि भीम की विजय में कोई संदेह नहीं, और बाद में सेवकों को आज्ञा देता है कि महाराज युधिष्ठिर ने जय के उपलक्ष्य में मंगल कार्यों के करने की आज्ञा दी है। इसके द्वारा द्रौपदी के केश-संयमन रूप तथा युधिष्ठिर के राज्याभिषेक रूप दो भावी घटनाओं की सूचना सिद्ध रूप में दी गई है। अतः यहाँ प्ररोचना है। पाञ्चालक की उक्ति का निम्न अंश इसकी सूचना देता है —

'चक्रपाणि भगवान् कृष्ण ने मुझे आज्ञा दी है × × सन्देह की आवश्यकता नहीं। तुम्हारे राज्याभिषेक के लिए रत्नकलश जल से पूर्ण हों। द्रौपदी बड़े दिनों से छूटे हुए केशों के बाँधने के लिए उत्सव मनावे। तीक्ष्ण परशु के द्वारा चमकते हाथ वाले, क्षत्रियरूपी वृक्ष को उखाड़ने वाले, परशुराम तथा क्रोध से अन्धे भीमसेन के युद्ध में जुटने पर सन्देह की गुंजायश ही कहाँ ?'

अथ विचलनम्—

विकत्थना विचलनम्—

यथा वेणीसंहारे—'भीमः—तात ! अम्ब !

सकलरिपुजयाशा यत्र बद्धा सुतैस्ते
तृणमिव परिभूतो यस्य गर्वेण लोकः ।
रणशिरसि निहन्ता तस्य राधासुतस्य
प्रणमति पितरौ वां मध्यमः पाण्डवोऽयम् ॥

अपि च तात !

चूर्णिताशेषकौरव्यः क्षीबो दुःशासनासृजा ।
भङ्क्ता सुयोधनस्योर्वोर्भीमोऽयं शिरसाऽञ्चति ॥'

इत्यनेन विजयबीजानुगतस्वगुणाविष्करणाद्विचलनमिति ।

यथा च रत्नावल्याम्—'यौगन्धरायणः—

देव्या मद्वचनाद्यथाऽभ्युपगतः पत्युर्वियोगस्तदा
सा देवस्य कलत्रसंघटनया दुःखं मया स्थापिता ।
तस्याः प्रीतिमयं करिष्यति जगत्स्वामित्वलाभः प्रभोः
सत्यं दर्शयितुं तथापि वदनं शक्नोमि नो लज्जया ॥'

इत्यनेनापरेणापि यौगन्धरायणेन 'मया जगत्स्वामित्वानुबन्धी कन्यालाभो वत्सराजस्य कृतः ।' इति स्वगुणानुकीर्तनाद्विचलनमिति ।

जहाँ कोई पात्र आत्मश्लाघा करे तथा डींग मारे, वहाँ विचलन नामक विमर्शाङ्ग होता है । जैसे वेणीसंहार में भीम अपने गुणों का आविष्करण करके डींग मारता है, अतः यहाँ विचलन है ।

भीम—तात, माता, जिस कर्ण में, तुम्हारे पुत्रों की समस्त शत्रुओं को जीत लेने की आशा बँधी हुई थी, जिसके घमण्ड के द्वारा सारा संसार तिनके की तरह तुच्छ समझा गया था, उसी राधा के पुत्र कर्ण को युद्धभूमि में मारने वाला, यह मध्यम पाण्डव (अर्जुन) आप दोनों (धृतराष्ट्र व गान्धारी) माता पिताओं को प्रणाम कर रहा है ।

और भी तात, जिसने सारे कौरवों को चूर्णित कर दिया है, जो दुःशासन के खून से मस्त हो रहा है, तथा जो सुयोधन की जाँघों को (जल्दी ही) तोड़ने वाला है, यह भीम सिर के द्वारा तुम्हारी पूजा करता है (तुम्हें प्रणाम करता है) ।'

और जैसे रत्नावली में, यौगन्धरायण निम्न उक्ति में, वत्सराज के प्रति मेरा कितना उपकार है, इस बात की व्यंजना कराते हुए अपने गुणों का कीर्तन करता है, अतः विचलन नामक विमर्शाङ्ग है ।

'मेरे वचन में विश्वास कर देवी वासवदत्ता ने पति के वियोग को प्राप्त किया, और फिर महाराज को (नई) पत्नी दिलाकर मैंने उसे दुःखित बना दिया । फिर भी कुछ भी हो, स्वामी वत्सराज की जगत्-स्वामित्व प्राप्ति उसे अवश्य प्रसन्न करेगी, यह सच है; फिर भी लज्जा के कारण मैं उसे (देवी को) अपना मुख नहीं दिखा सकता।' × × × 'मैंने वत्सराज के लिए ऐसा कन्या लाभ कराया जो संसार के स्वामित्व को दिलाने वाला है ।'

अथादानम्—

—आदानं कार्यसंग्रहः।

यथा वेणीसंहारे—'भीम —ननु भोः समन्तपञ्चकसंचारिणः !

रक्षो नाहं न भूतं रिपुरुधिरजलाप्लाविताङ्गः प्रकामं

निस्तीर्णोरुप्रतिज्ञाजलनिधिगहनः क्रोधनः क्षत्रियोऽस्मि ।

भो भो राजन्यवीराः समरशिखिशिखादग्धशेषाः कृतं व-

स्त्रासेनानेन लीनैर्हतकरितुरगान्तर्हितैरास्यते यत् ॥'

इत्यनेन समस्तरिपुवधकार्यस्य संगृहीतत्वादादानम् ।

यथा च रत्नावल्याम्—'सागरिका—(दिशोऽवलोक्य) दिट्ठिआ समन्तादो पज्जलिदो भअवं हुदवहो अज्ज करिस्सदि दुक्खावसाणं ।' ('दिष्ट्या समन्तात्प्रज्वलितो भगवान्हुतवहोऽद्य करिष्यति दुःखावसानम्' ।) इत्यनेनान्यपरेणापि दुःखावसानकार्यस्य संग्रहादादानम् । यथा च—'जगत्स्वामित्वलाभः प्रभोः' इति दर्शितमेवम् । एतेषां च त्रयोदशानामवमर्शाङ्गानि तन्त्रैवापवादशक्तिव्यवसायप्ररोचनादानानि प्रधानानीति ।

जब नाटककार उपसंहार की ओर बढ़ने की कामना से नाटक या रूपक की वस्तु के कार्य को संगृहीत करता है अर्थात् समेटने की चेष्टा करता है, तो वह अवमर्श का आदान कहलाता है।

जैसे वेणीसंहार में दुर्योधन को मारकर लौटता हुआ भीम निम्न उक्ति के द्वारा समस्त शत्रुओं के वधरूपी कार्य का समाहार करता है अतः आदान है।

'अरे ह समन्तपञ्चक में घूमने वालो, मैं न तो राक्षस हूँ, न भूत ही। मैं तो वह क्रोधी क्षत्रिय हूँ, जिसके अंग शत्रु के खूनरूपी जल में शराबोर हो चुके हैं और जो महती प्रतिज्ञा के समुद्र को पार कर चुका है। हे युद्धरूपी अग्नि की ज्वाला में जलने से बचे हुए वीर राजाओ, तुम्हारा यह भय व्यर्थ है, जिससे तुम मरे हुए हाथी व घोड़ों की आड़ में छिप कर बैठे हुए हो।'

और जैसे रत्नावली में दुःखी सागरिका जलती आग को देखकर यह समझती है कि मुझे दुःख का अवसान हो जायगा। यहाँ दुःखावसानरूप कार्य का समर्थ है —'अच्छा है, चारों ओर जले हुये अग्नि देवता आज मेरे दुःख का अन्त कर देंगे।' और जैसे यौगन्धरायण की उक्ति कि राजा को जगत्स्वामित्व प्राप्त होगा।

अवमर्श के ये १३ अंग हैं। इनमें से अपवाद, शक्ति, व्यवसाय, प्ररोचना व आदान ये पाँच अंग प्रमुख हैं। 4-10-56

अथ निर्वहणसंधिः—

बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम् ॥ ४८ ॥

ऐकार्थ्यमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत् ।

यथा वेणीसंहारे—'कञ्चुकी—(उपसृत्य सहर्षम्) महाराज ! वर्धसे वर्धसे, अयं खलु कुमारभीमसेनः सुयोधनक्षतजारुणीकृतसकलशरीरो दुर्लक्ष्यव्यक्तिः ।' इत्यादिना द्रौपदीकेशसंयमनादिमुखसन्ध्यादिबीजानां निजनिजस्थानोपक्षिप्तानामेकार्थतया योजनम् ।

यथा च रत्नावल्यां सागरिकारत्नावलीवसुभूतिबाभ्रव्यादीनामर्थानां मुखसन्ध्यादिषु

प्रकीर्णानां वत्सराजैककार्यार्थत्वम् । 'वसुभूति —(सागरिकां निर्वर्ण्यापवार्य) बाभ्रव्य सुसदृशीयं राजपुत्र्या ।' इत्यादिना दर्शितमिति निर्वहणसंधिः ।

रूपक की कथावस्तु के बीज से युक्त मुख आदि अर्थ जो अब तक इधर उधर बिखरे पड़े हैं, जब एक अर्थ के लिए एक साथ समेटे जाते हैं, या एकत्रित किये जाते हैं, तो यह निर्वहण संधि होती है।

जैसे वेणीसंहार में कञ्चुकी इस उक्ति के द्वारा द्रौपदी के केश संयमन, दुर्योधन वध आदि मुखसंधि आदि के बीजों को जो अबतक नाटक में अपनी अपनी जगह बिखरे पड़े थे, एक उद्देश्य की दृष्टि से एकत्रित करता है—

'(आगे बढ़कर खुशी से) महाराज की विजय हो, दुर्योधन के खून से लाल शरीर वाले ये कुमार, भीमसेन हैं, जो पहचान में नहीं आरहे हैं।'

और जैसे रत्नावली में सागरिका, रत्नावली, वसुभूति, बाभ्रव्य आदि के कार्यों (अर्थों) का जो मुखसंधि आदि में इधर-उधर बिखरे पड़े थे वत्सराज के ही कार्य के लिए समाहार होता है। इसकी सूचना वसुभूति की इस उक्ति के द्वारा दी जाती है—'(सागरिका को देख कर, एक ओर) बाभ्रव्य, यह तो राजपुत्री (रत्नावली) जैसी दिखाई पड़ती है।'

अथ तदङ्गानि—

सन्धिर्विरोधो ग्रथनं निर्णयः परिभाषणम् ॥ ४९ ॥

प्रसादानन्दसमयाः कृतिभाषोपगूहनाः।

पूर्वभावोपसंहारौ प्रशस्तिश्च चतुर्दश ॥ ५० ॥

इस निर्वहण संधि के १४ अंग हैं —संधि, विबोध, ग्रथन, निर्णय, परिभाषण, प्रसाद, आनन्द, समय, कृति, भाषा, उपगूहन, पूर्वभाव, उपसंहार तथा प्रशस्ति।

यथोद्देशं लक्षणमाह—

सन्धिर्बीजोपगमनम्—

यथा रत्नावल्याम्—'वसुभूति —बाभ्रव्य ! सुसदृशीयं राजपुत्र्या । बाभ्रव्य —ममाप्येवमेव प्रतिभाति ।' इत्यनेन नायिकाबीजोपगमात्सन्धिरिति ।

यथा च वेणीसंहारे-'भीम -भवति यज्ञवेदिसम्भवे ! स्मरति भवती यत्तन्मयोक्तम्—

चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघात

सञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य ।

स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणि

रुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः ॥'

जब बीज की उद्भावना की जाती है, तो यह संधि नामक निर्वहणाङ्ग होता है। जैसे रत्नावली नाटिका के चतुर्थ अंक में वसुभूति तथा बाभ्रव्य सागरिका को पहचान लेते हैं। यहाँ नायिका रूप बीज की उद्भावना की गई है, अतः संधि है। वसुभूति तथा बाभ्रव्य की यह बातचीत इसकी सूचक है —

'वसुभूति—बाभ्रव्य, यह तो राजकुमारी (रत्नावली) के सदृश है।

बाभ्रव्य—मुझे भी ऐसा ही मालूम पड़ता है।'

और जैसे वेणीसंहार में भीमसेन दुर्योधन के खून से रँगे हाथों द्रौपदी का केश संयमन करते [illegible] उसे अपनी पिछली प्रतिज्ञा याद दिलाता है। यहाँ भीम की निम्न उक्ति के द्वारा मुखसंधि में उपक्षिप्त बीज को फिर से उद्भावित किया गया है, अतः संधि नामक निर्वहणाङ्ग है।

'यज्ञवेदी से उत्पन्न द्रौपदि ! मैंने जो कहा था, वह तुम्हें याद है ?

चञ्चल हाथों से घुमाई गई गदा के प्रहारों से टूटी जाँघों वाले दुर्योधन के घने चिकने खून से रँगे हाथों वाला भीम तुम्हारे बालों को सँवारेगा।'

अथ विबोधः—

—विबोधः कार्यमार्गणम्।

यथा रत्नावल्याम्—'वसुभूतिः—(निरूप्य) देव कुत इयं कन्यका ? राजा—देवी जानाति। वासवदत्ता—अज्जउत्त ! एसा सागरादो पाविअत्ति भणिअ अमच्चजोगन्धरायणेण मम हत्थे णिहिदा अदो ज्जेव सागरिअत्ति सद्दावीअदि। ('आर्यपुत्र ! एषा सागरात्प्राप्तेति भणित्वाऽमात्ययौगन्धरायणेन मम हस्ते निहिता अत एव सागरिकेति शब्द्यते।') राजा—(आत्मगतम्) यौगन्धरायणेन न्यस्ता, कथमसौ ममानिवेद्य करिष्यति।' इत्यनेन रत्नावलीलक्षणकार्यान्वेषणाद्विबोधः।

यथा च वेणीसंहारे—'भीमः—मुञ्चतु मुञ्चतु मामार्यः क्षणमेकम्। युधिष्ठिरः—किमपरमवशिष्टम् ? भीमः—सुमहदवशिष्टम्, संयमयामि तावदनेन दुःशासनशोणितोक्षितेन पाणिना पाञ्चाल्या दुःशासनाकृष्टं केशहस्तम्। युधिष्ठिरः—गच्छतु भवान्, अनुभवतु तपस्विनी वेणीसंहारम्।' इत्यनेन केशसंयमनकार्यस्यान्वेषणाद्विबोध इति।

जहाँ नायक अब तक छिपे हुए अपने कार्य की फिर से खोज करने लगता है, उसे विबोध कहते हैं। जैसे रत्नावली के चतुर्थ अङ्क में वसुभूति व बाभ्रव्य सागरिका को पहचान कर उसके विषय में वत्सराज से पूछते हैं, वहाँ निम्न वार्तालाप के द्वारा रत्नावलीरूप कार्य की फिर से खोज होने के कारण विबोध नामक निर्वहणाङ्ग है:—

'वसुभूति—(देख कर) देव, यह कन्या कहाँ से आई है ?

राजा—देवी वासवदत्ता जानती है।

वासवदत्ता—आर्यपुत्र, यह कन्या समुद्र से पाई गई है, इतना कह कर अमात्य यौगन्धरायण ने मेरे हाथों सौंप दी है, इसीलिये इसका नाम सागरिका दिया गया है (इसे सागरिका कहा जाता है)।

राजा—(स्वगत) यौगन्धरायण ने सौंपी, वह मुझसे निवेदन किये बिना कैसे करेगा (कैसे सौंप सकता है)।'

और जैसे वेणीसंहार में, भीम के द्वारा द्रौपदी के केशसंयमन रूप कार्य का अन्वेषण किया जा रहा है, अतः षष्ठ अंक के निम्न स्थल में विबोध है।

'भीम—आर्य मुझे क्षण भर के लिए छोड़ दें।

युधिष्ठिर—फिर क्या बच गया है ?

भीम—सबसे बड़ी चीज रह गई है, मैं दुःशासन के खून से रँगे हाथ से दुःशासन के द्वारा पकड़ा गया द्रौपदी का जूड़ा तो बाँध दूँ।

युधिष्ठिर—आप जाइये, तपस्विनी द्रौपदी केशसंयमन का अनुभव करे।'

अथ ग्रथनम्—

ग्रथनं तदुपक्षेपो—

यथा रत्नावल्याम्—'यौगन्धरायणः—देव ! क्षम्यतां यदेवमनिवेद्य मयैतत्कृतम्।' इत्यनेन वत्सराजस्य रत्नावलीप्रापककार्योपक्षेपाद्ग्रथनम्।

यथा च वेणीसंहारे—'भीमः—पाञ्चालि ! न खलु मयि जीवति संहर्तव्या दुःशा-

प्रकीर्णानां वत्सराजैककार्यार्थत्वम् । 'वसुभूति —(सागरिकां निर्वर्ण्यापवार्य) बाभ्रव्य सुसदृशीयं राजपुत्र्या ।' इत्यादिना दर्शितमिति निर्वहणसंधि ।

रूपक की कथावस्तु के बीज से युक्त मुख आदि अर्थ जो अब तक इधर उधर बिखरे पड़े हैं, जब एक अर्थ के लिए एक साथ समेटे जाते हैं, या एकत्रित किये जाते हैं, तो वह निर्वहण संधि होती है।

जैसे वेणीसंहार में कञ्चुकी इस उक्ति के द्वारा द्रौपदी के केश संयमन, दुर्योधन वध आदि मुखसंधि आदि के बीजों को, जो अबतक नाटक में अपनी अपनी जगह बिखरे पड़े थे, एक लक्ष्य की दृष्टि से एकत्रित करता है—

'(आगे बढ़कर खुशी से) महाराज की विजय हो, दुर्योधन के खून से लाल शरीर वाले ये कुमार, भीमसेन हैं, जो पहचान में नहीं आरहे हैं।'

और जैसे रत्नावली में सागरिका रत्नावली, वसुभूति, बाभ्रव्य आदि के कार्यों (अर्थों) का जो मुखसंधि आदि में इधर-उधर छिटके पड़े थे वत्सराज के ही कार्य के लिए समाहार होता है। इसकी सूचना वसुभूति की इस उक्ति के द्वारा दी जाती है—'(सागरिका को देख कर, एक ओर) बाभ्रव्य, यह तो राजपुत्री (रत्नावली) जैसी दिखाई पड़ती है।'

अथ तदङ्गानि—

> संधिर्विरोधो ग्रथनं निर्णयः परिभाषणम् ॥ ४९ ॥
> प्रसादानन्दसमयाः कृतिभाषोपगूहनाः ।
> पूर्वभावोपसंहारौ प्रशस्तिश्च चतुर्दश ॥ ५० ॥

इस निर्वहण संधि के १४ अंग हैं —संधि, विरोध, ग्रथन, निर्णय, परिभाषण, प्रसाद, आनन्द, समय, कृति, भाषा, उपगूहन, पूर्वभाव, उपसंहार तथा प्रशस्ति।

यथोद्देशं लक्षणमाह—

> संधिर्बीजोपगमनम्—

यथा रत्नावल्याम्—'वसुभूति —बाभ्रव्य ! सुसदृशीयं राजपुत्र्या । बाभ्रव्य —ममाप्येवमेव प्रतिभाति ।' इत्यनेन नायिकाबीजोपगमात्संधिरिति ।

यथा च वेणीसंहारे-'भीम'-भवति यज्ञवेदिसंभवे ! स्मरति भवती यत्तन्मयोक्तम्—

> चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघात
> संचूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य ।
> स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणि
> रुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः ॥'

जब बीज की उद्भावना की जाती है, तो वह संधि नामक निर्वहणांग होता है। जैसे रत्नावली नाटिका के चतुर्थ अंक में वसुभूति तथा बाभ्रव्य सागरिका को पहचान लेते हैं। यहाँ नायिका रूप बीज की उद्भावना की गई है, अतः संधि है। वसुभूति तथा बाभ्रव्य की यह बातचीत इसकी सूचक है —

'वसुभूति—बाभ्रव्य, यह तो राजकुमारी (रत्नावली) के सदृश है।

बाभ्रव्य—मुझे भी ऐसा ही मालूम पड़ता है।'

और जैसे वेणीसंहार में भीमसेन दुर्योधन के खून से रँगे हाथों द्रौपदी का केश संयमन करते हुए उसे अपनी पिछली प्रतिज्ञा याद दिलाता है। यहाँ भीम की निम्न उक्ति के द्वारा मुखसंधि में उपक्षिप्त बीज को फिर से उद्भावित किया गया है, अतः संधि नामक निर्वहणांग है।

'यज्ञवेदी से उत्पन्न द्रौपदि ! मैंने जो कहा था, वह तुम्हें याद है ?

चपल हाथों से घुमाई गई गदा के प्रहारों से टूटी जाँघों वाले दुर्योधन के घने चिकने खून से रँगे हाथों वाला भीम तुम्हारे बालों को सँवारेगा।'

अथ विबोधः—

—विबोधः कार्यमार्गणम् ।

यथा रत्नावल्याम्—'वसुभूतिः—(निरूप्य) देव कुत इयं कन्यका ? राजा—देवी जानाति । वासवदत्ता—अज्जउत्त ! एसा सागरादो पाविअत्ति भणिअ अमच्चजोगन्धराअणेण मम हत्थे णिहिदा अदो ज्जेव सागरिअत्ति सद्दावीअदि । ('आर्यपुत्र ! एषा सागरात्प्राप्तेति भणित्वाऽमात्ययौगन्धरायणेन मम हस्ते निहिता अत एव सागरिकेति शब्द्यते ।') राजा—(आत्मगतम्) यौगन्धरायणेन न्यस्ता, कथमसौ ममानिवेद्य करिष्यति ।' इत्यनेन रत्नावलीलक्षणकार्यान्वेषणाद्विबोधः ।

यथा च वेणीसंहारे—'भीमः—मुञ्चतु मुञ्चतु मामार्यः क्षणमेकम् । युधिष्ठिरः—किमपरमवशिष्टम् ? भीमः—सुमहदवशिष्टम्, संयमयामि तावदनेन दुःशासनशोणितोक्षितेन पाणिना पाञ्चाल्या दुःशासनावकृष्टं केशहस्तम् । युधिष्ठिरः—गच्छतु भवान्, अनुभवतु तपस्विनी वेणीसंहारम् ।' इत्यनेन केशसंयमनकार्यस्यान्वेषणाद्विबोधः इति ।

जहाँ नायक अब तक छिपे हुए अपने कार्य की फिर से खोज करने लगता है, उसे विबोध कहते हैं । जैसे रत्नावली के चतुर्थ अङ्क में वसुभूति व बाभ्रव्य सागरिका को पहचान कर उसके विषय में उदयन से पूछते हैं, यहाँ निम्न वार्तालाप के द्वारा रत्नावलीरूप कार्य की फिर से खोज होने के कारण विबोध नामक निर्वहणाङ्ग है :—

'वसुभूति—(देख कर) देव, यह कन्या कहाँ से आई है ?

राजा—देवी वासवदत्ता जानती है ।

वासवदत्ता—आर्यपुत्र, यह कन्या समुद्र से पाई गई है, इतना कह कर अमात्य यौगन्धरायण ने मेरे हाथों सौंप दी है, इसीलिये इसका नाम सागरिका दिया गया है (इसे सागरिका कहा जाता है) ।

राजा—(स्वगत) यौगन्धरायण ने सौंपी, वह मुझसे निवेदन किये बिना कैसे करेगा (कैसे सौंप सकता है) ।'

और जैसे वेणीसंहार में, भीम के द्वारा द्रौपदी के केशसंयमन रूप कार्य का अन्वेषण किया जा रहा है, अतः षष्ठ अंक के निम्न स्थल में विबोध है ।

'भीम—आर्य मुझे क्षण भर के लिए छोड़ दें ।

युधिष्ठिर—फिर क्या बच गया है ?

भीम—सबसे बड़ी चीज रह गई है, मैं दुःशासन के खून से रँगे हाथ से दुःशासन के द्वारा पकड़ा गया द्रौपदी का जूड़ा तो बाँध दूँ ।

युधिष्ठिर—आप जाइये, तपस्विनी द्रौपदी केशसंयमन का अनुभव करे ।'

अथ ग्रथनम्—

ग्रथनं तदुपक्षेपो—

यथा रत्नावल्याम्—'यौगन्धरायणः—देव ! क्षम्यतां यद्देवस्यानिवेद्य मयैतत्कृतम् ।' इत्यनेन वत्सराजस्य रत्नावलीप्रापणकार्योपक्षेपाद्ग्रथनम् ।

यथा च वेणीसंहारे—'भीमः—पाञ्चालि ! न खलु मयि जीवति संहर्तव्या दुःशा-

प्रकीर्णानां वत्सराजैककार्यार्थत्वम्। 'वसुभूति'—(सागरिकां निर्वर्ण्यापवार्य) बाभ्रव्य सुसदृशीयं राजपुत्र्या।' इत्यादिना दर्शितमिति निर्वहणसंधिः।

रूपक की कथावस्तु के बीज से युक्त मुख आदि अर्थ जो अब तक इधर, उधर बिखरे पड़े हैं, जब एक अर्थ के लिए एक साथ समेटे जाते हैं, या एकत्रित किये जाते हैं, तो वह निर्वहण सन्धि होती है।

जैसे वेणीसंहार में कञ्चुकी इस उक्ति के द्वारा द्रौपदी के केश संयमन, दुर्योधन वध आदि मुखसंधि आदि के बीजों को, जो अबतक नाटक में अपनी अपनी जगह बिखरे पड़े थे, एक लक्ष्य की दृष्टि से एकत्रित करता है—

'(आगे बढ़कर खुशी से) महाराज की विजय हो, सुयोधन के खून से लाल शरीर वाले ये कुमार, भीमसेन हैं, जो पहचान में नहीं आरहे हैं।'

और जैसे रत्नावली में सागरिका, रत्नावली, वसुभूति, बाभ्रव्य आदि के कार्यों (अर्थों) का जो मुखसन्धि आदि में इधर-उधर छिटके पड़े थे वत्सराज के ही कार्य के लिए समाहार होता है। इसकी सूचना वसुभूति की इस उक्ति के द्वारा दी जाती है—'(सागरिका को देख कर, एक ओर) बाभ्रव्य, यह तो राजपुत्री (रत्नावली) जैसी दिखाई पड़ती है।'

अथ तदङ्गानि—

संधिर्विरोधो ग्रथनं निर्णयः परिभाषणम् ॥ ४९ ॥
प्रसादानन्दसमयाः कृतिभाषोपगूहनाः।
पूर्वभावोपसंहारौ प्रशस्तिश्च चतुर्दश ॥ ५० ॥

इस निर्वहण संधि के १४ अंग हैं:—संधि, विरोध, ग्रथन, निर्णय, परिभाषण, प्रसाद, आनन्द, समय, कृति, भाषा, उपगूहन, पूर्वभाव, उपसंहार तथा प्रशस्ति।

यथोद्देशं लक्षणमाह—

संधिर्बीजोपगमनम्—

यथा रत्नावल्याम्—'वसुभूति'—बाभ्रव्य! सुसदृशीयं राजपुत्र्या। बाभ्रव्यः—ममाप्येवमेव प्रतिभाति।' इत्यनेन नायिकाबीजोपगमात्संधिरिति।

यथा च वेणीसंहारे-'भीम—भवति यज्ञवेदिसंभवे! स्मरति भवती यत्तन्मयोक्तम्—

चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघात-
संचूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य।
स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणि-
रुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः ॥'

जब बीज की उद्भावना की जाती है, तो वह संधि नामक निर्वहणाङ्ग होता है। जैसे रत्नावली नाटिका के चतुर्थ अंक में वसुभूति तथा बाभ्रव्य सागरिका को पहचान लेते हैं। यहाँ नायिका रूप बीज की उद्भावना की गई है, अतः संधि है। वसुभूति तथा बाभ्रव्य की यह बातचीत इसकी सूचक है:—

'वसुभूति—बाभ्रव्य, यह तो राजकुमारी (रत्नावली) के सदृश है।
बाभ्रव्य—मुझे भी ऐसा ही मालूम पड़ता है।'

और जैसे वेणीसंहार में भीमसेन दुर्योधन के खून से रंगे हाथों द्रौपदी का केश संयमन करते हुए उसे अपनी पिछली प्रतिज्ञा याद दिलाता है। यहाँ भीम की निम्न उक्ति के द्वारा मुखसन्धि में उपक्षिप्त बीज को फिर से उद्भावित किया गया है, अतः सन्धि नामक निर्वहणाङ्ग है।

'यज्ञवेदी से उत्पन्न द्रौपदि ! मैंने जो कहा था, वह तुम्हें याद है ?

चञ्चल हाथों से घुमाई गई गदा के प्रहारों से टूटी जाँघों वाले दुर्योधन के घने चिकने खून से रंगे हाथों वाला भीम तुम्हारे बालों को सँवारेगा ।'

अथ विबोधः—

—विबोधः कार्यमार्गणम् ।

यथा रत्नावल्याम्—'वसुभूतिः—(निरूप्य) देव कुत इयं कन्यका ? राजा—देवी जानाति । वासवदत्ता—अज्जउत्त ! एसा सामरादो पाविदत्ति भणिअ अमच्चजोगन्धराअणेण मम हत्थे णिहिदा अदो ज्जेव सामरिअत्ति सद्दावीअदि । ('आर्यपुत्र ! एषा सागरात्प्राप्तेति भणित्वाऽमात्ययौगन्धरायणेन मम हस्ते निहिता अत एव सागरिकेति शब्द्यते ।') राजा—(आत्मगतम्) यौगन्धरायणेन न्यस्ता, कथमसौ ममानिवेद्य करिष्यति ।' इत्यनेन रत्नावलीलक्षणकार्यान्वेषणाद्विबोधः ।

यथा च वेणीसंहारे—'भीमः—मुञ्चतु मुञ्चतु मामार्यः क्षणमेकम् । युधिष्ठिरः—किमपरमवशिष्टम् ? भीमः—सुमहदवशिष्टम्, संयमयामि तावदनेन दुःशासनशोणितोक्षितेन पाणिना पाञ्चाल्या दुःशासनावकृष्टं केशहस्तम् । युधिष्ठिरः—गच्छतु भवान्, अनुभवतु तपस्विनी वेणीसंहारम् ।' इत्यनेन केशसंयमनकार्यस्यान्वेषणाद्विबोध इति ।

जहाँ नायक अब तक छिपे हुए अपने कार्य की फिर से खोज करने लगता है, उसे विबोध कहते हैं । जैसे रत्नावली के चतुर्थ अङ्क में वसुभूति व बाभ्रव्य सागरिका को पहचान कर उसके विषय में वत्सराज से पूछते हैं, वहाँ निम्न वार्तालाप के द्वारा रत्नावलीरूप कार्य की फिर से खोज होने के कारण विबोध नामक निर्वहणाङ्ग है —

'वसुभूति—(देख कर) देव, यह कन्या कहाँ से आई है ?

राजा—देवी वासवदत्ता जानती है ।

वासवदत्ता—आर्यपुत्र, यह कन्या समुद्र से पाई गई है, इतना कह कर अमात्य यौगन्धरायण ने मेरे हाथों सौंप दी है, इसीलिये इसका नाम सागरिका दिया गया है (इसे सागरिका कहा जाता है)।

राजा—(स्वगत) यौगन्धरायण ने सौंपी, वह मुझसे निवेदन किये बिना कैसे करेगा (कैसे सौंप सकता है) ।'

और जैसे वेणीसंहार में, भीम के द्वारा द्रौपदी के केशसंयमन रूप कार्य का अन्वेषण किया जा रहा है, अतः षष्ठ अङ्क के निम्न स्थल में विबोध है ।

'भीम—आर्य मुझे क्षण भर के लिए छोड़ दें ।

युधिष्ठिर—फिर क्या बच गया है ?

भीम—सबसे बड़ी चीज रह गई है, मैं दुःशासन के खून से रँगे हाथ से दुःशासन के द्वारा पकड़ा गया द्रौपदी का जूड़ा तो बाँध दूँ ।

युधिष्ठिर—आप जाइये, तपस्विनी द्रौपदी केशसंयमन का अनुभव करे ।'

अथ ग्रथनम्—

ग्रथनं तदुपक्षेपो—

यथा रत्नावल्याम्—'यौगन्धरायणः—देव ! क्षम्यतां यद्देवस्यानिवेद्य मयैतत्कृतम् ।' इत्यनेन वत्सराजस्य रत्नावलीप्रापणकार्योपक्षेपाद्ग्रथनम् ।

यथा च वेणीसंहारे—'भीमः—पाञ्चालि ! न खलु मयि जीवति संहर्तव्या दुःशा-

प्रकीर्णानां वत्सराजैककार्यार्थत्वम् । 'वसुभूति —(सागरिकां निर्वर्ण्यापवार्य) बाभ्रव्य सुसदृशीयं राजपुत्र्या ।' इत्यादिना दर्शितमिति निर्वहणसंधि ।

रूपक की कथावस्तु के बीज से युक्त मुख आदि अर्थ जो अब तक इधर उधर बिखरे पड़े हैं, जब एक अर्थ के लिए एक साथ समेटे जाते हैं, या एकत्रित किये जाते हैं, तो वह निर्वहण संधि होती है।

जैसे वेणीसंहार में कञ्चुकी इस उक्ति के द्वारा द्रौपदी के केश संयमन, दुर्योधन वध आदि मुखसंधि आदि के बीजों को, जो अबतक नाटक में अपनी अपनी जगह बिखरे पड़े थे, एक दृश्य की दृष्टि से एकत्रित करता है—

'(आगे बढ़कर खुशी से) महाराज की विजय हो, दुर्योधन के खून से लाल शरीर वाले ये कुमार, भीमसेन हैं, जो पहचान में नहीं आरहे हैं।'

और जैसे रत्नावली में सागरिका, रत्नावली, वसुभूति, बाभ्रव्य आदि की कार्यों (अर्थों) का जो मुखसंधि आदि में इधर-उधर छिटके पड़े थे वत्सराज के ही कार्य के लिए समाहार होता है। इसकी सूचना वसुभूति की इस उक्ति के द्वारा दी जाती है—'(सागरिका को देख कर, एक ओर) बाभ्रव्य, यह तो राजपुत्री (रत्नावली) जैसी दिखाई पड़ती है।'

अथ तदङ्गानि—

संधिर्विरोधो ग्रथनं निर्णयः परिभाषणम् ॥ ४६ ॥
प्रसादानन्दसमयाः कृतिभाषोपगूहनाः।
पूर्वभावोपसंहारौ प्रशस्तिश्च चतुर्दश ॥ ५० ॥

इस निर्वहण संधि के १४ अंग हैं —संधि, विरोध, ग्रथन, निर्णय, परिभाषण, प्रसाद, आनन्द, समय, कृति, भाषा, उपगूहन, पूर्वभाव, उपसंहार तथा प्रशस्ति।

यथोद्देशं लक्षणमाह—

संधिर्बीजोपगमनम्—

यथा रत्नावल्याम्—'वसुभूति—बाभ्रव्य ! सुसदृशीयं राजपुत्र्या । बाभ्रव्य —ममाप्येवमेव प्रतिभाति ।' इत्यनेन नायिकाबीजोपगमात्संधिरिति ।

यथा च वेणीसंहारे-'भीम —भवति यज्ञवेदिसम्भवे ! स्मरति भवती यत्तन्मयोक्तम्—

चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघात
संचूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य ।
स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणि
रुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः ॥'

जब बीज की उद्भावना की जाती है, तो वह संधि नामक निर्वहणांग होता है। जैसे रत्नावली नाटिका के चतुर्थ अंक में वसुभूति तथा बाभ्रव्य सागरिका को पहचान लेते हैं। यहाँ नायिका रूप बीज की उद्भावना की गई है, अत संधि है। वसुभूति तथा बाभ्रव्य की यह बातचीत इसको व्यक्त करती है —

'वसुभूति—बाभ्रव्य, यह तो राजकुमारी (रत्नावली) के सदृश है।

बाभ्रव्य—मुझे भी ऐसा ही मालूम पड़ता है।'

और जैसे वेणीसंहार में भीमसेन दुर्योधन के खून से रँगे हाथों द्रौपदी का केश संयमन करते हुए उसे अपनी पिछली प्रतिज्ञा याद दिलाता है। यहाँ भीम की निम्न उक्ति के द्वारा मुखसंधि में उपक्षिप्त बीज को फिर से उद्भावित किया गया है, अत संधि नामक निर्वहणाङ्ग है।

'भीम—देव अजातशत्रु, अब भी नीच दुर्योधन कहाँ है, मैंने उस दुष्ट दुर्योधन के शरीर को जमीन पर फेंक दिया और अपने शरीर पर चन्दन के समान यह खून लगा लिया। चारों समुद्रों के जल की सीमा वाली पृथ्वी के साथ राजलक्ष्मी को आर्य में प्रतिष्ठापित कर दिया। इस युद्ध की आग में जोकर, मित्र, योद्धा, यहाँ तक कि सारा कुरुकुल जल गया है। हे राजन्, अब तो दुर्योधन का केवल नाम भर बचा है, जिसे आप बोल रहे हैं।'

अथ परिभाषणम्—

परिभाषा मिथो जल्पः—

यथा रत्नावल्याम्—'रत्नावली—(आत्मगतम्) कआवराहा देवीए ण सक्कुणोमि मुहं दंसिदुम्। (कृतापराधा देव्यै न शक्नोमि मुखं दर्शयितुम्।)' वासवदत्ता—(सास्रं पुनर्बाहू प्रसार्य) एहि अयि णिट्ठुरे! इदाणीं पि बन्धुसिणेहं दंसेहि। (अपवार्य) अज्जउत्त! लज्जामि क्खु अहं इमिणा णिसंसत्तणेण ता लहुं अवणेहि से बन्धणम्। ('एहि अयि निष्ठुरे! इदानीमपि बन्धुस्नेहं दर्शय। आर्यपुत्र! लज्जे खल्वहमनेन नृशंसत्वेन तल्लघ्वपनयास्या बन्धनम्।') राजा—यथाह देवी। (बन्धनमपनयति) वासवदत्ता—(वसुभूतिं निर्दिश्य) अज्ज! अमच्चजोगन्धरायणेण दुज्जणीकदम्हि जेण जाणन्तेण वि णाचिक्खिदम्।' ('आर्य! अमात्ययौगन्धरायणेन दुर्जनीकृतास्मि येन जानतापि नाख्यातम्।') इत्यनेनान्योन्यवचनात्परिभाषणम्।

यथा च वेणीसंहारे—'भीम'—कृष्टा येनासि राज्ञां सदसि नृपशुना, तेन दुःशासनेन।' इत्यादिना 'क्वासौ भानुमती योपहसति पाण्डवदारान्।' इत्यन्तेन भाषणात्परिभाषणम्।

जहाँ पात्रों में परस्पर जल्प पाया जाय, उसे परिभाषा कहते हैं। (यहाँ यह परस्पर जल्प-भाषण की रामनीत-कार्य की सिद्धि के विषय में पाई जायगी) जैसे रत्नावली में इस स्थल पर अन्योन्य वचन के कारण परिभाषण नामक निर्वहणांग है।

'रत्नावली—(स्वगत) मैंने देवी वासवदत्ता का अपराध किया है, इसलिए उसे मुँह नहीं दिखा सकती।'

वासवदत्ता (आँसू भरकर फिर से हाथ फैलाकर) इधर आ, ओ निठुर, अब भी बन्धुस्नेह को प्रकट कर दे। (एक ओर) आर्यपुत्र, मैं इस प्रकार के कठोर व्यवहार के कारण लज्जित हूँ, इसलिए जरा इसका बन्धन तो खोल दो।

राजा—जैसा देवी कहे। (बंधन खोलता है)।

वासवदत्ता (वसुभूति की ओर) आर्य, अमात्य यौगन्धरायण ने मुझे बुरा बना दिया है, जिन्होंने जानते हुए भी इस बात को नहीं कहा।

और जैसे वेणीसंहार में भीम स्वयं ही बार बार अपने कार्य के विषय में जल्पन करता है, अतः भीम की निम्न उक्ति में भी परिभाषा नामक निर्वहणांग है।

'भीम—जिस नीच मनुष्य दुःशासन ने तुम्हें राजाओं की सभा में घसीटा। × × × × वह भानुमती कहाँ है, जो पाण्डवों की पत्नी की हँसी उड़ाती है।'

अथ प्रसादः—

—प्रसादः पर्युपासनम्।

यथा रत्नावल्याम्—'देव! क्षम्यताम्।' इत्यादि दर्शितम्।

सनविलुलिता वेणिरात्मपाणिना। तिष्ठतु तिष्ठतु। स्वयमेवाहं संहरामि।' इत्यनेन द्रौपदीकेशसंयमनकार्यस्योपक्षेपाद्ग्रथनम्।

उस कार्य का उपसंहार (उपक्षेप) करना ग्रथन कहलाता है। 'ग्रथन' के अन्तर्गत नाटककार अपने समस्त कार्य को एक स्थान पर सम्पादन कर देता है। जैसे रत्नावली में यौगन्धरायण की निम्न उक्ति वत्सराज के कार्य रत्नावली-लाभ का उपसंहार कर देती है:— 'स्वामिन्, मैंने यह कार्य आपसे निवेदन किये बिना ही किया, अतः क्षमा करें।'

और जैसे वेणीसंहार में, निम्न उक्ति के द्वारा भीम द्रौपदी के वेणीसंहार रूप कार्य का समाहार करता है, अतः यहाँ भी ग्रथन नामक निर्वहणाङ्ग है।

'पाञ्चालि, मेरे होते हुए (जीवित रहते हुए) दुःशासन के द्वारा बिखराई गई वेणी का अपने हाथ से सँवारना ठीक नहीं। ठहरो, ठहरो। मैं खुद इसे सँवारता हूँ।'

अथ निर्णय—

—ऽनुभूताख्या तु निर्णयः ॥ ५१ ॥

यथा रत्नावल्याम्—'यौगन्धरायणः—(कृताञ्जलिः) देव श्रूयताम् इयं सिंहलेश्वरदुहिता सिद्धादेशेनोपदिष्टा—योऽस्याः पाणिं ग्रहीष्यति स सार्वभौमो राजा भविष्यति, तत्प्रत्ययादस्माभिः स्वाम्यर्थे बहुशः प्रार्थ्यमानापि सिंहलेश्वरेण देव्या वासवदत्तायाश्चित्तखेदं परिहरता यदा न दत्ता तदा लावणके देवी दग्धेति प्रसिद्धिमुत्पाद्य तदन्तिकं बाभ्रव्यः प्रहितः।' इत्यनेन यौगन्धरायणः स्वानुभूतमर्थं ख्यापितवानिति निर्णयः।

यथा च वेणीसंहारे—'भीमः—देव देव अजातशत्रो! क्वाद्यापि दुर्योधनहतकः मया हि तस्य दुरात्मनः—

भूमौ क्षिप्त्वा शरीरं निहितमिदमसृक्चन्दनाभं निजाङ्गे
लक्ष्मीरार्ये निषिक्ता चतुरुदधिपयःसीमया सार्धमुर्व्या।
भृत्या मित्राणि योधाः कुरुकुलमखिलं दग्धमेतद्रणाग्नौ
नामैकं यद्ब्रवीषि क्षितिप तदधुना धार्तराष्ट्रस्य शेषम् ॥'

इत्यनेन स्वानुभूतार्थकथनान्निर्णय इति।

जब नायकादि अपने द्वारा विचारित या संपादित (अनुभूत) कार्य के विषय में वर्णन करते हैं, तो यह निर्णय कहलाता है। जैसे रत्नावली नाटिका में यौगन्धरायण निम्न उक्ति के द्वारा कार्य से संबद्ध अपने अनुभवों को, या कार्यसंबद्ध अपने कार्यों को राजा से वर्णित करता है, अतः यहाँ निर्णय है।

'यौगन्धरायण—(हाथ जोड़कर) देव, सुनिये सिद्ध व्यक्ति ने इस सिंहलेश्वर पुत्री रत्नावली के बारे में यह कहा था कि जो कोई इसका पाणिग्रहण करेगा, वह सार्वभौम (चक्रवर्ती) राजा बनेगा। उस सिद्धादेश के विश्वास के कारण आपके लिए हमने कई बार उसकी माँग सिंहलेश्वर से की, लेकिन सिंहलेश्वर ने वह इसलिए न दी कि ऐसा करने से वासवदत्ता के चित्त को दुःख होगा। तब हमने झूठे ही यह खबर फैला दी कि देवी वासवदत्ता लावाणक (वन) में जल गई और फिर बाभ्रव्य को सिंहलेश्वर के समीप (रत्नावली को माँगने के प्रस्ताव के साथ) भेजा।'

और जैसे वेणीसंहार में भीम की निम्न उक्ति में उसके द्वारा अनुभूत अर्थ का कथन हुआ है, अतः निर्णय है:—

'भीम—देव अजातशत्रु, अब भी नीच दुर्योधन कहाँ है. मैंने उस दुष्ट दुर्योधन के शरीर को जमीन पर फेंक दिया और अपने शरीर पर चन्दन के समान यह खून लगा लिया। चारों समुद्रों के जल की सीमा वाली पृथ्वी के साथ राज्यलक्ष्मी को आर्य में प्रतिष्ठापित कर दिया। इस युद्ध की आग में नौकर, मित्र, योद्धा, यहाँ तक कि सारा कुरुकुल जल गया है। हे राजन्, अब तो दुर्योधन का केवल नाम भर बचा है, जिसे आप बोल रहे हैं।'

अथ परिभाषणम्—

परिभाषा मिथो जल्पः—

यथा रत्नावल्याम्—'रत्नावली—(आत्मगतम्) कृतापराद्धा देवीए ण सक्कुणोमि मुहं दंसिदुम्। (कृतापराधा देव्यै न शक्नोमि मुखं दर्शयितुम्)' वासवदत्ता—(सास्रं पुनर्बाहू प्रसार्य) एहि अयि णिट्ठुरे ! इदाणीं पि बन्धुसिणेहं दंसेहि। (अपवार्य) अज्जउत्त ! लज्जामि क्खु अहं इमिणा णिसंसत्तणेण ता लहुं अवणेहि से बन्धणम्। ('एहि अयि निष्ठुरे ! इदानीमपि बन्धुस्नेहं दर्शय। आर्यपुत्र ! लज्जे खल्वहमनेन नृशंसत्वेन तदस्या अपनयास्या बन्धनम्।') राजा—यथाह देवी। (बन्धनमपनयति) वासवदत्ता—(वसुभूतिं निर्दिश्य) अज्ज ! अमच्चजोगन्धरायणेण दुज्जणीकदम्हि जेण जाणन्तेण वि ण आचक्खिदम्। ('आर्य ! अमात्ययौगन्धरायणेन दुर्जनीकृतास्मि येन जानतापि नाचक्षितम्।') इत्यनेनान्योन्यवचनात्परिभाषणम्।

यथा च वेणीसंहारे—'भीम'—कृष्टा येनासि राज्ञां सदसि नृपशुना, तेन दुःशासनेन।' इत्यादिना 'कास्ते भानुमती योपहसति पाण्डवदारान्।' इत्यन्तेन भाषणात्परिभाषणम्।

जहाँ पात्रों में परस्पर जल्प पाया जाय, उसे परिभाषा कहते हैं। (यहाँ यह परस्पर जल्प-आपस की बातचीत-कार्य की सिद्धि के विषय में पाई जायगी) जैसे रत्नावली में इस स्थल पर अन्योन्य वचन के कारण परिभाषण नामक निर्वहणांग है।

'रत्नावली—(स्वगत) मैंने देवी वासवदत्ता का अपराध किया है, इसलिए उसे मुँह नहीं दिखा सकती।'

वासवदत्ता (आँसू भरकर फिर से हाथ फैलाकर) इधर आ, ओ निठुर, अब तो बन्धुस्नेह को प्रकट कर दे। (एक ओर) आर्यपुत्र, मैं इस प्रकार के कठोर व्यवहार के कारण लज्जित हूँ, इसलिए जरा इसका बन्धन तो खोल दो।

राजा—जैसा देवी कहें। (बन्धन खोलता है)।

वासवदत्ता (वसुभूति की ओर) आर्य, अमात्य यौगन्धरायण ने मुझे बुरा बना दिया है, जिन्होंने जानते हुए भी इस बात को नहीं कहा।

और जैसे वेणीसंहार में भीम स्वयं ही बार बार अपने कार्य के विषय में कथन करता है, अतः भीम की निम्न उक्ति में भी परिभाषा नामक निर्वहणांग है।

'भीम—जिस नीच मनुष्य दुःशासन ने तुम्हें राजाओं की सभा में घसीटा। × × × × वह भानुमती कहाँ है, जो पाण्डवों की पत्नी की हँसी उड़ाती है।'

स द्विविधः, शुद्धः सङ्कीर्णश्चेत्याह—

एकानेककृतः शुद्धः सङ्कीर्णो नीचमध्यमैः ।

एकेन द्वाभ्यां वा मध्यमपात्राभ्यां शुद्धो भवति, मध्यमाधमपात्रैर्युगपत्प्रयोजितः सङ्कीर्ण इति ।

एक अथवा अधिक (दो) मध्यम श्रेणी के पात्रों वाला विष्कम्भक शुद्ध कहलाता है, मध्यम श्रेणी के तथा अधम श्रेणी के पात्रों के द्वारा प्रयुक्त विष्कम्भक सङ्कीर्ण (या मिश्र) कहलाता है ।

(ध्यान रखिये विष्कम्भक में मध्यम श्रेणी के पात्रों का होना जरूरी है । मिश्र (सङ्कीर्ण) विष्कम्भक में कम से कम एक मध्यम श्रेणी के पात्र का होना इसे विष्कम्भक बनाता है यदि दोनों ही पात्र अधम होंगे, तो वह विष्कम्भक न रहेगा, प्रवेशक नामक अर्थोपक्षेपक हो जायगा ।)

(यद्यपि ५१ वीं कारिका में प्रवेशक की गणना अन्त में है, किन्तु विष्कम्भक से भेद बताने के कारण तथा दूसरे महत्त्वपूर्ण अर्थोपक्षेपक होने के कारण, इसका वर्णन चूलिकादि से पूर्व किया जा रहा है ।)

अथ प्रवेशक—

तद्वदेवानुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः ॥ ६० ॥
प्रवेशोऽङ्कद्वयस्यान्तः शेषार्थस्योपसूचकः ।

तद्वदेवेति भूतभविष्यदर्थज्ञापकत्वमतिदिश्यते, अनुदात्तोक्त्या नीचेन नीचैर्वा पात्रैः प्रयोजित इति विष्कम्भलक्षणापवादः, अङ्कद्वयस्यान्त इति प्रथमाङ्के प्रतिषेध इति ।

प्रवेशक भी उसी तरह (विष्कम्भक की तरह) अतीत और भावी कथांशों का सूचक है । इसमें प्रयुक्त उक्ति उदात्त नहीं होती, (इसकी भाषा सदा प्राकृत होगी, तथा यह प्राकृत भी शिष्ट (शौरसेनी) प्राकृत न होकर मागधी, शकारी आदि अशिष्ट प्राकृत होगी); तथा इसमें नीच पात्रों का प्रयोग होता है । प्रवेशक की योजना सदा दो अङ्कों के बीच ही की जाती है, तथा यह भी शेष अर्थों (कथांशों) का सूचक है ।

(यहाँ विष्कम्भक तथा प्रवेशक का भेद बता देना आवश्यक होगा, अतः इसे नीचे बताया जा रहा है:—

तुलना व भेद

विष्कंभक	प्रवेशक
१. यह अतीत व भावी कथांशों का सूचक है।	१. यह भी अतीत व भावी कथांशों का सूचक है।
२. इसमें एक मध्यम पात्र या दो मध्यम पात्रों का प्रयोग होता है।	२. इसके सारे पात्र (एक, या, दो,) नीच कोटि के होते हैं।
३ इसकी भाषा संस्कृत व शौरसेनी प्राकृत होगी।	३. इसकी भाषा संस्कृत कभी नहीं होगी। प्राकृत भी निम्न कोटि की होगी यथा मागधी, शकारी, आभीरी, चाण्डाली, पैशाची आदि।

विष्कम्भक	प्रवेशिका
४. इसका प्रयोग नाटक (रूपक) के प्रथम अंक के पहले भी हो सकता है (जैसे मालतीमाधव नाटक में वृद्धा तापसी की उक्ति वाला विष्कंभक), दो अंकों के बीच में भी (जैसे शाकुन्तल के चतुर्थ अंक के पहले) ।	४. इसका प्रयोग सदा दो अंकों के बीच में होगा। रूपक के आदि में इसका प्रयोग कभी भी नहीं होगा। इसका प्रथम अंक में कभी भी प्रयोग नहीं होगा। (अंकद्वयस्यान्त इति प्रथमाङ्के प्रतिषेध इति)।
५. उदाहरण—जैसे शाकुन्तल का चतुर्थ अङ्क का विष्कम्भक।	५. उदाहरण—जैसे शाकुन्तल के षष्ठ अंक के पहले का प्रवेशक।

अथ चूलिका—

अन्तर्जवनिकासंस्थैश्चूलिकार्थस्य सूचना ॥ ६१ ॥

नेपथ्यपात्रेणार्थसूचनं चूलिका, यथोत्तररामचरिते द्वितीयाङ्कस्यादौ—'(नेपथ्ये) स्वागतं तपोधनायाः (ततः प्रविशति तपोधना)' इति नेपथ्यपात्रेण वासन्तिकयाऽऽत्रेयीसूचनाच्चूलिका।

यथा वा वीरचरिते चतुर्थाङ्कस्यादौ—'(नेपथ्ये) भो भो वैमानिकाः! प्रवर्त्यन्तां प्रवर्त्यन्तां मङ्गलानि—

कृशाश्वान्तेवासी जयति भगवान्कौशिकमुनिः
सहस्रांशोर्वंशे जगति विजयि क्षत्रमधुना।
विनेता क्षत्रारेर्जगदभयदानव्रतधरः
शरण्यो लोकानां दिनकरकुलेन्दुर्विजयते ॥'

इत्यत्र नेपथ्यपात्रैर्देवैः 'रामेण परशुरामो जितः' इति सूचनाच्चूलिका।

जहाँ अर्थ (कथावस्तु) की सूचना यवनिका के उस ओर अन्दर बैठे पात्रों के द्वारा दी जाय, वहाँ चूलिका नामक अर्थोपक्षेपक होता है।

नेपथ्य पात्र के द्वारा अर्थ की सूचना चूलिका कहलाती है, जैसे उत्तररामचरित के दूसरे अंक के शुरू में आत्रेयी के आगमन पर वनदेवी नेपथ्य से उसका स्वागत करती है—'(नेपथ्य में) तपोधना भगवती का स्वागत हो। (तब तपोधना मंच पर प्रवेश करती है)।' इस प्रकार नेपथ्यपात्र वासन्ती के द्वारा आत्रेयी के आगमन की सूचना दी गई है, अतः यह चूलिका है।

अथवा जैसे भवभूति के दूसरे नाटक वीरचरित (महावीरचरित) के चतुर्थ अंक के आरम्भ में नेपथ्यस्थित देवता इस बात की सूचना देते हैं कि दाशरथि राम ने परशुराम को जीत लिया है।

'(नेपथ्य से) हे देवताओं, मंगल कार्यों का आरम्भ करो, आरम्भ करो।

कृशाश्व के शिष्य भगवान् ऋषि विश्वामित्र की जय हो। सूर्य के वंश में अब भी विजयी क्षत्रिय (राम) विद्यमान हैं, उसकी जय हो। क्षत्रियों के शत्रु, परशुराम को जीतने वाले (ठीक करने वाले) समस्त संसार को अभयदान देने का जिन्होंने व्रत धारण कर लिया है, [illegible] लोगों के शरण्य, सूर्यवंश के चन्द्रमा (भगवान् रामचन्द्र) की जय हो।[1]'

---

१. यद्यपि मूल पाठ में पद्य में 'जयति' तथा 'विजयते' पदों का वर्तमान लट् का प्रयोग है, किन्तु हिन्दी अनुवाद में सुन्दरता लाने के लिए हमने यहाँ 'जय हो' यह अनुवाद किया है, वैसे शाब्दिक अनुवाद 'जय है' होगा।

अथाङ्कास्यम्—

अङ्कान्तपात्रैरङ्कास्यं छिन्नाङ्कस्यार्थसूचनात् ।

अङ्कान्त एव पात्रमङ्कान्तपात्रं तेन विश्लिष्टस्योत्तराङ्कमुखस्य सूचनं तद्वशेनोत्तराङ्कावतारोऽङ्कास्यमिति, यथा वीरचरिते द्वितीयाङ्कावतारोऽङ्कास्यमिति, यथा वीरचरिते द्वितीयाङ्कान्ते—'(प्रविश्य) सुमन्त्रः—भगवन्तौ वसिष्ठविश्वामित्रौ भवतः सभार्गवानाह्वयतः। इतरे—क्व भगवन्तौ ? सुमन्त्रः—महाराजदशरथस्यान्तिके। इतरे—तदनुरोधात्तत्रैव गच्छामः।' इत्यङ्कसमाप्तौ '(ततः प्रविशन्त्युपविष्टा वसिष्ठविश्वामित्रपरशुरामाः)' इत्यत्र पूर्वाङ्कान्त एव प्रविष्टेन सुमन्त्रपात्रेण शतानन्दजनककथार्थविच्छेदे उत्तराङ्कमुखसूचनादङ्कास्यमिति।

जहाँ एक अंक की समाप्ति के समय उस अंक में प्रयुक्त पात्रों के द्वारा किसी छूटे हुए अर्थ की सूचना दी जाय, वहाँ अङ्कास्य कहलाता है।

अंक के अन्त के पात्र अंकान्तपात्र कहलाते हैं, वहाँ इस प्रकार के पात्र के द्वारा विश्लिष्ट कथावस्तु की, जिसका वर्णन अगले अंक में आएगा सूचना दी जाय वहाँ उत्तरांकावतार अंकास्य कहलाता है। जैसे वीरचरित के दूसरे अंक के अन्त में सुमन्त्र (पात्र) आकर शतानन्द तथा जनक की कथा का विच्छेद कर, भावी अंक के आरम्भ की सूचना देता है, अतः यहाँ अंकास्य है। जैसे—

'(प्रवेश कर) सुमन्त्र—पूज्य वसिष्ठ तथा विश्वामित्र, आपको भार्गव (शतानन्द) के साथ बुला रहे हैं।

दूसरे—वे कहाँ हैं ?

सुमन्त्र—महाराज दशरथ के पास।

दूसरे—उनके अनुरोध से वहीं चलते हैं।' (अंक का अंत)

(इसके बाद अगला अंक—जब वसिष्ठ विश्वामित्र तथा परशुराम बैठे हुए प्रवेश करते हैं—इस प्रकार आरम्भ होता है।)

अथाङ्कावतारः—

अङ्कावतारस्त्वङ्कान्ते पातोऽङ्कस्याविभागतः ॥ ६२ ॥
एभिः संसूचयेत्सूच्यं दृश्यमङ्कैः प्रदर्शयेत् ।

यत्र प्रविष्टपात्रेण सूचितमेव पूर्वाङ्काविच्छिन्नार्थतयैवाङ्कान्तरमापतति प्रवेशकविष्कम्भकादिशून्यं सोऽङ्कावतारः, यथा मालविकाग्निमित्रे प्रथमाङ्कान्ते विदूषकः—'तेण हि दुवेवि देवीए पेक्खागेहं गदुअ सङ्गीदोवअरणं करिअ तत्थभवदो दूदं विसज्जेध अथवा मुदङ्गसद्दो ज्जेव णं उत्थावइस्सदि।' ('तेन हि द्वावपि देव्याः प्रेक्षागेहं गत्वा सङ्गीतोपकरणं कृत्वा तत्रभवतो दूतं विसर्जयतम्, अथवा मृदङ्गशब्द एवैनमुत्थापयिष्यति।') इत्युपक्रमे मृदङ्गशब्दश्रवणादनन्तरं सर्वाण्येव पात्राणि प्रथमाङ्कप्रक्रान्तपात्रसंक्रान्तिदर्शनं द्वितीयाङ्कादावारभन्त इति प्रथमाङ्कार्थाविच्छेदेनैव द्वितीयाङ्कस्यावतरणादङ्कावतार इति।

जहाँ प्रथम अङ्क की वस्तु का विच्छेद किये बिना दूसरे अङ्क की वस्तु चले, वहाँ अङ्कावतार होता है। सूच्य वस्तु की सूचना इन (अर्थोपक्षेपकों) के द्वारा देनी चाहिए, दृश्यों (दृश्य अर्थों) का मञ्च पर अङ्कों के द्वारा प्रदर्शन करे।

जब प्रथम अंक के पात्र किसी बात की सूचना दें, तथा वे ही पात्र उसी अंकार्थ (कथावस्तु) को लेकर उसे बिना विच्छिन्न किये ही दूसरे अंक में प्रवेश करें, तो वहाँ प्रवेशक व विष्कम्भक आदि नहीं होता, यह अंकावतार है। जैसे मालविकाग्निमित्र में प्रथम अंक के अन्त में विदूषक इस वाक्य के द्वारा भावी अंक की वस्तु की सूचना देता है—

'तो तुम दोनों देवी के नाट्यगृह में जाकर संगीत की साज-सज्जा ठीक कर पूज्य मित्र के पास दूत भेज देना, अथवा मृदंग का शब्द ही इन्हें यहाँ से उठा देगा।'

इसके बाद मृदंग शब्द के सुनने के बाद दूसरे अंक के आरंभ में सारे ही पात्र प्रथम अंक में वर्णित पात्रों (हरदत्त तथा गणदास) के शिष्यपरीक्षाक्रम का दर्शन करते हैं। इस तरह पहले अंक की कथा अविच्छिन्न रूप में ही द्वितीय अंक में अवतरित हुई है, अतः अंकावतार है।

---

१. धनंजय के इस अंकावतार तथा अंकास्य के बारे में हमें उसका मत विभ्रम दिखाई देता है। धनिक की वृत्ति में धनंजय की ही बात कहते हैं। साथ ही वृत्ति में दिये दोनों के उदाहरण में हमें कोई भेद नहीं दिखाई देता। दोनों ही धनंजय की अंकावतार वाली परिभाषा में आ जाते हैं। वस्तुतः धनंजय व धनिक दोनों ने अंकास्य को स्पष्ट करने में कसर रक्खी है। भरत के नाट्यशास्त्र में पञ्चम अर्थोपक्षेपक अंकास्य नहीं कहा गया है। वे इसे अंकमुख कहते हैं। यद्यपि दोनों का अर्थ एक ही है, पर परिभाषा में भेद है। भरत के मतानुसार 'अंकमुख' वहाँ होता है, जहाँ किसी स्त्री या पुरुष के द्वारा अंक की कथा का संक्षेप आरम्भ में ही कर दिया जाय।

'विश्लिष्टमुखमंकस्य स्त्रिया वा पुरुषेण वा। यत्र संक्षिप्यते पूर्वं तदङ्कमुखमिष्यते॥(ना.शा.२१ ११६)

विश्वनाथ के साहित्यदर्पण में पञ्चम अर्थोपक्षेपक के रूप में पहले 'अंकमुख' का ही वर्णन किया गया है। विश्वनाथ के मतानुसार जहाँ एक ही अंक में (दूसरे) अंकों की सारी कथा की सूचना हो, वह अंकमुख है। यह नाटकीय कथावस्तु के बीज का सूचक है।

यत्र स्यादङ्क एकस्मिन्नङ्कानां सूचनाऽखिला।
तदङ्कमुखमित्याहुर्बीजार्थख्यापकं च तत्॥ (सा. द. ६-५९)

साहित्यदर्पण की यह परिभाषा भरत पर ही आश्रित होने पर भी विशेष स्पष्ट है। सा. द. में इसका उदाहरण मालतीमाधव के प्रथम अंक का आरंभ दिया गया है, जहाँ कामन्दकी व अवलोकिता मालती तथा माधव के अनुराग की सूचना प्रसंगवश दे देती हैं। सा० द० का यह लक्षण व उदाहरण, साथ ही इसे अंकमुख कहना ठीक जँचता है।

साहित्यदर्पणकार ने अंकास्य की भी धनंजय-धनिक वाली परिभाषा देकर वही उदाहरण दिया है। अंकमुख के बाद वे अर्थोपक्षेपक का धनंजय सम्मत यह पञ्चम भेद भी करते हैं। पर वे धनंजय के मत से सहमत नहीं दिखाई देते। ऊपर की कारिका के आगे के ही कारिकार्थ की वृत्ति में वे लिखते हैं:—एतच्च धनिकमतानुसारेणोक्तम्। अन्ये तु 'अङ्कावतारेणैवेदं गतार्थं' इत्याहुः। विश्वनाथ को स्वयं को भी यह धनिक विरोधी मत ही पसन्द है, पर वे अपने मत्थे न मढ़कर 'अन्ये' शब्द का प्रयोग कर देते हैं। वस्तुतः धनिक वाला मत अवैज्ञानिक ही है। धनंजय तथा धनिक यहाँ भरत का अनुसरण करते दिखाई नहीं [illegible]। अन्यथा [illegible] त्रुटि न हो पाती।

यहाँ यह भी संकेत कर दिया जाय कि भरत अंकमुख का वर्णन अंकावतार के बाद करते हैं। ठीक यही विश्वनाथ ने किया है। धनंजय ने पहले अंकास्य को लिया है, बाद में अंकावतार को।

पुनस्त्रिधा वस्तुविभागमाह—

नाट्यधर्ममपेक्ष्यैतत्पुनर्वस्तु त्रिधेष्यते ॥ ६३ ॥

वस्तु फिर तीन तरह की होती है। नाटक (रूपक, नाट्य) की प्रकृति का निरीक्षण करके कथावस्तु फिर से तीन तरह की मानी जाती है।

येन प्रकारेण त्रैधं तदाह—

सर्वेषां नियतस्यैव श्राव्यमश्राव्यमेव च।

तीन प्रकार की किस तरह, इसे कहते हैं —कुछ सबके लिए सुनने लायक (सर्व-श्राव्य) होता है, कुछ परिमित लोगों (नियत लोगों) के लिए सुनने लायक (नियतश्राव्य) होता है, कुछ किसी भी पात्र के सुनने लायक नहीं (अश्राव्य) होता।

तत्र—

सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यादश्राव्यं स्वगतं मतम् ॥ ६४ ॥

सर्वश्राव्यं यद्वस्तु तत्प्रकाशमित्युच्यते। यत्तु सर्वस्याश्राव्यं तत्स्वगतमिति शब्दाभिधेयम्।

सर्वश्राव्य को प्रकाश तथा अश्राव्य को स्वगत कहते हैं।

सर्वश्राव्य वस्तु—सर्वश्राव्य कथनोपकथन प्रकाश कहलाता है, जो सर्वश्राव्य (कथनोपकथन) नहीं होता वह स्वगत कहलाता है।

नियतश्राव्यमाह—

द्विधाऽन्यन्नाट्यधर्माख्यं जनान्तमपवारितम्।

अन्यत्तु नियतश्राव्यं द्विप्रकारं जनान्तिकापवारितभेदेन।

दूसरा नाट्यधर्म—नियत श्राव्य वस्तु—दो तरह का होता है जनान्त (जनान्तिक), तथा अपवारित।

तत्र जनान्तिकमाह—

त्रिपताककरेणान्यानपवार्यान्तरा कथाम् ॥ ६५ ॥
अन्योन्यामन्त्रणं यत्स्याज्जनान्ते तज्जनान्तिकम्।

यस्य न श्राव्यं तस्यान्तरा ऊर्ध्वसर्वाङ्गुलं वक्रानामिकं त्रिपताकालक्षणं करं कृत्वाऽन्येन सह यन्मन्त्र्यते तज्जनान्तिकमिति।

जहाँ (मञ्च पर) दूसरे पात्रों के विद्यमान होते हुए भी दो पात्र आपस में इस तरह मन्त्रणा करें कि उसे दूसरों को न सुनाना अभीष्ट हो, तथा दूसरे पात्रों की ओर 'त्रिपताककर' के द्वारा हाथ से संकेत कर (दर्शकों को) इस बात की सूचना दी जाय कि उनका वारण किया जा रहा है, वहाँ जनान्तिक नामक नियतश्राव्य (कथनोपकथन) होता है।

जिस पात्र को कोई बात नहीं सुनानी है, उसकी ओर हाथ की सारी अंगुलियाँ ऊँची कर अनामिका अंगुली को टेढा रखना त्रिपताका कहलाता है, ऐसे ढंग से हाथ करना 'त्रिपताककर' का लक्षण है। इस ढंग से अन्य पात्रों का अपवारण कर बातचीत करना जनान्तिक है।

अथापवारितम्—

रहस्यं कथ्यतेऽन्यस्य परावृत्त्यापवारितम् ॥ ६६ ॥

परावृत्त्यान्यस्य रहस्यकथनमपवारितमिति ।

जहाँ मुँह को दूसरी ओर कर कोई पात्र दूसरे व्यक्ति की गुप्त बात कहता है, उसे अपवारित कहते हैं ।

नाट्यधर्म के ही प्रसंग में आकाशभाषित का वर्णन करते हैं ।

नाट्यधर्मप्रसङ्गादाकाशभाषितमाह—

किं ब्रवीष्येवमित्यादि विना पात्रं ब्रवीति यत् ।
श्रुत्वेवानुक्तमप्येकस्तत्स्यादाकाशभाषितम् ॥ ६७ ॥

स्पष्टार्थः ।

जहाँ कोई पात्र 'क्या कहते हो' इस तरह कहता हुआ दूसरे पात्र के बिना ही बातचीत करे, तथा उसके कथन के कहे बिना भी सुनकर कथनोपकथन करे, वह आकाशभाषित होता है ।

(एक पात्र वाले रूपक-भाण-में इस आकाशभाषित का प्रयोग बहुत पाया जाता है । आज के एकाभिनय (Mono-acting) में भी इसका अस्तित्व है ।)

अन्यान्यपि नाट्यधर्माणि प्रथमकल्पादीनि कैश्चिदुदाहृतानि[1] तेषामभारतीयत्वान्नाममात्रप्रसिद्धानां केषाञ्चिद्देशभाषात्मकत्वान्नाट्यधर्मत्वाभावाल्लक्षणं नोक्तमित्युपसंहरति—

कुछ लोगों ने प्रथम कल्प आदि और नाट्यधर्मों को भी माना है, वे भरत नाट्यशास्त्र के मतानुसार नहीं हैं, तथा उनका केवल नाम ही प्रसिद्ध है, तथा कुछ देशभाषा में प्रयुक्त होते हैं, अतः नाट्यधर्म नहीं हैं, इसलिए उनका लक्षण नहीं दिया है । अब इस नाटक की कथावस्तु का उपसंहार करते हुए कहते हैं—

इत्याद्यशेषमिह वस्तुविभेदजातं
रामायणादि च विभाव्य बृहत्कथां च ।
आसूत्रयेत्तदनु नेतृरसानुगुण्या-
च्चित्रां कथामुचितचारुवचःप्रपञ्चैः ॥ ६८ ॥

इति धनञ्जयकृतदशरूपकस्य प्रथमः प्रकाशः समाप्तः ।

---

१. वृत्तिकार (अवलोककार) धनिक 'कैश्चिदुदाहृतानि' के द्वारा उनके पूर्ववर्ती नाट्यकारों का उल्लेख करते हैं, जो प्रथम कल्प आदि अन्य नाट्यधर्मों को मानते हैं । यह मत भरत के बाद के नाट्यशास्त्रियों का है, किन्तु भरत-सम्मत नहीं इसका संकेत भी यहीं मिलता है । 'उदाहृतानि' पद स्पष्ट बताता है कि इस मत के प्रवर्तकों के नाट्यशास्त्र पर ग्रन्थ भी रहे होंगे । ये कौन थे, उनके ग्रन्थ कौन कौन से थे, ये बातें अभी अन्धकार में ही पड़ी हैं । संभवतः भरत के नाट्यशास्त्र के वृत्तिकारों में से ही किन्हीं के मत हों ।

वस्तुविभेदजातम्—वस्तु = वर्णनीयं तस्य विभेदजातं नाम भेदाः। रामायणादि बृहत्कथा च गुणाढ्यनिर्मितां विभाव्य आलोच्य। तदनु = एतदुत्तरम्। नेत्रिति—नेता वक्ष्यमाणलक्षणः, रसाश्च तेषामानुगुण्याच्चित्राम् = चित्ररूपां, कथाम् = आख्यायिकाम्। चांश्चि यानि वचांसि तेषां प्रपञ्चैर्विस्तरैरासूत्रयेदनुप्रथयेत्। तत्र बृहत्कथामूलं मुद्राराक्षसम्—

'चाणक्यनाम्ना तेनाथ शकटालगृहे रहः।
कृत्यां विधाय सहसा सपुत्रो निहतो नृपः॥
योगानन्दयशःशेषे पूर्वनन्दसुतस्ततः।
चन्द्रगुप्तः कृतो राजा चाणक्येन महौजसा॥'

इति बृहत्कथायां सूचितम्, श्रीरामायणोक्तं रामकथादि ज्ञेयम्।

॥ इति श्रीविष्णुसूनोर्धनिकस्य कृतौ दशरूपावलोके प्रथमः प्रकाशः समाप्तः॥

(कवि) इस तरह कथावस्तु के समस्त भेदों का पर्यालोचन कर तथा रामायण (महाभारत, पुराण) आदि एवं बृहत्कथा का अनुशीलन कर नेता (नायक) तथा रस के अनुरूप सुन्दर कथा को उपयुक्त तथा सुन्दर कथनोपकथन के द्वारा निबद्ध करे।

(नाटकादि रूपकों की रचना पौराणिक कथाओं के आधार पर ही नहीं होती, वे लौकिक कथाओं तथा ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर भी हो सकती है, इसीलिए गुणाढ्य की बृहत्कथा को भी रूपक की कथा का स्रोतोमूल माना है।) जैसे मुद्राराक्षस नाटक का मूल बृहत्कथा ही है—

'शकटार के घर में छिपकर उस चाणक्य ने कृत्या (डाकिनी) को पैदा कर राजा को पुत्रों सहित एक दम मार डाला। योगानन्द के कीर्ति के शेष रह जाने पर (मर जाने पर), पूर्वनन्द का पुत्र, चन्द्रगुप्त उस महापराक्रमी चाणक्य के द्वारा राजा बना दिया गया।' इस प्रकार का संकेत बृहत्कथा में मिलता है। रामकथा रामायण में कही गई है।

अथ द्वितीयः प्रकाशः ।

रूपकाणामन्योन्यं भेदसिद्धये वस्तुभेदं प्रतिपाद्येदानीं नायकभेदः प्रतिपाद्यते—

नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः ।
रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढवंशः स्थिरो युवा ॥ १ ॥
बुद्ध्युत्साहस्मृतिप्रज्ञाकलामानसमन्वितः ।
शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः ॥ २ ॥

नेता नायको विनयादिगुणसम्पन्नो भवतीति ।

तत्र विनीतो यथा वीरचरिते—

'यद्ब्रह्मवादिभिरुपासितवन्द्यपादे विद्यातपोव्रतनिधौ तपतां वरिष्ठे ।
दैवात्कृतस्त्वयि मया विनयापचारस्तत्र प्रसीद भगवन्नयमाञ्जलिस्ते ॥'

रूपकों में (नाटक, प्रकरण आदि वक्ष्यमाण रूपक-भेदों में) परस्पर भेद का कारण वस्तु नेता तथा रस का भेद है, (जैसा कहा भी गया है—वस्तु नेता रसस्तेषां भेदकः) अतः उनके भेद बताने के लिए वस्तु, नेता तथा रस के प्रकारभेदों का निर्देश आवश्यक हो जाता है। प्रथम प्रकाश में वस्तुभेद का प्रतिपादन किया गया, अब नायकभेद का प्रतिपादन करते हैं।[१]

नायक विनम्र, मधुर, त्यागी, चतुर (दक्ष), प्रिय बोलने वाला (प्रियंवद), लोगों को खुश करने वाला (रक्तलोक), पवित्र मनवाला (शुचि), बातचीत करने में कुशल (वाग्मी), कुलीन वंश में उत्पन्न (रूढवंश), मन आदि से स्थिर, युवक अवस्था वाला होता है। वह बुद्धि, उत्साह, स्मृति, प्रज्ञा, कला तथा मान से युक्त होता है, शूर, दृढ, तेजस्वी, शास्त्रज्ञाता तथा धार्मिक होता है।

नेता अर्थात् नायक विनम्रता आदि गुणों से भूषित रहता है। (वृत्तिकार धनिक इन्हीं गुणों को क्रमशः उदाहृत करता है।)

(१) नायक विनय हो, जैसे भवभूति के महावीरचरित में रामचन्द्र विनम्र हैं। उनकी विनम्रता की अभिव्यक्ति इस पद्य के द्वारा हुई है:—

---

१. भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुसार नाटक (रूपक) के वस्तु, नेता तथा रस ये तीन तत्त्व माने जाते हैं, इन्हीं के आधार पर किसी रूपक की पर्यालोचना की जाती है। पाश्चात्य पद्धति कथावस्तु, चरित्रचित्रण, कथनोपकथन, देशकाल, शैली, उद्देश्य इन छः तत्त्वों को मानती है, तथा उसके साथ 'रंगमंच' (अभिनेयता) नामक सातवें तत्त्व का भी समावेश करती है। भारतीय पद्धति के इन तीनों तत्त्वों में पाश्चात्य पद्धति के ये सभी तत्त्व अन्तर्भूत हो जाते हैं। चरित्रचित्रण का समावेश नेता के साथ किया जा सकता है—यह दूसरी बात है कि भारतीय काव्यों व नाटकों के रसपरक होने से केवल चरित्रचित्रण या शीलवैचित्र्य मात्र यहाँ नाटककार का लक्ष्य नहीं रहा है। 'नेता' शब्द में भारतीय नाट्यशास्त्री नायक के अतिरिक्त नायिका, पीठमर्द आदि सभी पात्रों को अन्तर्भावित करते हैं, यह स्पष्ट है। कथनोपकथन का समावेश भारतीय पद्धति वस्तु के ही अन्तर्गत करती है, किन्तु यह रस का व्यञ्जक होने के कारण उसका भी अंग माना जा सकता है। देशकाल, शैली व उद्देश्य तीनों का समावेश रसमें ही जाता है। अभिनेयता तो नाटक की खास प्रकृति है—अतः उसे अलग से तत्त्व मानना पुनरुक्ति दोष होगा—फिर वाचिक, आंगिक, आहार्य तथा सात्त्विक अभिनय के द्वारा उसका भी उपादान भारतीय नाट्य पद्धति ने किया ही है।

ब्रह्मर्षों के द्वारा जिनके पवित्र चरणों की उपासना (लोगों के द्वारा) की गई है, जो विद्या एवं तप के निधि हैं, तथा तपस्वियों में श्रेष्ठ हैं ऐसे आपके प्रति मैंने सौभाग्यतः नमस्कार आदि विनयाचार किया है। हे भगवन् आप प्रसन्न हों, आपको मेरा यह नमस्कार है।

मधुरः—प्रियदर्शनः। यथा तत्रैव—

'राम राम नयनाभिरामतामाशयस्य सदृशीं समुद्वहन्।
अप्रतर्क्यगुणरामणीयकः सर्वथैव हृदयङ्गमोऽसि मे॥'

(२) नायक मधुर अर्थात् प्रियदर्शन (सुन्दर) होना चाहिए, जैसे यहीं महावीरचरित में रामचन्द्र के माधुर्य का उपनिबन्धन किया गया है—

हे सुन्दर राम, हृदय के समान, नेत्रों को अच्छी लगनेवाली, सुन्दरता को धारण करनेवाले तुम सर्वथा मेरे हृदयङ्गम हो (तुमने मेरे हृदय में स्थान पा लिया है)। तुम्हारे गुणों की तर्कना तथा विचार बुद्धि से परे हैं (तुममें अनेकानेक गुण हैं), अत एव तुम सुन्दर (ज्ञात होते) हो।

त्यागी—सर्वस्वदायकः। यथा—

'त्वचं कर्णः शिबिर्मांसं जीवं जीमूतवाहनः।
ददौ दधीचिरस्थीनि नास्त्यदेयं महात्मनाम्॥'

(३) नायक त्यागी अर्थात् समस्त वस्तुओं (तन, मन, धन) को देने वाला हो, किसी भी सांसारिक वस्तु के प्रति उसका अनुचित मोह न हो। महात्माओं की इसी त्यागशीलता का उदाहरण नीचे त्याग गुण को स्पष्ट करने के लिए देते हैं—

कर्ण ने त्वचा, शिबि ने मांस, जीमूतवाहन ने जीवन (जीव), तथा दधीचि ने हड्डियों को दे दिया। महात्मा लोगों के लिए कोई भी चीज अदेय नहीं।

दक्षः—क्षिप्रकारी। यथा वीरचरिते—

'स्फूर्जद्वज्रसहस्रनिर्मितमिव प्रादुर्भवत्यग्रतो
रामस्य त्रिपुरान्तकृद्दिविषदां तेजोभिरिद्धं धनुः।
शुण्डारः कलभेन यद्वदचले वत्सेन दोर्दण्डक-
स्तस्मिन्नाहित एव गर्जितगुणं कृष्टं च भग्नं च तत्॥'

(४) नायक दक्ष होना चाहिए। दक्ष से तात्पर्य किसी भी कार्य को यथाशक्ति फुर्ती से करने (क्षिप्रकारिता) से है। नायक सुस्त और दीर्घसूत्री न होकर क्षिप्रकारी होना चाहिए। इसका उदाहरण महावीरचरित से रामचन्द्र के विषय में दिया जाता है—

समस्त देवताओं के तेज से समिद्ध, त्रिपुर नामक दैत्य का अन्त करनेवाला, शिव का पिनाक धनुष जो मानों हजारों कड़कड़ाते कठोर वज्रों से बना हुआ है—राम के सामने प्रकटित होता है (राम के सामने पड़ा है)। बस राम ने उस अचल धनुष पर इसी तरह अपना हाथ रखा, जैसे हाथी का बच्चा सूँड़ रखता है, और सशब्द प्रत्यञ्चा वाले उस धनुष को खैंचा तथा तोड़ डाला।

प्रियंवदः—प्रियभाषी। यथा तत्रैव—

'उत्पत्तिर्जमदग्नितः स भगवान्देवः पिनाकी गुरु-
र्वीर्यं यत्तु न तद्गिरां पथि ननु व्यक्तं हि तत्कर्मभिः।
त्यागः सप्तसमुद्रमुद्रितमहीनिर्व्याजदानावधि
सत्यब्रह्मतपोनिधेर्भगवतः किं वा न लोकोत्तरम्॥'

(५) नायक प्रियंवद अर्थात् प्रियवचनों को बोलने वाला होता है। जैसे यहीं महावीर चरित में रामचन्द्र परशुराम से बात करते समय अपनी प्रियंवदता का परिचय देते हैं —

आपकी उत्पत्ति महर्षि जमदग्नि से है (महर्षि जमदग्नि आपके पिता हैं), वे भगवान् शिव आपके गुरु हैं। आपकी वीरता कार्यों से ही प्रकाशित है, उसे वाणी के द्वारा नहीं कहा जा सकता (वह वाणी के मार्ग में नहीं आ सकती)। सातों समुद्रों के द्वारा सीमित पृथ्वी को बिना किसी ब्याज के दान देना आपके त्याग का सूचक है। सत्य, व्रत तथा तप के निधि (सत्यनिधि, व्रतनिधि तथा तपोनिधि) आपकी ऐसी कौन वस्तु है, जो अलौकिक न हो।

रक्तलोक। यथा तत्रैव—

'त्रय्यास्त्राता यस्तवायं तनूज-
स्तेनाद्यैव स्वामिनस्ते प्रसादात्।
राजन्वन्तो रामभद्रेण राज्ञा
लब्धक्षेमा पूर्णकामाश्चराम ॥'

(६) नायक रक्तलोक होना चाहिए अर्थात् सभी लोग उससे खुश रहें। जैसे महावीर चरित में राम के आचरण से लोग उनसे खुश हैं, उनमें अनुरक्त हैं, इसकी सूचना इस पद्य के द्वारा दी गई है।

जनक महाराज आपकी कृपा से, हम लोग आपके इस पुत्र (रामचन्द्र) के द्वारा राजा वाले होकर कुशलता प्राप्त कर, समस्त इच्छाओं को पूर्ण कर (आनन्द से) रह रहे हैं। आपका यह पुत्र तीनों वेदों की रक्षा करने वाला है।

एवं शौचादिष्वप्युदाहार्यम्। तत्र शौचं नाम मनोनैर्मल्यादिना कामाद्यनभिभूतत्वम्। यथा रघौ—

'का त्वं शुभे कस्य परिग्रहो वा किं वा मदभ्यागमकारणं ते।
आचक्ष्व मत्वा वशिनां रघूणां मनः परस्त्रीविमुखप्रवृत्ति ॥'

(७) इसी परिपाटी से नायक के अन्य गुणों—शौचादि—का भी उदाहरण दिया जा सकता है। शौच का तात्पर्य मन की निर्मलता है, जिससे मन काम आदि दोषों से युक्त न हो सके। जैसे रघुवंश के षोडश सर्ग में कुश अपनी शुचिता का प्रकाशन करते कहता है—

हे शुभे, तुम कौन हो, किसकी पत्नी हो, तुम्हारे मेरे पास आने का क्या कारण है? वशी मन वाले जितेन्द्रिय रघुवंशियों के मन को परस्त्री विमुख समझ कर इन बातों का उत्तर दो।

वाग्मी। यथा हनुमन्नाटके—

'बाहोर्बलं न विदितं न च कार्मुकस्य
त्र्यम्बकस्य तनिमा तत एष दोषः।
तच्चापलं परशुराम मम क्षमस्व
डिम्भस्य दुर्विलसितानि मुदे गुरूणाम् ॥'

(८) नायक बातचीत करने में कुशल होना चाहिए जैसे रामचन्द्र। निम्न हनुमन्नाटक के पद्य में परशुराम को प्रत्युत्तर देते हुए राम अपनी वाग्मिता का परिचय देते हैं।

हे परशुराम, न तो मुझे अपने हाथों के बल का ही पता था, न शिवजी के इस धनुष की कमजोरी का ही। इसलिए यह गलती हुई। अतः मेरी चपलता को क्षमा करें। बच्चों की चपल चेष्टाएँ बड़े लोगों को प्रसन्न ही करती हैं।

रूढवंशो यथा—

'ये चत्वारो दिनकरकुलक्षत्रसन्तानमल्ली-
मालाम्लानस्तबकमधुपा जज्ञिरे राजपुत्राः ।
रामस्तेषामचरमभवस्ताडकाकालरात्रि-
प्रत्यूषोऽयं सुचरितकथाकन्दलीमूलकन्दः ॥'

(९) नायक उच्च वंश में उत्पन्न हो, जैसे रामचन्द्र की कुलीनता का व्यंजक निम्न पद्य है—

सूर्यवंश में उत्पन्न क्षत्रिय सन्तानों की मालतीमाला (अथवा कल्पवृक्ष की कलियों की माला) के स्तबक के अनुरागी भँवरे, जो चार राजकुमार उत्पन्न हुए, उन चारों में सबसे बड़े रामचन्द्र हैं, जो ताडकारूपी कालरात्रि के प्रातःकाल हैं, तथा वह मूलकन्द हैं, जिससे सुन्दर चरित्र वाली यशगाथाओं की कन्दलियाँ पैदा हुई हैं।

स्थिरो वाङ्मनःक्रियाभिरचञ्चलः । यथा वीरचरिते—

'प्रायश्चित्तं चरिष्यामि पूज्यानां वो व्यतिक्रमात् ।
न त्वेव दूषयिष्यामि शस्त्रग्रहमहाव्रतम् ॥'

यथा वा भर्तृहरिशतके—

'प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः ।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः
प्रारब्धमुत्तमगुणास्त्वमिवोद्वहन्ति ॥'

(१०) नायक स्थिर होना चाहिए अर्थात् वह वाणी, मन तथा शरीर से चंचल न हो जैसे महावीर चरित में हो—

मैंने आप पूज्य लोगों का उल्लंघन किया है, इसलिए मैं प्रायश्चित्त का आचरण करूँगा। इस तरह मैं शस्त्रग्रहण करने के बड़े प्रण को दूषित नहीं करूँगा।

अथवा जैसे भर्तृहरिशतक में,—

नीच कोटि के व्यक्ति केवल विघ्नों के डर के ही कारण कोई काम नहीं करते। मध्यमकोटि के व्यक्ति काम तो शुरू करते हैं, पर विघ्नों से पराभूत होकर, उन्हें बन्द कर देते हैं। तुम जैसे उत्तमगुण (उत्तमकोटि के) व्यक्ति विघ्नों से बार-बार पराभूत होने पर भी प्रारंभ किये हुए कार्य का वहन करते रहते हैं।

युवा प्रसिद्धः । बुद्धिर्ज्ञानम् । गृहीतविशेषकरी तु प्रज्ञा । यथा मालविकाग्निमित्रे—

'यद्यत्प्रयोगविषये भाविकमुपदिश्यते मया तस्यै ।
तत्तद्विशेषकरणात् प्रत्युपदिशतीव मे बाला ॥'

स्पष्टमन्यत् ।

नायक के इन उपर्युक्त गुणों का विवेचन कर बाकी गुणों के उदाहरण देना वृत्तिकार आवश्यक नहीं समझता। नायक का युवक होना भी अत्यावश्यक गुण है, विशेष कर शृंगार रस प्रधान नाटकादि में यह सर्वथा अपेक्षित है। साथ ही और सारे गुण भी युवावस्था में ही चरमरूप में विकसित पाये जाते हैं। नायक के विषय में प्रयुक्त 'युवा' विशेषण स्पष्ट ही है।

नायक में बुद्धि, प्रज्ञा आदि का भी अस्तित्व होना चाहिए, इसे कारिकाकार धनंजय बताते हैं। आमतौर पर बुद्धि व प्रज्ञा का एक अर्थ समझा जाने से एक साथ दोनों के प्रयोग पर पुनरुक्ति दोष की आशंका की जा सकती है। इस का निराकरण करने के लिए वृत्तिकार दोनों के भेद को बताते हुए कहते हैं कि बुद्धि का अर्थ ज्ञान अर्थात् ज्ञान सामान्य है। प्रज्ञा

विशेष ज्ञान को उत्पन्न करने वाली है, अर्थात् किसी गृहीत ज्ञान में अपनी ओर कुछ मिलाकर उसे विशिष्ट रूप देने वाली बुद्धि का नाम प्रज्ञा है। जैसे मालविकाग्निमित्र में—'नृत्यकला के प्रयोग में मैंने जो जो ढंग (भाविक) उसे बताये हैं, यह बाला उनको विशिष्ट बना बनाकर ऐसा प्रयोग करती है मानों मुझे फिर से सिखा रही है।' और बाकी सब स्पष्ट है।[1]

नेतृविशेषानाह—

भेदैश्चतुर्धा ललितशान्तोदात्तोद्धतैरयम् ।

अब नायकों के भेदों का वर्णन करते हैं—यह नायक ललित, शान्त, उदात्त तथा उद्धत इन प्रकार के भेदों के कारण चार तरह का होता है।

(यहाँ यह जान लेना जरूरी है कि भारतीय नाट्यों के नायक में धीरता (धैर्य) का होना परमावश्यक है, प्रत्येक प्रकार के नायक में धीरता होनी ही चाहिए, यही कारण है कि नायकों के सभी भेदों के साथ 'धीर' विशेषण जरूर लगाया जाता है। इस तरह नायक-भेद ४ तरह का माना जाता है—धीरललित, धीरशान्त, धीरोदात्त तथा धीरोद्धत)

यथोद्देशं लक्षणमाह—

निश्चिन्तो धीरललितः कलासक्तः सुखी मृदुः ॥ ३ ॥

सचिवादिविहितयोगक्षेमत्वाच्चिन्तारहितः अतएव गीतादिकलाविष्टो भोगप्रवणश्च शृङ्गारप्रधानत्वाच्च सुकुमारसत्त्वाचारो मृदुरिति ललितः।

यथा रत्नावल्याम्—

> 'राज्यं निर्जितशत्रु योग्यसचिवे न्यस्तः समस्तो भरः
> सम्यक्पालनलालिताः प्रशमिताशेषोपसर्गाः प्रजाः ।
> प्रद्योतस्य सुता वसन्तसमयस्त्वं चेति नाम्ना धृतिं
> कामं काममुपैत्वयं मम पुनर्मन्ये महानुत्सवः ॥'

क्रम से इनका लक्षण नामसहित बताते हैं—धीरललित वह नायक है जो सर्वदा निश्चिन्त रहता है। वह कोमल स्वभाव का होता है, सुखी रहता है तथा कलाओं (नृत्यगीतादि) में आसक्त रहता है।

धीरललित नायक के योगक्षेम[2] की चिन्ता उसके मन्त्री आदि के द्वारा की जाती है, अतः

---

१ वृत्तिकार ने नायक के बाकी गुणों को उदाहृत करना विस्तार के भय से ठीक नहीं समझा है। दो एक के उदाहरण हम यों ले सकते हैं—

(१) युवा जैसे—हिमव्यपायाद् विशदाधरत्वं ... मदयन् द्विजानाम् ... अवितमोमकेतन ।
अभवदसाद्वितसुरो महोत्सवः प्रमदाजनस्य स चिराय माधव ॥

(२) दक्ष जैसे—दृष्टिं हिरण भव कुरङ्गम ... तदिदं द्वितय दधीथा ।
दिक्कुञ्जराः कुरुत सम्प्रति संदिधीर्षा देव करोति हरकार्मुकमाततज्यम् ॥

(३) उत्साही जैसे—किं व्यभिष्यति विलोक्य वामनो यावदित्थं महसा दानवा ।
तावदस्य न ममौ नभस्तले लङ्घितार्कशशिमण्डलः क्रमः ॥

(४) तेजस्वी जैसे—यं समेत्य च ललाटलेखया बिभ्रतः सपदि शम्भुविग्रहम् ।
चण्डमारुतमिव प्रदीपवच्चेदिपस्य निरवादि लोचनम् ॥

इसी तरह बाकी गुणों के उदाहरण महाकाव्यों व नाट्यों से ढूँढे जा सकते हैं।

२ जो वस्तु अभी तक नहीं मिली है उसका मिलना योग तथा मिली हुई चीज की रक्षा करना क्षेम कहलाता है—(अप्राप्तस्य प्रापणं योगः, प्राप्तस्य परिरक्षणं क्षेमः)—

वह इस प्रकार की चिन्ताओं से रहित रहता है। इस चिन्तारहिता के कारण वह गीतादिकलाओं का प्रेमी तथा भोगविलास में प्रवण रहता है। उसमें शृंगाररस की प्रधानता होने के कारण वह सुकुमार आचरणवाला तथा कोमल स्वभाव वाला होता है। जैसे रत्नावली नाटिका का नायक वत्सराज उदयन इसी धीरललित कोटि का नायक है।[१]

'राज्य के सारे शत्रु जीते जा चुके हैं, अब कोई भी शत्रु ऐसा नहीं जो राज्य में विघ्न उपस्थित करे। राज्य शासन का सारा भार सुयोग्य मंत्री यौगन्धरायण को सौंप दिया है। प्रजाओं को अच्छी तरह से लालित व पालित किया गया है, उनके सारे दुःख-उपसर्ग—(अकाल आदि ईतियाँ) शान्त हो चुके हैं। मेरे हृदय को प्रसन्न करने के लिए प्रद्योत की पुत्री वासवदत्ता मौजूद है, और तुम मौजूद हो। इन सब वस्तुओं के नाम से ही काम (इच्छा) धैर्य को प्राप्त हो। अथवा इन सब वस्तुओं के विद्यमान होने पर कामदेव मजे से आवें, मैं तो यह समझता हूँ, कि मेरे लिए यह बहुत बड़े उत्सव का अवसर उपस्थित हुआ है। मैं कामदेव के उत्सव का स्वागत करने को प्रस्तुत हूँ।' 30/11/56

अथ शान्तः—

सामान्यगुणयुक्तस्तु धीरशान्तो द्विजादिकः।

विनयादिनेतृसामान्यगुणयोगी धीरशान्तो द्विजादिक इति विप्रवणिक्सचिवादीनां प्रकरणनेतॄणामुपलक्षणं विवक्षितं चैतत्, तेन नैश्चिन्त्यादिगुणसंभवेऽपि विप्रादीनां शान्ततैव, न लालित्यं, यथा मालतीमाधव-मृच्छकटिकादौ माधवचारुदत्तादि।

'तत उदयगिरेरिवैक एव
स्फुरितगुणद्युतिसुन्दरः कलावान्।
इह जगति महोत्सवस्य हेतु-
र्नयनवतामुदियाय बालचन्द्रः॥'

इत्यादि। यथा वा—

'मखशतपरिपूतं गोत्रमुद्भासितं यत्
सदसि निबिडचैत्यब्रह्मघोषैः पुरस्तात्।
मम निधनदशायां वर्तमानस्य पापै-
स्तदसदृशमनुष्यैर्घुष्यते घोषणायाम्' (इत्यादि)।

धीरशान्त (धीरप्रशान्त) वह नायक है जिसमें सामान्य प्रकार से उपर्युक्त नायकगुणों का समावेश है। यह ब्राह्मण, वैश्य या मंत्रिपुत्र आदि होता है।

विनय आदि नायकगुणों का सामान्यतः जिसमें पाया जाय, जो ब्राह्मण, वैश्य, मंत्रिपुत्र आदि (द्विजादिक) हो वह धीरशान्त नायक कहलाता है। धीरशान्तता प्रकरण (रूपक का एक भेद) के नायक का लक्षण है। यह बात कहना आवश्यक है कि प्रकरण रूपक के नायक में चाहे उपर्युक्त निश्चिन्ततादि (जिनका समावेश धीरललित की परिभाषा में किया गया है) पाये जायँ, फिर भी ब्राह्मणादि जाति के नायकों में शान्तता माननी ही होगी। यद्यपि प्रकरण

१ यहाँ यह संकेत करना अनुचित न होगा कि नाटिका के नायक सभी धीरललित होते हैं। वैसे मालविकाग्निमित्र आदि कुछ नाटकों के नायक भी इस कोटि में आ सकते हैं। उन्हें कुछ लोग धीरोदात्त मानना पसन्द करेंगे। विक्रमोर्वशीय का पुरुरवा धीरोदात्त ही माना जाना चाहिए।

के नायक निश्चित कलाप्रिय आदि होते हैं, फिर भी वे ललित कोटि के नहीं माने जाने चाहिए, इन्हें शान्त ही मानना होगा, क्योंकि ब्राह्मणादि की प्रकृति ही शान्त होती है। मालतीमाधव का माधव, मृच्छकटिक, चारुदत्त आदि (यथा मेरे मन्दारमरन्दप्रकरण का मकरन्द) ये सभी शान्त कोटि के हैं। इसकी अभिव्यञ्जना इन पद्यों से होती है —

(भगवती माधव का परिचय देते हुए कहती है)

नेत्रवाले लोगों को प्रसन्न करने वाला, कलापूर्ण, कान्ति से युक्त बालचन्द्रमा जिस तरह उदयगिरि से उदित होता है, उसी तरह देदीप्यमान गुणों की कान्ति से मनोहर, कलाओं में पारंगत यह अकेला माधव, संसार के नेत्रधारियों के लिए महान् उत्सव (प्रसन्नता) का कारण बनकर उस कुल में उत्पन्न हुआ है।

अथवा जैसे, (मृच्छकटिक में चारुदत्त स्वयं अपना परिचय देता है —) जो मेरा कुल सभाओं में चैत्यों के सघन वेदघोषों से ध्वनित होता था, तथा सैकड़ों हवन यज्ञों के द्वारा पवित्र रहता था, वही आज मेरी मृत्यु के समीप होने पर ऐसे नीच मनुष्यों (चाण्डालों) के द्वारा घोषणा में घोषित किया जा रहा है।[1]

अथ धीरोदात्त —

> महासत्त्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः ॥ ४ ॥
> स्थिरो निगूढाहङ्कारो धीरोदात्तो दृढव्रतः ।

महासत्त्व =शोकक्रोधाद्यनभिभूतान्तःसत्त्वः, अविकत्थन =अनात्मश्लाघन, निगूढा-हङ्कार ==विनयच्छन्नावलेप, दृढव्रत =अङ्गीकृतनिर्वाहक, धीरोदात्त =यथा नागानन्दे— 'जीमूतवाहन —

> शिरामुखैः स्यन्दत एव रक्तमद्यापि देहे मम मांसमस्ति ।
> तृप्तिं न पश्यामि तवैव तावत्किं भक्षणात्त्वं विरतो गरुत्मन् ॥'

यथा च रामं प्रति—

> 'आहूतस्याभिषेकाय विसृष्टस्य वनाय च ।
> न मया लक्षितस्तस्य स्वल्पोऽप्याकारविभ्रमः ॥'

यच्च केषाञ्चित्स्थैर्यादीनां सामान्यगुणानामपि विशेषलक्षणे कीर्तनं तत्तेषां तत्राधिक्यप्रतिपादनार्थम् ।

ननु च कथं जीमूतवाहनादिर्नागानन्दादावुदात्त इत्युच्यते? औदात्त्यं हि नाम सर्वोत्कर्षेण वृत्तिः, तच्च विजिगीषुत्व एवोपपद्यते जीमूतवाहनस्तु निर्जिगीषुतयैव कविना प्रतिपादितः । यथा—

> 'तिष्ठन्भाति पितुः पुरो भुवि यथा सिंहासने किं तथा
> यत्संवाहयतः सुखं हि चरणौ तातस्य किं राज्यतः ।

---

[1] अथवा जैसे मेरे मन्दारमरन्दचम्पूप्रकरण का मकरन्द —

> येनान्ये केचिदतर्कमथनप्रतिलिखान् न्यायस्य भाष्यं केचित्
> केचित् सांख्यं च वेदान्तमिह च गणितं, पाणिनीयं पठन्ति ।
> साहित्यं चूतजम्बूमधुरसमधुरं केचिदास्वादयन्ति
> स्निग्धरसमद्गृहेष्वत्र विमलमतयो बालशिष्याः सुखेन ॥ (प्रथम अंक)

'किं भुङ्क्ते भुवनत्रये धृतिरसौ भुक्तोज्झिते वा गुरो-
रायासः खलु राज्यमुज्झितगुरोस्तत्रास्ति कश्चिद्गुणः ॥'

इत्यनेन ।

'पित्रोर्विधातुं शुश्रूषां त्यक्त्वैश्वर्यं क्रमागतम् ।
वनं याम्यहमप्येष यथा जीमूतवाहनः ॥'

इत्यनेन च । अतोऽस्यात्यन्तशमप्रधानत्वात्परमकारुणिकत्वाच्च वीतरागवच्छान्तता । अन्यथा नायुक्तं यत्तथाभूतं राज्यसुखादौ निरभिलाषं नायकमुपादायान्तरा तथाभूतमलयवत्यनुरागोपवर्णनम् । यच्चोक्तम्—'सामान्यगुणयोगी द्विजादिर्धीरशान्तः' इति । तदपि पारिभाषिकत्वादवास्तवमित्यभेदकम् । अतो वस्तुस्थित्या बुद्ध-युधिष्ठिर-जीमूतवाहनादिव्यवहाराः शान्ततामाविर्भावयन्ति ।

अत्रोच्यते—यत्तावदुक्तं सर्वोत्कर्षेण वृत्तिरौदात्त्यमिति न तज्जीमूतवाहनादौ परिहीयते । न ह्येकरूपैव विजिगीषुता यः केनापि शौर्यत्यागदयादिनाऽन्यानतिशेते स विजिगीषुः, न यः परापकारेणार्थग्रहादिप्रवृत्तः, तथात्वे च मार्गदूषकादेरपि धीरोदात्तत्वप्रसक्तिः । रामादेरपि जगत्पालनीयमिति दुष्टनिग्रहे प्रवृत्तस्य नान्तरीयकत्वेन भूम्यादिलाभः । जीमूतवाहनादिस्तु प्राणैरपि परार्थसम्पादनाद्विश्वमप्यतिशेत इत्युदात्ततमः । यच्चोक्तम्—'तिष्ठन्भाति' इत्यादिना विषयसुखपराङ्मुखतेति तत् सत्यम्—कार्पण्यहेतुषु स्वसुखतृष्णासु निरभिलाषा एव जिगीषवः, तदुक्तम्—

'स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः
प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवंविधैव ।
अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णं
शमयति परितापं छायया संश्रितानाम् ॥' इत्यादिना ।

मलयवत्यनुरागोपवर्णनं त्वशान्तरसाश्रयं शान्तनायकतां प्रत्युत निषेधति । शान्तत्वं चानहंकृतत्वं, तच्च विप्रादेरौचित्यप्राप्तमिति वस्तुस्थित्या विप्रादेः शान्तता न स्वपरिभाषामात्रेण । बुद्धजीमूतवाहनयोस्तु कारुणिकत्वाविशेषेऽपि सकामनिष्कामकरुणत्वादिधर्मत्वाद्भेदः । अतो जीमूतवाहनादेर्धीरोदात्तत्वमिति ।

धीरोदात्त कोटि का नायक महासत्त्व, अत्यन्त गंभीर, क्षमाशील, अविकत्थन, स्थिर (अचंचल मन वाला), निगूढ अहंकार वाला, तथा दृढव्रत होता है ।

महासत्त्व का अर्थ यह है, कि धीरोदात्त नायक का अन्तःकरण (अन्तःसत्त्व) क्रोध, शोक आदि विकारों से अभिभूत नहीं होना चाहिए । अविकत्थन का अर्थ यह है कि वह अपनी ही प्रशंसा करने वाला न हो[1] । निगूढाहंकार का तात्पर्य यह है कि उसमें अहंकार व स्वाभिमान अवश्य हो, किन्तु वह विनम्रता के द्वारा दबाया हुआ तथा छिपाया हुआ हो । दृढव्रत से तात्पर्य यह है, कि उसने जिस बात का प्रण कर लिया है, उसका अन्त तक निर्वाह करने वाला हो । धीरोदात्त नायक का उदाहरण हम नागानन्द के नायक जीमूतवाहन के रूप में ले सकते हैं :—

---

१ ध्यान रखिये विकत्थन होना जहाँ धीरोदात्त के लिए दोष है (गुण नहीं), वहाँ धीरोद्धत नायक के लिए दोष नहीं है ।

'हे गरुड, अभी भी मेरी नसों के किनारों से खून टपक रहा है, अभी भी मेरे शरीर में मांस बचा हुआ है, तुम भी अभी तृप्त नहीं हुए हो,' पिता मेरा अन्दाजा है। फिर क्या कारण है कि तुम (पुनः) खाने से रुक गये हो।' अथवा जैसे राम के विषय में (उनकी धीरोदात्तता के विषय में) यह उक्ति है:—

जब उन्हें अभिषेक के लिए बुलाया तब और जब उन्हें वन के लिए विदा दी गई तब, दोनों वक्त मैंने उनके (राम) चेहरे पर कोई भी (थोड़ा सा भी) विकार नहीं देखा।

'नायक के स्थैर्य, दृढ़ता आदि गुणों का वर्णन नायक के सामान्य लक्षण में किया जा चुका है, अतः उनका धीरोदात्त के लक्षण में पुनः वर्णन पुनरुक्ति दोष है' इस शंका का समाधान करते हुए कहते हैं कि धीरोदात्त में ये सामान्य गुण विशिष्ट रूप में पाये जाने चाहिए, इस अवधारण के लिए इनकी फिर से गणना की गई है। इसका खास कारण धीरोदात्त में इन गुणों की अधिकता बताने के लिए है।

धीरोदात्त नायक के उदाहरण के रूप में ऊपर विद्याधरराज के पुत्र जीमूतवाहन प्रसिद्ध त्यागशीलों तथा दानियों में से एक है, तथा उसमें विषयादि के प्रति सांसारिक जीव की भाँति लिप्सा न होकर, विरक्ति का भाव पाया जाता है। नागानंद के रचयिता हर्षवर्धन ने भी 'जीमूतवाहन का चित्रण विषय विरक्त के रूप में किया है। इन बातों को देखकर पूर्वपक्षी को जीमूतवाहन के धीरोदात्तत्व के विषय में शंका हो उठती है। इसी का संकेत यहाँ वृत्तिकार ने किया है।

नागानन्द आदि नाटकों में[1] जीमूतवाहन आदि नायकों को धीरोदात्त क्यों कहा जाता है? धीरोदात्त नायक में उदात्तता प्रधान गुण है। उदात्तता का तात्पर्य उस वृत्ति से है जो सबसे बढ़कर उत्कृष्टता प्रकट करती है अर्थात् अन्य लोगों से उत्कृष्ट होना ही उदात्तता है। यह उदात्तता तभी हो सकती है, जब नायक में दूसरों को जीतने की (उनसे उत्कृष्ट होने की) इच्छा विद्यमान हो। किन्तु जीमूतवाहन में यह विजिगीषा नहीं पाई जाती। कवि हर्षवर्धन ने उसका चित्रण निर्विगीषुरूप में किया है। इसका प्रमाण जीमूतवाहन की यह उक्ति दी जा सकती है—

पिता के सामने जमीन पर बैठने से जो शोभा थी, क्या वैसी सिंहासन पर बैठने से है; पिता के चरणों की सेवा से जो सुख था, क्या वह राज्यप्राप्ति से हो सकता है? तीनों लोकों के भोग से भी क्या वह धैर्य (सन्तोष) मिल सकता है, जो पिता के जूठन (भुक्तोच्छिष्ट) से? पिता से वियुक्त मेरे लिए राज्य भी बोझा (भारस्वरूप) हो गया है, इसमें भी कोई गुण है?'

'क्रमागत (वंश परम्परा प्राप्त) ऐश्वर्य को छोड़कर माता-पिता की सेवा करने के लिए मैं वन में वैसे ही जा रहा हूँ, जैसे जीमूतवाहन गया था।'

" इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि जीमूतवाहन में विरक्तता और शांति की प्रधानता पाई जाती है, साथ ही यह परमदयालु भी है अतः उसे रागहीन (वीतराग) की भाँति शान्त मानकर धीरप्रशान्त कोटि का नायक मानना ठीक होगा। इसके अतिरिक्त हर्षवर्धन की नाटकीय कथावस्तु में कुछ दोष भी नजर आता है। इस तरह के शान्त तथा विकारहीन प्रकृति वाले नायक को लेकर, जो राज्यसुख आदि से सर्वथा उदासीन है, आगे जाकर मलयवती के साथ उसके अनुराग का वर्णन करना अनुचित प्रतीत होता है। इसके साथ ही धीरशान्त की परिभाषा—'सामान्यगुणों से युक्त ब्राह्मणादि धीरप्रशांत कोटि का नायक है'—भी मिथ्या है। क्योंकि सामान्य गुण—शौर्य, दक्षता, उत्साह कलाविद्या आदि शान्त तथा वीतराग व्यक्ति में

1. आदि शब्द से भर्तृहरिनिर्वेद, आदि नाटकों का भी समावेश किया जा सकता है।

नहीं पाये जा सकते। अतः यह परिभाषा ठीक तरह से धीरप्रशान्त की विशेषता को व्यक्त नहीं कर पाती, तथा उसे अन्य धीरोदात्तादि से अलग करने में समर्थ नहीं जान पड़ती है। असल में वास्तविक स्थिति यह है कि बुद्ध, युधिष्ठिर, जीमूतवाहन आदि के नाम तथा इनके वृत्तान्त शान्त रस का आविर्भाव करते हैं। अतः इन्हें शान्त कोटि में ही मानना ठीक होगा।

(समाधान)

इस शंका का उत्तर देते हैं—उदात्तता का तात्पर्य तुम सर्वोत्कर्ष वृत्ति मानते हो, ठीक है। सब लोगों से उत्कृष्ट होने की इस वृत्ति का जीमूतवाहन आदि में अभाव नहीं है। जहाँ तक दूसरों को जीतने की इच्छा के होने का प्रश्न है, विजिगीषुता एक ही तरह की तो होती नहीं। विजिगीषु उसे माना जाता है, जो शौर्य, त्याग, दया आदि गुणों से दूसरों को जीत लेता है, उनसे बढ़ जाता है। विजिगीषु हम उसे नहीं मान सकते, जो दूसरों का नुकसान करने या धन छीनने में प्रवृत्त है। ऐसा मानने पर तो डाकुओं को धीरोदात्त मानने का दोष उपस्थित होगा। यह ठीक नहीं। राम आदि धीरोदात्त नायकों में संसार के पालन करने का गुण पाया जाता है, क्योंकि वे दुष्टों को दण्ड देने में प्रवृत्त हैं। वैसे प्रसंगवश उन्हें राज्य आदि का भी लाभ हो जाता है। जब दुष्टों का संहार कर संसार का पालन करने वाले राम उदात्त हैं,[४] तो जीमूतवाहन तो प्राणों को देकर भी परोपकार में व्यस्त रहता है, वह सारे संसार को अपने परोपकार से जीत लेता है, अतः वह अनुदात्त ही नहीं, उदात्ततम है। पूर्वपक्षी ने ऊपर के दो पद्यों (तिष्ठन् भाति०) को देकर जीमूतवाहन की विषयपराङ्मुखता प्रकट की है, वह ठीक है। असल में संसार को अपने कार्यों से जीतने की इच्छावाले उदात्त नायक कृपणता को उत्पन्न करनेवाली अपने सुख की इच्छाओं से उदासीन तथा विरक्त (निरभिलाष) ही रहते हैं जैसा कि शाकुन्तल के नायक दुष्यन्त के लिए कहा गया है—

अपने सुखों के प्रति निरभिलाष होते हुए भी तुम प्रजा के लिए तकलीफ सहा करते हो। अथवा यह तो तुम्हारी दैनिक क्रिया-प्रक्रिया ही है। वृक्ष अपने सिर से तीव्र आतप को सहता है, किन्तु शरण में आये लोगों के ताप को छाया द्वारा शान्त कर देता है।

पूर्वपक्षी ने जीमूतवाहन तथा मलयवती के अनुराग के निबन्धन को दोष माना है। इसका उत्तर देते हुए वृत्तिकार (सिद्धान्ती) कहते हैं कि मलयवती के अनुराग का वर्णन जो शान्तरस के उपयुक्त नहीं है, इस बात का द्योतक है कि नायक शान्त नहीं है, बल्कि यह जीमूतवाहन की धीरशान्तता का निषेध करता है।[५] शान्त [illegible] को पारिभाषिक अर्थ हम लोग लेते हैं, वह है अहंकार का न होना, यह ब्राह्मणादि में उचित है। इसलिए वास्तविक दृष्टि से ब्राह्मणादि में शान्तता पाई जाती है, यही नहीं कि कोरी परिभाषा से ही वे धीरशान्त मान लिये गये हों।[६]

बुद्ध की करुणा तथा जीमूतवाहन की करुणा में भी भेद है, एक की करुणा निष्काम है, दूसरे की सकाम। अतः उन दोनों में भेद है। इसलिये जीमूतवाहनादि धीरोदात्त ही हैं।

---

१. धीरशान्त नायक के ऊपर के दो उदाहरण (माधव व चारुदत्त) शृङ्गार रस वाले हैं। यहाँ मेरे 'दधीचिचरित' से धीरप्रशान्त नायक का परोपकार वाला रूप दिया जा सकता है, जो जीमूतवाहन व दधीचि के क्रमशः धीरोदात्तत्व व धीरप्रशान्तत्व को स्पष्ट कर देगा।

असहृत शिरःस्थैर भूमद्भिदा कुन मखिना,
वनय दमले मार्गं सद्यो विदा स्फुरदुत्कया।
स्व मलमकरोद् देह धीमान् मुखेन च वाजिनो
वर भव भवान् प्रापच्छ्मो परार्थरद्ध 'त' ॥

अथ धीरोद्धत —

दर्पमात्सर्यभूयिष्ठो मायाच्छद्मपरायणः ॥ ५ ॥
धीरोद्धतस्त्वहङ्कारी चलश्चण्डो विकत्थनः ।

दर्पः = शौर्यादिमदः, मात्सर्यम् = असहनता, मन्त्रबलेनाविद्यमानवस्तुप्रकाशनं माया, छद्म = वञ्चनामात्रम्, चलः = अनवस्थितः, चण्डः = रौद्रः, स्वगुणशंसी = विकत्थनो धीरोद्धतो भवति, यथा जामदग्न्यः—'कैलासोद्धारसारत्रिभुवनविजय-' इत्यादि । यथा च रावणः—'त्रैलोक्यैश्वर्यलक्ष्मीहठहरणसहा बाहवो रावणस्य !' इत्यादि ।

धीरललितादिशब्दाश्च यथोक्तगुणसमारोपितावस्थाभिधायिनः, वत्सराजमहोत्सादिवज्जात्या कश्चिदवस्थितरूपो ललितादिरस्ति, तदा हि महाकविप्रबन्धेषु विरुद्धानेकरूपाभिधानमसङ्गतमेव स्यात्, जातेरनपायित्वात्, तथा च भवभूतिनैक एव जामदग्न्यः —

'ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवतामेव भूतये ।
जामदग्न्यश्च वो मित्रमन्यथा दुर्मनायते ॥'

इत्यादिना रावणं प्रति धीरोदात्तत्वेन 'कैलासोद्धारसार-' इत्यादिभिश्च रामादीन्प्रति प्रथमं धीरोद्धतत्वेन, पुनः 'पुण्या ब्राह्मणजातिः' इत्यादिभिश्च धीरशान्तत्वेनोपवर्णितः, न चावस्थान्तराभिधानमनुचितम्, अङ्गभूतनायकानां नायकान्तरापेक्षया महासत्त्वादेरव्यवस्थितत्वात् । अङ्गिनस्तु रामादेरेकप्रबन्धोपात्तान् प्रत्येकरूपत्वादारम्भोपात्तावस्थातोऽवस्थान्तरोपादानमन्याय्यम्, यथोदात्तत्वाभिमतस्य रामस्य छद्मना वालिवधान्महासत्त्वतायास्त्यागः इति ।

वक्ष्यमाणं च दक्षिणाद्यवस्थानाम् 'पूर्वां प्रत्यन्ययाहृत' इति नियमसापेक्षत्वेनाविर्भावादुपात्तावस्थातोऽवस्थान्तराभिधानमङ्गिनोऽप्यविरुद्धम् ।

धीरोद्धत नायक घमण्ड (दर्प) और ईर्ष्या (मात्सर्य) से भरा हुआ, माया और कपट से युक्त, घमण्डी, चञ्चल, क्रोधी तथा आत्मश्लाघी होता है ।।

दर्प का तात्पर्य शौर्य आदि का घमण्ड है, मात्सर्य का तात्पर्य दूसरों की असहनता है। मन्त्र बल से झूठी वस्तुओं को प्रकट करना माया कहलाता है, दूसरों को ठगना छल कहलाता है। चञ्चल से मतलब है, जो स्थिर न हो। इन गुणों के अलावा धीरोद्धत क्रोधी और अपनी खुद की डींग मारने वाला होता है। जैसे वीरचरित के परशुराम जो अपने आपको 'कैलाश के उठाने तथा तीनों लोकों के जीतने में' समर्थ मानते हैं, तथा रावण जिसकी भुजाएँ तीनों लोकों के ऐश्वर्य की लक्ष्मी को हठ से अपहृत करने में समर्थ हैं।'

नायक के धीरललित, धीरप्रशान्त, धीरोदात्त तथा धीरोद्धत कोटि के होने के विषय में एक भ्रान्ति हो सकती है कि नायक का पूरा जीवन-चित्रण एक ही कोटि का होगा। इस तरह तो दुष्यन्तादि धीरोदात्त नायकों में जो कलाप्रियता तथा रागमयता बताई गई है, तथा जो धीरललित का गुण है—ठीक नहीं बैठेगी। वस्तुतः ऐसा मानना ठीक नहीं। इसी बात को स्पष्ट करते हुए वृत्तिकार बताता है कि धीरललित आदि पारिभाषिक शब्द (उपर्युक्त प्रकरण में वर्णित गुणों से समारोपित अवस्था के अभिव्यञ्जक हैं। इस तरह एक ही नायक में) कभी ललित वाली अवस्था, कभी शान्त वाली अवस्था, कभी उदात्त वाली अवस्था और कभी उद्धत वाली अवस्था पाई जा सकती है। (यह दूसरी बात है कि 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इस न्याय के आधार पर उसकी धीरललितादि संज्ञा किसी एक गुण की विशिष्टता के कारण

की जाती है।) जैसे बैल (गो) को हम विभिन्न अवस्थाओं में बछड़ा, बैल और साँड इन नामों से पुकारते हैं, ठीक उसी तरह नायक के विषय में भी कहा जा सकता है। उदात्त, ललित आदि जाति (उदात्तत्व या ललितत्व) के रूप में नायक में स्थित नहीं है। जिस तरह गौ में वत्सत्वादि जाति न होकर गोत्व जाति है, वत्स, वृषभ, महोक्ष केवल बैल के गुण हैं, वैसे ही नायक में नायकत्व जाति है, उदात्त, ललित आदि उसके गुण हैं।[1] अगर ललित आदि को ललितत्वादि जाति मानकर उत्तरकोटि में नायक में अविनाभावेन स्थित माना जाय तो फिर एक ही नायक में अनेक तरह के रूपों (ललित, उदात्त आदि) का निरूपण अनुचित होगा। महाकवियों ने अपने काव्यों व नाटकों में एक ही नायक को कई रूपों से युक्त निरूपित किया, जो परस्पर विरुद्ध है—किन्तु यह विरोधि-समागम असङ्गत इसलिए नहीं लगता कि ये ललितादि गुण हैं, तथा एक ही व्यक्ति में विभिन्न समयों (अवस्थाओं) पर विभिन्न गुणों की स्थिति पाई जा सकती है। लेकिन अगर ललित आदि को जाति मान लिया जाय, तो जाति अविनाशी है, अतः जहाँ ललितत्व जाति का अस्तित्व है, वहाँ उदात्तत्व जाति कैसे पाई जायगी। (जब कि गुण विनाशी तथा क्षणिक हैं अतः परस्पर विरोधी गुणों का भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में एक ही नायक में पाया जाना अनुचित तथा असङ्गत नहीं है।)

उदाहरण के लिए भवभूति के महावीरचरित से परशुराम के पात्र को ले लीजिये। भवभूति के परशुराम में कई गुणों का समावेश पाया जाता है। एक ओर रावण के प्रति निम्न संदेश भेजते हुए परशुराम का धीरोदात्तत्व प्रकट किया है —'ब्राह्मणों के अपमान को छोड़ देना तुम्हारे ही कल्याण के लिए है। परशुराम वैसे तुम्हारा मित्र है, लेकिन (ब्राह्मणों का अपमान करने पर) वह क्रुद्ध होता है।' दूसरी ओर राम के प्रति 'कैलासोद्धारसार—'आदि उक्ति का प्रयोग करते उसका धीरोद्धत-रूप प्रकट किया गया है। तीसरी ओर फिर 'ब्राह्मणजाति पवित्र है' इस प्रकार धीरशांत के रूप में उनका चित्रण हुआ है।[2] इस तरह अलग अलग अवस्थाओं में परशुराम का चित्रण अनुचित नहीं है। यहाँ परशुराम प्रधान नायक न होकर महावीरचरित के प्रधान नायक राम के अङ्गभूत नायक हैं। अङ्गभूत नायकों में महासत्त्वादि गुण प्रधाननायक की अपेक्षा न्यून तथा अव्यवस्थित ही होते हैं। अतः ऐसे अङ्गभूत नायकों का भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का चित्रण सर्वथा उचित जान पड़ता है। लेकिन जहाँ तक प्रधान नायक का प्रश्न है, उसके बारे में ऐसा करना ठीक नहीं होगा। जैसे मान लीजिये किसी प्रबन्ध (काव्य या नाटक) में रामादि को प्रधान नायक निबद्ध किया गया। ऐसे स्थल पर प्रबन्ध के अन्य पात्रों के प्रति प्रधान नायक की जो अवस्था आरम्भ में कवि ने गृहीत की है, उसी का निर्वाह अन्त तक होना ठीक है, दूसरी अवस्था का ग्रहण वहाँ ठीक

---

१ वृत्तिकार का भाव यह है कि घड़े से घटत्व जाति पृथक् नहीं की जा सकती, क्योंकि व्यक्ति तथा जाति का अविनाभाव सम्बन्ध है। किन्तु गुण के विषय में ऐसा नहीं है घड़ा, काला, लाल, नीला कई तरह का हो सकता है। घड़े में कृष्णत्व रक्तत्व आदि जाति मानना ठीक नहीं होगा महाभाष्यकार भी गुण को जाति नहीं मानते—चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः। गौश्शुक्लश्चलोडित्थ इति। नायक में अविनाभाव सम्बन्ध से नायकत्व की ही स्थिति है ललितादि गुणों की नहीं। अतः ललितादि गुण तो केवल तत्तदवस्था ■ रूपक हैं।

(अयं भावः यथा घटानीपटत्वादिजाति वस्तुस्थित्याऽविनाभावेन तिष्ठति, किन्तु शुक्लादि॰ गुणस्तु अवस्थाविशिष्ट एव, तथैव नायके नायकत्वजाति रविनाभावेन तिष्ठति, ललितादिगुणास्तु अवस्थानिरूपका एवेति दिक्।)

२ वैसे परशुराम नाट्यशास्त्र की दृष्टि से धीरप्रशांत पात्र हैं।

नहीं जँचेगा। जैसे राम जैसे धीरोदात्त नायक के प्रबन्ध में कपट से बालि का वध करना उनके महासत्त्व में दोष उत्पन्न कर देगा और वे अपनी अवस्था छोड़ देंगे (क्योंकि छलादि का आश्रय धीरोद्धत नायक का गुण है), (अतः ऐसे अवसरों पर कुशल कवि प्रबन्ध में उचित हेर फेर कर उस स्थल को नायक की धीरोदात्त प्रकृति के अनुरूप बना लेते हैं।)[1]

लेकिन आगे वर्णित दक्षिण, शठ, धृष्ट आदि नायक भेदों का एक ही नायक में भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में चित्रण अनुचित नहीं है, चाहे वह नायक प्रधान नायक हो या अप्रधान नायक हो। इस प्रकार के भेदों का आश्रय एक अवस्था के बाद दूसरी अवस्था के लिए लिया जा सकता है। इसका कारण यह है कि ये अवस्थायें एक दूसरी की अपेक्षा रखती हैं, परस्पर सापेक्षिक हैं। जैसे एक ही नायक पहले ज्येष्ठा नायिका के प्रति सहृदय रहता है, अतः दक्षिण नायक रहता है। यही कभी छिप-छिप कर कनिष्ठा से शृङ्गार चेष्टा करता है, अतः शठ हो जाता है। बाद में जब उसकी चालाकी साफ तौर पर ज्येष्ठा के द्वारा पकड़ी जाती है, तो वह धृष्ट नायक की कोटि में आ जाता है। अतः दाक्षिण्य आदि गुणों का अवस्थाभेद से प्रधान नायक में भी समावेश करना अनुचित तथा विरुद्ध नहीं है।

अथ शृङ्गारेऽवस्था—

स दक्षिणः शठो धृष्टः पूर्वां प्रत्यन्यया हृतः ॥ ६ ॥

नायकप्रकरणात्पूर्वां नायिकां प्रत्यन्ययाऽपूर्वनायिकयाऽपहृतचित्तस्त्र्यवस्थो वक्ष्यमाणभेदेन च चतुरवस्थः। तदेवं पूर्वोक्तानां चतुर्णां प्रत्येकं चतुरवस्थत्वेन षोडशधा नायकः।

जब नायक किसी नवीन (कनिष्ठा) नायिका के द्वारा हृतचित्त हो जाता है, तो वह पूर्वा (ज्येष्ठा) नायिका के प्रति दक्षिण, शठ या धृष्ट (प्रकृति का) होता है।

यहाँ नायक के प्रकरण में मूल कारिका में प्रयुक्त 'पूर्वां' तथा 'अन्यया' इन विशेषणों से इनके विशेष्य 'नायिका' का अध्याहार कर लिया जायेगा। यह नायक जब किसी नवीन नायिका के प्रेम में फँस जाता है, तो पहली नायिका के प्रति उसका व्यवहार कई प्रकार का हो सकता है। इसी व्यवहार के आधार पर शृंगारी नायक के दक्षिण, शठ तथा धृष्ट ये भेद किये गये हैं। कुछ ऐसे भी नायक (अनुकूल) होते हैं, जो एक ही नायिका के प्रति आसक्त रहते हैं (जैसे उत्तररामचरित के रामचन्द्र), इस भेद का वर्णन भी आगे किया जा रहा है। इस पर नायिका के प्रति व्यवहार की दृष्टि से नायक को चार तरह का माना जा सकता है। ऊपर धीर ललितादि चार प्रकार के नायकों के भेद बताये। प्रत्येक प्रकार का नायक दक्षिण, शठ, धृष्ट या अनुकूल हो सकता है, इस तरह (४×४=१६) नायक के भेद १६ तरह के हो जाते हैं।

तत्र—

दक्षिणोऽस्यां सहृदयः— ।

---

1. प्रतिनायक (अप्रभूत नायक) का चित्रण भिन्न-भिन्न अवस्था में करना उचित है, इसका स्पष्टीकरण मेरे 'शुम्भवधम्' महाकाव्य से दिया जा सकता है:—

(१) धीरोदात्तः—यस्य प्रयाणसमये प्रतिमूर्च्छिता तत् कीर्तिप्रकाण्डमतुलं हिमरश्मिगौरम्।
अश्वैः पलीनपरिघर्षणजातफेनव्याजादियं दिशि दिशि ध्वनिरीयते स्म ॥

(२) धीरललितः—रम्भादि वल्लभनितम्बकुचैत्य सद्यो रोमाञ्चितान् कुचघनगुरुच्छकम्पैः।
क्रियाभिषक्तविलासभरे रिमस्य माधुर्य भो दितिसुतस्य जहार चेतः ॥

(३) धीरोद्धतः—भीतो महीपसुरसर्वकशाभिघाता द्वारानिवं मधुरिकान्तिपुषि स्फुरन्तौ।
तन्मन्दुरावर्गणमीवनगस्वरौ किं सूर्यो न देवभिषजावपि देवबन्धौ ॥

योऽस्यां ज्येष्ठायां हृदयेन सह व्यवहरति स दक्षिणः। यथा ममैव—

'प्रसीदत्यालोके किमपि किमपि प्रेमगुरवो
रतिक्रीडाः कोऽपि प्रतिदिनमपूर्वोऽस्य विनयः।
सविश्रम्भः कश्चित्कथयति च किंचित्परिजनो
न चाहं प्रत्येमि प्रियसखि किमप्यस्य विकृतिम्॥'

यथा वा—

'उचितः प्रणयो वरं विहन्तुं बहवः खण्डनहेतवो हि दृष्टाः।
उपचारविधिर्मनस्विनीनां ननु पूर्वाभ्यधिकोऽपि भावशून्यः॥'

दक्षिण नायक वह है जो नवीन नायिका से प्रेम हो जाने पर भी पूर्वा नायिका के प्रति अपने व्यवहार में कोई कमी नहीं आने देता, तथा उसे इस बात का अनुभव नहीं होने देता, कि वह उससे कुछ उदासीन हो गया है। संक्षेप में वह पूर्वा नायिका के प्रति सहृदय रहता है, ज्येष्ठा नायिका के प्रति भी हृदय से व्यवहार करता है।

दक्षिण नायक के उदाहरण के रूप में वृत्तिकार धनिक अपने ही बनाये हुए पद्य को रखते हैं। सखियाँ किसी नायक की अन्यासक्ति के बारे में बार बार आ आकर ज्येष्ठा नायिका को चेतावनी दे जाती हैं। इधर नायक का व्यवहार ज्येष्ठा के प्रति इतना सहृदयतापूर्ण है कि उसे इस बात का विश्वास ही नहीं हो पाता कि उसका प्रेमी अब किसी दूसरी नायिका के प्रति आसक्त हो गया है। यही बात वो नायिका स्वयं अपनी एक सखी से कह रही है।

वह मुझे देखते ही खुश हो जाता है, तथा नाना प्रकार से (क्या क्या) रतिक्रीडायें किया करता है, जो प्रेम से भरी रहती हैं। उसकी विनम्रता प्रतिदिन अपूर्व रूप लेकर आती है। हर रोज वह एक नये प्रेम, नई खुशी, नई तरकीब के साथ मुझसे मिलता है। लेकिन दूसरी ओर मेरे विश्वासपात्र कोई सेवक (सखियाँ भी) कुछ दूसरी ही बात कहते हैं। विश्वासपात्र सेवकों से मुझे यह पता चला है कि अब वे कहीं दूसरी जगह आसक्त हो गये हैं। चूँकि सेवक विश्वासपात्र हैं, इसलिये मैं ऐसा भी नहीं मान सकती कि वे झूठ बोलते हैं। और इधर हे सखि, मैं स्वयं उसके विकार तथा परिवर्तन का विश्वास नहीं कर पाती हूँ।

अथवा,

प्रेम को मने से खत्म किया जा सकता है। एक से प्रेम होने पर किसी दूसरी प्रेयसी के प्रेम को खत्म करना उचित है। इस तरह प्रेम की समाप्ति के, प्रेम के खण्डन के, कई कारण हम लोगों ने देखे हैं। लेकिन कुछ कुशल लोग ऐसा न कर पहले की प्रेयसी के प्रति पहले से भी ज्यादा प्रेम दिखाते हैं। मानिनी प्रेयसियों के लिए नायक की यह उपचारविधि, नायक का यह व्यवहार, चाहे पहले से ज्यादा हो, फिर भी भाव तथा प्रेम से शून्य होता है।

अथ शठः—

—गूढविप्रियकृच्छठः।

दक्षिणस्यापि नायिकान्तरापहृतचित्ततया विप्रियकारित्वाविशेषेऽपि सहृदयत्वेन शठाद्विशेषः, यथा—

'शठान्यस्याः काञ्चीमणिरणितमाकर्ण्य सहसा
यदाश्लिष्यन्नेव प्रशिथिलभुजग्रन्थिरभवः।
तदेतत्क्वाचक्षे घृतमधुमयत्वद्बहुवचो-
विषेणाघूर्णन्ती किमपि न सखी मे गणयति॥'

शठ नायक वह है, जो ज्येष्ठा नायिका का बुरा तो करता है किन्तु छिप-छिप कर करता है। नवीन नायिका से प्रेम हो जाने पर शठकोटि का नायक पहली नायिका से डर डर कर छिपी शृंगारचेष्टाएँ किया करता है।

प्रथम नायिका की अप्रिय बात तो शठ और दक्षिण दोनों तरह के नायक समान रूप से करते हैं। प्रथम नायिका इस बात को पसन्द नहीं करेगी कि उसका नायक किसी दूसरी नायिका से प्रेम करे, चाहे उसका व्यवहार सहृदयतापूर्ण ही क्यों न हो। इस तरह दोनों में विप्रियकारित्व समान रूप से पाया जाता है, फिर भी दक्षिण में सहृदयत्व पाया जाता है, वह हृदय से ज्येष्ठा नायिका का दिल दुखाना नहीं चाहता, जब कि शठ चाहे बाहर से मीठी मीठी बातें भले ही कर लेता हो, दिल से साफ नहीं होता। इस प्रकार दक्षिण व शठ नायक में परस्पर भेद पाया जाता है।

शठ नायक का उदाहरण यह दिया जा सकता है। नायक बड़ा चालाक है। ज्येष्ठा का आलिंगन करते समय ही वह कनिष्ठा की करधनी की आवाज सुनकर उधर उन्मुख होने के कारण आलिंगन को शिथिल कर देता है। पर कहीं ज्येष्ठा इस बात को न ताड़ जाय, इसलिये वह मीठी-मीठी बातों में उसे उलझा देता है। ज्येष्ठा की एक सखी इस बात को ताड़ जाती है, और किसी दूसरे मौके पर वह नायक की चालाकी का पर्दाफाश करती नायक से कह रही है।

अरे दुष्ट, तू मेरी सखी के सामने अनुकूल नायक बनने का ढोंग रचा करता है, लेकिन असल में तू शठ है। उस दिन एकदम दूसरी नायिका की करधनी की मणियों की आवाज सुनकर मेरी सखी का आलिंगन करते करते ही तूने अपने बाहुपाश को ढीला कर लिया। मैं तेरी बातों को क्या कहूँ। तू बड़ा धूर्त है, तेरे स्नेह और मिठास भरे वचन घी और शहद का मिश्रण है। जिस तरह घी और शहद को मिलाकर चाटने पर व्यक्ति घूर्णित होने लगता है, क्योंकि उचित मात्रा में न लेने पर उनका मिश्रण विष हो जाता है और चाटने वाले व्यक्ति को निश्चेतन बना देता है, वैसे ही तेरे (झूठे) स्नेह तथा प्रेम के मिश्रण का आस्वाद कर मेरी सखी मदमस्त हो जाती है, और वह मस्ती में इतनी मदहोश हो जाती है कि तेरी इन चालाकियों के बारे में भी कुछ नहीं जान पाती।

अथ धृष्टः—

व्यक्ताङ्गवैकृतो धृष्टो—

यथाऽमरुशतके—

'लाक्षालक्ष्म ललाटपट्टमभितः केयूरमुद्रा गले
वक्त्रे कज्जलकालिमा नयनयोस्ताम्बूलरागोऽपरः।
दृष्ट्वा कोपविधायि मण्डनमिदं प्रातश्चिरं प्रेयसो
लीलातामरसोदरे मृगदृशः श्वासाः समाप्तिं गताः॥'

कभी नायक छिप-छिप कर कनिष्ठा नायिका के साथ शृङ्गारचेष्टाएँ करता है, और उसकी इन चेष्टाओं का निशान उसके शरीर पर लगा रहता है। ज्येष्ठा नायिका के सामने जब उसके ये अङ्गविकार प्रकट हो जाते हैं और उसे नायक की छिप कर की गई सारी चेष्टाओं का भान हो जाता है, तो नायक धृष्ट कहलाता है। (धृष्ट नायक इतना ढीठ है कि वह इस तरह अङ्गविकारयुक्त होकर भी ज्येष्ठा के सामने आने से नहीं हिचकिचाता।)

धृष्ट नायक का उदाहरण अमरुकशतक से दिया गया है। कनिष्ठा के साथ रतिक्रीडा कर क्रीडा के चिह्नों से शोभित हो, नायक ज्येष्ठा के समीप आया है। उसे देखकर रात में की गई नायक की सारी हरकतें ज्येष्ठा को मालूम हो गई हैं। ज्येष्ठा के मन में उसे देखकर क्या

भाव उठते हैं, उनकी अभिव्यञ्जना इस पद्य में ज्येष्ठा के अनुभावों तथा सात्त्विक भावों के द्वारा की गई है।

रात को रतिक्रीडा करते समय कनिष्ठा नायिका के रूठने पर नायक ने उसके चरणों पर सिर रखकर उसे मनाया था, इसलिए उसके ललाटतट पर नायिका के चरणों के अलक्तक का निशान हो गया था। रतिक्रीडा के समय नायिका के बाजू पर गला रखकर वह सोया था इसलिए उसके गले में अङ्गद (बाजूबन्द) का चिह्न हो गया था। उसने नायिका के नेत्रों का चुम्बन किया था, इसलिए मुख में कज्जल की कालिमा लगी हुई थी और उसके नेत्रों का चुम्बन नायिका ने किया था, इसलिये उसके नेत्रों पर ताम्बूल की ललाई लगी थी। सुबह जब नायक कनिष्ठा के पास से ज्येष्ठा नायिका के पास लौटा तो वह ऐसी साज-सज्जा से विभूषित था जो ज्येष्ठा को क्रुद्ध कर देने वाली थी। प्रिय के इस मण्डन को देखकर हिरन के समान चञ्चल नेत्र वाली नायिका के श्वास लीला कमल तक आकर रुक गये, अथवा नायिका के श्वास लीलाकमल के समान मुख के अन्दर ही अन्दर समाप्त हो गये, वह पूरी तरह साँस भी न ले सकी।

भेदान्तरमाह—

—अनुकूलस्त्वेकनायिकः ॥ ७ ॥

यथा—

'अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगतं सर्वास्ववस्थासु यद्-
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः।
कालेनावरणात्ययात्परिणते यत्स्नेहसारे स्थितं
भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते ॥'

किमवस्थः पुनरेषो वत्सराजादिर्नागानन्दादिनायकः स्यात्? इत्युच्यते—पूर्वमनुपजातनायिकान्तरानुरागोऽनुकूलः, परतस्तु दक्षिणः। ननु च गूढविप्रियकारित्वाद्धृष्टवद्विप्रियत्वाच्च शाठ्यधाष्ट्र्येऽपि कस्मान्न भवतः, न तथाविधविप्रियत्वेऽपि वत्सराजादेराप्रबन्धसमाप्तेर्ज्येष्ठां नायिकां प्रति सहृदयत्वाद्दक्षिणत्वैव, न चोभयोर्ज्येष्ठाकनिष्ठयोर्नायकस्य स्नेहेन न भवितव्यमिति वाच्यम्, अविरोधात्। महाकविप्रबन्धेषु च—

'स्नाता तिष्ठति कुन्तलेश्वरसुता वारोऽङ्गराजस्वसु-
र्द्यूते रात्रिरियं जिता कमलया देवी प्रसाद्याद्य च।
इत्यन्तःपुरसुन्दरी प्रति मया विज्ञाय विज्ञापिते
देवेनाप्रतिपत्तिमूढमनसा द्वित्राः स्थितं नाडिकाः ॥'

इत्यादावपक्षपातेन सर्वनायिकासु प्रतिपत्त्युपनिबन्धनात्। तथा च भरतः—

'मधुरत्यागी रागं न याति मदनस्य नापि वशमेति।
अवमानितश्च नार्या विरज्यते स तु भवेज्ज्येष्ठः' ॥

इत्यत्र 'न रागं याति न मदनस्य वशमेति' इत्यनेनासाधारण एकस्यां स्नेहे निषिद्धो दक्षिणस्येति, अतो वत्सराजादेराप्रबन्धसमाप्ति स्थितं दाक्षिण्यमिति। षोडशानामपि प्रत्येकं ज्येष्ठमध्यमाधमत्वेनाष्टचत्वारिंशन्नायकभेदा भवन्ति।

जो नायक एक ही नायिका के प्रति आसक्त रहता है, (स्वप्न में भी दूसरी नायिका के प्रेम की बात नहीं सोचता), वह अनुकूल नायक है।

जैसे उत्तररामचरित के रामचन्द्र अनुकूल कोटि के नायक हैं। इसका उदाहरण उत्तररामचरित का यह पद्य दिया जा सकता है—सीता का प्रेम सुख तथा दुःख दोनों की अवस्थाओं में एक सा है, उसमें कोई भी फर्क नहीं आया; यह हर दशा में एक-सा रहा है। सीता का यह प्रेम हृदय को शान्ति देने वाला है, तथा प्रौढावस्था (वृद्धावस्था) के आने पर भी इसकी सरसता में कमी नहीं पड़ी है। अच्छे व्यक्ति का ऐसा अच्छा कल्याणकारी प्रेम, जो समय के व्यतीत होने पर, परिपक्व स्नेह में स्थित है, क्योंकि समय ने बीच के पर्दे को हटा दिया है, किसी तरह ही प्राप्त किया जा सकता है?

शृङ्गारी नायकों के भेदोपभेद की गणना हो जाने पर यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि नाटिका (उपरूपक) के नायक वत्सराज उदयन आदि को किस कोटि का मानना होगा? (वत्सराज में कभी दक्षिणत्व, कभी शठत्व और कभी धृष्टत्व पाया जाता है, इसलिए एक ही नायक में भिन्न अवस्थाओं के पाये जाने से कोटिनिर्धारण के विषय में शङ्का उपस्थित होना सम्भव है।), इसी प्रश्न का उत्तर देते हुए वृत्तिकार धनिक कहता है।

रत्नावलीनाटिका आदि के नायक वत्सराज आदि का जब तक किसी दूसरी नायिका से प्रेम नहीं हो पाता तब तक उसे अनुकूल ही मानना होगा—(जैसे कामदेवपूजा तक वत्सराज अनुकूल कोटि का नायक है) इसके बाद दूसरी नायिका से प्रेम हो जाने पर वह दक्षिण बन जाता है। इस पर पूर्वपक्षी यह शङ्का कर सकता है, कि वत्सराज छिप-छिप कर वासवदत्ता का विप्रिय करता है, तथा इसका पता वासवदत्ता को लग जाता है, वत्सराज की चालाकी प्रकट हो ही जाती है, इसलिए वह शठ तथा धृष्ट क्यों नहीं है? इसीका उत्तर देते हुए वृत्तिकार कहता है कि वत्सराज को शठ या धृष्ट नहीं माना जा सकता। यद्यपि वत्सराज रत्नावली (सागरिका) से प्रेम करके वासवदत्ता का अपराध करता है, फिर भी सम्पूर्ण नाटिका में वत्सराज का व्यवहार अपनी ज्येष्ठा नायिका वासवदत्ता के प्रति सहृदयतापूर्ण ही रहा है, इसलिए वह दक्षिण कोटि का ही नायक है। यदि इस विषय में पूर्वपक्षी की यह आपत्ति हो कि ज्येष्ठा और कनिष्ठा दोनों के प्रति नायक का स्नेह होना ठीक नहीं (क्योंकि नायक का वास्तविक स्नेह एक से ही हो सकता है) तो ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि दोनों से स्नेह करने में कोई विरोध नहीं दिखाई देता साथ ही महाकवियों ने अपने काव्यों में सभी नायिकाओं के साथ दक्षिण नायक के एक-से पक्षपातशून्य प्रेम का चित्रण किया है। इसका उदाहरण यह पद्य दिया जा सकता है—

किसी राजा के अन्तःपुर का कञ्चुकी प्रातः से आकर अन्तःपुर की रानियों की स्थिति वर्णन करता है, तथा राजा किस रानी के यहाँ रात बितायेंगे, इस विषय में आदेश चाहता है। राजा नीचे की बात सुन कर दो तीन घड़ी तक किसी बात का निर्णय नहीं कर पाता, क्योंकि वह दक्षिण प्रकृति का है, तथा उसका बर्ताव सभी रानियों के साथ सहृदयतापूर्ण है।

कुन्तलेश्वर की पुत्री रजोदर्शन के बाद आज शुद्ध हुई है, अतः राजा का वहाँ जाना धर्मानुकूल है। अङ्गराज की बहिन की आज बारी है कि आप उसके यहाँ रात्रि बितायें। कमला ने आज की रात जुए में जीत ली है और अप्रसन्न महारानी (देवी) को भी आज खुश करना है। जब जनाने की सारी बातें जानकर मैंने अन्तःपुर की रानियों के विषय में राजा से यह अर्ज किया तो वे किंकर्तव्यविमूढ़ से होकर दो तीन घड़ी तक चुप से बैठे रहे।

नाट्याचार्य भरत ने भी ज्येष्ठ (दक्षिण) नायक की परिभाषा यों निबद्ध की है—'ज्येष्ठ नायक मधुर तथा त्यागी होता है, वह राग (विषय) में आसक्त नहीं होता, न कामदेव के

वशीभूत ही होता है और अपमान (तिरस्कार) करने पर वह नारी (ज्येष्ठा नायिका) से विरक्त हो जाता है ।'

इस परिभाषा में 'वह राग में आसक्त नहीं होता, न कामदेव के वश में ही होता है' इसके द्वारा एक नायिका में दक्षिण नायक का असाधारण स्नेह का होना निषिद्ध किया गया है । इसलिये वत्सराज उदयन पूरे काव्य (रत्नावली) में दक्षिण कोटि का नायक है । नायक पहले सोलह तरह के बताये गये । ये फिर ज्येष्ठ (उत्तम), मध्यम तथा अधम कोटि के भी हो सकते हैं अतः इनके ४८ भेद हो जाते हैं ।

सहायानाह—

पताकानायकस्त्वन्यः पीठमर्दो विचक्षणः ।
तस्यैवानुचरो भक्तः किञ्चिदूनश्च तद्गुणैः ॥ [illegible] ॥

प्रागुक्तप्रासङ्गिकेतिवृत्तविशेषे पताकायां नायकः पीठमर्दः प्रधानेतिवृत्तनायकस्य सहायः, यथा मालतीमाधवे मकरन्दः, रामायणे सुग्रीवः ।

काव्य में नायक के कई साथी व सहायक उपनिबद्ध किये जाते हैं । इनमें प्रधान पताकानायक होता है । इसे पीठमर्द भी कहते हैं । पताकानायक चतुर तथा बुद्धिमान् होता है तथा प्रधान नायक का अनुचर तथा भक्त होता है । वह प्रधाननायक की अपेक्षा कुछ ही गुणों में कम होता है ।

कथावस्तु के भेद का वर्णन करते समय आधिकारिक तथा प्रासङ्गिक दो तरह की वस्तु बताई गई है । इसमें आधिकारिक का नायक प्रधान नायक होता है । प्रासङ्गिक के दो भेद हैं—पताका व प्रकरी । इसी पताका नायक प्रासङ्गिक कथावस्तु का नायक पीठमर्द कहलाता है तथा वह प्रधान नायक का सहायक होता है । जैसे मालतीमाधव का मकरन्द तथा रामायण का सुग्रीव, जो क्रमशः माधव व राम के सहायक हैं, तथा उनसे गुणों की दृष्टि से कुछ ही कम हैं ।

सहायान्तरमाह—

एकविद्यो विटश्चान्यो, हास्यकृच्च विदूषकः ।

गीतादिविद्यानां नायकोपयोगिनीनामेकस्या विद्याया वेदिता विटः, हास्यकारी विदूषकः, अस्य विकृताकारवेषादित्वं हास्यकारित्वेनैव लभ्यते । यथा शेखरको नागानन्दे विटः, विदूषकः प्रसिद्ध एव ।

नायक के दूसरे भी सहायक होते हैं, इनमें विट वह है, जो किसी एक विद्या में निपुण होता है, और विदूषक नाटक का मजाकिया पात्र होता है ।

नायक के लिए उपयोगी गीत, नृत्य आदि विद्याओं में से किसी एक विद्या का जानने वाला विट तथा हास्यकारी पात्र विदूषक होता है । विदूषक के अजीब तरह के आकार व वेशभूषा हास्य के पैदा करने वाले हैं । नागानन्द नाटक का शेखरक विट है, विदूषक तो प्रसिद्ध है ही ।[१]

---

१ मृच्छकटिक में शकार का साथी विट है (जो वस्तुतः शकार के खिलाफ वसन्तसेना की सहायता करता है), तथा चारुदत्त का साथी मैत्रेय विदूषक है । अथवा जैसे मेरे मन्दारवती मदनदत्त में विदूषक —'वह ह ण वेअराओ । हदि वसु मए—

पुष्ठमलोचिजुदं ण रोण अम्हाणं सम्बरीआण ।
मालअमअरुअपजरं गच्छह वभण वसु वेअराअस्स ॥'

अथ प्रतिनायकः—

लुब्धो धीरोद्धतः स्तब्धः पापकृद्व्यसनी रिपुः ॥ ९ ॥

तस्य नायकस्येत्थंभूतः प्रतिपक्षनायको भवति, यथा रामयुधिष्ठिरयो रावणदुर्योधनौ ।

नायक की फलप्राप्ति में विघ्न करने वाला, नायक का शत्रु प्रतिनायक होता है। यह प्रतिनायक लोभी, धीरोद्धत, घमण्डी, पापी तथा व्यसनी होता है।

इस नायक का शत्रु प्रतिनायक इन विशेषताओं से युक्त होता है। जैसे राम तथा युधिष्ठिर के शत्रु क्रमशः रावण तथा दुर्योधन हैं।[1]

अथ सात्त्विका नायकगुणाः—

शोभा विलासो माधुर्यं गाम्भीर्यं [2]स्थैर्यतेजसी ।
ललितौदार्यमित्यष्टौ [3]सात्त्विकाः पौरुषा गुणाः ॥ १० ॥

नायक में पुरुषत्वयुक्त आठ सात्त्विक गुणों का होना आवश्यक है। ये आठ सात्त्विक गुण हैं:—शोभा, विलास, माधुर्य, गाम्भीर्य, स्थैर्य, तेज, ललित तथा औदार्य।

तत्र (शोभा यथा)—

नीचे घृणाधिके स्पर्धा शोभायां शौर्यदक्षते ।

नीचे घृणा यथा वीरचरिते—

'उत्तालताडकोत्पातदर्शनेऽप्यप्रकम्पितः ।
नियुक्तस्तत्प्रमाथाय स्त्रैणेन विचिकित्सति ॥'

गुणाधिकैः स्पर्धा यथा—

'एतां पश्य पुरःस्थलीमिह किल क्रीडाकिरातो हरः
कोदण्डेन किरीटिना सरभसं चूडान्तरे ताडितः ।
इत्याकर्ण्य कथाद्भुतं हिमनिधावद्रौ सुभद्रापते-
र्मन्दं मन्दमकारि येन निजयोर्दोर्दण्डयोर्मण्डनम् ॥'

शौर्यशोभा यथा ममैव—

'अन्त्रैः स्वैरपि संयताग्रचरणो मूर्च्छाविरामक्षणे
स्वाधीनव्रणिताङ्गशस्त्रनिचितो रोमोद्गमं वर्मयन् ।
भग्नानुद्वलयन्निजान्परभटान्संतर्जयन्निष्ठुरं
धन्यो धाम जयश्रियः पृथुरणस्तम्भे पताकायते ॥'

दक्षशोभा यथा वीरचरिते—

'स्फूर्जद्वज्रसहस्रनिर्मितमिव प्रादुर्भवत्यग्रतो
रामस्य त्रिपुरान्तकृद्दिविषदां तेजोभिरिद्धं धनुः ।

---

१. [जैसे प्रतिनायक शुम्भ दैत्य (मेरे 'शुम्भवधम्' महाकाव्य में) इसी प्रकार की विशेषताओं से युक्त है:—

प्राक्प्रत्यगुत्तरदिशा सकला विजित्य
भर्तुं नु जिगाय समरे य महेन्द्रशत्रुः ।
चक्रे कुबेरकुपितः करजेश यावे
तापाहितान् पद्मवरः सुरवे न याताम् ॥]

(२) 'धैर्य' इति पाठान्तरम् । (३) 'सात्त्विकाः' इति पाठान्तरम् ।

शुण्डारः कलभेन यद्वदचले वत्सेन दोर्दण्डक-
स्तस्मिन्नाहित एव गर्जितगुणं कृष्टं च भग्नं च तत् ॥

शोभा नामक सात्त्विक गुण वहाँ होता है, जहाँ नायक में शौर्य तथा दक्षता पाई जावे तथा नीच व्यक्ति के प्रति घृणा एवं स्वयं से अधिक व्यक्ति के प्रति स्पर्धा पाई जाती हो।

जैसे महावीर चरित के नायक रामचन्द्र में नीच के प्रति घृणा पाई जाती है।

ताड़ के पेड़ के समान ऊँची ताड़का के उत्पात को देख कर भी रामचन्द्र कम्पित व भयभीत न हुए। फिर भी उसे मारने के लिए नियुक्त होने पर ताड़का के स्त्री होने के कारण वे कुछ विचार करने लगे हैं।

दूसरे के अधिक गुणों को देखकर उसके प्रति स्पर्धा होना भी नायक का शोभा नामक सात्त्विक गुण है। उदाहरण के रूप में जहाँ महादेव के, अर्जुन के गुणों से प्रभावित होकर उससे स्पर्धा करने से सम्बद्ध निम्न पद्य लिया जा सकता है।

'इस सामने की स्थली को जरा गौर से देखो। यही वह जगह है, जहाँ अर्जुन (किरीटी) ने धनुष के द्वारा क्रीड़ा से भील बने हुए महादेव के सिर को कैसी से चोट पहुँचाई थी।' हिमालय में इस प्रकार की—सुभद्रा के पति अर्जुन की अद्भुत कथा सुनकर त्रिनेत्र महादेव ने अपनी दोनों भुजाओं को धीरे धीरे मण्डलाकार करके सहलाया—(उनकी जय हो)।

जहाँ नायक में अतिशय वीरता पाई जाय वहाँ शौर्यशोभा होगी, जैसे वृत्तिकार धनिक का स्वय का यह पद्य। नायक रणस्थल में बुरी तरह घायल होकर गिर पड़ा है तथा मूर्च्छित हो गया है। किन्तु मूर्च्छा के समाप्त होते ही वह फिर से रणस्थल में आ जाता है, इसी विषय का पद्य है।

यद्यपि उस वीर के पैरों के अग्रभाग अपनी ही अँतड़ियों से बँध गये हैं, फिर भी मूर्च्छा के समाप्त होते ही वह उठ खड़ा होता है। उसका शरीर घावों से तथा उनमें लगे शस्त्रों से परिपूर्ण है। वीरता का सञ्चार होने के कारण उसके रोंगटे खड़े हो गये हैं, जैसे उसने रोमों का कवच धारण कर लिया है। हारे हुए अपने सैनिकों को वह फिर से जोश दिला रहा है, तथा शत्रु-सैनिकों को निष्ठुरतापूर्वक फटकार रहा है। यह जयलक्ष्मी का निवासस्थान (अथवा जयलक्ष्मी का रंगस्थल) अद्भुत वीर भव्य है, जो उस महान् युद्धस्थल के स्तम्भ पर पताका के समान फहरा रहा है।[१]

नायक में चतुरता का पाया जाना भी एक सात्त्विक गुण है तथा इसका समावेश भी शोभा में ही होता है। दक्षशोभा जैसे वीरचरित के राम में—

समस्त देवताओं के तेज से समिद्ध, त्रिपुर नामक दैत्य का अन्त करने वाला, शिव का पिनाक धनुष—जो मानों हजारों कड़कड़ाते कठोर वज्रों से बना हुआ है—राम के सामने प्रकटित होता है (राम के सामने पड़ा है)। बस राम ने उस अचल धनुष पर इसी तरह अपना हाथ रखा, जैसे हाथी का बच्चा सूँड रखता है, और सशब्द प्रत्यञ्चा वाले उस धनुष को खेंचा तथा तोड़ डाला।

अथ विलासः—

गतिः सधैर्या दृष्टिश्च विलासे सस्मितं वचः ॥ ११ ॥

---

१ दशरूपककार धनञ्जय व उनके भाई वृत्तिकार धनिक दोनों धाराधीश मुञ्ज के सभा पण्डित थे। सम्भवतः धनिक ने इस पद्य में मुञ्ज की ही वीरता का वर्णन किया हो।

यथा—

'दृष्टिस्तृणीकृतजगत्त्रयसत्त्वसारा
धीरोद्धता नमयतीव गतिर्धरित्रीम्।
कौमारकेऽपि गिरिवद्गुरुतां दधानो
वीरो रसः किमयमेत्युत दर्प एव॥'

नायक का दूसरा सात्त्विक गुण विलास है। विलास नामक सात्त्विक गुण यह है, जब नायक में धैर्ययुक्त दृष्टि तथा धैर्ययुक्त गति पाई जाय, एवं उसकी वाणी स्मिति से युक्त हो।

उत्तररामचरित में चन्द्रकेतु लव को देखकर उसकी गति तथा दृष्टि के विषय में वर्णन करता कहता है:—

जब यह देखता है तो ऐसा जान पड़ता है जैसे इसकी नजर ने तीनों लोकों की वीरता को तुच्छ समझ रक्खा है। इसकी धीर और उद्धत चाल जैसे पृथ्वी को भी झुका देती है। वैसे तो यह कुमारावस्था में ही है, फिर भी पहाड़ के समान गुरुत्व धारण किये हुए है। इसे देख कर ऐसा सन्देह होता है कि यह स्वयं वीर रस ही आ रहा है, या स्वयं मूर्तिमान् दर्प हो।

अथ माधुर्यम्—

श्लक्ष्णो विकारो माधुर्यं संक्षोभे सुमहत्यपि।

महत्यपि विकारहेतौ मधुरो विकारो माधुर्यम्। यथा—

'कपोले जानक्याः करिकलभदन्तद्युतिमुषि
स्मरस्मेरं गण्डोड्डमरपुलकं वक्त्रकमलम्।
मुहुः पश्यञ्छृण्वन्रजनिचरसेनाकलकलं
जटाजूटग्रन्थिं द्रढयति रघूणां परिवृढः॥'

नायक का तीसरा सात्त्विक गुण माधुर्य है। जब बहुत बड़े क्षोभ के होने पर भी मामूली सा विकार नायक में पाया जाय, तो वह माधुर्य कहलाता है।

जैसे नीचे के पद्य में खरदूषण के युद्धार्थ उपस्थित होने पर भी रामचन्द्र में बहुत ज्यादा विकार नहीं पाया जाता। उनमें बहुत थोड़ा विकार हुआ है, यह इस पद्य के द्वारा ध्वनित होता है।

रघुकुल के नायक रामचन्द्र हाथी के बच्चे के कोमल दाँत की कान्ति वाले, जानकी के कपोल में, मुस्कराते हुए तथा रोमाञ्चित गण्डस्थल वाले अपने मुखकमल को बार बार देखते हुए तथा राक्षसों की सेना के कोलाहल को सुनते हुए; अपनी जटाओं के जूड़े को दृढ कर रहे हैं।

अथ गाम्भीर्यम्—

गाम्भीर्यं यत्प्रभावेन विकारो नोपलक्ष्यते॥ १२॥

मृदुविकारोपलम्भाद्विकारानुपलब्धिरन्येति माधुर्यादन्यद्गाम्भीर्यम्।

यथा—

'आहूतस्याभिषेकाय विसृष्टस्य वनाय च।
न मया लक्षितस्तस्य स्वल्पोऽप्याकारविभ्रमः॥'

गाम्भीर्य नायक का वह सात्त्विक गुण है, जब विकार के महान् हेतु के होने पर भी उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता, जब कुछ भी विकार दिखाई नहीं पड़ता।

माधुर्य तथा गाम्भीर्य दोनों गुण एक दूसरे से भिन्न है। माधुर्य गुण में विकार अवश्य पाया जाता है, यह दूसरी बात है कि वह बड़ा कोमल होता है। गाम्भीर्य गुण में विकार का सर्वथा अभाव होता है। गाम्भीर्य गुण के उदाहरण के रूप में रामचन्द्र के विषय में कहा गया यह श्लोक दिया जा सकता है।

जब उन्हें अभिषेक के लिए बुलाया गया तब और जब उन्हें वन के लिए विदा किया गया तब, दोनों वक्त मैंने उनके (राम के) चेहरे पर कोई भी (थोड़ा सा भी) विकार नहीं देखा।

अथ स्थैर्यम्—

व्यवसायादचलनं स्थैर्यं विघ्नकुलादपि।

यथा वीरचरिते—

'प्रायश्चित्तं चरिष्यामि पूज्यानां वो व्यतिक्रमात्।
न त्वेवं दूषयिष्यामि शस्त्रग्रहमहाव्रतम्॥'

स्थैर्य वह सात्त्विक गुण है, जब नायक अनेकों विघ्नों के होने पर भी उनसे चञ्चल नहीं होता हो, वह अपने व्यवसाय (कार्य) से कभी भी विचलित नहीं होता हो।

जैसे महावीर चरित का यह पद्य स्थैर्य का व्यञ्जक है। मैंने आप जैसे पूज्य लोगों की अवहेलना की है, अतः मैं प्रायश्चित करूंगा। मैं शस्त्रग्रहण के बड़े व्रत को इस तरह दूषित नहीं करूंगा।

अथ तेजः—

अधिक्षेपाद्यसहनं तेजः प्राणात्ययेऽष्वपि॥ १३॥

यथा—

'ब्रूत नूतनकूष्माण्डफलानां के भवन्त्यमी।
अङ्गुलीदर्शनाद्येन न जीवन्ति मनस्विनः॥'

तेज नामक सात्त्विक गुण वह है, जब नायक तिरस्कार आदि को मरते दम तक नहीं सहे।

जैसे, बताओ तो सही कितने लोग ऐसे हैं, जो नये कुम्हड़े के फलों की तरह हैं। मनस्वी व्यक्ति दूसरे लोगों के अंगुलीदर्शन आदि इशारों पर नहीं जीते हैं।

अथ ललितम्—

शृङ्गाराकारचेष्टात्वं सहजं ललितं मृदु।

स्वाभाविकः शृङ्गारो मृदुः, तथाविधा शृङ्गारचेष्टा च ललितम्।

यथा ममैव—

'लावण्यमन्मथविलासविजृम्भितेन
स्वाभाविकेन सुकुमारमनोहरेण।
किंवा ममैव सखि योऽपि ममोपदेष्टा
तस्यैव किं न विषमं विदधीत तापम्॥'

स्वाभाविक कोमलता से युक्त शृङ्गारपरक चेष्टाओं का नायक में पाया जाना, ललित नामक सात्त्विक गुण कहलाता है।

स्वाभाविक शृङ्गार कोमल होता है, स्वाभाविक शृङ्गारी चेष्टा ही ललित नामक सात्त्विक गुण है। जैसे वृत्तिकार का स्वयं का निम्नोक्त पद्य नायक के ललित नामक गुण का अभिव्यञ्जक है।

हे सखि, सुन्दरता तथा कामविलास से युक्त, स्वाभाविक सुकुमारता तथा मनोहरता वाले उस नायक के द्वारा मेरे ही क्या मुझे उपदेश देने वाले के भी हृदय में विषम ताप नहीं किया जा सकता है क्या? अर्थात् उसका लावण्य, सुकुमारता तथा मनोहरता ऐसी है, कि वह मेरे ही कामजन्य ताप उत्पन्न नहीं करता, बल्कि किसी भी देखने वाली रमणी के इसी प्रकार का ताप कर सकता है।

अथौदार्यम्—

प्रियोक्त्याऽऽजीविताद्दानमौदार्यं सदुपग्रहः ॥ १४ ॥

प्रियवचनेन सहाऽऽजीवितावधेर्दानमौदार्यं सतामुपग्रहश्च । यथा नागानन्दे—

'शिरामुखैः स्यन्दत एव रक्तमद्यापि देहे मम मांसमस्ति ।
तृप्तिं न पश्यामि तवैव तावत्किं भक्षणात्त्वं विरतो गरुत्मन् ॥'

सदुपग्रहो यथा—

'एते वयममी दाराः कन्येयं कुलजीवितम् ।
ब्रूत येनात्र वः कार्यमनास्था बाह्यवस्तुषु ॥'

जहाँ नायक प्रिय वचनों के द्वारा प्राण तक देने को प्रस्तुत हो, तथा सज्जन व्यक्तियों को अपने आचरण से अनुकूल बना ले, वहाँ उसमें औदार्य सात्त्विक गुण माना जाता है।

इसका उदाहरण नागानन्द नाटक से जीमूतवाहन के रूप में दिया जा सकता है। जीमूतवाहन के औदार्य की व्यञ्जना इस पद्य से हो रही है—

'हे गरुड, अभी भी मेरी नसों के किनारों से खून टपक ही रहा है, अभी भी मेरे शरीर में मांस बचा हुआ है, तुम भी अभी तृप्त नहीं हुए हो, ऐसा मेरा अन्दाजा है। फिर क्या कारण है कि तुम (मुझे) खाने से रुक गये हो।'

सज्जनों के अपने अनुकूल बनाने का (सदुपग्रह का) उदाहरण यों दिया जा सकता है।

ये हम, यह हमारी पत्नी और हमारे कुल का प्राण यह लड़की, हम सभी बाह्य वस्तुओं के प्रति विरक्त हैं (बाह्य वस्तुओं में कोई आस्था नहीं रखते), जिस किसी से तुम्हारा काम हो, वह कहो।

नायक के वर्णन के साथ ही साथ नायिका का वर्णन भी प्रसंगोपात्त है, अतः उसका विवेचन करते हैं:—

अथ नायिका—

स्वान्या साधारणस्त्रीति तद्गुणा नायिका त्रिधा ।

तद्गुणेति । यथोक्तसम्भवे नायकसामान्यगुणयोगिनी नायिकेति, स्वस्त्री, परस्त्री साधारणस्त्रीत्यनेन विभागेन त्रिधा ।

नायिका नायक के ही सामान्य गुणों से युक्त होती है। यह तीन तरह की होती है—स्वकीया, अन्या (परकीया), तथा साधारण स्त्री।

(स्वीया जैसे उत्तररामचरित की सीता; साधारण स्त्री जैसे मृच्छकटिक की वसन्तसेना, परकीया का वर्णन काव्यों व नाटकों में अंगीरस के आलम्बन के रूप में नहीं किया जाता। वैसे संस्कृत के कई मुक्तक पद्यों में इसका चित्रण पाया जाता है। जैसे,

वानीरकुञ्जोड्डीनशकुनिकोलाहलं शृण्वन्त्याः ।
गृहकर्मव्यापृतायाः वध्वाः सीदन्ति अङ्गानि ॥)

तत्र—

मुग्धा नववयःकामा रतौ वामा मृदुः क्रुधि ।

प्रथमावतीर्णतारुण्यमन्मथा रमणे वामशीला सुखोपायप्रसादना मुग्धनायिका ।

मुग्धानायिका अवस्था तथा कामवासना दोनों में नई रहती है, रति से वह वाम रहती है अर्थात् रति से कतराती है तथा नायक से मानादि में क्रोध करने में भी कोमल होती है ।

मुग्धानायिका वह है जिसमें यौवन तथा काम दोनों का पहला आविर्भाव पाया जाता है, जो सुरतक्रीडा से डरती है तथा बड़े सरल ढङ्ग से खुश की जा सकती है ।

तत्र वयोमुग्धा यथा—

> 'विस्तारी स्तनभार एष गमितो न स्वोचितामुन्नतिं
> रेखोद्भासिकृतं वलित्रयमिदं न स्पष्टनिम्नोन्नतम् ।
> मध्येऽस्या ऋजुरायतार्धकपिशा रोमावली निर्मिता
> रम्यं यौवनशैशवव्यतिकरोन्मिश्रं वयो वर्तते ॥'

वयोमुग्धा का उदाहरण यों दिया जा सकता है । नायिका वय सन्धि की अवस्था में है । इसी वय सन्धि का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि नायिका की यौवन तथा शैशव के परस्पर मिश्रण से उत्पन्न अवस्था बड़ी सुन्दर है । इसका स्तनभार बढ़ रहा है, किन्तु अभी अपनी उचित उन्नति को नहीं प्राप्त हुआ है । रेखाओं के द्वारा प्रकाशित निम्नोन्नत ये तीन रेखाएँ (त्रिवलि) अभी स्पष्ट नहीं दिखाई पड़ रही हैं । इसके मध्यभाग में लम्बी तथा आधी भूरी कोमल रोमावली बन गई है । इन सब बातों से स्पष्ट है कि नायिका इस समय वय सन्धि में वर्तमान है ।

यथा च ममैव—

> 'उच्छ्वसन्मण्डलप्रान्तरेखमाबद्धकुड्मलम् ।
> अपर्याप्तमुरो वृद्धेः शंसत्यस्याः स्तनद्वयम् ॥'

वयोमुग्धा का दूसरा उदाहरण वृत्तिकार धनिक स्वयं अपना पद्य देता है—

'इस नायिका के स्तनों की प्रान्तरेखा गोलाई के फूलने से स्पष्ट दिखाई पड़ रही है, तथा वे कली के समान भरे हुए एवं बँधे हुए हैं । स्तनों की यह अपर्याप्त अवस्था इस नायिका की उर:स्थल वृद्धि की सूचना देती है ।'

कामसुग्धा यथा—

> 'दृष्टिः सालसतां बिभर्ति न शिशुक्रीडासु बद्धादरा
> श्रोत्रे प्रेषयति प्रवर्तितसखीसम्भोगवार्तास्वपि ।
> पुंसामङ्कमपेतशङ्कमधुना नारोहति प्राग्यथा
> बाला नूतनयौवनव्यतिकरावष्टभ्यमाना शनैः ॥'

(काममुग्धा)

मुग्धा नायिका कामवासना एवं कामसम्बन्धी विचारों के विषय में भी मुग्ध (अनभिज्ञ-सी, भोली) रहती है । जैसे निम्न पद्य में नायिका धीरे-धीरे यौवन में पदार्पण कर रही है । अब वह बचपन की चेष्टाओं को छोड़ रही है । नायिका की इस वय सन्धिजन्य अवस्था में होने वाले मनोविकारों का कवि ने बड़ा सुन्दर वर्णन किया है ।

इसकी नजर पहले बड़ी चञ्चल थी, लेकिन अब वह अलसाई-सी नजर आती है (उसकी

दृष्टि ने अल्हड़ता धारण कर रक्खी है)। पहले बचपन में, वह छोटे बच्चों के खेलों से आनन्द प्राप्त करती थी, लेकिन अब छोटे बच्चों के खेलों में वह कोई दिलचस्पी नहीं लेती। वयस्क स्त्रियों की बात सुनने में पहले उसे कोई मजा नहीं आता था, लेकिन अब अपनी सखियों को सम्भोग की बात करते सुन कर वह अपने कान उन बातों की ओर लगाती है। सम्भोग की बातों को सुनने में अब उसे कुछ-कुछ दिलचस्पी होने लग गई है। बच्ची होने पर वह बिना किसी हिचक के पुरुषों की गोद में बैठ जाया करती थी, लेकिन अब पहले की तरह पुरुषों की गोद में नहीं बैठती। नि सन्देह वह बाला धीरे-धीरे नवीन यौवन के आविर्भाव से युक्त हो रही है।

रतवामा यथा—

'व्याहृता प्रतिवचो न सन्दधे गन्तुमैच्छदवलम्बितांशुका।
सेवते स्म शयनं पराङ्मुखी सा तथापि रतये पिनाकिनः॥'

(रतवामा)

मुग्धा नायिका सुरतक्रीड़ा से डरा करती है। यही कारण है कि वह सुरत के समय सदा वामवृत्ति का आचरण करती है। इसका उदाहरण वृत्तिकार धनिक ने कुमारसम्भव के अष्टम सर्ग से, शङ्करपार्वती सम्भोग वर्णन से दिया है।

जब शङ्कर उससे कुछ कहते थे, तो पार्वती कोई भी जवाब नहीं देती थी। जब वे उसे बिठाने को या आलिङ्गन करने को उसका वस्त्र पकड़ लेते थे, तो वह जाने की कोशिश करती थी। शङ्कर के साथ एक ही शय्या पर सोने पर भी वह दूसरी ओर मुँह करके सोती थी। इस प्रकार वामवृत्ति का आचरण करने पर भी पार्वती शङ्कर को अच्छी ही लगती थी तथा उनमें रति की वृद्धि ही करती थी।

मृदुः कोपे यथा—

'प्रथमजनिते बाला मन्यौ विकारमजानती
कितवचरितेनासज्याङ्के विनम्रमुखैव सा।
चिबुकमलिकं चोन्नम्योच्चैरकृत्रिमविभ्रमा
नयनसलिलस्यन्दिन्योष्ठे रुदन्त्यपि चुम्बिता॥'

(कोपमृदु)

मुग्धा नायिका पति के अपराध करने पर भी उस पर गुस्सा करना नहीं जानती और अगर कहीं वह गुस्सा करती भी है, तो उसका गुस्सा बड़ा हल्का होता है, उसे आसानी से दूर किया जा सकता है। मुग्धा की इसी विशेषता को स्पष्ट करते हुए निम्न उदाहरण दिया जा सकता है—

नायक ने किसी दूसरी नायिका के पास जाकर अपराध किया है। अपराध करके वह प्रथम नायिका के पास आता है, जो मुग्धा नायिका है। इस वक्त इस नायिका को नायक पर गुस्सा तो आ रहा है, लेकिन इस गुस्से के पहले पहल आने के कारण वह यह नहीं जानती, कि इस गुस्से को किन विकारों से प्रकट किया जाय। वह नायिका इतनी भोली है, कि रूक्ष तथा मान के वचनों का प्रयोग करना उसने अभी सीखा ही नहीं है। इधर नायक को इतना तो पता चल गया है, कि नायिका ने उसकी उन हरकतों को बुरा समझा है, उसके दिल में कुछ कुछ गुस्सा भी है। इस गुस्से को खतम करने के लिए वह धूर्त नायक, बड़ा नम्र होकर उसे गोद में बैठा लेता है, तथा उसकी ठुड्डी और बालों को ऊँचा कर लेता है और

उस स्वाभाविक विलास वाली रोती हुई नायिका के आंसुओं से भीगे हुए अधर ओठ को चूम लेता है।

एवमन्येऽपि लज्जासंवृतानुरागनिबन्धना मुग्धाव्यवहारा निबन्धनीयाः, यथा—

'न मध्ये संस्कारं कुसुममपि बाला विषहते
न निःश्वासैः सुभ्रूर्जनयति तरङ्गव्यतिकरम्।
नवोढा पश्यन्ती लिखितमिव भर्तुः प्रतिमुखं
प्ररोहद्रोमाञ्चा न पिबति न पात्रं चलयति ॥'

इसके अलावा मुग्धा की दूसरी व्यवहारी चेष्टाएँ, जो उसके लज्जा से ढँके हुए अनुराग की द्योतक हैं, कवियों के द्वारा वर्णित की जानी चाहिए।

यहाँ लज्जा के कारण आवृत अनुराग की अभिव्यञ्जना मुग्धा नायिका के द्वारा किस तरह की जा रही है, इसका वर्णन एक कवि ने किया है। नायिका नवोढा है, अभी अभी विवाह के बाद नायक के घर आई है। एक ओर वह राग के कारण पति को देखना चाहती है, दूसरी ओर लज्जा के कारण अपनी उत्सुकता को छिपाती है। इसीका वर्णन यहाँ किया गया है। नायिका किसी पात्र से पानी पी रही है, (अथवा औषधपान कर रही है), समीपस्थित नायक के मुख की परछाईं उस पात्र पर पड़ रही है तथा पेय पदार्थ में उसका प्रतिबिम्ब दिखाई दे रहा है। नायिका उसे एकटक देखती है। उधर नायक भी नायिका के समीपस्थ होने के कारण अनुरागवश स्तब्ध हो रहा है, अतः उसका प्रतिबिम्ब ऐसा प्रतीत होता है जैसे चित्रित की भाँति चञ्चलताहीन हो। नायिका में राग की भावना उद्बुद्ध होने के कारण उसके रोमाञ्च उठे हो गये हैं, तथा नायक के प्रतिबिम्ब को देखने में वह इतनी तल्लीन है कि बीच में फूल जैसी छोटी सी वस्तु के विघ्न को भी बर्दाश्त नहीं कर सकती। उसकी साँस रुक गये हैं, वह निःश्वासों के द्वारा लहरों की शोभा की सृष्टि भी नहीं कर पाती है, क्योंकि नायिका में स्तम्भ नामक सात्त्विक भाव की उत्पत्ति हो गई है। पेय पदार्थ के पीने या पानपात्र के हिलाने डुलाने से नायक के मुख के प्रतिबिंब का ओझल हो जाना जरूरी है, इसलिए वह न तो पीती ही है, न पात्र को ही हिलाती है[1]।

अथ मध्या—

मध्योद्यद्यौवनानङ्गा मोहान्तसुरतक्षमा ॥ १६ ॥

सम्प्राप्ततारुण्यकामा मोहान्तरतयोग्या मध्या।

तत्र यौवनवती यथा—

'आलापान्भ्रूविलासो विरलयति लसद्बाहुविक्षिप्तियातं
नीवीग्रन्थिं प्रथिम्ना प्रतनयति मनाङ्मध्यनिम्नो नितम्बः।
उत्पुष्यत्पार्श्वमूर्च्छत्कुचशिखरमुरो नूनमन्तः स्मरेण
स्पृष्टा कोदण्डकोट्या हरिणशिशुदृशो दृश्यते यौवनश्रीः ॥'

नवोढा नायिका का दूसरा भेद मध्या है। मध्या में यौवन कामवासना प्राप्त हो चुकी होती है, वह यौवन व कामवासना दोनों की दृष्टि से पूर्ण रहती है, तथा सुरतक्रीडा को वह मोह के अन्त तक सहन कर सकती है।

---

1. ठीक इसी से मिलता जुलता भाव तुलसी ने भी कवितावली में निबद्ध किया है—
'राम को रूप निहारति जानकि कङ्कन के नग की परछाहीं।
या ते सबै सुधि भूलि गई कर टेकि रही पल टारत नाहीं ॥'

(यौवनवती मध्या)

कामदेव ने सचमुच ही अपने धनुष के किनारे से इस हिरन के बच्चे के समान आँख वाली नायिका के यौवन की कान्ति को छू दिया है, ऐसा मालूम पड़ता है। पहले यह बड़ी बातें बनाती थी, पर अब इसकी बातें कम हो गई हैं, जैसे इसके भौंहों के विलास ने इसके आलाप-प्रलाप को कम कर दिया है। जब यह चलती है, तो इसकी चाल सुन्दर ढंग से हाथ के मटकाने से सुशोभित रहती है। इसकी कमर (मध्यभाग) बड़ी पतली है और इसके पुट्ठे (नितम्ब) बड़े भारी। वे नितम्ब अपने भारीपन के कारण नीवीकी ग्रन्थि को बड़ा पतला बना देते हैं। इसके मोटे भारी नितम्बों के आगे नीवी की ग्रंथि बड़ी पतली नजर आती है। इसके वक्ष स्थल के दोनों किनारे (दिन व दिन) पुष्पित होते जा रहे, अर्थात् इसका उर-स्थल दोनों ओर से बढ़ता जा रहा है, तथा उसमें कुचों की अभिवृद्धि हो रही है। नायिका की इस दशा को देखकर ऐसा जान पड़ता है कि कामदेव ने अपने धनुष से इसकी यौवन श्री को छू दिया है। इससे यह भी व्यंग्य प्रकटित होता है, कि नायिका को देखते ही कामोद्दीपन हो जाता है।

कामवती यथा—

> 'स्मरनवनदीपूरेणोढाः पुनर्गुरुसेतुभि-
> र्यदपि विधृतास्तिष्ठन्त्याराद्पूर्णमनोरथाः।
> तदपि लिखितप्रख्यैरङ्गैः परस्परमुन्मुखा
> नयननलिनीनालानीतं पिबन्ति रसं प्रियाः ॥'

(कामवती मध्या)

यौवनवती मध्या नायिकाओं में कामसम्बन्धी विभिन्न प्रकार के मनोरथ उत्पन्न हो रहे हैं। वे अपूर्ण मनोरथ कामदेव की नवीन नदी के चढ़ाव आने के कारण उस चढ़ाव के द्वारा दूसरे उनकी दृष्टिगोचर होते हैं। नायिका स्वयं आदि बड़े प्रकार के बड़े बड़ सेतुओं के द्वारा कामदेव की नदी के प्रवाह को रोक कर इन मनोरथों को बाँध के द्वारा नियमित कर देती हैं। इस प्रकार नियमित किये जाने पर भी ये मनोरथ नहीं मानते, और मध्या नायिका की चेष्टाओं में इसकी व्यञ्जना हो ही जाती है, कि वे कामवासना से युक्त हैं। ये नायिकाएँ वैसे लज्जादि के द्वारा मनोरथों को नियमित कर देती हों, फिर भी स्तब्ध (चित्रलिखित से) अपने अङ्गों के द्वारा एक दूसरे की ओर उन्मुख होकर (नायक का दर्शन करती हुई) नायक दर्शनरूप रस का पान इसी तरह करती है, मानो नेत्ररूपी कमल के नालों से उसके रस को खींचकर पी रही है।

(हंसिनी नलिनीनाल के रस का पान किया करती है, मध्या नायिकाएँ नजरों से प्रीतम के दर्शन रूपी रस का पान करती है, इस प्रकार यहाँ हंसिनी व नायिकाओं का उपमानोपमेय भाव भी व्यंग्य है।)

मध्यासम्भोगो यथा—

> 'ताव चिअ रइसमए महिलाण विब्भमा विराअन्ति।
> जाव ण कुवलअदलसच्छहाइं मउलेन्ति णअणाइं ॥'
> ('तावदेव रतिसमये महिलानां विभ्रमा विराजन्ते।
> यावन्न कुवलयदलस्वच्छाभानि मुकुलयन्ति नयनानि ॥')

एवं धीरायामधीरायां धीराधीरायामप्युदाहार्यम्।

(मोहान्तसुरतक्षमा मध्या)

रति के समय स्त्रियों की शृङ्गारचेष्टाएँ तभी तक सुशोभित होती हैं, जब तक कि कमलों के समान स्वच्छ कान्ति वाले उनके नेत्र मुकुलित नहीं हो पाते।

इसी तरह मध्या के कोप सम्बन्धी उदाहरण दिये जा सकते हैं। कोप के समय मध्या के धीरा, अधीरा तथा धीराधीरा ये तीन रूप पाये जाते हैं। (ध्यान रखिये 'कोपेमृदु' तथा 'सुखोपायप्रसादना' होने के कारण मुग्धा नायिका में इस ढङ्ग के कोई भेद नहीं पाये जाते।)

अथास्या मानवृत्तिः—

धीरा सोत्प्रासवक्रोक्त्या, मध्या साश्रु कृतागसम्।
खेदयेद्दयितं कोपादधीरा परुषाक्षरम्॥ १७॥

नायक के अपराध करने पर (अन्य नायिका से प्रेम करने पर) धीरा मध्या तानें सुनाकर उसका दिल दुखाती है, धीराधीरा मध्या रोती भी है, साथ ही तानें भी सुनाती है। तीसरी कोटि की अधीरा मध्या रोती है तथा नायक को कड़े वचन सुनाती है।

मध्याधीरा कृतापराधं प्रियं सोत्प्रासवक्रोक्त्या खेदयेत्, यथा माघे—

'न खलु वयममुष्य दानयोग्याः
पिबति च पाति च यासकौ रहस्त्वाम्।
व्रज विटपममुं ददस्व तस्यै
भवतु यतः सदृशोश्चिराय योगः॥'

(मध्याधीरा)

मध्याधीरा कृतापराध प्रिय को तानें मारती है। जैसे शिशुपालवध के सातवें सर्ग का निम्न पद्य।

'किसी नायक ने अन्य नायिका से प्रेम करके तथा उसके पास रात्रियापन करके अपराध किया है। वहाँ से लौटने पर ज्येष्ठा नायिका के पास आकर वह उसे खुश करने के लिए पल्लव (किसी वृक्ष का कोमल पत्ता) उसके प्रसादनार्थ देना चाहता है। नायिका उसे ताना मारती हुई कहती है—माफ कीजिये, हम इस पल्लवदान के उपयुक्त पात्र नहीं हैं। जो कोई तुम्हारी प्रिया हो, जो एकान्त में तुम्हारा पान (चुम्बन) करती हो, तथा (प्रेम करके) तुम्हारी रक्षा करती हो, जाइये, उसे ही यह पल्लव (विटप), अथवा यह तुम्हारे रसिक को विटों की रक्षा करता है—दीजिये। ताकि तुम से तुम दोनों समान गुण वालों का योग हमेशा के लिए हो जाय। वह तुम्हारी प्रिया तुम जैसे विटों का पान करती है तथा रक्षा करती है, इसलिए 'विटप' है, और इधर यह पल्लव भी 'विटप' है तो क्यों न दोनों विटपों का योग करा देते हो।

(यहाँ 'विटप' शब्द में श्लेष है—जिसका अर्थ पल्लव, तथा कामी रसिक व्यक्ति (छैला) दोनों होता है।)

धीराधीरा साश्रु सोत्प्रासवक्रोक्त्या खेदयेत्, यथाऽमरुशतके—

'बाले नाथ विमुञ्च मानिनि रुषं रोषान्मया किं कृतं
खेदोऽस्मासु न मेऽपराध्यति भवान्सर्वेऽपराधा मयि।
तत्किं रोदिषि गद्गदेन वचसा कस्याग्रतो रुद्यते
नन्वेतन्मम का तवास्मि दयिता नास्मीत्यतो रुद्यते॥'

(धीराधीरा मध्या)

धीराधीरा मध्या एक ओर रोती है, साथ ही नायक के दिल को तानें सुनाकर भी दुखाती है। जैसे अमरुकशतक का यह प्रसिद्ध पद्य—

नायक अन्य नायिका से प्रेम करने के कारण अपराधी सिद्ध हो चुका है। जब वह घर पर आता है तो ज्येष्ठा नायिका को मान व रोष से युक्त पाता है। उसे मनाने के लिये वह कुछ कहना चाहता है इसलिए उसे केवल सम्बोधित करता है 'बाले'। इसके पहले कि वह कुछ कह पावे नायिका—क्या कहना चाहते हैं—इस बात की व्यञ्जना कराते हुए केवल 'नाथ' इस प्रकार जवाब देती है। यहाँ यह भी व्यंग्य है कि अब आप मुझसे प्यार नहीं करते हैं इसलिए मैं आपको 'प्रिय' कहते कुछ हिचकिचा रही हूँ। हाँ मैं आपकी दासी हूँ और आप मेरे स्वामी। इस पर नायक कहता है—'मानिनि, रोष को छोड़ दो।' 'रोष करके मैंने क्या किया है—व्यंग्य है इससे तुम्हारा क्या बिगड़ा है।' 'तुम्हारे रोष करने से हमें दुःख हो रहा है।' 'आपने मेरा कोई अपराध नहीं किया है, सारे अपराध मैंने ही तो किये हैं।' अब नायक कुछ उत्तर नहीं दे पाता, तो कहता है—'तो फिर तुम गद्गद वचनों से क्यों रोती हो।' 'मैं किसके आगे रो रही हूँ।' 'यह मेरे सामने रो रही हो ना।' 'मैं तुम्हारी क्या हूँ।' 'प्रिया' 'नहीं, मैं तुम्हारी प्रिया नहीं हूँ। इसीलिए तो रो रही हूँ।'

अधीरा साश्रु परुषाक्षरम्, यथा—

'यातु यातु किमनेन तिष्ठता मुञ्च मुञ्च सखि मादरं कृथाः।
खण्डिताधरकलङ्कितं प्रियं शक्नुमो न नयनैर्निरीक्षितुम्॥'

(अधीरा मध्या)

अधीरा मध्या एक ओर रोती है, दूसरी ओर अपराधी नायक को कटूक्ति भी सुनाती है। जैसे निम्न पद्य में—

नायक अपराध करके नायिका के पास लौटा है और आकर नायिका को प्रकुपित देखता है। उसे मनाने के लिए बड़ी कोशिश करता है, पर वह प्रसन्न नहीं होती। अन्त में, लाचार होकर वह वापस लौट रहा है। इधर नायिका की सखियाँ दोनों में समझौता कराना चाहती हैं। वे लौटते हुए नायक से रुकने के लिए मिन्नतें करती हैं। नायिका ऐसे मौके पर सखियों से कह रही है। इसे जाने दो। इसके ठहरने से क्या फायदा है। हे सखि इसे छोड़ क्यों नहीं देती। इससे ज्यादा मिन्नतें मत करो। जो प्रिय दूसरी नायिका के दन्तक्षत अधरसे कलङ्कित हो चुका है, उसे हम आँखों से देखने में असमर्थ है—उसे हम देख भी नहीं सकती, मेलालाप व रतिक्रीडा करना तो दूर रहा।

एवमपरेऽपि व्रीडानुपहिता स्वयमनभियोगकारिणो मध्याव्यवहारा भवन्ति, यथा—

'स्वेदाम्भःकणिकाचितेऽपि वदने जातेऽपि रोमोद्गमे
विस्रम्भेऽपि गुरौ पयोधरभरोत्कम्पेऽपि वृद्धिं गते।
दुर्वारस्मरनिर्भरेऽपि हृदये नैवाभियुक्तः प्रिय-
स्तन्वङ्ग्या हठकेशकर्षणघनाश्लेषामृते लुब्धया।'

स्वतोऽनभियोजकत्वं हठकेशाकर्षणघनाश्लेषामृते लुब्धयेत्युत्प्रेक्षाप्रतीतेः।

मध्या नायिका के इस तरह के कई व्यवहार काव्य में उपनिबद्ध होते हैं। ये व्यवहार लज्जा आदि से छिपे नहीं रहते (क्योंकि यह बात मुग्धा में पाई जाती है); तथा इनके द्वारा नायिका स्वयं नायक को अपनी ओर प्रवृत्त करती है।[1]

१. स्वयमनभियोगकारिण =सुरतेस्वकीय-(मध्या) प्रवृत्तप्रयोक्त्र, प्रिय. स्वयमेव सुरते प्रवर्तेतेति समीहते मध्येति भाव। (सुदर्शनाचार्य प्रभा टीका)

मध्या नायिका के इन व्यवहारों में से एक चित्र उपस्थित किया जाता है। नायिका के सम्मुख नायक मौजूद है। नायक के समीपस्थ होने के कारण कामवासना तीव्र रूप से उसे सता रही है। पर वह यह चाहती है, कि नायक स्वयं रतिक्रीडा में प्रवृत्त हों। इसलिये स्वयं प्रिय के प्रति कोई शृङ्गारी चेष्टा नहीं करती। कामोद्दीपन के कारण नायिका के मुख पर पसीने की बूँदें झलक आई हैं, तथा उसके रोंगटे खड़े हो गये हैं। उसे बहुत ज्यादा स्तम्भ हो रहा है, तथा उसके स्तनों की कँपकपी और बढ़ गई है। नायिका के हृदय में काम का वेग इतना बढ़ गया है, कि अब रोके भी नहीं रुक पाता। इतना सब होने पर भी उत्कण्ठी नायिका ने प्रिय को इसलिए आलिङ्गित न किया, कि वह उस आनन्द की इच्छुक थी, जो नायक के द्वारा हठपूर्वक बालों को पकड़ने और ज़ोर से आश्लेष करने से मिल सकता था। कवि कल्पना (उत्प्रेक्षा) करता है मानो वह हठ-केशाकर्षण तथा घनाश्लेष रूपी अमृत की अत्यधिक इच्छुक (लुब्धा) थी। इस उत्प्रेक्षा के द्वारा नायिका का स्वयं क्रीडा में प्रवृत्त न होना व्यञ्जित है।

अथ प्रगल्भा—

यौवनान्धा स्मरोन्मत्ता प्रगल्भा दयिताङ्गके।
विलीयमानेवानन्दाद्रतारम्भेऽप्यचेतना ॥ १८ ॥

प्रगल्भा नायिका में यौवन का इतना प्रवाह होता है, कि वह मानों अन्धी सी हो जाती है। कामसम्बन्धी भाव भी उसमें इतने अधिक रहते हैं, कि जैसे वह उनसे ही पागल हो गई हो। यह बड़ी ढीठ (प्रगल्भ)—लज्जारहित होती है। रतिक्रीडा के समय यह प्रिय के अङ्क में ऐसी चिपकती है, जैसे उसमें विलीन हो जायगी, और रतिक्रीडा में उसे इतना आनन्द आता है, कि सुरतक्रीडा की आरम्भिक अवस्था में ही वह अचेतन-सी हो जाती है।

(इसी नायिका की अन्य अलङ्कारशास्त्री व नाट्यशास्त्री प्रौढ़ा भी कहते हैं।)

गाढयौवना यथा ममैव—

'अभ्युन्नतस्तनमुरो नयने च दीर्घे
वक्रे भ्रुवावतितरां वचनं ततोऽपि।
मध्योऽधिकं तनुरतीव गुरुर्नितम्बो
मन्दा गतिः किमपि चाद्भुतयौवनायाः ॥'

(गाढयौवना या यौवनान्धा प्रौढ़ा)

इसका उदाहरण 'धनिक' ने स्वयं अपना ही पद दिया है।

इस नायिका के उरःस्थल में स्तन बहुत ज्यादा उठे हुए हैं, नेत्र कानों तक पैठे हुए (लम्बे) व टेढ़े हैं, इसकी भौंहें बड़ी टेढ़ी हैं, और इसके वचन उससे भी ज्यादा टेढ़े (व्यंग्ययुक्त) हैं। इसकी कमर बड़ी पतली है, तथा नितम्ब बहुत ज्यादा भारी हैं। इस अद्भुत यौवन वाली नायिका की चाल कुछ धीमी (मन्थर) दिखाई देती है।

यथा च—

'स्तनतटमिदमुत्तुङ्गं निम्नो मध्यः समुन्नतं जघनम्।
विषमे मृगशावाक्ष्या वपुषि नवे क इव न स्खलति ॥'

नायिका के यौवनान्धत्व का दूसरा उदाहरण यह भी दिया जा सकता है। इस नायिका के स्तन ऊँचे हैं, कमर नीची (पतली) है, और जघनस्थल फिर उठा हुआ है। इस तरह इसका शरीर विषम—ऊँचा नीचा है। हिरन के समान नेत्रवाली इस नायिका के इस विषम

तथा नवीन शरीर में कौन नहीं फिसलता है। अर्थात् जो भी इसे देखता है वही कामासक्त हो जाता है। विषमस्थली में कोई भी व्यक्ति चलते समय फिसल सकता है, इसकी भी व्यंग्य रूप में प्रतीति हो रही है।

भावप्रगल्भा यथा—

'न जाने सम्मुखायाते प्रियाणि वदति प्रिये।
सर्वाण्यङ्गानि किं यान्ति नेत्रतामुत कर्णताम्॥'

(भावप्रगल्भा या स्मरोन्मत्ता प्रौढ़ा)

नायक के समीपस्थित होने या उसकी याद आने पर प्रौढ़ा अत्यधिक भावमग्न पाई जाती है। इसका उदाहरण यह है—

कोई प्रौढ़ा नायिका अपने नायक के समीपस्थ होने के विषय में सखियों को बताती हुए कहती है—जब प्रिय मेरे सम्मुख आकर प्यारी बातें कहा करते हैं, तो मुझे उन्हें देखने और उनकी बातें सुनने के अलावा कुछ नहीं सूझता। क्या मेरे सारे ही अङ्ग उस समय आँखें या नेत्र हो जाते हैं।

रतप्रगल्भा यथा—

'कान्ते तल्पमुपागते विगलिता नीवी स्वयं बन्धना
द्वासः प्रश्लथमेखलागुणधृतं किञ्चिन्नितम्बे स्थितम्।
एतावत्सखि वेद्मि केवलमहं तस्याङ्गसङ्गे पुनः
कोऽसौ कास्मि रतं नु किं कथमिति स्वल्पापि मे न स्मृतिः॥'

(रतप्रगल्भा, जैसे)

किसी प्रौढ़ा नायिका से उसकी सखियाँ नायक के साथ उसकी सुरतक्रीड़ा के बारे में पूछती हैं। नायिका उसका उत्तर देते हुए कहती है। हे सखि क्या बताऊँ, जब प्रिय शय्या पर सुरतक्रीड़ा के लिये आते हैं, तो मेरी नीवी का बन्धन अपने आप ही खुल जाता है। मेरा अधोवस्त्र किसी तरह कुछ ढीली करधनी के डोरे से रुक कर नितम्ब में ठहर जाता है। हे सखि, बस मैं इतना भर जानती हूँ। उसके बाद तो मैं उसके अङ्गों के स्पर्श से आनन्द में इतनी विभोर हो जाती हूँ, कि मैं कौन हूँ, वह कौन है, सुरतक्रीड़ा क्या है, कैसी है, इन सारी बातों का जरा सा भी ख्याल मुझे नहीं रहता।

एवमन्येऽपि परित्यक्तह्रीयन्त्रणा वैदग्ध्यप्राया प्रागल्भ्यव्यवहारा वेदितव्याः। यथा—

'क्वचित्ताम्बूलाक्तः क्वचिदगुरुपङ्काङ्कमलिनः
क्वचिच्चूर्णोद्गारी क्वचिदपि च सालक्तकपदः।
वलीभङ्गाभोगैरलकपतितैः शीर्णकुसुमैः
स्त्रियाः सर्वावस्थं कथयति रतं प्रच्छदपटः॥'

प्रगल्भा के वे व्यवहार लज्जा से सर्वथा रहित होते हैं, तथा उनमें अत्यधिक चतुरता (विदग्धता) पाई जाती है। इस तरह के प्रौढ़ा व्यवहारों का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। जैसे—

किसी नायिका ने, रात्रि में नायक के साथ विभिन्न प्रकार की कामशास्त्रोक्त विधियों (आसनादि) से रतिक्रीड़ा की है। प्रातः काल उसकी शय्या के चादर को देखने से इन सारी विधियों का पता चल जाता है। इसी विषय में कवि कहता है, कि शय्या का चादर (प्रच्छदपट) स्त्री (नायिका) के विभिन्न प्रकार के सुरत की सूचना दे रहा है। चादर पर कहीं तो ताम्बूल का निशान बना है, तो वह कहीं अगुरु के अङ्गराग—पङ्क (जो स्तनों पर

लगाया जाता है) से मलिन हो रहा है। कहीं वस्त्र पर नायिका के ललाटतट पर लगाया हुआ चूर्ण बिखर गया है, तो कहीं महावर का पैर चिह्नित है। दूसरी जगह चादर पर नायिका की त्रिवली के कारण सिलवटें पड़ी हैं और कहीं उसके बालों से गिरे हुए हुए फूल पड़े हैं। इस तरह ये सारे चिह्न नायिका की नाना प्रकार की सुरतक्रीडा की व्यञ्जना कर रहे हैं।

(इस पद्य में वात्स्यायनोक्त विविध रतिविधियों—धेनुक, विपरीत आदि—की व्यञ्जना करा कर नायिका का प्रौढत्व प्रकटित किया गया है। मुग्धा या मध्या सुरत में इस प्रकार का सहयोग नहीं दे सकती, यह सहृदय जानते ही होंगे।)

अथास्या कोपचेष्टा—

सावहित्थादरोदास्ते रतौ, धीरेतरा क्रुधा।
सन्तर्ज्य ताडयेत्, मध्या मध्याधीरेव तं वदेत्॥ १६॥

साहावहित्थेन = आकारसंवरणेनादरेण च = उपचाराधिक्येन वर्तते सा सावहित्थादरा, रतावुदासीना मुग्धा-कोपेन भवति।

नायक के अपराध करने पर प्रौढा या प्रगल्भा नायिका जिस प्रकार से कोप करती है, उसके आधार पर उसके धीरा, अधीरा तथा धीराधीरा ये तीन भेद किये जा सकते हैं। धीरा प्रगल्भा अपना कोप दो तरह से प्रकटित कर सकती है, या तो वह नायक का जरूरत से ज्यादा आदर कर उसे लज्जित करे, या फिर सुरत के प्रति उदासीनता दिखा कर रतिक्रीडा में नायक को सहयोग न दे। अधीरा प्रगल्भा गुस्से में होकर नायक को पीटती है तथा झिड़कती है, धीराधीरा प्रगल्भा का व्यवहार मध्या जैसा ही होता है, अर्थात् वह तानें मार कर नायक को फटकारती है।

सावहित्थादरा धीरा प्रगल्भा वह नायिका है जो कोप की दशा में अपनी स्थिति को छिपा कर नायक के प्रति और आदर दिखाती है, दूसरे प्रकार की धीरा रति में उदासीन रहती है।

सावहित्थादरा यथाऽमरुशतके—

'एकत्रासनसंस्थितिः परिहृता प्रत्युद्गमाद्दूरत-
स्ताम्बूलाहरणच्छलेन रभसाश्लेषोऽपि संविघ्नितः।
आलापोऽपि न मिश्रितः परिजनं व्यापारयन्त्यान्तिके
कान्तं प्रत्युपचारतश्चतुरया कोपः कृतार्थीकृतः॥'

(सावहित्थादरा) जैसे अमरुकशतक के निम्न पद्य में—

नायक अपराध करके नायिका के पास लौटा है। नायिका अपने कोप को इस चतुरता से बताती है, कि नायक को पता भी लग जाय, पर कोप साफतौर से नजर न आवे। जब नायक आया, तो उसे दूर से ही देख कर वह आदर करने के लिए उठ खड़ी हुई, और इस तरह नायक के साथ एक ही आसन पर बैठने से उसने अपने आप को बचा लिया। नायक के साथ एक साथ न बैठ कर वह कोप की व्यञ्जना कर रही है, पर उठने के आदर के बहाने वह उसे छिपा भी रही है। नायक उसे आलिङ्गन करना चाहता है, लेकिन एक दम ताम्बूल लाने के बहाने से कतरा कर, उसने आलिङ्गन में भी विघ्न डाल दिया। नायक के सेवा-शुश्रूषा के लिए वह बार-बार नौकरों को पास में बुलाती ही रही, और इस तरह उसने नायक से बातचीत भी न की। इस प्रकार नाना प्रकार से नायक की शुश्रूषा आदि करके चतुर नायिका ने अपने कोप को सफल बना दिया।

रतावुदासीना यथा—

'आयस्ता कलहं पुरेव कुरुते न स्रंसने वाससो
भग्नभ्रूगतिखण्ड्यमानमधरं धत्ते न केशग्रहे।
अङ्गान्यर्पयति स्वयं भवति नो वामा हठालिङ्गने
तन्व्या शिक्षित एष सम्प्रति कुतः कोपप्रकारोऽपरः ॥'

(रति में उदासीन-रतावुदासीना) जैसे निम्न पद्य में—

अपराधी नायक घर आकर नायिका को प्रसन्न करने के लिए रतिक्रीड़ा में प्रवृत्त होता है। पर नायिका कोप के कारण सुरतक्रीड़ा में नायक का सहयोग न देकर उदासीन वृत्ति से स्थित रहती है। पहले रतिक्रीड़ा के लिए नायक के पकड़ने पर तथा वस्त्र को ढीला करने पर कलह करती थी, पर अब वह उस तरह से कलह नहीं करती है। जब नायक रतिक्रीड़ा के समय केशग्रह करता था, तो वह भौंहे टेढ़ी करके उसके अधर को दाँतों से काटा करती थी, पर अब ऐसा भी नहीं करती। अब नायक के द्वारा हठ से आलिङ्गन करने पर वह अपने अङ्गों को स्वयं नायक को सौंप देती है, पहले की तरह उसका विरोध नहीं करती। इस तन्वी नायिका ने यह नये ढंग का कोप, पता नहीं, कहाँ से सीख लिया है।

इतरा त्वधीरप्रगल्भा कुपिता सती सन्तर्ज्य ताडयति। यथाऽमरुशतके—

'कोपात्कोमललोलबाहुलतिकापाशेन बद्ध्वा दृढं
नीत्वा केलिनिकेतनं दयितया सायं सखीनां पुरः।
भूयोऽप्येवमिति स्खलत्कलगिरा संसूच्य दुश्चेष्टितं
धन्यो हन्यत एष निह्नुतिपरः प्रेयान्रुदन्त्या हसन् ॥'

(अधीरा प्रगल्भा)

अधीरा प्रगल्भा अपराधी नायक को गुस्से से फटकारती है और पीटती है। जैसे अमरुकशतक में—

अपराधी नायक के घर पर आने पर शाम के वक्त नायिका उसे कोमल व चञ्चल बाहुओं की लताओं के पाश से, गुस्से के कारण मजबूती से बाँधकर कोपगृह में ले आती है। वहाँ पर सखियों के सामने स्खलित वाणी के द्वारा उससे कहती है—'ऐसा फिर करोगे', और इस तरह उसके अपराध को सूचित करती है। रोती हुई नायिका के द्वारा लज्जित तथा हँसता हुआ यह धन्य नायक पीटा जा रहा है।

धीराधीरप्रगल्भा मध्याधीरेव तं वदति सोत्प्रासवक्रोक्त्या। यथा तत्रैव—

'कोपो यत्र भ्रुकुटिरचना निग्रहो यत्र मौनं
यत्रान्योन्यस्मितमनुनयो दृष्टिपातः प्रसादः।
तस्य प्रेम्णस्तदिदमधुना वैशसं पश्य जातं
त्वं पादान्ते लुठसि न च मे मन्युमोक्षः खलायाः ॥'

(धीराधीरा प्रगल्भा)

धीराधीरा प्रगल्भा उसे मध्या धीराधीरा की तरह ताने मारती है। जैसे अमरुकशतक का ही निम्न पद्य—

अपराधी नायक नायिका को प्रसन्न करने के लिए बड़ी मिन्नतें करता है। उसी का उत्तर देते हुए नायिका कहती है—हे नाथ, देखो, अब उस प्रेम का अन्त हो चुका है, जिस प्रेम में

कोप, भौहों को टेढ़ा करना, निग्रह तथा मौन का व्यवहार होता था, तथा वह कोप एक दूसरे की ओर हँसकर अनुनय करने व देखने भर से समाप्त हो जाता था। अब तो वह प्रेम ही समाप्त हो चुका है, (फलतः) तुम मुझे प्रसन्न करने के लिए पैरों में लोट रहे हो, और मुझ दुष्ट का गुस्सा शान्त ही नहीं होता।

पुनश्च—

द्वेधा ज्येष्ठा कनिष्ठा चेत्यमुग्धा द्वादशोदिताः ।

मध्याप्रगल्भाभेदानां प्रत्येकं ज्येष्ठाकनिष्ठात्वभेदेन द्वादश भेदा भवन्ति । मुग्धा त्वेकरूपैव । ज्येष्ठाकनिष्ठे यथाऽमरुशतके—

> 'दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरा-
> देकस्या नयने निमील्य विहितक्रीडानुबन्धच्छलः ।
> ईषद्वक्रितकन्धरः सपुलकः प्रेमोल्लसन्मानसा-
> मन्तर्हासलसत्कपोलफलकां धूर्तोऽपरां चुम्बति ॥'

न चानयोर्दाक्षिण्यप्रेमभ्यामेव व्यवहारः, अपि तु प्रेम्णापि यथा चैतत्प्रोक्तं दक्षिणलक्षणावसरे । यथा च धीरमध्या-अधीरमध्या-धीराधीरमध्या-धीरप्रगल्भा-अधीरप्रगल्भा-धीराधीरप्रगल्भाभेदानां प्रत्येकं ज्येष्ठाकनिष्ठाभेदाद्द्वादशानां वासवदत्ता-रत्नावलीप्रभृतयो नायिकानामुदाहरणानि महाकविप्रबन्धेष्वनुसर्तव्यानि ।

मुग्धा के अलावा दूसरी नायिकाएँ—तीन तरह की मध्या तथा तीन तरह की प्रगल्भा—ज्येष्ठा तथा कनिष्ठा इस प्रकार दो तरह की होती है—इस तरह सब मिलाकर ये १२ प्रकार की होती है।

(ध्यान रखिये ये भेद मुग्धा के नहीं होते, वह केवल एक ही तरह की होती है।)

ज्येष्ठा तथा कनिष्ठा का उदाहरण अमरुकशतक का यह पद्य दिया जा सकता है—

नायक ने देखा कि उसकी ज्येष्ठा तथा कनिष्ठा दोनों नायिकायें एक ही आसन पर बैठी है। इसलिए वह आदर के साथ (कुछ मन से) धीरे धीरे पीछे से वहाँ पहुँचता है। वहाँ जाकर वह क्रीड़ा करने के ढँग से ज्येष्ठा नायिका के नेत्रों को दोनों हाथों से बन्द कर देता है। इसके बाद वह धूर्त नायक अपनी गरदन को जरा टेढ़ी करके, रोमाञ्चित होकर उस कनिष्ठा नायिका को चूम लेता है, जिसका मन प्रेम के कारण उल्लसित हो रहा है, तथा जिसके कपोल-फलक आन्तरिक हँसी के कारण सुशोभित हो रहे है।

नायक का ज्येष्ठा के प्रति केवल दाक्षिण्य व्यवहार (सहृदयतापूर्ण व्यवहार) पाया जाता हो और प्रेम कनिष्ठा के प्रति ही हो, ऐसा मानना ठीक नहीं है न ऐसा होता ही है। वस्तुतः नायक का ज्येष्ठा के प्रति भी प्रेम पाया जाता है। क्योंकि दक्षिण नायक के लक्षण के समय यह स्पष्ट बताया गया है कि उसका प्रेम सभी से हो सकता है।[1] इस प्रकार धीरमध्या, अधीरमध्या, धीराधीरमध्या, धीरप्रगल्भा, अधीरप्रगल्भा, धीराधीरप्रगल्भा इन छः प्रकार की नायिकाओं के पुनः ज्येष्ठा व कनिष्ठा इन दो भेदों के अनुसार बारह भेद होते है। इन १२ भेदों के उदाहरण महाकवियों की रचनाओं में वासवदत्ता रत्नावली आदि के रूप में पाये जा सकते है।

---

1. देखिये—'स्नाता तिष्ठति कुन्तलेश्वरसुता वारोऽङ्गराजस्वसुः' इत्यादि उदाहरण पद्य का प्रकरण।

अथान्यस्त्री—

अन्यस्त्री कन्यकोढा च नान्योढाङ्गिरसे क्वचित् ॥ २० ॥
कन्यानुरागमिच्छातः कुर्यादङ्गाङ्गिसंश्रयम् ।

नायिका का दूसरा भेद अन्य स्त्री (परकीया) होता है। यह अन्य स्त्री दो तरह की हो सकती हैं—किसी की अविवाहित पुत्री (कन्या) तथा किसी दूसरे व्यक्ति की परिणीता स्त्री। नाटकादि में अङ्गी (प्रधान) रस के आलम्बन के रूप में अन्योढा (अन्य परिणीता) परकीया का वर्णन कभी भी नहीं करना चाहिए। कन्या के प्रति अनुराग अङ्गीरस का भी अङ्ग हो सकता है, अङ्गरस का भी। अतः कन्या के अनुराग वर्णन में कोई दोष नहीं है।

नायकान्तरसम्बन्धिन्यन्योढा यथा—

दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि क्षणमिहाप्यस्मद्गृहे दास्यसि
प्रायेणास्य शिशोः पिता न विरसाः कौपीरपः पास्यति ।
एकाकिन्यपि यामि सत्वरमितः स्रोतस्तमालाकुलं
नीरन्ध्रास्तनुमालिखन्तु जरठच्छेदा नलग्रन्थयः ॥

(नायकान्तर सम्बन्धिनी परकीया)

(कभी कोई परिणीता स्त्री भी किसी उपनायक से प्रेम करने लगती है। लौकिक व शास्त्रीय मर्यादा की दृष्टि से यह अनुचित भले ही हो, पर ऐसा लोक में देखा अवश्य जाता है इस लिए इस शास्त्र में इसका दृष्टान्त देना जरूरी हो जाता है। संस्कृत के कई मुक्तक पद्य इन परकीयाओं की चेष्टाओं पर मिल सकते हैं। हाँ अङ्गीरस में इनका निबन्धन इसलिए अनुचित माना गया है कि इस प्रकार का प्रेम नैतिकता के विरुद्ध है।) यहाँ इसी का एक उदाहरण देते हैं —

कोई परकीया नायिका उपपति के साथ रतिक्रीडा करने के लिए सहेट की ओर जा रही है। अपनी वास्तविकता को छिपाने के लिए वह दूर के झरने से पानी लाने का बहाना बना रही है। अपनी बात को पक्का करने के लिए वह पहले से ही एक पड़ोसिन से इस तरह से कहती है, कि प्रत्येक व्यक्ति उसके कथन के वाच्यार्थ पर विश्वास कर ले। हे पड़ोसिन, जरा हमारे इस घर पर भी नजर डालती रहना। इस लड़के के पिता प्रायः कुएँ का खारा पानी नहीं पीते हैं (खारा पानी नहीं पीयेंगे।) इसलिये मैं अकेली ही दूर के उस झरने से पानी लाने जा रही हूँ, जो तमाल के पेड़ों से आवृत है। कोई नहीं, एक दूसरे से घने सटे हुए पुराने नल की ग्रन्थियाँ मेरे शरीर को खरोंच डालें।

यहाँ परकीया की इस उक्ति से यह प्रकटित होता है कि नायिका उपनायक से हो जाने वाली रतिक्रीडा के समय के दशनक्षत व नखक्षत को छिपाने के लिए पहले से ही अपनी पृष्ठभूमि तैयार कर रही है। साथ ही अपने परिणेता पति के लिए किये गये 'अस्य शिशोः पिता' इस प्रयोग से कोई कोई सहृदय यह भाव भी प्रकटित होना मानते हैं कि वह मेरा 'प्रिय' नहीं है।

इयं त्वङ्गिनि प्रधाने रसे न क्वचिन्निबन्धनीयेति न प्रपञ्चिता। कन्यका तु पित्राद्यायत्तत्वादपरिणीताप्यन्यस्त्रीत्युच्यते तस्यां पित्रादिभ्योऽलभ्यमानायां सुलभायामपि परोपरोधस्वकान्ताभयात्प्रच्छन्नं कामित्वं प्रवर्तते, यथा मालत्यां माधवस्य सागरिकायां च वत्सराजस्येति। तदनुरागश्च स्वेच्छया प्रधानाप्रधानरससमाश्रयो निबन्धनीयः। यथा रत्नावलीनागानन्दयोः सागरिका मलयवत्यनुराग इति।

इस परकीया नायिका का प्रधान रस में निबन्धन करना उचित नहीं, इसलिए विस्तार से वर्णन नहीं किया गया है।[1]

कन्यका की अन्य स्त्री (परकीया) इसलिये कहा जाता है कि वह शादी न होने के पहले पिता आदि के आधीन होती है। उस कन्या को पिता आदि के द्वारा निगृहीत होने के कारण यद्यपि प्राप्त नहीं किया जा सकता, फिर भी वह सुलभ है, फलतः नायक छिप छिप कर उससे प्रेम करता है, क्योंकि वह नायिका दूसरे लोगों के वश में होती है, या फिर नायक अपनी ज्येष्ठा नायिका (स्वकान्ता) से डरता है। जैसे एक ढंग का छिपा प्रेम मालतीमाधव में माधव का मालती के प्रति है, दूसरे ढंग का रत्नावली नाटिका में सागरिका के प्रति वत्सराज उदयन का है। एक स्थान पर 'परोपरोध' तथा दूसरे स्थान पर 'स्वकान्ताभय' छिपे प्रेम के कारण हैं। कवि इस प्रकार के प्रेम को अपनी इच्छा से प्रधान या अप्रधान दोनों प्रकार के रसों में निबद्ध कर सकता है। जैसे रत्नावली व नागानन्द में क्रमशः सागरिका तथा मलयवती का प्रेम। रत्नावली नाटिका में सागरिका का प्रेम प्रधान रस में निबद्ध है, जब कि नागानन्द में मलयवती व जीमूतवाहन का प्रेम प्रधान रस में निबद्ध नहीं हुआ है, क्योंकि वहाँ प्रधान रस जीमूतवाहन की दयावीरता का अभिव्यञ्जक वीर रस है।[2]

साधारणस्त्री गणिका कलाप्रागल्भ्यधौर्त्ययुक् ॥ २१ ॥

तीसरी श्रेणी की नायिका साधारण स्त्री है, वह गणिका होती है, जो कलाचतुर, प्रगल्भा तथा धूर्त होती है।

तद्व्यवहारो विस्तरतः शास्त्रान्तरे निदर्शितः। दिङ्मात्रं तु—

छन्नकामसुखार्थाज्ञस्वतन्त्राहंयुपण्डकान्।
रक्तेव रञ्जयेदाढ्यान्निःस्वान्मात्रा विवासयेत् ॥ २२ ॥

इसका व्यवहार दूसरे शास्त्र (वात्स्यायनादि) में विस्तार से दिखाया गया है। यहाँ उसका संकेत भर दिया जाता है।

जो लोग छिपकर कामतृप्ति करना चाहते हैं, जिनसे बड़ी सरलता से पैसा ऐंठा जा सकता है, जो बेवकूफ (मूर्ख) हैं, आज़ाद हैं, घमण्डी हैं, या नपुंसक हैं, ऐसे लोगों से गणिका ठीक इसी तरह व्यवहार करती है, जैसे वह उन्हें सचमुच प्रेम करती हो, किन्तु उसी वक्त, तब तक कि उनके पास पैसा है। जब वह देख लेती है, कि वे गरीब (निःस्व) हो गये हैं, तो वह उन्हें अपनी माँ के द्वारा घर से निकलवा देती है।

छन्नं ये कामयन्ते ते छन्नकामाः श्रोत्रियवणिग्लिङ्गिप्रभृतयः, सुखार्थः अप्रयाससमासादितसुखप्रयोजनो वा, अज्ञो मूर्खः, स्वतन्त्रो निरङ्कुशः, अहंयुरहंकृतः, पण्डको वातपण्डादिः,

---

१. बाद के एक भक्तिवादी रसशास्त्री रूपगोस्वामी ने कृष्णभक्तिरूप माधुर्यरस में अङ्गी रस में ही परकीया का उपादान उचित माना है, पर वह गोपिका व कृष्ण के प्रेम तक ही सीमित है:—

नेष्टा यदङ्गिनि रसे कविभिः परोढा, तद्गोकुलाम्बुजदृशां कुलमन्तरेण।
आशंसया रतिविधेरवतारितानां कंसारिणा रसिकमण्डलशेखरेण॥

(उज्ज्वलनीलमणि में उद्धृत, पृ. ११)

२. प्रभा के निषेध के इसी प्रसंग में—[illegible]—अत्र नायकानुरागेऽप्रधानरसे-(शृङ्गार) समाश्रय. जीमूतवाहनस्य [illegible] प्राधान्येन शान्तरसनायकत्वादिति विवेकः—यह कहना चिन्त्य है। क्योंकि धनञ्जय व धनिक दोनों के मत के यह विरुद्ध पड़ता है, जो शान्तरस को नवाँ रस नहीं मानते। (दे० प्रकाश ४, का. ३५) वे नागानन्द का रस 'वीर' मानते हैं:— [illegible]

एतान्बहुवित्तान् रक्तेव रञ्जयेदर्थार्थम्-तत्प्रधानत्वात्तद्वृत्ते, गृहीतार्थान्कुट्टिन्यादिना निष्कासयेत् पुनः प्रतिसन्धानाय। इदं तासामौत्सर्गिकं रूपम्।

जो लोग छिप छिप कर कामतृप्ति करते हैं या प्रेम करते हैं, जैसे वेदपाठी श्रोत्रिय, बनिये, सन्यासी या दूसरे लोग; जिनसे सुख से बिना किसी प्रयास के धन प्राप्त हो सकता है, जो मूर्ख हैं; स्वतन्त्र अर्थात् निरङ्कुश हैं, अहंयु अर्थात् अहङ्कारी हैं, पण्डक अर्थात् वातपण्डादि रोगों से पीडित (नपुंसक) हैं, इनके पास बहुत पैसा होने पर गणिका उनके प्रति अनुरक्त-सी होकर उन्हें प्रसन्न करती रहती है। जब उनसे सारा पैसा ऐंठ लिया जाता है, तो वह उन्हें मा (कुट्टिनी) के द्वारा घर से निकलवा देती है। यह उनका सामान्य (औत्सर्गिक) लक्षण है।

रूपकेषु तु—

(१)रक्तैव त्वप्रहसने, नैषा दिव्यनृपाश्रये।

प्रहसनवर्जिते प्रकरणादौ रक्तैवैषा विधेया। यथा मृच्छकटिकायां वसन्तसेना चारुदत्तस्य। प्रहसने त्वरक्तापि हास्यहेतुत्वात्। नाटकादौ तु दिव्यनृपनायके नैव विधेया।

प्रहसन से भिन्न रूपक में गणिका को नायक के प्रति अनुरक्त रूप में ही चित्रित करना चाहिए (चाहे प्रहसन में उसका अननुरागी रूप हो सकता है)। नायक के दिव्य कोटि के होने पर या राजा होने पर रूपक में गणिका का निबन्ध नहीं होना चाहिए।

प्रहसन से भिन्न प्रकरण आदि रूपकों में इसका अनुरागी रूप ही निबद्ध किया जाना चाहिए। जैसे मृच्छकटिक में वसन्तसेना गणिका चारुदत्त के प्रति अनुरक्त है। प्रहसन में इसको अननुरक्त भी बनाया जा सकता है, क्योंकि वहाँ वह हास्यरस का अवलम्बन है। दिव्यनायक तथा नृपनायक वाले नाटकादि में इसका समावेश उचित नहीं।

अथ भेदान्तराणि—

आसामष्टावस्थाः स्युः स्वाधीनपतिकादिकाः॥ २३॥

स्वाधीनपतिका वासकसज्जा विरहोत्कण्ठिता खण्डिता कलहान्तरिता विप्रलब्धा प्रोषितप्रिया अभिसारिकेत्यष्टौ स्वस्त्रीप्रभृतीनामवस्थाः। नायिकाप्रभृतीनामप्यवस्थारूपत्वे सत्यवस्थान्तराभिधानं पूर्वासां धर्मित्वप्रतिपादनाय। अष्टाविति न्यूनाधिकव्यवच्छेदः।

ये सभी तरह की नायिकाएँ अवस्था भेद से आठ ही तरह की होती हैं:—स्वाधीनपतिका, वासकसज्जा, विरहोत्कण्ठिता, खण्डिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, प्रोषितप्रिया, तथा अभिसारिका।

वैसे तो नायिकाओं में नायिकात्व आदि (आदि से मुग्धा, मध्या आदि का समावेश होगा) भी इनकी अवस्था के द्योतक ही नहीं है, फिर भी इन दूसरे ढङ्ग की अवस्थाओं का प्रतिपादन इसलिये किया गया है, कि पहली अवस्थाओं को धर्मी माना गया है, इन अवस्थाओं को धर्म। जिस प्रकार धर्मी व धर्म, गुणी व गुण, विशेष्य व विशेषण दो भिन्न भावों का प्रतिपादन करते हैं, वैसे ही मुग्धादि अवस्थाएँ विशेष्य हैं; स्वाधीनभर्तृकादि अवस्थाएँ विशेषण। ये अवस्थाएँ आठ ही हैं, न ज्यादा, न कम इस पर जोर देने के लिए 'अष्टावेव' इस अवधारण का प्रयोग हुआ है। इसी को आगे स्पष्ट करते हैं कि ये अवस्थाएँ आठ से कम नहीं हो सकती, क्योंकि इनमें से किसी का भी एक दूसरे में अन्तर्भाव नहीं हो सकता।

न च वासकसज्जादेः स्वाधीनपतिकादावन्तर्भावः, अनासन्नप्रियत्वाद्वासकसज्जाया न

---

(१) 'रूपके त्वनुरक्तैव कार्या प्रहसनेतरे' इति पाठान्तरम्।

स्वाधीनपतिकात्वम्। यदि चैष्यत्प्रियापि स्वाधीनपतिका प्रोषितप्रियापि न पृथग्वाच्या, न चैयता व्यवधानेनासत्तिरिति नियन्तुं शक्यम्। न चाविदितप्रियव्यलीकायाः खण्डितात्वम्। नापि प्रवृत्तरतिभोगेच्छाया प्रोषितप्रियात्वम्। स्वयमगमनात्तामकं प्रत्यप्रयोजकत्वाच्चाभिसारिकात्वम्। एवमुत्कण्ठिताप्यन्यैव पूर्वाभ्यः। औचित्यप्राप्तप्रियागमनसमयातिवृत्तिविधुरा न वासकसज्जा, तथा विप्रलब्धापि वासकसज्जावदन्यैव पूर्वाभ्यः,—उक्त्वा नायात इति प्रतारणाधिकयाच्च वासकसज्जोत्कण्ठिताभ्यां पृथक्। कलहान्तरिता ■ यद्यपि विदितव्यलीका तथाप्यगृहीतप्रियानुनया पश्चात्तापप्रकाशितप्रसादा पृथगेव खण्डितायाः। तत् स्थितमेतदष्टावस्था इति।

वासकसज्जादि नायिका-कोटि का अन्तर्भाव स्वाधीनपतिकादि दूसरी कोटि में नहीं किया जा सकता। वासकसज्जा और स्वाधीनपतिका एक नहीं मानी जा सकती (स्वाधीनपतिकात्व की स्थिति वासकसज्जा में नहीं पाई जा सकती), क्योंकि स्वाधीनपतिका का पति उसके समीपस्थ होता है, जब कि वासकसज्जा का पति (प्रिय) आसन्न या नायिका के समीपस्थ नहीं होता। वासकसज्जा नायिका का यह भेद है, जब कि नायक आने वाला है और उसकी प्रतीक्षा में वह साज-सज्जा से विभूषित हो रही है, इस प्रकार वासकसज्जा एष्यत्प्रिया (जिसका पति आने वाला है) है। अगर इस एष्यत्प्रिया को भी स्वाधीनपतिका मान लिया जायगा, तो फिर प्रोषितप्रिया को भी अलग से मानने की क्या जरूरत है। देखा जाय तो एष्यत्प्रियत्व उसमें भी पाया जाता है। यदि इसका उत्तर यह दिया जाय, कि वासकसज्जा तथा उसके प्रिय के बीच का देशकाल का व्यवधान कम है, तथा प्रोषितप्रिया तथा उसके प्रिय के बीच का देशकाल का व्यवधान ज्यादा है, तो हम इस व्यवधान की कोई निश्चित सीमा नहीं बता सके कि यहाँ तक समीपता (आसत्ति) मानी जायगी और इसके बाद दूरी। हमारे पास व्यवधान के कोटिनिर्धारण की कोई तराजू तो नहीं है। साथ ही खण्डिता जैसे भेद को भी अलग मानना ही होगा, क्योंकि खण्डिता वही है जिसे प्रिय के अपराध का पता लग जाता है। जिसे प्रिय के अपराध का पता नहीं चलता (अविदितप्रियव्यलीका), वह खण्डितात्व ■ युक्त नहीं हो सकती। जो नायिका किसी नायक के साथ रतिक्रीडा में प्रवृत्त है या रति की इच्छा से युक्त है, उसे प्रोषितप्रिया नहीं माना जा सकता। साथ ही ऐसी नायिका को अभिसारिका भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह खुद नायक के पास नहीं जाती, तथा उसमें नायक के प्रति प्रयोजकत्व नहीं पाया जाता। अभिसारिका में नायक को अपने पास बुलाने का या स्वयं उसके पास जाने का धर्म पाया जाता है। इस तरह उत्कण्ठिता (विरहोत्कण्ठिता) भी उपर्युक्त स्वाधीनपतिका, वासकसज्जा, प्रोषितप्रिया, खण्डिता या अभिसारिका से भिन्न है। जो नायिका नायक के आने के उचित समय के व्यतीत ■ जाने पर उसके न आने से व्याकुल रहती है, वह वासकसज्जा नहीं मानी जा सकती, उसे विरहोत्कण्ठिता ही मानना होगा। इसी तरह विप्रलब्धा भी वासकसज्जा की तरह दूसरी अवस्था वाली नायिकाओं से भिन्न ही है। विप्रलब्धा का प्रिय आने का वादा करके भी नहीं आया है इस प्रकार यहाँ प्रतारणा (छल) की अधिकता पाई जाती है, इसलिए विप्रलब्धा वासकसज्जा तथा उत्कण्ठिता दोनों से भिन्न है। खण्डिता नायिका अपने प्रिय के परनारीसंभोग रूप अपराध को जान जाती है, कलहान्तरिता में भी यह बात तो खण्डिता के समान ही पाई जाती है, किन्तु वह नायक के अनुनय विनय करने पर भी नहीं मानती, तथा प्रसन्न नहीं होती, बाद में जब नायक चला जाता है तो पश्चात्ताप के कारण प्रसन्न हो जाती है। इस

प्रकार कलहान्तरिता खण्डिता से भिन्न सिद्ध होती है। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया, कि नायिकाओं में आठ ही अवस्थायें हैं।

तत्र—

आसन्नायत्तरमणा हृष्टा स्वाधीनभर्तृका।

यथा—

'मा गर्वमुद्वह कपोलतले चकास्ति
कान्तस्वहस्तलिखिता मम मञ्जरीति।
अन्यापि किं न सखि भाजनमीदृशानां
वैरी न चेद्भवति वेपथुरन्तरायः॥'

जिस नायिका का प्रिय समीप में रहता है तथा उसके आधीन होता है, तथा जो नायक की समीपता के कारण प्रसन्न रहती है, वह स्वाधीनभर्तृका कहलाती है। जैसे,

कोई सखी किसी स्वाधीनभर्तृका के गर्व को देखकर उससे कह रही है। मेरे कपोलफलक पर प्रिय के स्वय के हाथों से चित्रित पत्रावली (मञ्जरी) विद्यमान है—यह समझ कर घमण्ड न करो। हे सखि, अगर कान्त के समीपस्थ होने तथा उसके स्पर्श से जनित कम्प शत्रु बन कर विघ्न न करे, तो क्या कोई दूसरी नायिका ऐसी ही पत्रावलियों का पात्र नहीं बन सकती। दूसरी नायिका भी कान्त के अपने हाथ से चित्रित पत्रावली से युक्त हो सकती है, किन्तु कान्त के स्पर्श के कारण उनमें इतना कम्प हो जाता है, कि कान्त पत्रावली नहीं लिख पाता।

(व्यंग्य है—क्यों घमण्ड करती हो, पति के समीपस्थ होने पर भी तुम किसी प्रकार के कम्पादि सात्विक भाव का अनुभव नहीं करती, तुम्हारी सहृदयरसशून्यता है। सच्चे राग को तुम क्या जानो।)

यथा वासकसज्जा—

मुदा वासकसज्जा स्वं मण्डयत्येष्यति प्रिये॥ २५॥

स्वमात्मानं वेश्म च हर्षेण भूषयत्येष्यति प्रिये वासकसज्जा। यथा—

'निजपाणिपल्लवतटस्खलनादभिनासिकाविवरमुत्पतितैः।
अपरा परीक्ष्य शनकैर्मुमुदे मुखवासमास्यकमलश्वसनैः॥'

वासकसज्जा वह नायिका है, जो प्रिय के आने के समय हर्ष से अपने आपको सजाती है।

वासकसज्जा प्रिय के आने के समय के समीप होने पर अपने आपको व अपने घर को खुशी से सजाती है। इसका उदाहरण शिशुपालवध के नवम सर्ग का यह पद्य दिया जा सकता है:—

कोई नायिका अपने हाथ रूपी पल्लव के किनारे से स्खलित होने के कारण नासिका के छिद्रों की ओर उठे हुए मुख-कमल के वायु (मुखश्वास) के द्वारा धीरे से अपने मुँह की सुगन्धि की परीक्षा करके प्रसन्न हो रही थी।

अथ विरहोत्कण्ठिता—

चिरयत्यव्यलीके तु विर(१)होत्कण्ठितोन्मनाः।

(१) 'विरहोत्कण्ठिता मता' इति पाठान्तरम्।

यथा—

'सखि स विजितो वीणावाद्यैः कयाप्यपरस्त्रिया
पणितमभवत्ताभ्यां तत्र क्षपाललितं ध्रुवम्।
कथमितरथा शेफालीषु स्खलत्कुसुमास्वपि
प्रसरति नभोमध्येऽपीन्दौ प्रियेण विलम्ब्यते॥'

प्रिय (पति) के अपराधी न होने पर भी देर करने पर जो नायिका उत्कण्ठित मन से उसकी प्रतीक्षा करती है, वह विरहोत्कण्ठिता है।

किसी नायिका के प्रिय के आने का समय व्यतीत हो चुका है। आधी रात होने को आई, पर वह अभी तक नहीं आया है। इससे नायिका बड़ी उत्कण्ठित होकर अपनी सखी से कह रही है। हे सखि, ऐसा जान पड़ता है किसी दूसरी स्त्री ने वीणा आदि वाद्यों के द्वारा उसे जीत लिया है। सचमुच ही उन दोनों में रात भर क्रीड़ा करने की शर्त हो चुकी है। अगर ऐसा नहीं होता, तो हरसिंगार के फूल के झर जाने पर भी और चन्द्रमा के आकाश के बीच में आ जाने पर भी, मेरा प्रिय क्यों देर कर रहा है।

अथ खण्डिता—

ज्ञातेऽन्यासङ्गविकृते खण्डितेर्ष्याकषायिता॥ २५॥

यथा—

'नवनखपदमङ्गं गोपयस्यंशुकेन
स्थगयसि पुनरोष्ठं पाणिना दन्तदष्टम्।
प्रतिदिशमपरस्त्रीसङ्गशंसी विसर्पन्
नवपरिमलगन्धः केन शक्यो वरीतुम्॥'

जब नायिका को किसी दूसरी स्त्री से सम्भोग करने का नायक का अपराध पता हो जाय, तथा इस अपराध के कारण वह ईर्ष्या से कलुषित हो उठे, तो वह खण्डिता कहलाती है।

जैसे शिशुपाल के ग्यारहवें सर्ग का निम्न पद्य।

कोई नायक अपराध करके नायिका के पास लौटा है। वह अन्य नायिकादत्त अपने नखक्षत व दन्तक्षत को उत्तरीय आदि से छिपा रहा है। नायिका यह सब समझती हुई कहती है। तुम अपने उत्तरीय से नवीन नखक्षत के चिह्न से युक्त अङ्ग को छिपा रहे हो। अन्य स्त्री के दाँतों से काटे हुए ओठ (अधरोष्ठ) को हाथ से ढँक रहे हो। लेकिन चारों दिशाओं में फैलता हुआ, अन्य स्त्री के सम्भोग की सूचना देने वाला यह नवीन परिमलगन्ध (सुगन्धि) किसके द्वारा छिपाया जा सकता है। तुम नखक्षत व दन्तक्षत को भले छिपाओ, तुम्हारी देह से आने वाली यह नई सुगन्ध ही किसी दूसरी स्त्री के साथ की हुई रतिक्रीडा की सूचना दे रही है।

अथ कलहान्तरिता—

कलहान्तरिताऽमर्षाद्विधूतेऽनुशयार्तियुक्।

यथा—

'निःश्वासा वदनं दहन्ति हृदयं निर्मूलमुन्मथ्यते
निद्रा नैति न दृश्यते प्रियमुखं नक्तंदिवं रुद्यते।
अङ्गं शोषमुपैति पादपतितः प्रेयांस्तथोपेक्षितः
सख्यः कं गुणमाकलय्य दयिते मानं वयं कारिताः॥'

कलहान्तरिता नायिका वह है, जो नायक के अपराध करने पर क्रोध से उसका तिरस्कार करती है, बाद में अपने व्यवहार के विषय में पश्चात्ताप करती है।

किसी नायिका ने अपराधी नायक के प्रति मान किया है। बाद में अपने व्यवहार पर पश्चात्ताप करती हुई नायिका अपनी सखियों से कह रही है। प्रियतम के अपमान के पश्चात्ताप के कारण जनित निःश्वास जैसे सारे मुख को जला रहे हैं, हृदय जैसे जड़ से हिल रहा है—उन्मथित हो रहा है, रात में नींद भी नहीं आती, प्रियतम का मुँह भी दिखाई नहीं देता, (क्योंकि वह रुष्ट होकर लौट गया है) रात दिन रोने के सिवा कुछ नहीं सूझता। हमारा शरीर सूख गया है, इधर हमने पैरों पर गिर कर अपराध की क्षमा माँगते हुए प्रिय का भी तिरस्कार कर दिया। हे सखियों, बताओ तो सही, तुमने किस गुण को सोच कर हमसे प्रिय के प्रति मान करवाया था।

अथ विप्रलब्धा—

विप्रलब्धोक्तसमयमप्राप्तेऽतिविमानिता ॥ २६ ॥

यथा—

> 'उत्तिष्ठ दूति यामो यामो यातस्तथापि नायातः।
> याऽतः परमपि जीवेज्जीवितनाथो भवेत्तस्याः ॥'

प्रिय के दत्तसंकेत समय पर उपस्थित न होने पर जो नायिका अपने आपको अत्यधिक अपमानित समझती है, वह विप्रलब्धा कहलाती है।

नायिका सङ्केतस्थल (सहेट) पर बड़ी देर से दत्तसंकेत नायक की प्रतीक्षा कर रही है। उसके न आने पर झुँझला कर वह अपनी सखी (दूती) से कह रही है। हे दूति, अब उठो अधिक देर तक इन्तजार करना व्यर्थ है। चलो चलें। एक पहर इन्तजार में बीत गया पर फिर भी वह नहीं आया। जो नायिका इसके बाद भी जिन्दी रह सके, उसी का वह प्रिय (जीवितनाथ) हो सकता है।

अथ प्रोषितप्रिया—

दूरदेशान्तरस्थे तु कार्यतः प्रोषितप्रिया।

यथाऽमरुशतके—

> 'आदृष्टिप्रसरात्प्रियस्य पदवीमुद्वीक्ष्य निर्विण्णया
> विश्रान्तेषु पथिष्वहःपरिणतौ ध्वान्ते समुत्सर्पति।
> दत्त्वैकं सशुचा गृहं प्रति पदं पान्थस्त्रियास्मिन्क्षणे
> माभूदागत इत्यमन्दवलितग्रीवं पुनर्वीक्षितम् ॥'

जिस नायिका का प्रिय किसी कार्य से दूर देश में स्थित होता है, वह प्रोषितप्रिया (प्रोषितभर्तृका) कहलाती है।

जैसे अमरुकशतक में—

किसी नायिका का प्रिय विदेश में है। वह कई दिनों से उसकी प्रतीक्षा कर रही है। उसकी उत्कण्ठा इतनी बढ़ गई है कि वह प्रिय के आने के रास्तों की ओर खड़ी होकर नजर डाला करती है। जहाँ तक उसकी नजर जाती है, वहाँ तक वह प्रियतम के मार्ग (पदवी) का दुखी होकर अवलोकन किया करती है। जब शाम पड़ जाती है, चारों ओर अँधेरा फैलने लगता है, सारे रास्ते बन्द हो जाते हैं (राहगीरों का चलना बन्द हो जाता है), तो वह शोक से अपने एक पैर को घर की ओर बढ़ाती है, लेकिन इसी क्षण वह प्रोषितपतिका पान्थवधू यह

सोचकर कि कहीं वह आ न गया हो, अपनी गरदन को ज़रा टेढ़ी करके फिर पीछे (रास्ते) की ओर देख लेती है।

अथाभिसारिका—

कामार्ताऽभिसरेत्कान्तं सारयेद्वाऽभिसारिका ॥ २७ ॥

यथाऽमरुशतके—

> 'उरसि निहितस्तारो हारः कृता जघने घने
> कलकलवती काञ्ची पादौ रणन्मणिनूपुरौ ।
> प्रियमभिसरस्येवं मुग्धे त्वमाहतडिण्डिमा
> यदि किमधिकत्रासोत्कम्पं दिशः समुदीक्षसे ॥'

यथा च—

> 'न च मेऽवगच्छति यथा लघुतां करुणां यथा च कुरुते स मयि ।
> निपुणं तथैनमुपगम्य वदेरभिदूति सं काचिदिति संदिदिशे ॥'

जो नायिका कामपीड़ित होकर या तो स्वयं नायक के पास अभिसरण करे, या नायक को अपने पास बुलावे, वह अभिसारिका कहलाती है।

जैसे अमरुशतक में—

अपनी सम्पूर्ण साज-सज्जा से विभूषित होकर कोई नायिका प्रिय के पास अभिसरणार्थ जा रही है। डर के मारे वह इधर-उधर काँपती नजर से देख लेती है कि कहीं कोई देख तो नहीं रहा है। नायिका की इसी दशा को देख कर कवि उससे कह रहा है। हे भोली रमणी, तुम बड़े ठाट बाट से प्रिय से मिलने जा रही हो। तुमने उरःस्थल पर सुन्दर हार पहन रक्खा है, घने जघनस्थल पर सशब्द करधनी पहन रक्खी है और तुम्हारे पैरों में मणिनूपुर झणझणायमान हो रहे हैं। इस प्रकार तुम्हारे हार, करधनी व नूपुरों का कलरव तुम्हारे जाने की सूचना लोगों को दे रहा है। हे भोली, जब तुम इस तरह ढिंढोरा पीटती हुई (खुले आम) प्रिय के पास अभिसरणार्थ जा रही हो,—तो फिर डर के मारे काँपती हुई चारों ओर क्यों देख रही हो।

(यहाँ प्रथम उदाहरण में नायिका का वह रूप बताया गया जब वह स्वयं अभिसरण कर रही है। अब दूसरा उदाहरण शिशुपाल वध के नवम सर्ग से दिया जा रहा है, जहाँ नायिका नायक को अपने पास बुलाने के लिए दूती भेज रही है।) और जैसे—

'हे सखी, तुम उसके समीप जाकर इस ढंग से इस कुशलता से बातचीत करना कि वह अपने आपको लघुता का अनुभव न करे तथा मेरे प्रति दया का भाव करे।' कोई नायिका अपनी दूती को इस तरह संदेश दे रही थी।[1]

तत्र—

चिन्तानिःश्वासखेदाश्रुवैवर्ण्यग्लान्यभूषणैः ।
युक्ताः षडन्त्या द्वे चाद्ये क्रीडौज्ज्वल्यप्रहर्षितैः ॥ २८ ॥

परस्त्रियौ तु कन्योढे संकेतात्पूर्वं विरहोत्कण्ठिते पश्चाद्विदूषकादिना सहाभिसर-

---

१. अवलोककार धनिक इस पद्य की नायिका को अभिसारिका मानते हैं, यह स्पष्ट ही है। माघ के टीकाकार मल्लिनाथ इसी पद्य की टीका में नायिका को कलहान्तरिता स्वीकार करते हैं:—'नायिका तु कलहान्तरिता। 'कोपात्कान्तं पराणुद्य पश्चात्तापसमन्विता' इति लक्षणात्।' (९।५६) हमारे मतानुसार इसे अभिसारिका ही मानना ठीक होगा।

न्यानभिसारिके कुत्रोऽपि सङ्केतस्थानमप्राप्ते नायके विप्रलब्धे इति व्यवस्था व्यवस्थितैवाऽनयोरिति—अस्वाधीनप्रिययोरवस्थान्तरायोगात् ।

यत्तु मालविकाग्निमित्रादौ 'योऽप्येव धीर' सोऽपि दृष्टो देव्याः पुरतः' इति मालविकावचनानन्तरम् 'राजा—

दाक्षिण्यं नाम बिम्बोष्ठि नायकानां कुलव्रतम् ।
तन्मे दीर्घाक्षि ये प्राणास्ते त्वदाशानिबन्धनाः ॥'

इत्यादि, तन्न खण्डितानुनयाभिप्रायेण, अपितु सर्वथा मम देव्यधीनत्वमाशङ्क्य निराशा मा भूदिति कन्याविश्रम्भणायेति ।

तथाऽनुपसञ्जातनायकसमागमाया देशान्तरव्यवधानेऽप्युत्कण्ठितत्व मेवेति न प्रोषितप्रियात्वम् अनायत्तप्रियत्वादेवेति ।

इस सम्बन्ध में इन आठों नायिकाओं के सामान्य भूषणों का उल्लेख करना आवश्यक है। इनमें अन्तिम छः (विरहोत्कण्ठिता, खण्डिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, प्रोषितप्रिया तथा अभिसारिका) नायिकाओं में चिन्ता, निःश्वास, खेद, अश्रु, वैवर्ण्य तथा ग्लानि ये अभूषण (हीनताजनक चिह्न) पाये जाते हैं। आरम्भिक दो नायिकाओं स्वाधीनपतिका तथा वासकसज्जा में क्रीडा, उज्ज्वलता तथा हर्ष विद्यमान रहते हैं।

स्वकीया नायिका के आठ प्रकार बताने के बाद यहाँ परकीया का इस प्रकार रूप बताना जरूरी है। कन्या तथा परोढारूप परकीया नायिका सङ्केतस्थल पर प्रिय से मिलने के पूर्व विरहोत्कण्ठिता ही तथा बाद में विदूषक, दूती, सखी आदि के साथ प्रिय के पास छिपकर जाने के कारण अभिसारिका की कोटि में आती है। कभी नायक सङ्केतस्थल पर नहीं आ पाता, तो वह विप्रलब्धा हो जाती है। इस तरह परकीया नायिका को तीन ही अवस्थाएँ होती हैं (आठ अवस्थाएँ नहीं), क्योंकि इनका प्रिय स्वाधीन न होने के कारण दूसरी अवस्थाएँ इनमें नहीं पाई जा सकतीं।

मालविकाग्निमित्र नाटक में एक स्थान पर मालविका के यह कहने पर कि 'तुम इतने धीर हो, पर देवी (महारानी) के आगे तुम्हारी हालत क्या थी, यह हम देख चुके हैं,' राजा अग्निमित्र मालविका को मनाते तथा विश्वास दिलाते हुए कहता है —हे बिम्ब के समान ओठ वाली मालविके, उच्चकोटि के नायकों का कुलव्रत दक्षिणता (सब नायिकाओं के साथ सहृदयतापूर्ण बर्ताव करना) है। हे बड़ी आँखों वाली, मेरे प्राण तो तुम्हारी ही आशा से निबद्ध हैं।'

इस स्थल पर मालविका में खण्डितात्व की भ्रान्ति करना अनुचित होगा। यह कभी नहीं सोचना चाहिए कि यहाँ मालविका राजा के देवी के प्रति प्रेम के कारण ईर्ष्यालु होकर खण्डिता हो गई है। यह स्थल तो कवि ने इसलिए सन्निविष्ट किया है, कि राजा मालविका को यह विश्वास दिला देना चाहता है, कि मैं देवी के बिलकुल अधीन हूँ, ऐसी आशङ्का करके निराश मत होना।

परकीया नायिका के प्रिय के समागम न होने के पूर्व ही प्रिय के दूर देशस्थ होने पर उसे प्रोषितप्रिया नहीं माना जायगा, क्योंकि वहाँ उसका उत्कण्ठित रूप ही है, अतः वह उत्कण्ठिता ही मानी जायगी, क्योंकि अभी तक प्रिय उसे प्राप्त नहीं हो सका है, ऐसा उसके अधीन नहीं है।

अथासां सहायिन्यः—

दूत्यो दासी सखी कारूर्धात्रेयी प्रतिवेशिका ।
लिङ्गिनी शिल्पिनी स्वं च नेतृमित्रगुणान्विताः ॥ २६ ॥

दासी = परिचारिका। सखी = स्नेहनिबद्धा। कारू = रजकीप्रभृतिः। धात्रेयी = उपमातृसुता। प्रतिवेशिका = प्रतिगृहिणी। लिङ्गिनी = भिक्षुक्यादिका। शिल्पिनी = चित्रकारादिस्त्री। स्वयं चेति दूतीविशेषाः नायकमित्राणां पीठमर्दादीनां निसृष्टार्थत्वादिना गुणेन युक्ताः। तथा च मालतीमाधवे कामन्दकीं प्रति—

> 'शास्त्रेषु निष्ठा सहजश्च बोधः प्रागल्भ्यमभ्यस्तगुणा च वाणी।
> कालानुरोधः प्रतिभानवत्त्वमेते गुणाः कामदुघाः क्रियासु॥'

इन नायिकाओं का नायक के साथ समागम कराने वाले सहायक ये लोग हैं:— दूतियाँ, दासी, सखी, नीच जाति की औरतें, धाय की बेटी, पड़ोसिन, सन्यासिनी, शिल्पिनी, स्वयं नायिका ही (स्वयं दूती के रूप में), ये सभी दूतियाँ आदि नायक के मित्र—पीठमर्द, विट, विदूषकादि के गुणों से युक्त होती हैं।

इन्ही के उदाहरण रूप में प्रथम उदाहरण मालतीमाधव से कामन्दकी (लिङ्गिनी-तपस्विनी) का दिया गया है जो माधव के प्रति मालती को आकृष्ट करने का प्रयत्न करती है:—

शास्त्रों में निष्ठा होना, सहज ज्ञान, प्रगल्भता, गुणवती वाणी, समय के अनुरूप प्रतिभा का होना, ये गुण सभी क्रियाओं में इच्छानुसार सफलता दिलाने वाले होते हैं। (यहाँ भगवती कामन्दकी माधव के गुणों का वर्णन सामान्य उक्ति के द्वारा कर रही है।)

तत्र सखी यथा—

> 'मृगशिशुदृशस्तस्यास्तापं कथं कथयामि ते
> दहनपतिता दृष्टा मूर्तिर्मया नहि चैन्दवी।
> इति तु विदितं नारीरूपः स लोकदृशां सुधा
> तव शठतया शिल्पोत्कर्षो विधेर्विघटिष्यते॥'

यहाँ मालतीमाधव में सखी दूती रूप में माधव के पास आकर मालती की विरहजनित अवस्था का वर्णन कर रही है। हे माधव, उस हिरन के छौने के समान आँखों वाली मालती के विरहताप को कैसे कहूँ, उसका वर्णन करने के लिए मेरे पास कोई शब्द ही नहीं। अगर कहीं मैंने चन्द्रमा की मूर्ति को आग में पड़ी देखा होता, तो मैं बता पाती, पर मैंने ऐन्दवी मूर्ति (चन्द्रकला) को कभी आग में पड़ी देखा नहीं। हाँ मैं इतना भर जानती हूँ, कि मालती बड़ी सुन्दर है, मालती का यह रमणीरूप सारे संसार की दृष्टि के लिए अमृत के समान है, पर ऐसा मालूम पड़ता है, कि तेरी दुष्टता के कारण ब्रह्मा की यह सबसे सुन्दर कलाकृति यों ही बरबाद हो जायगी।

यथा च—

> 'सच्चं जाणइ दट्ठुं सरिसम्मि जणम्मि जुज्जए राओ।
> मरउ ण तुमं भणिस्सं मरणं वि सलाहणिज्जं से॥'
> ('सत्यं जानाति द्रष्टुं सदृशे जने युज्यते रागः।
> म्रियतां न त्वां भणिष्यामि मरणमपि श्लाघनीयमस्याः॥')

और जैसे—कोई दूती (सख्यादि) नायक के पास आकर नायिका विरहजनित दशा का वर्णन करती है—यह बात देखने में ठीक है, कि योग्य व्यक्ति के प्रति प्रेम करना उचित है (इसने योग्य व्यक्ति के प्रति प्रेम किया, यह अच्छा है)। अगर वह मर जाय, तो मर जाय, मैं तुम्हें कुछ न कहूँगी। क्योंकि योग्य व्यक्ति से प्रेम करके उसके विरह में उसका मर जाना भी प्रशंसनीय ही होगा।

स्वयं दूती यथा—

'महु एहि किं णिवालअ हरसि णिअं वाउ जइ वि मे सिचअम्।
साहेमि कस्स सुन्दर दूरे गामो अहं एक्का'
('मुहुरेहि किं निवारक हरसि निजं वायो यद्यपि मे सिचयम्।
साधयामि कस्य सुन्दर दूरे ग्रामोऽहमेका ॥')

इत्याद्यूह्यम्।

स्वयं दूती जैसे—कोई नायिका किसी पान्थादि के साथ उपभोग की इच्छा से उसे सुनाकर कह रही है। हे निगोड़े वायु, तुम बार बार आते हो, मेरे वस्त्र को (आंचल को) क्यों हर रहे हो। यद्यपि तुम मेरे आँचल को हर रहे हो, फिर भी हे सुन्दर मैं किसे प्रसन्न करूँ, गाँव तो दूर है, और यहाँ मैं बिलकुल अकेली हूँ।

(इस शून्य स्थल में पान्थ के साथ की गई रतिक्रीडा को कोई न देख पायगा, इस बात की व्यञ्जना स्वयं दूती की उक्ति कर रही है। आँचल को हिलाकर वह चेष्टा से भी पान्थ को आमन्त्रित कर रही है—यह सहृदयहृदयसंवेद्य तत्त्व है।)

अथ योषिदलङ्कारा—

यौवने सत्त्वजाः स्त्रीणामलङ्कारास्तु विंशतिः।

यौवने सत्त्वोद्भूता विंशतिरलङ्कारा स्त्रीणां भवन्ति।

तत्र—

भावो हावश्च हेला च त्रयस्तत्र शरीरजाः ॥ ३० ॥
शोभा कान्तिश्च दीप्तिश्च माधुर्यं च प्रगल्भता।
औदार्यं धैर्यमित्येते सप्त भावा अयत्नजाः ॥ ३१ ॥

तत्र भावहावहेलास्त्रयोऽङ्गजाः, शोभा कान्तिर्दीप्तिर्माधुर्यं प्रागल्भ्यमौदार्यं धैर्यमित्य-यत्नजाः सप्त।

लीला विलासो विच्छित्तिर्विभ्रमः किलकिञ्चितम्।
मोट्टायितं कुट्टमितं विब्बोको ललितं तथा ॥ ३२ ॥
विहृतं चेति विज्ञेया दश भावाः स्वभावजाः।

तानेव निर्दिशति—

निर्विकारात्मकात्सत्त्वाद्भावस्तत्राद्यविक्रिया ॥ ३३ ॥

तत्र विकारहेतौ सत्यप्यविकारं सत्त्वं यथा कुमारसम्भवे—

'श्रुताप्सरोगीतिरपि क्षणेऽस्मिन्हरः प्रसंख्यानपरो बभूव।
आत्मेश्वराणां नहि जातु विघ्नाः समाधिभेदप्रभवो भवन्ति ॥'

स्त्रियों में यौवनावस्था में सत्त्वज (स्वाभाविक) बीस अलङ्कार माने जाते हैं:— भाव, हाव, हेला ये तीन शरीरज (शारीरिक) अलङ्कार हैं। शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य, धैर्य ये सात सत्त्वज भाव के अलङ्कार हैं, जो स्त्रियों में अयत्न रूप से पाये जाते हैं, अर्थात् इन्हें प्रकटित करने में नायिकाओं को कोई यत्न नहीं करना पड़ता। लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिञ्चित, मोटायित, कुट्ट-मित, विब्बोक, ललित, विहृत ये दस भाव स्वभावज भाव हैं, अर्थात् स्वभाव से ही

क्रियों में स्थित रहते हैं। इन्हीं का आगे एक एक को लेकर लक्षण व उदाहरण दिया जाता है।

निर्विकारात्मक सत्त्व से जब विकार का सर्वप्रथम विस्फुरण पाया जाता है, तो इसी प्रकार के प्रथम स्फुरण को 'भाव' कहते हैं।

मानवप्रकृति में सत्त्व, रजस् तथा तमस् ये तीन गुण माने जाते हैं। इन गुणों में से सत्त्व की यह विशेषता है, कि विकार को उत्पन्न करने वाले कारण के विद्यमान होने पर भी विकार नहीं हो पाता (विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः)। इसी को पहले नायक के गुणों में 'गाम्भीर्य' कहा गया है। इस सत्त्व का उदाहरण कुमारसम्भव का यह पद्य दिया जा सकता है—

अप्सराओं के सङ्गीत को सुनकर भी महादेव उसी क्षण समाधि में स्थित हो गये। जितेन्द्रिय तथा जितात्मा व्यक्तियों की समाधि को कोई भी विघ्न भङ्ग नहीं कर सकते।

तस्मादविकाररूपात्सत्त्वात् यः प्रथमो विकारोऽन्तर्विपरिवर्ती बीजस्योच्छूनतेव स भावः। यथा—

'दृष्टिः सालसतां बिभर्ति न शिशुक्रीडासु बद्धादरा
श्रोत्रे प्रेषयति प्रवर्तितसखीसम्भोगवार्तास्वपि।
पुंसामङ्कमपेतशङ्कमधुना नारोहति प्राग्यथा
बाला नूतनयौवनव्यतिकरावष्टभ्यमाना शनैः॥'

इस प्रकार सत्त्व वह अवस्था है, जब कि व्यक्ति सर्वथा निर्विकार रहता है। इस अवस्था के बाद विकार की जो सर्वप्रथम अवस्था पाई जाती है, जिसमें विकार बड़ा अस्फुट रूप से रहता है 'भाव' कहलाती है। यह विकार शरीर के अन्तस् में ही छिपा रहता है, और इसकी तुलना बीज की उच्छूनता से की जा सकती है। जिस तरह पानी, मिट्टी आदि संयोग से अङ्कुरित होने के पहले बीज कुछ उच्छून हो जाता है। उस समय बीज में विकार तो होता है, पर वह विकार बीज के अन्तस् में ही होता है, इसी प्रकार नायिका के अन्तस् में पाया जाने वाला (शृङ्गार) विकार 'भाव' नाम से अभिहित होता है।

इस 'भाव' नामक शारीरिक अलङ्कार का उदाहरण यों दिया जा सकता है। मुग्धा नायिका में सर्वप्रथम विकार का स्फुरण हो रहा है। कवि उसी का वर्णन कर रहा है। उसकी नजर पहले बड़ी चञ्चल थी, लेकिन अब वह अलसाई-सी नजर आती है (उसकी दृष्टि ने अलसता धारण कर ली है)। पहले बचपन में, वह छोटे बच्चों के खेलों से आनन्द प्राप्त करती थी, लेकिन अब छोटे बच्चों के खेलों में वह कोई दिलचस्पी नहीं लेती। वयस्क स्त्रियों की बात सुनने में, पहले उसे कोई मजा नहीं आता था, लेकिन अब अपनी सखियों की सम्भोग की बात करते सुन कर वह अपने कान उन बातों की ओर लगाती है। सम्भोग की बातों को सुनने में अब उसको कुछ कुछ दिलचस्पी होने लग गई है। बच्ची होने पर वह बिना किसी हिचक के पुरुषों की गोद में बैठ जाया करती थी, लेकिन अब पहले की तरह पुरुषों की गोद में नहीं बैठती। निःसन्देह यह बाला धीरे धीरे नवीन यौवन के आविर्भाव से युक्त हो रही है। अथवा यह नायिका नवीन यौवन के द्वारा अवष्टम्भित या अवरुद्ध (अवष्टभ्यमान) हो रही है।

यथा वा कुमारसम्भवे—

'हरस्तु किञ्चित्परिलुप्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि॥'

अथवा जैसे कुमारसम्भव में महादेव में विकार का प्रथम स्फुरण पाया जाता है। इसी का वर्णन कालिदास ने यों किया है —

कामदेव के बाण मारने पर महादेव का धैर्य कुछ कुछ उसी तरह लुप्त हो गया, जैसे चन्द्रोदय की आरम्भिक दशा में समुद्र की तरह महादेव का मन चञ्चल हो उठा। उन्होंने बिम्बाफल के समान अधरोष्ठ वाले सुन्दर पार्वती के मुख की ओर अपने नेत्रों को डाला।

यथा वा ममैव—

'तं चित्र वअणं ते चेअ लोअणे जोव्वणं पि तं चेअ।
अण्णा अणङ्गलच्छी अण्णं चिअ किं पि साहेइ॥'
('तदेव वचनं ते चैव लोचने यौवनमपि तदेव।
अन्यानङ्गलक्ष्मीरन्यदेव किमपि साधयति॥')

अथवा जैसे धनिक की बनाई हुई निम्न प्राकृत गाथा में भी नायिका के 'भाव' नामक शरीरज अलङ्कार का वर्णन है —

उस नायिका की बातचीत (वचन) भी वही है, नेत्र भी वही है, यौवन भी वही है, इनमें कोई भी परिवर्तन दिखाई नहीं देता। लेकिन उसके शरीर में भिन्न प्रकार की काम-शोभा दिखाई पड़ती है, जो दूसरे ही ढङ्ग का प्रभाव (लोगों पर) डालती है।

अथ हाव —

अल्पालाप: सशृङ्गारो हावोऽक्षिभ्रुविकारकृत्।

प्रतिनियताङ्गविकारकारी शृङ्गार: स्वभावविशेषो हाव: यथा ममैव—

'जं किं पि पेच्छमाणं भणमाणं रे जहातहच्चेअ।
णिज्झाअ णेहमुद्धं वअस्स मुद्धं णिअच्छेह॥'
('यत्किमपि प्रेक्षमाणां भणमानां रे यथातथैव।
निध्याय स्नेहमुग्धां वयस्य मुग्धां पश्य॥')

नायिका में बातचीत कम करने की अवस्था का होना तथा शृङ्गार का होना 'हाव' कहलाता है। यह 'हाव' आँख, भौंह आदि में विकार उत्पन्न करता है।

निश्चित अङ्गों में विकार करने वाला शृङ्गार 'हाव' कहलाता है, यह 'हाव' स्वाभाविक तथा शरीरज अलङ्कार है। जैसे धनिक की ही यह गाथा नायिका के 'हाव' की व्यञ्जना करती है —

हे मित्र, उस नायिका के देखते हुए या बोलते हुए, दोनों का जो कुछ असर होता है, वह एक-सा ही होता है। या तो तुम स्नेहमुग्धा भोली नायिका को दृष्टिपात करती देखो, या बोलती देखो, एक सा अनुभव होगा। यहाँ नायिका का दृष्टिपात भी आह्लाददायक है इस प्रकार उसमें 'हाव' की स्थिति सूचित की गई है।

अथ हेला—

स एव हेला सुव्यक्तशृङ्गाररससूचिका॥ ३५॥

हाव एव स्पष्टभूयोविकारत्वात्सुव्यक्तशृङ्गाररससूचको हेला। यथा ममैव—

'तह झत्ति से पअत्ता सव्वङ्गं विब्भमा थणुब्भेए।
संसइअबालभावा होइ चिरं जह सहीण पि॥'
('तथा झगित्यस्या: प्रवृत्ता: सर्वाङ्गं विभ्रमा: स्तनोद्भेदे।
संशयितबालभावा भवति चिरं यथा सखीनामपि॥')

यही 'हाव' जब शृङ्गार रस को प्रकट रूप में अच्छी तरह अभिव्यक्त करने लगें, तो 'हेला' नामक शरीरज अलङ्कार बन जायगा। 'हेला' में नायिका के विकार स्पष्ट रूप में परिलक्षित होते हैं, तथा प्रकट रूप में शृङ्गार चेष्टा के द्योतक होते हैं।

जैसे धनिक की स्वयं की इस गाथा में—

ज्योंही उसके स्तन अङ्कुरित होने लगे, त्योंही इस नायिका के सारे अङ्गों में इस ढङ्ग से विलास व विभ्रम प्रवृत्त होने लगा, कि उसकी सखियाँ भी एक बारगी उसके बालभाव के बारे में संशय करने लग गईं। 15/11/57

अथायत्नजाः सप्त। तत्र शोभा—

रूपोपभोगतारुण्यैः शोभाङ्गानां विभूषणम्।

यथा कुमारसम्भवे—

'तां प्राङ्मुखीं तत्र निवेश्य बालां क्षणं व्यलम्बन्त पुरो निषण्णाः।
भूतार्थशोभाह्रियमाणनेत्राः प्रसाधने सन्निहितेऽपि नार्यः॥'

इत्यादि। यथा च शाकुन्तले—

'अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै-
रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम्।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः॥'

अयत्नज अलङ्कार सात माने गये हैं।[1] इनमें सर्वप्रथम शोभा अलङ्कार का वर्णन पहले किया जा रहा है। रूप, विलास तथा यौवन के कारण जब नायिका के अङ्ग विभूषित हो उठते हैं, तो उस अलङ्कार को 'शोभा' नामक अयत्नज अलङ्कार कहते हैं।

कुमारसम्भव के सप्तम सर्ग में पार्वती को विवाह के लिए सजाया जा रहा है। उसी का वर्णन करते समय कवि कुलगुरु कालिदास कहते हैं:—

उस बाला पार्वती को पूर्व दिशा की ओर मुँह करके बिठा कर अन्य स्त्रियाँ उसके सामने बैठ कर एक क्षण के लिए ठिठक सी गईं—पार्वती का प्रसाधन करने से रुक सी गईं। पार्वती की नैसर्गिक शोभा को देख कर वे स्तब्ध-सी हो गईं, उनके नेत्र लज्जित हो गए कि इस नैसर्गिक सौन्दर्य के लिए इन बाह्य प्रसाधनों की क्या जरूरत? और इस तरह प्रसाधन सामग्री के समीप रहने पर भी वे एक क्षण के लिए पार्वती का प्रसाधन न कर सकीं।

और जैसे शकुन्तला के स्वाभाविक सौन्दर्य रूप शोभा अलङ्कार का वर्णन करते हुए—

इस सम्मुख स्थित बाला की शोभा देख कर ऐसा कहा जा सकता है, कि यह वह फूल है, जिसे अब तक किसी ने नहीं सूँघा है, यह वह कोमल किसलय है जिसे किसी के नखों ने नहीं तोड़ा है—नहीं खरोंचा है, यह वह रत्न है जिसको अभी बेधा भी नहीं गया है, तथा यह वह नया शहद है, जिसके रस को किसी ने नहीं चखा है। इसका यह अकलुष रूप—अनिन्द्य सौन्दर्य—जैसे पुण्यों का अखण्ड फल है। पता नहीं भला इस फल का उपभोक्ता किसे बनायेगा?

अथ कान्तिः—

मन्मथावापितच्छाया सैव कान्तिरिति स्मृता॥ ३५॥

---

1. 'मन्मथाप्यायित-' इति पाठान्तरम्।

शोभैव रागावतारघनीकृता कान्तिः। यथा—

'उन्मीलद्वदनेन्दुदीप्तिविसरैर्दूरे समुत्सारितं
भिन्नं पीनकुचस्थलस्य च रुचा हस्तप्रभाभिर्हतम्।
एतस्याः कलविङ्ककण्ठकदलीकल्पं मिलत्कौतुका-
दप्राप्ताङ्गसुखं रुषेव सहसा केशेषु लग्नं तमः ॥'

यथा हि महाश्वेतावर्णनावसरे भट्टबाणस्य।

शोभा में नायिका में कामविकार नहीं होता। जब कामाविर्भाव के बाद इसकी कान्ति और अधिक बढ़ जाती है, तो वही शोभा राग (काम) के उत्पन्न होने से सघन होने के कारण कान्ति नामक अलङ्कार होती है।

जैसे निम्न पद्य में नायिका में मन्मथ का अवतरण होने से उसकी मनोहारिता और सघन हो गई है। उसकी इस कान्ति को देख कर मानव या चेतन प्राणी तो क्या अन्धकार भी उसके अङ्गों के स्पर्शसुख को प्राप्त करना चाहता है। लेकिन नायिका उसे अपने पास भी नहीं फटकने देती। वह अपने प्रफुल्लित मुख रूपी चन्द्रमा की प्रकाश-किरणों से उसे (अंधेरे को) दूर भगा देती है उसे अपने मोटे भारी वक्षोजों की कान्ति से फोड़ देती है, और हाथ की कान्ति से खूब पीटती है। इस तरह वह अपने अङ्गों का सुख प्राप्त करने वाले कामुक अन्धकार को दूर से मार भगाती है। उद्दण्ड कामी की भाँति चोट खाने पर भी अन्धकार पीछे नहीं हटता, वह एक बार नायिका के अङ्गस्पर्श का सुख पाना ही चाहता है, और इस बार वह क्रोध से नायिका के पीछे पड़ ही तो जाता है। भला एक बार तो उसका-अपमान करने वाली नायिका को मजा चखा ही दिया जाय। इसलिए कलविङ्क पक्षी के कण्ठ के समान सघन काला अन्धकार, कौतुक के साथ एक दम उस नायिका के बालों में आकर मानों रोष से चिपट गया है।

भाव यह है, कि उस नायिका का मुख अपूर्व कान्ति से युक्त है जैसे पूर्ण चन्द्रमा हो, उसके वक्षोज पूर्णतः उन्नत हैं, उसके हाथ भी सुन्दर हैं, तथा उसके केश अन्धकार के समान घने काले हैं।[1]

कान्ति का दूसरा उदाहरण हम बाण की कादम्बरी के महाश्वेतावर्णन में देख सकते हैं।

अथ माधुर्यम्—

अनुल्बणत्वं माधुर्यम्—

यथा शाकुन्तले—

'सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ॥'

नायिका में अनुल्बणता या रमणीयता का होना माधुर्य नामक भाव कहलाता है।

जैसे शकुन्तला के वर्णन में शाकुन्तल नाटक में—

शैवल से युक्त होने पर भी कमल सुन्दर ही लगता है। चन्द्रमा का काला कलङ्क भी

---

१ जब कोई व्यक्ति जबरदस्ती पीछे पड़ता है, तो भगाने की कोशिश की जाती है, मोटी चीज पत्थर, सोटे आदि से उसे फोड़ा जाता है, और हाथों से मारा-पीटा जाता है, नायिका ठीक यही बर्ताव अन्धकार के साथ करती है, यह स्पष्ट है।

उसकी शोभा ही बढाता है। यह (शकुन्तला) वल्कल पहनने पर भी बड़ी सुन्दर लग रही है। मधुर आकृतियों के लिए कुछ भी मण्डन बन जाता है।

अथ दीप्तिः—

—दीप्तिः कान्तेस्तु विस्तरः।

'देआ पसिअ णिअत्तसु मुहससिजोण्हाविलुत्ततमणिवहे।
अहिसारिआणँ विग्घं करोसि अण्णाणँ वि हआसे॥'
(प्रसीद पश्य निवर्तस्व मुखशशिज्योत्स्नाविलुप्ततमोनिवहे।
अभिसारिकाणां विघ्नं करोष्यन्यासामपि हताशे॥')

कान्ति नामक भाव का विस्तार—उसका विशेष पाया जाना, दीप्ति नामक भाव कहलाता है। जैसे

हे रमणी, खुश हो जाओ, देखो तो तुम्हारे मुख रूपी चन्द्रमा की ज्योत्स्ना से अन्धकार नष्ट हो रहा है। लौट चलो, हे मूर्खे (हताशे), तुम दूसरी अभिसारिकाओं—अन्धकार में प्रिय का अभिसरण करती हुई कृष्णाभिसारिकाओं—के भी प्रियाभिसरण में विघ्न क्यों कर रही हो!

अथ प्रागल्भ्यम्—

निस्साध्वसत्वं प्रागल्भ्यम्—

मनःक्षोभपूर्वकोऽङ्गसादः साध्वसं तदभावः प्रागल्भ्यम्, यथा ममैव—

'तथा व्रीडाविधेयापि तथा मुग्धापि सुन्दरी।
कलाप्रयोगचातुर्ये सभायामाचार्यकं गता॥'

मन के क्षोभादि का न पाया जाना प्रागल्भ्य नामक भाव कहलाता है।

जैसे धनिक का स्वयं का यह पद्य—

यद्यपि यह सुन्दरी इतनी अधिक लज्जापूर्ण तथा भोली है, फिर भी सभा में कलाप्रयोग की चतुरता का प्रदर्शन करते समय आचार्यत्व को प्राप्त हो गई।

अथौदार्यम्—

—औदार्यं प्रश्रयः सदा॥ ३९॥

यथा—

'दिअहं [illegible] दुक्खिआए सअलं काऊण गेहवावारम्।
गरुएवि मण्णुदुक्खे भरिमो पाअन्तसुत्तस्स॥'
('दिवसं खलु दुःखितया सकलं कृत्वा गृहव्यापारम्।
गुरुण्यपि मन्युदुःखे भरिमा पादान्ते सुप्तस्य॥')

यथा वा—'भ्रूभङ्गे सहसोद्गता' इत्यादि।

सदा प्रेम से युक्त रहना; नायक के प्रति अनुकूल रहना, औदार्य कहलाता है। जैसे दिन भर घर का कामकाज करके थकी हुई, नायिका के भारी क्रोध व दुःख प्रिय के चरणपतित होने पर शान्त हो गये।

अथवा जैसे 'भ्रूभङ्गे सहसोद्गता' (भौंहें टेढ़ी होते हुए उठ आयी हुई) इत्यादि उदाहरण में।

अथ धैर्यम्—

चापलाऽविहता धैर्यं चिद्वृत्तिरविकत्थना ।

चापलानुपहता मनोवृत्तिरात्मगुणानामनाख्यायिका धैर्यमिति यथा मालतीमाधवे—

'ज्वलतु गगने रात्रौ रात्रावखण्डकलः शशी
दहतु मदनः किंवा मृत्योः परेण विधास्यति ।
मम तु दयितः श्लाघ्यस्तातो जनन्यमलान्वया
कुलममलिनं न त्वेवायं जनो न च जीवितम् ॥'

चञ्चलता से रहित, तथा अपने स्वयं के गुणों की प्रशंसा से रहित मनोवृत्ति को धैर्य नामक भाव कहते हैं।

जैसे मालतीमाधव की मालती में धैर्य भाव पाया जाता है:—

हर रात आकाश में पूर्ण चन्द्रमा प्रकाशित होकर मुझे जलाया करे (जला करे)। कामदेव (मुझे) जलाया करे, वह मृत्यु से बढ़कर अधिक क्या बिगाड़ सकता है? मुझे तो अपना प्रिय, अपने पिता, पवित्र वंश में उत्पन्न अपनी माता तथा अपना निर्मल कुल अभीष्ट है, यह जन (अपने आप) तथा यह अपना जीवन प्रिय नहीं है।

अथ स्वाभाविका दश, तत्र—

प्रियानुकरणं लीला मधुराङ्गविचेष्टितैः ॥ ३७ ॥

प्रियकृतानां वाग्वेषचेष्टानां शृङ्गारिणीनामङ्गनाभिरनुकरणं लीला ।

यथा ममैव—

'तह दिट्ठं तह भणिअं ताए णिअदं तहा तहासीणम् ।
अवलोइअं सतण्हं सविब्भमं जह सवत्तीहिं ॥'
('तथा दृष्टं तथा भणितं तया नियतं तथा तथासीनम् ।
अवलोकितं सतृष्णं सविभ्रमं यथा सपत्नीभिः' ॥)

अब दस स्वाभाविक भावों का उल्लेख करते हैं। नायिका के मधुर अङ्गों की चेष्टाओं के द्वारा प्रिय (नायक) के वाग्वेषचेष्टादि का शृङ्गारिक अनुकरण करना लीला नामक भाव कहलाता है।

जैसे धनिक की स्वयं की इस गाथा में—

उस नायिका का प्रेक्षण, बोलचाल नियन्त्रण, तथा बैठना इस ढंग का है, कि उसकी सौतें विकास व तृष्णा के साथ उसे देखती हैं।

यथा वा—'तेन वित वदति याति तथा यथाऽसौ' इत्यादि।

अथवा जैसे, 'जैसे वह बोलता है, वैसे ही यह बोलती है, तथा जैसे वह चलता है, वैसे ही यह चलती है।' आदि।

अथ विलासः—

तात्कालिको विशेषस्तु विलासोऽङ्गक्रियोक्तिषु ।

दयितावलोकनादिकालेऽङ्गे क्रियायां वचने च सातिशयविशेषोत्पत्तिर्विलासः । यथा मालतीमाधवे—

'अत्रान्तरे किमपि वाग्विभवातिवृत्त
वैचित्र्यमुल्लसितविभ्रममायताक्ष्या ।

तद्भूरिसात्त्विकविकारविशेषरम्य-

माचार्यकं विजयि मान्मथमाविरासीत् ॥'

प्रिय के दर्शनादि के समय नायिका की अङ्गचेष्टाओं तथा बोलचाल में, जो विशेष प्रकार का तात्कालिक विलास पाया जाता है, उसे विलास कहते हैं।

जैसे मालतीमाधव में—

इसी बीच में, लम्बी आँखों वाली मालती का कामदेव सम्बन्धी विजयी आचार्यत्व प्रकट हुआ, जिसकी विचित्रता वाग्विलास से बढ़ गई थी, जो विलास व विभ्रम से युक्त था, तथा जो अत्यधिक सात्त्विक भावों के कारण विशेष रमणीय हो गया था।

अथ विच्छित्तिः—

आकल्परचनाऽल्पापि विच्छित्तिः कान्तिपोषकृत् ॥ ३८ ॥

स्तोकोऽपि वेषो बहुतरकमनीयताकारी विच्छित्तिः । यथा कुमारसम्भवे—

'कर्णार्पितो लोध्रकषायरूक्षे गोरोचनाभेदनितान्तगौरे ।

तस्याः कपोले परभागलाभाद्बबन्ध चक्षूंषि यवप्ररोहः ॥'

थोड़ी सी वेषभूषा व साज-सज्जा भी जहाँ कान्ति को अधिक पुष्ट करती है, वहाँ विच्छित्ति नामक भाव होता है।

जैसे कुमारसम्भव में पार्वती के वर्णन में—

प्रसाधन करते समय पार्वती के कान में लगाया गया यव का प्ररोह, लोध्र चूर्ण के कारण रूखे तथा गोरोचन की पत्रावली से अत्यधिक गोरे उसके कपोल पर विशेष सुन्दरता प्राप्त कर (लोगों की) दृष्टि को अपनी ओर आकृष्ट कर रहा था।

अथ विभ्रमः—

विभ्रमस्त्वरया काले भूषास्थानविपर्ययः ।

यथा—

'अभ्युद्गते शशिनि पेशलकान्तदूती-

संलापसंवलितलोचनमानसाभिः ।

अग्राहि मण्डनविधिर्विपरीतभूषा-

विन्यासहासितसखीजनमङ्गनाभिः ॥'

यथा वा ममैव—

'श्रुत्वाऽऽयान्तं बहिः कान्तमसमाप्तविभूषया ।

भालेऽञ्जनं दृशोर्लाक्षा कपोले तिलकः कृतः ॥'

शीघ्रता के कारण समय पर आभूषणों का उलट-पलट पहन लेना विभ्रम कहलाता है। जैसे—

चन्द्रमा के उदय होने पर, प्रिय नायक की दूतियों के सुन्दर वचनों से उल्लसित नेत्र व मन वाली नायिकाओं ने आभूषण-मण्डन इस ढङ्ग से किया, कि उनके आभूषणों को विपरीत प्रकार से पहना देखकर (उनका विपरीत विन्यास देखकर) सखियाँ हँस पड़ीं।

अथवा धनिक का स्वयं का यह पद्य—

प्रिय नायक को बाहर आया जान कर, शृङ्गार करती हुई नायिका ने, जिसका शृङ्गारकार्य समाप्त नहीं हुआ था, ललाट में अञ्जन, आँखों में लाक्षारस (महावर) तथा कपोल पर तिलक लगा लिया।

अथ किलकिञ्चितम्—

क्रोधाश्रुहर्षभीत्यादेः सङ्करः किलकिञ्चितम् ॥ ३९ ॥

यथा ममैव—

रतिक्रीडाद्यूते कथमपि समासाद्य समयं
मया लब्धे तस्याः क्वणितकलकण्ठार्धमधरे ।
कृतभ्रूभङ्गासौ प्रकटितविलक्षार्धरुदित
स्मितक्रोधोद्भ्रान्तं पुनरपि विदध्यान्मयि मुखम् ॥'

नायिका में एक साथ क्रोध, अश्रु, हर्ष तथा भय का साङ्कर्य पाया जाना किलकिञ्चित कहलाता है।

जैसे धनिक के इस पद्य में—

रतिक्रीडा के समय जुआ खेलते समय किसी तरह समय पाकर मेरे द्वारा उसके अधर को छीन लेने पर, टेढी भौंहों वाली उस नायिका ने कलकल कण्ठ से अर्धस्फुट आवाज करते हुए, लज्जा, रुदन, मुसकराहट तथा क्रोध के अस्फुट मिश्रण से उद्भ्रान्त मुख को मेरी ओर कर दिया।

अथ मोट्टायितम्—

मोट्टायितं तु तद्भावभावनेष्टकथादिषु ।

इष्टकथादिषु प्रियतमकथानुकरणादिषु प्रियानुरागेण भावितान्तःकरणत्वं

यथा पद्मगुप्तस्य—

'चित्रवर्तिन्यपि नृपे तत्त्वावेशेन चेतसि ।
व्रीडार्धवलितं चक्रे मुखेन्दुमवशैव सा ॥'

यथा वा—

'मातः कं हृदये निधाय सुचिरं रोमाञ्चिताङ्गी मुहु-
र्जृम्भामन्थरतारका मुकुलितापाङ्गा दधाना दृशम् ।
सुप्तेवालिखितेव शून्यहृदया लेख्यावशेषीभव-
त्यात्मद्रोहिणि किं ह्रिया कथय मे गूढो निहन्ति स्मरः ॥'

यथा वा ममैव—

'स्मरदवथुनिमित्तं गूढमुन्नेतुमस्याः
सुभग तव कथायां प्रस्तुतायां सखीभिः ।
भवति विततपृष्ठोदस्तपीनस्तनाग्रा
ततवलयितबाहुर्जृम्भितैः साङ्गभङ्गैः ॥'

प्रिय की कथादि का श्रवण मननादि करते समय उसके भाव से प्रभावित हो जाना एकतान हो जाना मोट्टायित कहलाता है।

१. राजा के चित्रित होने पर भी—उसके चित्र को देखते समय चित्त में राजा के प्रेमावेश से युक्त होकर परवश बनी हुई उस नायिका ने अपने मुख रूपी चन्द्रमा को लज्जा के कारण कुछ टेढा कर दिया।

अथवा,

२. हे सखी (माई), तुम किसे हृदय में बैठाकर बड़ी देर से रोमाञ्चित होकर अपनी दृष्टि को जिसकी पुतलियाँ जँभाई के कारण निश्चल हो गई हैं, तथा जो सुन्दर अपाङ्ग वाली है—धारण करती

हुई, सोई-सी, चिन्तित-सी, शून्य हृदय होकर केवल मूर्तिमती बन गई हो। हे आत्मद्रोहिणि, क्या कामदेव गुप्त रूप से तुम्हें परेशान कर रहा है, लज्जा क्यों करती हो; मुझे बताओ तो सही।

अथवा जैसे धनिक के इस पद्य में—

कोई दूती या सखी नायक के पास जाकर नायिका की दशा का वर्णन करती हुई कहती है —हे सुन्दर युवक, जब सखियाँ उस नायिका की कामपीड़ा के गुप्त कारण को जानने के लिए तुम्हारी बातचीत छेड़ती हैं, तो वह अपनी पीठ को मरोड़ कर पीन स्तनों को ऊँचा करती हुई, हाथों को फैलाकर समेटती हुई, अङ्गभङ्ग तथा जँभाई से युक्त हो जाती है।

अथ कुट्टमितम्—

सानन्दान्त कुट्टमित कुप्येत्केशाधरग्रहे ॥ ४० ॥

यथा—

'नान्दीपदानि रतिनाटकविभ्रमाणा-
माज्ञाक्षराणि परमाण्यथवा स्मरस्य ।
दष्टेऽधरे प्रणयिना विधुताग्रपाणेः
सीत्कारशुष्करुदितानि जयन्ति नार्याः ॥'

रतिक्रीडा में नायक के द्वारा केश तथा अधर को ग्रहण करने पर दिल से प्रसन्न होने पर भी जब नायिका बाहर से क्रोध करे, तो वह कुट्टमित भाव कहलाता है।

प्रियतम के द्वारा अधर दंशन करने पर हाथ को फटकारती नायिका का सीत्कार से युक्त वह रुदन ऐसा विजयी है (सर्वोत्कृष्ट है), जो रतिक्रीडा के नाटकीय विलासों का नान्दीपद (मङ्गलाचरण) है, तथा कामदेव (स्मर) के परम आज्ञाक्षर-आदेश-हैं।

अथ विब्बोक—

गर्वाभिमानादिष्टेऽपि विब्बोकोऽनादरक्रिया ।

यथा ममैव—

'सव्याज तिलकालकान्विरलयल्लोलाङ्गुलि संस्पृशन्
वारंवारमुदञ्चय कुचयुगप्रोदञ्चिनीलाञ्चलम् ।
यद्भ्रूभङ्गतरङ्गिताञ्चितदृशा सावज्ञमालोकित
तद्गर्वादवधीरितोऽस्मि न पुन कान्ते कृतार्थीकृत ॥'

जब नायिका गर्व तथा अभिमान के कारण इष्ट वस्तु के प्रति भी अनादर दिखाती है, तो उसे विब्बोक नामक भाव कहते हैं।

जैसे धनिक के स्वरचित निम्न पद्य में नायिका की इस चेष्टा में —

हे प्रिये, तुम्हारे तिलकालकों का कपट से स्पर्श करते हुए, तथा चञ्चल अङ्गुलियों से कुचयुगल पर उठे हुए नीले अञ्चल को बार-बार छूकर उठाते हुए, मेरी ओर तुमने जो टेढ़ी भौंहों वाली दृष्टि से अवज्ञा के साथ देखा; उस गर्व से तुमने मेरी अवहेलना ही की मुझे सफल न किया। (अथवा, तुमने उस गर्व से मेरी अवहेलना करना चाहा, लेकिन वास्तव में मेरी अवज्ञा न हुई, वरन् तुम्हारे विब्बोक भाव के कारण उस शोभा को देखकर मैं सफल हो गया।)

अथ ललितम्—

सुकुमाराङ्गविन्यासो मसृणो ललित भवेत् ॥ ४१ ॥

यथा ममैव—

> 'सभ्रूभङ्गं करकिसलयावर्तनैरालपन्ती
> सा पश्यन्ती ललितललितं लोचनस्याञ्चलेन ।
> विन्यस्यन्ती चरणकमले लीलया स्वैरयातै-
> र्निःसङ्गीतं प्रथमवयसा नर्तिता पङ्कजाक्षी' ॥

कोमल तथा स्निग्ध प्रकार से अङ्गों का विन्यास ललित नामक भाव कहलाता है।

जैसे धनिक के ही निम्न पद्य में—

उस कमल-से नेत्रवाली नायिका को जैसे बिना सङ्गीत ही यौवन के प्रथमाविर्भाव ने नचा दिया है। दूसरा आचार्य तो किसी कलाभिनेत्री को सङ्गीत व ताल पर नचाता है, लेकिन यह नायिका यौवन के आविर्भाव होने पर इस तरहका आचरण कर रही है, जैसे बिना ताल के ही नाच रही हो। यह भौंहें टेढ़ी करके, हाथ रूपी किसलयों को फैलाती हुई बात करती है, आँखों के अपाङ्ग से बड़े मधुर-मधुर ढङ्ग से देखती है, और चलते समय अपने चरणकमलों को बड़ी लीला (भाव) के साथ उठाती है। एक कुशल नर्तकी जैसे ताल व सङ्गीत के आधार पर अङ्ग, उपाङ्ग तथा अपाङ्ग का विक्षेपादि करती है, वैसे ही यह भी कर रही है। इस पर भी बड़ाई यह कि यह नायिका बिना सङ्गीत व ताल के ही नृत्यकला का प्रदर्शन कर रही है।

अथ विहृतम्—

प्राप्तकालं न यद् ब्रूयाद् व्रीडया विहृतं हि तत् ।

प्राप्तावसरस्यापि वाक्यस्य लज्जया यदवचनं तद्विहृतम्, यथा—

> 'पादाङ्गुष्ठेन भूमिं किसलयरुचिना सापदेशं लिखन्ती
> भूयो भूयः क्षिपन्ती मयि सितशबले लोचने लोलतारे ।
> वक्त्रं ह्रीनम्रमीषत्स्फुरदधरपुटं वाक्यगर्भं दधाना
> यन्मां नोवाच किञ्चित्स्थितमपि हृदये मानसं तद्दुनोति ।'

जहाँ नायिका समय आने पर भी तदनुकूल वाक्य का प्रयोग लज्जा के कारण नहीं कर पाती; वहाँ विहृत नामक भाव माना जाता है। जैसे,

कोंपल के समान कान्ति वाले पैर के अँगूठे से पृथ्वी को किसी बहाने से कुरेदती हुई और मेरी ओर बार-बार चञ्चल कनीनिका वाले सफेद व भूरे नेत्रों को फेंकती हुई, उस नायिका ने, जिसका मुँह अपने आप में किसी वचन को छिपाये था, जिसके ओठ कुछ-कुछ फड़क रहे थे, तथा जो लज्जा से नम्र हो रहा था, मुझ से हृदय में स्थित बात को भी न कहा, यह बात मेरे मानस को पीड़ित कर रही है।

अथ नेतुः कार्यान्तरसहायानाह—

मन्त्री स्वं वोभयं वापि सखा तस्यार्थचिन्तने ॥ ४२ ॥

तस्य नेतुरर्थचिन्तायां तन्त्रावापादिलक्षणायां मन्त्री वाऽऽत्मा वोभयं वा सहायः।

नायक के शृङ्गारी सहायकों का वर्णन किया जा चुका है। अब उसके दूसरे कार्यों के सहायकों का वर्णन करते हैं:—

यदि नायक राजा होता है तो उसके अर्थादि-राजनीति आदि की चिन्ता करने में मन्त्री

या वह स्वयं सहायक होता है। कभी-कभी मन्त्री व नायक स्वयं दोनों ही इस राजनीति सम्बन्धिनी (तन्त्रावाप[1] आदि की) चिन्ता में व्यस्त रहते हैं।

तत्र विभागमाह—

मन्त्रिणा ललितः, शेषा मन्त्रिस्वायत्तसिद्धयः।

उक्तलक्षणो ललितो नेता मन्त्र्यायत्तसिद्धिः। शेषा धीरोदात्तादयः अनियमेन मन्त्रिणा स्वेन चोभयेन वाऽङ्गीकृतसिद्धय इति।

उपर्युक्त धीरोदात्तादि नायकों में धीरललित के समस्त कार्यों की सिद्धि मन्त्री के ही आधीन होती है; अन्य नायकों की सिद्धि मन्त्री तथा स्वयं दोनों पर निर्भर रहती है।

(यहाँ यह स्पष्ट है कि धीरप्रशान्त के सम्बन्ध में यह बात लागू नहीं हो सकेगी।)

धर्मसहायास्तु—

ऋत्विक्पुरोहितौ धर्मे तपस्विब्रह्मवादिनः ॥ ४३ ॥

ब्रह्म = वेदस्तं वदन्ति व्याचक्षते वा तच्छीला ब्रह्मवादिनः, आत्मज्ञानिनो वा। शेषाः प्रतीताः।

नायक के धर्माचरण में ऋत्विक् (यजनकर्ता), पुरोहित, तपस्वी तथा ब्रह्मज्ञानी महात्मा सहायक बनते हैं।

दुष्टदमनं दण्डः। तत्सहायास्तु—

सुहृत्कुमाराटविका दण्डे सामन्तसैनिकाः।

स्पष्टम्।

नायक के राजा होने पर उसकी दण्डविधान में सहायता करने वाले मित्र (राजा), युवराज, आटविक (वनविभाग के लोग; अथवा अरण्यनिवासी) सामन्त तथा सैनिक होते हैं।

इस प्रकार नाटक की रचना करने वाले कवि को तत्सम्बन्ध में इन-उन सहायकों का नियोजन करना उचित है। जैसे कहा गया है—

एवं तत्तत्कार्यान्तरेषु सहायान्तराणि योज्यानि, यदाह—

अन्तःपुरे वर्षवराः किराता मूकवामनाः ॥ ४४ ॥

म्लेच्छाभीरशकाराद्याः स्वस्वकार्योपयोगिनः।

शकारो राज्ञः श्यालो हीनजातिः।

राजा के रनिवास में वर्षवर (नपुंसक व्यक्ति), किरात, गूँगे तथा बौने व्यक्ति, आदि का सन्निवेश किया जाना चाहिए।[2] म्लेच्छ, आभीर, शकार (राजा का नीच जाति में उत्पन्न साला) ये सभी अपने-अपने कार्य में राजा के लिए उपयोगी हैं।

---

१. अपने राष्ट्र की चिन्ता 'तन्त्र' तथा परराष्ट्र की चिन्ता 'अवाप' कहलाती है। मिलाइये माघ का यह पद्य—

तन्त्रावापविदा योगैर्मण्डलान्यधितिष्ठता।
सुनिग्रहा नरेन्द्रेण फणीन्द्रा इव शत्रवः ॥ (२. ८८)

२. जैसा कि रत्नावली के अन्तर्गत उदयन के अन्तःपुर का वर्णन है:—

नष्टं वर्षवरैर्मनुष्यगणनाभावादपास्य त्रपा-
मन्तः कञ्चुकिकञ्चुकस्य विशति त्रासादयं वामनः।
पर्यन्ताश्रयिभिर्निजस्य सदृशं नाम्नः किरातैः कृतं,
कुब्जा नीचतयैव यान्ति शनकैरात्मेक्षणाशङ्किनः ॥

विशेषान्तरमाह—

ज्येष्ठमध्याधमत्वेन सर्वेषां च निरूपता ॥ ४५ ॥
तारतम्याद्यथोक्तानां गुणानां चोत्तमादिता ।

एव प्रागुक्ताना नायकनायिकादूतदूतीमन्त्रिपुरोहितादीनामुत्तममध्यमाधमभावेन निरूपता, उत्तमादिभावश्च न गुणसङ्ख्योपचयापचयेन किं तर्हि गुणातिशयतारतम्येन [1]।

इन नायकों के भेद को पुन बताते कहते हैं—ये सभी नायकादि ज्येष्ठ, मध्यम तथा अधम के भेद से तीन तरह के होते हैं। इनमें उपर्युक्त गुणों के तारतम्य के आधार पर ही इनकी यह उत्तमता, मध्यमता या अधमता निर्धारित की जाती है।

इस प्रकार नायक, नायिका, दूत, दूती, मन्त्री पुरोहित आदि सारे ही नाटकीय पात्र उत्तम, मध्यम व अधम रूप से तीन प्रकार के माने जाते हैं। यह उत्तमत्वादि कोटिनिर्धारण गुणों की संख्या की कमी या अधिकता के कारण न होकर गुणों की विशेषता के तारतम्य के आधार पर स्थित है।

एव नाट्ये विधातव्यो नायकःसपरिच्छदः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार नायक को उसके परिच्छद (साथियों—नायिकामन्त्रिदूतादि) के साथ नाटक में सन्निविष्ट करना चाहिए।

उक्तो नायक तद्व्यापारस्तूच्यते—

तद्व्यापारात्मिका वृत्तिश्चतुर्धा, तत्र कैशिकी ।
गीतनृत्यविलासाद्यैर्मृदुः शृङ्गारचेष्टितैः ॥ ४७ ॥

प्रवृत्तिरूपो नेतृव्यापारस्वभावो वृत्ति, सा च कैशिकी-सात्वती आरभटी-भारतीभेदाच्चतुर्विधा, तासा गीतनृत्यविलासकामोपभोगाद्युपलक्ष्यमाणो मृदु शृङ्गारी कामफलावच्छिन्नो व्यापार कैशिकी । सा तु—

इस प्रकार नायक का वर्णन करने पर नायक के व्यापार तथा तत्सम्बन्धिनी वृत्ति का उल्लेख करना जरूरी है, अत उसे ही बताते हैं।

नायक के व्यापार की चार तरह की वृत्तियाँ पाई जाती हैं—(कैशिकी, सात्वती, आरभटी तथा भारती)। इनमें से कैशिकी वृत्ति गीत, नृत्य, विलास आदि शृङ्गारमयी चेष्टाओं के कारण कोमल होती है।

वृत्ति का तात्पर्य नायक का वह व्यापार या स्वभाव है, जो नायक को किसी विशेष ओर प्रवृत्त करता है। ये प्रवृत्तियाँ चार हैं —कैशिकी, सात्वती, आरभटी तथा भारती। इनमें से गीत, नृत्य, विलास, कामक्रीडा आदि से युक्त कोमल तथा शृङ्गारी व्यापार, जिसका फल काम (पुरुषार्थ) है कैशिकी वृत्ति कहलाता है।

नर्मतत्स्फिञ्जतत्स्फोटतद्गर्भैश्चतुरङ्गिका ।

तदित्यनेन सर्वत्र नर्म परामृश्यते ।

इस कैशिकी वृत्ति के चार अङ्ग माने जाते हैं:—नर्म, नर्मस्फिञ्ज, नर्मस्फोट तथा नर्मगर्भ।

कारिका के 'तत्' शब्द से सभी जगह नर्म का ग्रहण अभीप्सित है।

---

1. 'सपरिच्छद' इत्यपि पाठ।

तत्र—

> वैदग्ध्यक्रीडितं नर्म प्रियोपच्छन्दनात्मकम् ॥ ४८ ॥
> हास्येनैव सशृङ्गारभयेन विहितं त्रिधा ।
> आत्मोपक्षेपसम्भोगमानैः शृङ्गार्यपि त्रिधा ॥ ४९ ॥
> शुद्धमङ्गं भयं द्वेधा त्रेधा वाग्वेषचेष्टितैः ।
> सर्वं सहास्यमित्येवं नर्माष्टादशधोदितम् ॥ ५० ॥

अग्राम्य इष्टजनावर्जनरूपः परिहासो नर्म, तच्च शुद्धहास्येन सशृङ्गारहास्येन सभयहास्येन च रचितं त्रिविधम्, शृङ्गारवदपि स्वानुरागनिवेदन-सम्भोगेच्छाप्रकाशन-सापराधप्रियप्रतिभेदनैस्त्रिविधमेव, भयनर्मापि शुद्धरसान्तराङ्गभावाद्द्विविधम्, एवं षड्विधस्य प्रत्येकं वाग्वेषचेष्टाव्यतिकरेणाष्टादशविधत्वम् ।

प्रिय नायिका (या, नायिका एवं प्रिय) के चित्त को प्रसन्न करने वाला विलासपूर्ण व्यापार 'नर्म' कहलाता है। यह तीन प्रकार का होता है—हास्य से युक्त नर्म, शृङ्गार से युक्त नर्म, तथा भय से युक्त नर्म। इनमें प्रथम भेद हास्य से युक्त होता है; दूसरा शृङ्गारी नर्म तीन प्रकार का होता है, १ आत्मोपक्षेप-परक, जहाँ नायक या नायिका स्वयं के प्रेम को प्रकट करते हैं; २ सम्भोगपरक, जहाँ सम्भोग की इच्छा प्रकट की जाय; तथा ३ मानपरक, जहाँ प्रिय के अनिष्ट करने पर नायिका मान करती है। भययुक्त नर्म दो तरह का होता है—शुद्ध तथा अङ्ग। ये छः प्रकार के नर्म वाक्, वेष तथा चेष्टा के त्रिविध प्रकाशन के अनुसार १८ प्रकार के हो जाते हैं। इन सभी नर्म प्रकारों में हास्य का समावेश हो रहता ही है।

नर्म उस हँसी मजाक (परिहास) को कहते हैं जो प्रियजन को प्रसन्न करने वाला सभ्यतापूर्ण (अग्राम्य) व्यवहार है। इसका प्रमुख तत्त्व हास्य है, अतः यह हास्य कभी तो केवल रूप में, केवल शृङ्गार से युक्त होकर तथा कभी भय से युक्त होकर पाया जाता है। इस तरह नर्म के तीन प्रकार होते हैं —१ शुद्ध हास्य, २. शृङ्गारी हास्य, ३ भययुक्त हास्य। दूसरे ढङ्ग का शृङ्गारी हास्य—१ स्वानुरागनिवेदन, २ सम्भोगेच्छाप्रकाशन, तथा ३ मान इस प्रकार तीन तरह का होता है। भय वाला हास्य भी १ शुद्ध तथा २ रसान्तराङ्ग (किसी दूसरे रस का अङ्गभूत होकर) इस तरह दो तरह का होता है। इस तरह शुद्ध हास्य (१) शृङ्गारी हास्य के तीन भेद (३) व भययुक्त हास्य के दो भेद (२) कुल ६ भेद नर्म के माने जाते हैं। नर्म का प्रकाशन करने के साधन वाणी, वेषभूषा, या चेष्टा ये तीन तरह के हैं—इस तरह इनके आधार पर नर्म के भेद ३×६=१८ हो जाते हैं।

तत्र वचोहास्यनर्म यथा—[1]

> 'पत्युः शिरश्चन्द्रकलामनेन स्पृशेति सख्या परिहासपूर्वम् ।
> सा रञ्जयित्वा चरणौ कृताशीर्माल्येन तां निर्वचनं जघान ॥'

वेषनर्म नागानन्दे विदूषकशेखरकव्यतिकरे। क्रियानर्म यथा मालविकाग्निमित्रे स्वप्नायमानस्य विदूषकस्योपरि निपुणिका सर्पभ्रमकारणं दण्डकाष्ठं पातयति। एवं षड्भेदेष्वपि वाग्वेषचेष्टापरत्वमुदाहार्यम्।

१. इन नर्मभेदों में से वचोहास्य रूप नर्म का उदाहरण (कुमारसम्भव के सप्तम सर्ग से) यों दिया जा सकता है।

चरणों में अलक्तक लगा देने पर जब सखी ने पार्वती से परिहास के साथ यह आशीष

दी कि 'इस पैर से पति के सिर की चन्द्रकला का स्पर्श करो' तो पार्वती ने कुछ न कहते हुए उसे फूल माला से पीट दिया।

वेषनर्म जैसे नागानन्द नाटक में विदूषक तथा शेखरक के सम्बन्ध में। चेष्टानर्म (क्रियानर्म) जैसे मालविकाग्निमित्र में ऊँघते हुए विदूषक के ऊपर दण्डकाष्ठ डाल कर निपुणिका साँप का भ्रम उत्पन्न कर देती है। इसी तरह दूसरे भेदों में भी वाक्, वेष तथा चेष्टा के उदाहरण दिये जाने चाहिए। (यहाँ मोटे तौर पर छः ही प्रकार के नर्म के उदाहरण दिये जाते हैं।)

शृङ्गारवदात्मोपक्षेपनर्म यथा—

'मध्याह्नं गमय त्यज श्रमजलं स्थित्वा पयः पीयतां
मा शून्येति विमुञ्च पान्थ विवशः शीतः प्रपामण्डपः।
तामेव स्मर घस्मरस्मरशरत्रस्तां निजप्रेयसीं
त्वच्चित्तं तु न रञ्जयन्ति पथिक प्रायः प्रपापालिकाः॥'

१ आत्मोपक्षेप रूप शृङ्गारी नर्म का उदाहरण—

कोई प्रपापालिका किसी पथिक के प्रति अपना अनुराग निवेदन करती हुई कहती है—
हे राहगीर, जरा ठहरो, दुपहरी काट लो, पसीना सुखा लो, और ठहर कर पानी पी लो यह प्याऊ खाली है, यह समझ कर छोड़ न जाओ। हे पथिक, यहाँ तो बड़ा ठण्ढा प्रपामण्डप विद्यमान है। (अरे तुम तो ठहरते ही नहीं) अच्छा, कामदेव के तीक्ष्ण घातक बाणों से डरी अपनी उसी प्रेयसी ही को याद करो। ठीक है, तुम्हारे चित्त को प्रपापालिकाएँ प्रायः प्रसन्न नहीं कर पाती हैं।

सम्भोगनर्म यथा—

'सालोए च्चिअ सूरे घरिणी घरसामिअस्स घेत्तूण।
णेच्छन्तस्स वि पाए धुअइ हसन्ती हसन्तस्स॥'
('सालोके एव सूर्ये गृहिणी गृहस्वामिकस्य गृहीत्वा।
अनिच्छतोऽपि पादौ धुनोति हसन्ती हसतः॥')

२. सम्भोगनर्म का उदाहरण—

सूर्य के दृष्टिगोचर रहते हुए भी (दिन में ही) गृहिणी हँसते हुए गृहस्वामी के पैरों को पकड़ कर, उसके इच्छा न करते हुए भी हँसती हुई हिला रही है।

माननर्म यथा—

'तदवितथमवादीर्यन्मम त्वं प्रियेति
प्रियजनपरिभुक्तं यद्दुकूलं दधानः।
मदधिवसतिमागाः कामिनां मण्डनश्री-
र्व्रजति हि सफलत्वं वल्लभालोकनेन॥'

४ माननर्म का उदाहरण (माघ के एकादश सर्ग से) जैसे—

अपराधी नायक से नायिका व्यङ्ग्य में कह रही है। तुम जो कहा करते थे कि मैं तुम्हारी प्यारी हूँ, वह बिल्कुल सच है। क्योंकि तुम अपनी प्यारी के द्वारा पहने दुकूल को पहन कर यहाँ मेरे घर पर आये हो। ठीक है, कामी व्यक्तियों की वेशभूषा का शृङ्गार वल्लभाओं (प्रियाओं) के देखने से सफल हो जाता है। यदि मैं तुम्हारी प्यारी न होती, तो तुम यह शृङ्गार बताने थोड़े ही आते।

(नायक भूल से दूसरी नायिका के दुकूल को पहन कर प्रातः काल ज्येष्ठा के पास लौटा है। यह बड़े मीठे तथा व्यंग्य भरे वचन से मानपूर्वक परिहास कर रही है।)

भयनर्म यथा रत्नावल्यामालेख्यदर्शनावसरे—'सुसङ्गता—जाणिदो मए एसो सव्वो वुत्तन्तो समं चित्तफलएण ता देवीए णिवेदइस्सम्' ('ज्ञातो मयैष सर्वो वृत्तान्तः सह चित्रफलकेन तद्देव्यै निवेदयिष्यामि।') इत्यादि।

५. भयनर्म, जैसे रत्नावली नाटिका में चित्रदर्शन के अवसर पर सुसङ्गता की यह उक्ति—'अच्छा! मैंने यह सारी बात जान ली है। मैं इस बात को इस चित्रफलक के साथ देवी वासवदत्ता को निवेदित करूँगी।'

शृङ्गाराङ्गं भयनर्म यथा ममैव—

> 'अभिव्यक्तालीकः सकलविफलोपायविभव-
> श्चिरं ध्यात्वा सद्यः कृतकृतकसंरम्भनिपुणम्।
> इतः पृष्ठे पृष्ठे किमिदमिति सन्त्रास्य सहसा
> कृताश्लेषं धूर्तः स्मितमधुरमालिङ्गति वधूम्॥'

६. भयनर्म का दूसरा भेद यह है, जहाँ भय किसी रस का अङ्ग बन जाय। यहाँ शृङ्गार के अङ्गभूत भयनर्म का उदाहरण धनिक ने स्वरचित पद्य के रूप में दिया है:—

नायक का अपराध प्रकट हो गया है, इसलिये नायिका बड़ा मान किये है। नायक कई प्रकार से उसे मनाने के उपाय करता है, लेकिन वह असफल ही होता है। इसके बाद वह उसे प्रसन्न करने का कोई तरीका सोचने के लिए बड़ी देर तक सोचविचार करता है, फिर युक्ति सोच लेने पर एकदम झूठे डर का बड़ी निपुणता से बहाना करके वह 'यह पीछे क्या है, यह इधर पीछे क्या है' इस तरह नायिका को एकदम डरा देता है। इससे डर कर नायिका उसकी ओर झुकती है, वह मुस्कराहट व मधुरता के साथ आश्लेष कर, नायिका का आलिङ्गन कर लेता है।

अथ नर्मस्फिञ्जः—

> नर्मस्फिञ्जः सुखारम्भो भयान्तो नवसङ्गमे।

यथा मालविकाग्निमित्रे सङ्केते नायकमभिसृतायां नायिकायां नायकः—

> 'विसृज सुन्दरि सङ्गमसाध्वसं ननु चिरात्प्रभृति प्रणयोन्मुखे।
> परिगृहाण गते सहकारतां त्वमतिमुक्तलताचरितं मयि॥'

नर्मस्फिञ्ज उसे कहते हैं, जहाँ नायक व नायिका को प्रथम समागम के समय पहले तो सुख होता है, किन्तु बाद में भय होता है कि कहीं कोई (मित्रादि व देव्यादि) उसके भेद को न पा ले।

जैसे मालविकाग्निमित्र नाटक में सङ्केतस्थल पर नायक के प्रति अभिसरणार्थ आई हुई मालविका से अग्निमित्र कहता है:—

'हे सुन्दरि मालविके, नवसङ्गमजनित भय को छोड़ दो। बड़ी देर से मैं तुम्हारे प्रेम के प्रति उन्मुख हूँ। इसलिए सहकार (आम) बने हुए मेरे लिए तुम अतिमुक्त लता के सदृश व्यवहार का आचरण करो। जैसे अतिमुक्त लता आम्रवृक्ष का आलिङ्गन करती है, वैसे ही तुम भी मेरा आलिङ्गन करो।'

मालविका—भट्टा देवीए भएण अत्तणो वि पिअं कादुं ण पारेमि' ('भर्तः देव्या भयेनात्मनोऽपि प्रियं कर्तुं न पारयामि।') इत्यादि।

मालविका—स्वामिन्, महारानी (देवी) के डर से मैं अपने प्रिय भी प्रिय का नहीं कर पाती हूँ ?

अथ नर्मस्फोट—

नर्मस्फोटस्तु भावानां सूचितोऽल्परसो लवैः ॥ ५१ ॥

यथा मालतीमाधवे—'मकरन्द—

> गमनमलसं शून्या दृष्टिः शरीरमसौष्ठवं
> श्वसितमधिकं किं न्वेतत्स्यात्किमन्यदितोऽथवा ।
> भ्रमति भुवने कन्दर्पाज्ञा विकारि च यौवनं
> ललितमधुरास्ते ते भावाः क्षिपन्ति च धीरताम् ॥'

इत्यत्र गमनादिभिर्भावलेशैर्माधवस्य मालत्यामनुरागः स्तोकं प्रकाश्यते ।

नर्मस्फोट वह है, जहाँ सात्त्विकादि भावों के लेशमात्र से किञ्चित् मात्र रस की सूचना कर दी जाय ।

जैसे मालतीमाधव में मकरन्द निम्न पद्य के द्वारा माधव के अलस गमनादि सात्त्विक-भावलेश का वर्णन कर उसके मालतीविषयक अनुराग को सूचित करता है—

इसकी चाल अलसाई है, दृष्टि खाली-सी है, शरीर में सुन्दरता व स्वस्थता नहीं दिखाई पड़ती, साँस भी जोरों से चलती है । इन सब बातों को देखते हुए ऐसा अनुमान होता है कि क्या यह (कामपीड़ा) कारण हो सकता है, इसके अतिरिक्त और कारण ही क्या हो सकता है ? सारे संसार में कामदेव की आज्ञा प्रसारित है, फिर यौवनावस्था बड़ी विकारशील होती है । नाना प्रकार के रमणीय व मधुर शृंगारी भाव युवकों के धैर्य को समाप्त कर ही देते हैं ।

अथ नर्मगर्भ—

छन्ननेतृप्रतीचारो नर्मगर्भोऽर्थहेतवे ।
अङ्गैः सहास्यनिर्हास्यैरेभिरेषाऽत्र कैशिकी ॥ ५२ ॥

यथाऽमरुशतके—

> 'दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरा-
> देकस्या नयने निमील्य विहितक्रीडानुबन्धच्छलः ।
> ईषद्वक्रितकन्धरः सपुलकः प्रेमोल्लसन्मानसा-
> मन्तर्हासलसत्कपोलफलकां धूर्तोऽपरां चुम्बति ॥'

यथा (च) प्रियदर्शिकायां गर्भाङ्के वत्सराजवेषसुसङ्गतास्थाने साक्षाद्वत्सराजप्रवेशः ।

जहाँ किसी प्रयोजन के लिये नायक छिप कर प्रवेश करे, उसे नर्मगर्भ कहते हैं । कैशिकी के ये अङ्ग सहास्य तथा निर्हास्य (हास्यरहित) दोनों तरह के हो सकते हैं ।

जैसे अमरुकशतक के इस पद्य में—

नायक ने देखा कि उसकी ज्येष्ठा तथा कनिष्ठा दोनों नायिकाएँ एक ही आसन पर बैठी हैं । इसलिए वह आदर के साथ (या कुछ भय से) धीरे धीरे पीछे से वहाँ पहुँचता है । वहाँ आकर वह क्रीडा करने के ढोंग से ज्येष्ठ नायिका के नेत्रों को दोनों हाथों से बन्द कर लेता है । उसके बाद वह धूर्त नायक अपनी गर्दन को जरा टेढ़ी करके, रोमाञ्चित होकर, उस कनिष्ठा नायिका को चूम लेता है, जिसका मन प्रेम के कारण उल्लसित हो रहा है, तथा जिस के कपोलफलक आन्तरिक हँसी के कारण सुशोभित हो रहे हैं ।

अथवा जैसे प्रियदर्शिका (हर्षकृत) नाटिका के गर्भाङ्क में वत्सराज के रूप में सुसङ्गता के प्रवेश होने के स्थान पर वत्सराज स्वयं ही रङ्गमञ्च पर आ जाता है।

अथ सात्त्वती—

विशोका सात्त्वती सत्त्वशौर्यत्यागदयार्जवैः ।
संलापोत्थापकावस्यां साङ्घात्यः परिवर्तकः ॥ ५३ ॥

शोकहीनः सत्त्वशौर्यत्यागदयाहर्षादिभावोत्तरो नायकव्यापारः सात्त्वती, तदङ्गानि च संलापोत्थापकसाङ्घात्यपरिवर्तकाख्यानि ।

सात्त्वती वृत्ति वह है, जहाँ नायक का व्यापार शोकहीन होता है, तथा उसमें सत्त्व, शौर्य, त्याग, दया, कोमलता, हर्ष आदि भावों की स्थिति होती है। इस सात्त्वती वृत्ति के संलाप, उत्थापक, साङ्घात्य तथा परिवर्तक ये चार अङ्ग होते हैं।

तत्र—

संलापको गभीरोक्तिर्नानाभावरसा मिथः ।

यथा वीरचरिते—'रामः—अयं स यः किल सपरिवारकार्तिकेयविजयावर्जितेन भगवता नीललोहितेन परिवत्सरसहस्रान्तेवासिने तुभ्यं प्रसादीकृतः परशुः । परशुरामः—राम राम दाशरथे ! स एवायमाचार्यपादानां प्रियः परशुः ।

शस्त्रप्रयोगखुरलीकलहे गणानां
सैन्यैर्वृतो विजित एव मया कुमारः ।
एतावतापि परिरभ्य कृतप्रसादः
प्रादादमुं प्रियगुणो भगवान्गुरुर्मे ॥'

इत्यादिनानाप्रकारभावरसेन रामपरशुरामयोरन्योन्यगभीरवचसा संलाप इति ।

संलाप (संलापक) सात्त्वती वृत्ति का वह अङ्ग है, जहाँ पात्रों में परस्पर नाना भाव और रसयुक्त गम्भीर उक्ति पाई जाती है।

जैसे महावीरचरित में राम व परशुराम की परस्पर गम्भीरोक्ति में संलापक पाया जाता है—

राम—सेनायुक्त स्वामिकार्तिकेय के विजय से प्रभावित भगवान् शङ्कर ने सैकड़ों वर्षों तक शिष्य बने आपको जो परशु प्रसाद रूप (पुरस्कार रूप) में दिया है, यह वही परशु है।

परशुराम—राम, राम, यह वही पूज्य गुरुवर का प्रिय परशु है—

शस्त्र प्रयोग की क्रीडा या युद्ध करते समय मैंने देवगणों की सेना से युक्त कुमार कार्तिकेय को जीत लिया था। इस विजय से ही प्रसन्न होकर मेरा आलिङ्गन कर गुणों से प्रसन्न होने वाले मेरे गुरु भगवान् शङ्कर ने यह परशु मुझे दिया है।

अथोत्थापकः—

उत्थापकस्तु यत्रादौ युद्धायोत्थापयेत्परम् ॥ ५४ ॥

यथा वीरचरिते—

'आनन्दाय च विस्मयाय च मया दृष्टोऽसि दुःखाय वा
वैतृष्ण्यं तु कुतोऽद्य सम्प्रति मम त्वद्दर्शने चक्षुषः ।
त्वत्साङ्गत्यसुखस्य नास्मि विषयः किं वा बहुव्याहृतै-
रस्मिन्विश्रुतजामदग्न्यविजये बाहौ धनुर्जृम्भताम् ॥'

जहाँ एक पात्र दूसरे पात्र को युद्ध के लिए उत्तेजित (उत्थापित) करे, वहाँ उत्थापक नामक सात्त्विकी-अङ्ग होता है।

यहाँ महावीरचरित में परशुराम रामचन्द्र से कह रहे हैं —

'तुम मुझे आनन्द के लिए दिखाई दिये हो, या विस्मय के लिए, या दुःख के लिए— मैं नहीं कह सकता हूँ। आज तुम्हें देख कर मेरी आँखें तृप्त कैसे हो सकती हैं। तुम्हारी सङ्गति (समागम) के सुख का तो मैं विषय नहीं हूँ। अधिक क्या कहूँ। जमदग्नि के पुत्र परशुराम के विजय से प्रसिद्ध इस (तुम्हारे) हाथ में यह धनुष नम्रित हो।'

अथ साङ्घात्य—

मन्त्रार्थदैवशक्त्यादेः साङ्घात्यः सङ्घभेदनम् ।

मन्त्रशक्त्या यथा मुद्राराक्षसे राक्षससहायादीनां चाणक्येन स्वबुद्ध्या भेदनम्। अर्थशक्त्या तत्रैव यथा पर्वतकाभरणस्य राक्षसहस्तगमनेन मलयकेतुसहोत्थायिभेदनम्। दैवशक्त्या तु यथा रामायणे रामस्य दैवशक्त्या रावणाद्विभीषणस्य भेद इत्यादि।

शत्रु (प्रतिनायक) के सङ्घ का जहाँ मन्त्रशक्ति, अर्थशक्ति, दैवशक्ति आदि के द्वारा भेदन किया जाय, वहाँ साङ्घात्य नामक सात्त्विकी-अङ्ग होता है।

(यहाँ नायक या नायक के साथी किन्हीं शक्तियों से प्रतिनायक के साथियों को फोड़ कर उसकी शक्ति कम कर देते हैं।)

जहाँ मन्त्रणा या बुद्धिबल के आधार पर भेदन हो वह भेदन मन्त्रशक्ति के द्वारा होता है। जैसे मुद्राराक्षस नाटक में चाणक्य अपनी बुद्धि से राक्षस के सहायकों को फोड़ लेता है। अर्थशक्ति के आधार पर अर्थादि (द्रव्यादि) के आधार पर भेदन किया जाता है। जैसे उसी नाटक में पर्वतक के आभूषण के राक्षस के हाथों पहुँचने से मलयकेतु के साथ उसका भेदन हो जाता है। दैवशक्ति, जैसे रामायण में रामचन्द्र की अलौकिक शक्ति (अथवा दैवशक्ति) के कारण ही विभीषण का रावण से भेद हो जाता है।

अथ परिवर्तक—

प्रारब्धोत्थानकार्यान्यकरणात्परिवर्तकः ॥ ४५ ॥

प्रस्तुतस्योद्योगकार्यस्य परित्यागेन कार्यान्तरकरणं परिवर्तकः। यथा वीरचरिते—

'हेरम्बदन्तमुसलोल्लिखितैकभित्ति
वक्षो विशाखविशिखव्रणलाञ्छनं मे।
रोमाञ्चकञ्चुकितमद्भुतवीरलाभाद्
यत्सत्यमद्य परिरब्धुमिवेच्छति त्वाम् ॥

जहाँ किसी एक कार्य का आरम्भ किया गया है, किन्तु उस कार्य को छोड़ कर जहाँ दूसरे ही कार्य को किया जाय, वहाँ परिवर्तक नामक अङ्ग होता है।

जैसे महावीरचरित में राम की वीरता से चकित होकर परशुराम उनसे युद्ध न कर उनका आलिङ्गन करना चाहते हैं, यह परिवर्तक ही है —

परशुराम —यह बात बिलकुल सच है, कि गणेशजी के दाँत रूपी मुसलों के द्वारा चिह्नित, तथा कार्तिकेय के अनेकों बाणों के घावों से युक्त मेरा वक्षस्थल, तुम जैसे अद्भुत वीर के मिलने से रोमाञ्चित होकर तुम्हें आलिङ्गन करना चाहता है।

राम—'भगवन् ! परिरम्भणमिति प्रस्तुतप्रतीपमेतत्' इत्यादि।

राम—'भगवन्, यह परिरम्भण तो प्रस्तुत विषय से विपरीत है।'

सात्वतीमुपसंहरन्नारभटीलक्षणमाह—

> एभिरङ्गैश्चतुर्धेयं सात्त्वत्यारभटी पुनः ।
> मायेन्द्रजालसंग्रामक्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितैः ॥ ५६ ॥
> संक्षिप्तिका स्यात्संफेटो वस्तूत्थानावपातने ।

माया = मन्त्रबलेनाविद्यमानवस्तुप्रकाशनम्, तन्त्रबलादिन्द्रजालम् ।

अब सात्वती का उपसंहार करते हुए, आरभटी वृत्ति का लक्षण बताते हैं। इस तरह सात्वती के चार अङ्ग हैं। आरभटी वृत्ति में माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध, उद्भ्रान्त आदि चेष्टाएँ पाई जाती हैं। इसके, संक्षिप्तिका, सम्फेट, वस्तूत्थापन तथा अवपातन ये चार अङ्ग होते हैं।

माया वह है, जहाँ अवास्तव वस्तु को मन्त्रबल से प्रकाशित किया जाय, यही कार्य जब तन्त्र बल से किया जाय तो वह इन्द्रजाल कहलाता है।

तत्र—

> संक्षिप्तवस्तुरचना संक्षिप्तिः शिल्पयोगतः ॥ ५७ ॥
> पूर्वनेतृनिवृत्त्याऽन्ये नेत्रन्तरपरिग्रहः ।

मृद्वंशदलचर्मादिद्रव्ययोगेन वस्तूत्थापनं संक्षिप्तिः यथोदयनचरिते किलिञ्जहस्तिप्रयोगः। पूर्वनायकावस्थानिवृत्त्यावस्थान्तरपरिग्रहमन्ये संक्षिप्तिकां मन्यन्ते। यथा वालिनिवृत्त्या सुग्रीवः, यथा च परशुरामस्यौद्धत्यनिवृत्त्या शान्तत्वापादनम् 'पुण्या ब्राह्मणजाति—' इत्यादिना।

संक्षिप्तिका में नाटककार शिल्प का प्रयोग कर संक्षिप्त वस्तु की रचना करता है। कुछ लोगों के मत से संक्षिप्तिका वहाँ होती है, जहाँ पहला नायक निवृत्त हो जाय तथा दूसरा नायक आये, या फिर नायक की एक अवस्था छोड़ कर दूसरी अवस्था का ग्रहण किया जाय।

मिट्टी, बाँस, पत्ते चमड़े आदि से किसी मकान आदि वस्तु का निर्माण संक्षिप्ति या संक्षिप्तिका कहलाता है, जैसे उदयनचरित में किलिञ्जहस्ति का प्रयोग। कुछ लोग नायक की पहली अवस्था को छोड़ कर दूसरी अवस्था का ग्रहण करना संक्षिप्तिका मानते हैं। जैसे बालि की निवृत्ति पर सुग्रीव नायक के रूप में गृहीत होता है और जैसे परशुराम की उद्धतता की निवृत्ति पर 'ब्राह्मण जाति पवित्र है' इस तरह शान्तत्व का ग्रहण किया जाता है।

अथ संफेट—

> संफेटस्तु समाघातः क्रुद्धसंरब्धयोर्द्वयोः ॥ ५८ ॥

यथा माधवाघोरघण्टयोर्मालतीमाधवे। इन्द्रजिल्लक्ष्मणयोश्च रामायणप्रतिबद्धवस्तुषु।

जहाँ दो क्रुद्ध पात्रों का परस्पर समाघात—एक दूसरे का अधिक्षेप, पाया जाता है, वह सम्फेट कहलाता है।

जैसे मालतीमाधव में माधव तथा अघोरघण्ट का एक दूसरे के प्रति क्रुद्ध होकर अधिक्षेप करना, और जैसे रामायण के आधार पर बनाई कथावस्तुओं में मेघनाद व लक्ष्मण का परस्पर अधिक्षेप सम्फेट के अन्तर्गत आता है।

अथ वस्तूत्थापनम्—

मायाद्युत्थापितं वस्तु वस्तूत्थापनमिष्यते ।

यथोदात्तराघवे—

'जीयन्ते जयिनोऽपि सान्द्रतिमिरव्रातैर्वियद्व्यापिभि-

र्भास्वन्तः सकला रवेरपि रुचः कस्मादकस्मादमी ।

एताश्चोग्रकबन्धरन्ध्ररुधिरैराध्मायमानोदरा

मुञ्चन्त्याननकन्दरानलमुचस्तीव्रारवाः फेरवाः ॥'

इत्यादि ।

मन्त्रबल के द्वारा माया से किसी वस्तु की उत्थापना करना वस्तूत्थापन कहलाता है। जैसे उदात्तराघव के इस वचन में—

यह क्या बात है कि सारे संसार के अन्धकार को खोलने वाली प्रकाशमान सूर्य की किरणें भी आकाश में व्याप्त होते हुए सघन अन्धकार समूह से एकदम जीत ली गई हैं, और कबन्धों के ऊँचे छिद्रों से निकले खून के पीने से पेट को खूब भरे हुए, और चिल्लाती हुई ये सियारनियाँ इधर अपने मुखविवर की आग को छोड़ रही हैं।

अथाऽवपातः—

अवपातस्तु निष्क्रामप्रवेशत्रासविद्रवैः ॥ ५६ ॥

यथा रत्नावल्याम्—

'कण्ठे कृत्ताऽवशेषं कनकमयमधः शृङ्खलादाम कर्षन्

क्रान्त्वा द्वाराणि हेलाचलचरणरणत्किङ्किणीचक्रवालः ।

दत्तातङ्को गजानामनुसृतसरणिः सम्भ्रमादश्वपालैः

प्रभ्रष्टोऽयं प्लवङ्गः प्रविशति नृपतेर्मन्दिरं मन्दुरायाः ॥

नष्टं वर्षवरैर्मनुष्यगणनाभावादकृत्वा त्रपा-

मन्तः कञ्चुकिकञ्चुकस्य विशति त्रासादयं वामनः ।

पर्यन्ताश्रयिभिर्निजस्य सदृशं नाम्नः किरातैः कृतं

कुब्जा नीचतयैव यान्ति शनकैरात्मेक्षणाशङ्किनः ॥'

किसी भी पात्रादि के रङ्गमञ्च पर प्रवेश करने से या रङ्गमञ्च से चले जाने से दूसरे पात्रों में जो भय तथा भगदड़ मचती है वह अपपात कहलाता है।

जैसे रत्नावली नाटिका में मन्दुरा (घुड़साल) से बन्दर के छूटने पर अन्तःपुर के लोगों की भगदड़ [illegible] निम्न कथन—

कण्ठ की सोने की जञ्जीर को तोड़ कर, बची हुई जञ्जीर को घसीटता हुआ अपने पैरों [illegible] किङ्किणी को लीला से फेंके हुए पैरों से बजाता हुआ यह बन्दर, वाजिशाला से छूट कर भाग कर कई द्वारों को पार करता हुआ महाराज के महल की ओर घुस रहा है। इसे देखकर हाथी आतङ्कित हो गये हैं और भय से घबड़ाये हुए घोड़ों के सईस (अश्वपाल) इसके मार्ग का पीछा कर रहे हैं।

बन्दर को छूटा देख कर वर्षवर (हिजड़े) लज्जा को छोड़ कर भाग खड़े हुए हैं—उनका लज्जा त्याग कर भग जाना ठीक है क्योंकि उनकी गिनती मनुष्यों (स्त्री या पुरुष) में नहीं होती। यह बौना डर कर कञ्चुकी के बड़े जामे (कञ्चुक) में छिप रहा है। इधर-उधर कोनों

में जाकर छिपे किरातों ने अपने नाम के अनुकूल कार्य (किर मतति, जो कोनों में घूमते हैं) किया है। कुबड़े अपने आपके देखे जाने के डर से नीचे होकर धीरे-धीरे चल रहे हैं।

यथा च प्रियदर्शनाया (प्रियदर्शिकायाम्) प्रथमेऽङ्के विन्ध्यकेत्ववस्कन्दे।

और जैसे प्रियदर्शिका नाटिका के पहले अङ्क में विन्ध्यकेतु के आक्रमण के समय डेरे का वर्णन।

उपसंहरति—

> एभिरङ्गैश्चतुर्धेयम्, नार्थवृत्तिरतः परा।
> चतुर्थी भारती सापि वाच्या नाटकलक्षणे ॥ ६० ॥
> कैशिकीं सात्त्वतीं चार्थवृत्तिमारभटीमिति।
> पठन्तः पञ्चमीं वृत्तिमौद्भटाः प्रतिजानते ॥ ६१ ॥

सा तु लक्ष्ये क्वचिदपि न दृश्यते, न चोपपद्यते रसेषु, हास्यादीनां भारत्यात्मकत्वात्, नीरसस्य च काव्यार्थस्याभावात्। तिस्र एवैता अर्थवृत्तयः। भारती तु शब्दवृत्तिरामुखाङ्गत्वात्तत्रैव वाच्या।

इस प्रकार आरभटी वृत्ति में चार अङ्ग होते हैं। इन तीन वृत्तियों—कैशिकी, सात्वती तथा आरभटी, के अतिरिक्त और कोई भी अर्थवृत्ति नहीं होती। नाटक के सम्बन्ध में भारती नामक चौथी वृत्ति का भी उल्लेख करना आवश्यक हो जाता है। उसका उल्लेख नाटक के लक्षण में किया जायगा। वैसे अर्थवृत्तियाँ तीन ही हैं—कैशिकी सात्वती, तथा आरभटी। उद्भट के मतानुयायी नाट्यशास्त्री एक अलग से पाँचवीं वृत्ति मानते हैं, (यह हमें स्वीकृत नहीं)।

भारतीवृत्ति का 'अर्थ रूप रस (लक्ष्य) में कहीं भी सन्निवेश नहीं होता, वह रसों में नहीं पाई जाती। हास्यादि भारतीपरक होते हैं, तथा कोई भी काव्यार्थ नीरस नहीं होता। अतः सारे ही काव्यार्थों का समावेश रसपरक कैशिक्यादि वृत्तित्रय में हो जाता है। भारती में पात्र संस्कृतभाषाभाषी होते हैं तथा वीथी आदि उसके वक्ष्यमाण अङ्ग होते हैं। वस्तुतः भारतीवृत्ति नाटक के आमुख का अङ्ग है, इसलिए वह लक्षण में पाये जाने के कारण शब्दवृत्ति है। अतः उसका वर्णन यहाँ रसपरक अर्थवृत्तियों में न कर नाटक लक्षण के अवसर पर करना योग्य है। अर्थवृत्तियाँ तो ये तीन ही मानी जा सकती हैं।

वृत्तिनियममाह—

> शृङ्गारे कैशिकी, वीरे सात्त्वत्यारभटी पुनः।
> रसे रौद्रे च बीभत्से, वृत्तिः सर्वत्र भारती ॥ ६२ ॥

वृत्ति का सम्बन्ध नायक के व्यापार से है, अतः रसपरक होने के कारण उनका किस किस रस में प्रयोग होता है यह बताना उचित होगा।

कैशिकी का प्रयोग शृंगार में, सात्वती का वीर में, तथा आरभटी का रौद्र एवं बीभत्स रस में किया जाता है। भारती वृत्ति का (शब्दवृत्ति होने के कारण) सभी रसों में प्रयोग होता है।

[यहाँ शृङ्गार से हास्य, वीर से अद्भुत, रौद्र से करुण, तथा बीभत्स से भयानक रस का उपसंहरण में ग्रहण किया जा सकता है, जो क्रमशः नाटकादि से घनिष्ठतया सम्बद्ध हैं।]

देशभेदभिन्नवेषादिस्तु नायकादिव्यापारः प्रवृत्तिरित्याह—

देशभाषाक्रियावेषलक्षणाः स्युः प्रवृत्तयः ।
लोकादेवावगम्यैता यथौचित्यं प्रयोजयेत् ॥ ६३ ॥

वृत्ति के साथ ही साथ नाटकीय प्रवृत्ति का भी उल्लेख कर देना आवश्यक है। देश तथा काल के अनुसार नायक की भिन्न भिन्न भाषा, भिन्न भिन्न वेष, भिन्न भिन्न क्रिया प्रवृत्ति कहलाती हैं। इनका ज्ञान नाटककार (कवि) लोक से ही प्राप्त कर सकता है कि किस देश में कैसी भाषा, कैसा वेष व कैसी क्रिया-चेष्टा पाई जाती है। इसका ज्ञान प्राप्त कर कवि उनका तदनुरूप सन्निवेश अपने नाटक में करे।

तत्र पाठ्यं प्रति विशेषः—

पाठ्यं तु संस्कृतं नृणामनीचानां कृतात्मनाम् ।
लिङ्गिनीनां महादेव्या मन्त्रिजावेश्ययोः क्वचित् ॥ ६४ ॥

क्वचिदिति देव्यादीनां सम्बन्धः ।

जहाँ तक उनकी भाषाके नाटक में बोलने (पाठ्य) का प्रश्न है, इस विषय में एक विशेषता यह है कि—नाटक में कुलीन कृतात्मा पुरुषों की भाषा संस्कृत ही होनी चाहिए। तपस्विनियों, महारानी, मन्त्रिपुत्री तथा वेश्याओं के सम्बन्ध में कहीं कहीं संस्कृत पाठ्य का सन्निवेश किया जा सकता है।

— स्त्रीणां तु प्राकृतं प्रायः शौरसेन्यधमेषु च[1] ।

प्रकृतेरागतं प्राकृतम् = प्रकृतिः संस्कृतं तद्भवं तत्समं देशीत्यनेकप्रकारम् । शौरसेनी मागधी च स्वदेशजानियते ।

स्त्रीपात्रों का पाठ्य प्रायः प्राकृत—शौरसेनी प्राकृत-होता है। और अधम जाति के अकुलीनपात्र भी प्राकृत ही बोलते हैं।

प्राकृत शब्द की व्युत्पत्ति यह है कि जो स्वभाव से आया हो (प्रकृते रागत), अथवा इसकी दूसरी व्युत्पत्ति 'प्रकृति अर्थात् संस्कृत से उत्पन्न' (प्रकृतिः संस्कृत तद्भवं) है। ये प्राकृत शब्द तद्भव, तत्सम, देशी इस प्रकार अनेक प्रकार के होते हैं। शौरसेनी तथा मागधी अपने अपने देशकालानुसार नाटक में प्रयुक्त होती हैं।

पिशाचात्यन्तनीचादौ पैशाचं मागधं तथा ॥ ६५ ॥
यद्देशं नीचपात्रं यत्तद्देशं तस्य भाषितम् ।
कार्यतश्चोत्तमादीनां कार्यो भाषाव्यतिक्रमः ॥ ६६ ॥

स्पष्टार्थमेतत् ।

पिशाच तथा अत्यन्त अधम पात्रों (चाण्डालादि) की भाषा पैशाची या मागधी हो (जो नीचपात्र जिस देश का रहने वाला हो, उसी देश की बोली के अनुसार उसकी पाठ्य भाषा नाटक में नियोजित की जाय। वैसे कभी उत्तम आदि पात्रों की भाषा में किसी कारण से व्यतिक्रम भी पाया जा सकता है कि उत्तम पात्र प्राकृत बोलें या अधम पात्र संस्कृत बोलें, (पर यह सदा नहीं हो सकता।)।

---

1 'शूरसेनी' 'शौरसेनी' इत्यपि पाठौ ।

आमन्त्र्यामन्त्रकौचित्येनामन्त्रणमाह—

भगवन्तो वरैर्वाच्या विद्वद्देवर्षिलिङ्गिनः।
विप्रामात्याग्रजाश्चार्या नटीसूत्रभृतौ मिथः॥ ६७॥

आर्याविति सम्बन्धः।

अब कौन पात्र किस पात्र को किस तरह सम्बोधित करे इसे बताते हैं:—

उत्तम पात्रों के द्वारा विद्वान्, देवर्षि तथा तपस्वी पात्र 'भगवन्' इस तरह सम्बोधित किये जाने चाहिए। विप्र, अमात्य तथा गुरुजनों या बड़े भाई (अग्रज) को ये 'आर्य' इस तरह सम्बोधित करें। नटी व सूत्रधार आपस में एक दूसरे को 'आर्य' व 'आर्ये' इस तरह सम्बोधित करें।

रथी सूतेन चायुष्मान्पूज्यैः शिष्यात्मजानुजाः।
वत्सेति तातः पूज्योऽपि सुगृहीताभिधस्तु तैः॥ ६८॥

अपिशब्दात्पूज्येन शिष्यात्मजानुजास्तातेति वाच्याः, सोऽपि तैस्तातेति सुगृहीतनामा चेति।

सारथी अपने रथी वीर को आयुष्मान् कहे, तथा पूज्य लोग शिष्य, पुत्र या छोटे भाई आदि को भी 'आयुष्मान्' ही कहें, अथवा 'वत्स' या 'तात' कहें। शिष्य, पुत्र, छोटे भाई आदि पूज्यों को 'तात' या 'सुगृहीतनामा' आदि कह सकते हैं।

भावोऽनुगेन सूत्री च मार्षेत्येतेन सोऽपि च।

सूत्रधारः पारिपार्श्विकेन भाव इति वक्तव्यः। स च सूत्रिणा मार्ष इति।

पारिपार्श्विक सूत्रधार को 'भाव' कहे, तथा सूत्रधार पारिपार्श्विक को 'मार्ष' (मारिष) के नाम से सम्बोधित करे।

देवः स्वामीति नृपतिर्भृत्यैर्भट्टेति चाधमैः॥ ६९॥
आमन्त्रणीयाः पतिवज्ज्येष्ठमध्याधमैः स्त्रियः।

विद्वद्देवादिस्त्रियो भर्तृवदेव देवरादिभिर्वाच्याः।

उत्तम नौकर राजा को 'देव या स्वामी' कहें और अधम भृत्य उसे 'भट्टा' (भर्ता) कहें। ज्येष्ठ, मध्यम या अधम पात्र स्त्रियों को ठीक उसी तरह सम्बोधित करें, जैसे उनके पतियों को।

विद्वानों, देवताओं आदि की स्त्रियों को देवर आदि उनके पति के अनुरूप सम्बोधित करें। जैसे ऋषि पत्नियों, तपस्विनियों या देवियों को 'भगवति' कहें, ब्राह्मणियों या पूज्या स्त्रियों को 'आर्ये' कहें।

सम स्त्रियं प्रति विशेष—

समा हलेति, प्रेष्या च हञ्जे, वेश्याऽज्जुका तथा॥ ७०॥
कुट्टिन्यम्बेत्यनुगतैः पूज्या वा जरती जनैः।
विदूषकेण भवती राज्ञी चेटीति शब्द्यते॥ ७१॥

पूज्या जरती अम्बेति। स्पष्टमन्यत्।

---

१. 'कुट्टिन्यनुगतैः पूज्या चाम्बेति जनैः' इति पाठान्तरम्।

स्त्रियों के सम्बोधन में जो विशेषता पाई जाती है, उसका उल्लेख करते हैं — सखियाँ एक दूसरे को 'हला' कहें। नौकरानी (प्रेष्या) 'हञ्जे' कहे, वेश्या को 'अज्जुका' कहा जाय। कुट्टिनी को लोग 'अम्ब' कहें, तथा पूज्य वृद्धा स्त्री को भी 'अम्ब' ही कहें। विदूषक रानी व सेविका दोनों को 'भवती' शब्द से सम्बोधित करे।

चेष्टागुणोदाहृतिसत्त्वभावा-
नशेषतो नेतृदशाविभिन्नान्।
को वक्तुमीशो भरतो न यो वा
यो वा न देवः शशिखण्डमौलिः ॥ ७२ ॥

दिङ्मात्रं दर्शितमित्यर्थः। चेष्टा लीलाद्याः, गुणा विनयाद्याः, उदाहृतयः संस्कृतप्राकृताद्या उक्तयः, सत्त्वं निर्विकारात्मकं मनः, भावः सत्त्वस्य प्रथमो विकारस्तेन हावादयो ह्युपलक्षिताः।

॥ इति धनञ्जयकृतदशरूपकस्य द्वितीयः प्रकाशः समाप्तः ॥

नायक की विभिन्न दशाओं के अनुरूप चेष्टा, गुण, उदाहरण (उक्ति), सत्त्व तथा भावों का निःशेष वर्णन कौन व्यक्ति कर सकता है, जो नाट्याचार्य महर्षि भरत या देव चन्द्रशेखर नहीं। अर्थात् इसका निःशेष सर्वाङ्ग वर्णन करने में तो महर्षि भरत तथा देवाधिदेव महादेव ही समर्थ हैं। अतः मेरे जैसा अल्पबुद्धि तो केवल दिङ्मात्र वर्णन कर सकता है।

लीलादि चेष्टा, विनयादि गुण, संस्कृत प्राकृत आदि उक्तियाँ, निर्विकारात्मक मन, तथा सत्त्व का प्रथम विकार भाव इन नायक की विशेषताओं के उल्लेख के द्वारा कारिकाकार ने हाव आदि दूसरी विशेषताओं का संकेत किया है, जो उपलक्षण से इस प्रसंग में गृहीत होंगी। (यहाँ धनञ्जय ने नायक की इन विशेषताओं का संक्षिप्त (दिङ्मात्र) वर्णन ही किया है।

द्वितीय प्रकाश समाप्त

अथ तृतीयः प्रकाशः

बहुवक्तव्यतया रसविचारातिलङ्घनेन वस्तुनेतृरसानां विभज्य नाटकादिषूपयोगः प्रतिपाद्यते—

> प्रकृतित्वादथान्येषां भूयो रसपरिग्रहात् ।
> सम्पूर्णलक्षणत्वाच्च पूर्वं नाटकमुच्यते ॥ १ ॥

उद्दिष्टधर्मकं हि नाटकमनुद्दिष्टधर्माणां प्रकरणादीनां प्रकृतिः शेषं प्रतीतम् ।

प्रथम प्रकाश में नाटकीय कथावस्तु का विवेचन किया। तदनन्तर द्वितीय प्रकाश में दूसरे नाटकीय तत्त्व 'नेता' (नायक) का सपरिग्रह वर्णन किया। अब नाटक का तीसरा अङ्ग रस शेष है। किन्तु रस के विवेचन में दशरूपकार धनञ्जय को कई बातें कहनी हैं। अतः विस्तारी विषय होने के कारण उसका उल्लङ्घन कर वस्तु, नेता तथा रस के भेद के आधार पर नाटकादि रूपकों का वर्णन तथा उनमें इनके विभाग का उपयोग किस प्रकार होता है, इसका प्रतिपादन किया गया है।

(यहाँ 'सूचीकटाह-न्याय' से रस के विस्तारी विषय को छोड़ कर पहले संक्षिप्त व अल्प विषय का विवेचन आरम्भ किया गया है।)

यहाँ सर्वप्रथम हम नाटक (रूपकभेद) का विवेचन कर रहे हैं। इसके तीन कारण हैं—पहले तो नाटक ही अन्य रूपकभेदों की प्रकृति अथवा मूल है, उसीमें वस्तु, नेता या रस के परिवर्तन करने से प्रकरणादि रूपकों की सृष्टि हो जाती है। दूसरे, नाटक में रस का परिपाक पूर्ण रूप से तथा अनेक रूप से पाया जाता है—उसमें शृङ्गार या वीर कोई भी रस अङ्गी रस हो सकता है, तथा अन्य सभी रस अङ्ग रूप में सन्निविष्ट किये जा सकते हैं। तीसरे, वस्तु व नेता के जो लक्षण हम कह चुके हैं, तथा रस के जिन लक्षणों का वर्णन हम आगे करने जा रहे हैं, वे सभी लक्षण नाटक में पाये जाते हैं।

नाटक के लक्षण का उद्देश हो चुका है, उसमें उक्त नाटक ही उन प्रकरणादि रूपकों का मूल कारण है, जिनका अभी वर्णन नहीं किया गया है। कारिका का शेष अंश स्पष्ट ही है।

तत्र—

> पूर्वरङ्गं विधायादौ सूत्रधारे विनिर्गते ।
> प्रविश्य तद्वदपरः काव्यमास्थापयेन्नटः ॥ २ ॥

पूर्वं रज्यतेऽस्मिन्निति पूर्वरङ्गो नाट्यशाला तत्स्थप्रथमप्रयोगव्युत्थापनादौ पूर्वरङ्गता तां विधाय विनिर्गते प्रथमं सूत्रधारे तद्वदेव वैष्णवस्थानकादिना प्रविश्यान्यो नटः काव्यार्थं स्थापयेत् । स च काव्यार्थस्थापनात् सूचनात्स्थापकः ।

जब सूत्रधार पूर्वरङ्ग का विधान करने के बाद रङ्गमञ्च से चला जाता है, तो उसी तरह (की वेशभूषा वाला) दूसरा नट मञ्च पर प्रवेश कर काव्य की प्रस्तावना करे।

पूर्वरङ्ग शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'पूर्वं रज्यतेऽस्मिन्'—जिसमें सामाजिकों को पहले आनन्द मिले। इस प्रकार पूर्वरङ्ग का तात्पर्य नाट्यशाला से है। नाट्यशाला में नाटकादि रूपक के आरम्भ में जो औपचारिक क्रियाएँ (प्रयोग, व्युत्थापनादि)—मङ्गलाचरण, देवतास्तवनादि—की जाती हैं, उन्हें पूर्वरङ्गता (पूर्वरङ्ग का कर्म) कहेंगे। इस मङ्गलाचरणादि के कर लेने पर जब सूत्रधार लौट जाता है, तो उसी की तरह के वेषभूषा में आकर कोई दूसरा नट

नाटकादि कथावस्तु के काव्यार्थ की स्थापना या सूचना करता है। यह नट काव्यार्थ की स्थापना या सूचना करने के कारण स्थापक कहलाता है।

दिव्यमर्त्ये स तद्रूपो मिश्रमन्यतरस्तयोः।
सूचयेद्वस्तु बीजं वा मुखं पात्रमथापि वा ॥ ३ ॥

स स्थापको दिव्यं वस्तु दिव्यो भूत्वा मर्त्यं च मर्त्यरूपो भूत्वा मिश्रं च दिव्यमर्त्ययोरन्यतरो भूत्वा सूचयेत्—वस्तु बीजं मुखं पात्रं वा।

वह स्थापक कथावस्तु के अनुरूप ही वेशभूषा धना कर प्रवेश करे। यदि वस्तु दैवतासम्बन्धी (दिव्य) हो तो वह दिव्य रूप में मञ्च पर प्रवेश करे। यदि वह मानवसम्बन्धी (मर्त्य) हो तो वह नट मर्त्य रूप में आये। कथावस्तु के मिश्र (दिव्यादिव्य) होने पर (जैसे रामादि की कथा में) वह या तो दिव्य रूप में या मर्त्य रूप में आ सकता है। मञ्च पर आकर काव्यार्थ की स्थापना करते समय वह काव्य (रूपक) की कथावस्तु, उसकी बीज नामक अर्थप्रकृति, मुख (श्लेष के द्वारा) या प्रमुख पात्र की सूचना दे।

इस प्रकार काव्यार्थ की स्थापना सूच्य के भेद से ४ प्रकार की हो जाती है। इन्हीं चारों प्रकारों को वृत्तिकार धनिक भिन्न २ नाटकों के स्थापना प्रकारों को लेकर उदाहृत करते हैं।

वस्तु यथोदात्तराघवे—

'रामो मूर्ध्नि निधाय काननमगान्मालामिवाज्ञां गुरो-
स्तद्भक्त्या भरतेन राज्यमखिलं मात्रा सहैवोज्झितम्।
तौ सुग्रीवविभीषणावनुगतौ नीतौ परां सम्पदं
प्रोद्वृत्ता दशकन्धरप्रभृतयो ध्वस्ताः समस्ता द्विषः ॥'

(१) वस्तुसूचना, जैसे उदात्तराघव नाटक[1] में निम्न पद्य के द्वारा नट नाटक की समस्त कथावस्तु का संक्षिप्त सङ्केत देता है —

अपने पिता की वन जाने की आज्ञा को माला की तरह सिर पर धारण कर रामचन्द्र वन के लिए रवाना हो गये। रामचन्द्र की भक्ति के कारण भरत ने माता कैकेयी के साथ ही समस्त राज्य का परित्याग कर दिया। रामचन्द्र ने अपने अनुचर सुग्रीव तथा विभीषण को अनुपम सम्पत्ति से विभूषित कर दिया, तथा रावण आदि समस्त उत्कट शत्रुओं को नष्ट कर दिया।

बीजं यथा रत्नावल्याम्—

'द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात्।
आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूतः ॥'

(२) बीजसूचना, जैसे रत्नावली नाटिका में स्थापक नाटकीय कथावस्तु के बीज की सूचना देता है —

अनुकूल होने पर दैव अपने अभीष्ट अर्थ को किसी दूसरे द्वीप से, समुद्र के बीच से, या दिशाओं के अन्त से भी लाकर तत्काल मिला देता है।

(यहाँ दैव की अनुकूलता के कारण समुद्र में खोई रत्नावली भी यौगन्धरायण को मिल

---

१ उदात्तराघव नाटक अनुपलब्ध है। इसके रचयिता कवि मायुराज थे, इसका पता अवश्य चलता है।

जाती है, इस बीज की ओर सङ्केत किया गया है। इस प्रकार यौगन्धरायण के अभीष्ट रत्नावली उदयन-समागम रूप फल के बीज की सूचना यहाँ दी गई है।)

मुखं यथा—

'आसादितप्रकटनिर्मलचन्द्रहासः
प्राप्तः शरत्समय एष विशुद्धकान्तः।
उत्खाय गाढतमसं घनकालमुग्रं
रामो दशास्यमिव सम्भृतबन्धुजीवः॥'

(३) मुखसूचना—दशरूपक के रचयिता या वृत्तिकार ने यहाँ मुख शब्द को स्पष्ट नहीं किया है। साहित्यदर्पणकार के मतानुसार मुख में श्लेष के द्वारा वस्तु की सूचना दी जाती है (मुखं श्लेषादिना प्रस्तुतवृत्तान्तप्रतिपादको वाग्विशेषः)। यहाँ दिये गये उदाहरण से भी विश्वनाथ महापात्र का मत पुष्ट होता है। मुखसूचना में वस्तु का वर्णन श्लेष के द्वारा किया जाता है। यहाँ निम्न पद्य में स्थापक भारती वृत्ति में शरत्काल का वर्णन कर रहा है। यह शरत्काल का वर्णन श्लिष्ट शब्दों में हुआ है, जिससे साथ ही रामचन्द्र की तथा उनकी नाटकीय वस्तु की भी सूचना होती है।

विशुद्ध तथा सुन्दर यह शरत्काल, जिसमें चन्द्रमा का निर्मल प्रकाश प्रकटित हो गया है, तथा जिसने बन्धुजीव (दुपहरिया) के फूलों को धारण कर लिया है (जिसमें दुपहरिया के फूल फूलते हैं), सघन अन्धकार वाले प्रचण्ड वर्षाकाल को उखाड़ कर ठीक उसी तरह प्राप्त हुआ है, जैसे चन्द्रमा के निर्मल हास से युक्त (अथवा जिन्होंने रावण के निर्मल चन्द्रहास खड्ग को प्रकट कर दिया है), विशुद्ध तथा सुन्दर रामचन्द्र, बान्धवों के जीवों को फेर से लौटाते हुए, अत्यधिक अज्ञान (तम) वाले, उग्र तथा सघन काले राक्षस रावण को मारकर प्राप्त हुए हैं।

पात्रं यथा शाकुन्तले—

'तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः।
एष राजेव दुष्यन्तः सारङ्गेणातिरंहसा॥'

(४) पात्रसूचना—इसमें स्थापक किसी पात्र की (नेता या अन्य किसी पात्र की) सूचना देते हुए प्रथम अङ्क में उसके भावी प्रवेश का सङ्केत देता है। जैसे शाकुन्तल में, (नट कह रहा है।)

हे नटी, तेरे गीत की सुन्दर राग से मैं ठीक उसी तरह आकृष्ट हो गया हूँ, जैसे इस तेज वेग वाले हरिण के द्वारा यह राजा दुष्यन्त आकृष्ट किया गया है।

(शाकुन्तल के प्रथम अङ्क में इस सूचना के बाद रथ पर बैठे दौड़ते हरिण का पीछा करता हुआ राजा दुष्यन्त मञ्च पर प्रविष्ट होता है। इस प्रकार स्थापक नट की यह स्थापना-पात्र-स्थापना (पात्रसूचना) कहलायगी।)

रङ्गं प्रसाद्य मधुरैः श्लोकैः काव्यार्थसूचकैः।
ऋतुं कञ्चिदुपादाय भारतीं वृत्तिमाश्रयेत्॥ ४॥

रङ्गस्य प्रसत्तिं काव्यार्थानुगतार्थैः श्लोकैः कृत्वा

'औत्सुक्येन कृतत्वरा सहभुवा व्यावर्तमाना ह्रिया
तैस्तैर्बन्धुवधूजनस्य वचनैर्नीताभिमुख्यं पुनः।

जाती है, इस बीज की ओर सङ्केत किया गया है। इस प्रकार यौगन्धरायण के अभीष्ट रत्नावली उदयन-समागम रूप फल के बीज की सूचना यहाँ दी गई है।)

मुख यथा—

'आसादितप्रकटनिर्मलचन्द्रहासः
प्राप्तः शरत्समय एष विशुद्धकान्तः।
उत्खाय गाढतमसं घनकालमुग्रं
रामो दशास्यमिव सम्भृतबन्धुजीवः॥'

(३) मुखसूचना—दशरूपक के रचयिता या वृत्तिकार ने यहाँ मुख शब्द को स्पष्ट नहीं किया है। साहित्यदर्पणकार के मतानुसार मुख में श्लेष के द्वारा वस्तु की सूचना दी जाती है (मुखं श्लेषादिना प्रस्तुतवृत्तान्तप्रतिपादको वाग्विशेषः)। यहाँ दिये गये उदाहरण से भी विश्वनाथ महापात्र का मत पुष्ट होता है। मुखसूचना में वस्तु का वर्णन श्लेष के द्वारा किया जाता है। यहाँ निम्न पद्य में स्थापक भारती वृत्ति में शरत्काल का वर्णन कर रहा है। यह शरत्काल का वर्णन श्लिष्ट शब्दों में हुआ है, जिससे साथ ही रामचन्द्र की तथा उनकी नाटकीय वस्तु की भी सूचना होती है।

विशुद्ध तथा सुन्दर यह शरत्काल, जिसमें चन्द्रमा का निर्मल प्रकाश प्रकटित हो गया है, तथा जिसने बन्धुजीव (दुपहरिया) के फूलों को धारण कर लिया है (जिसमें दुपहरिया के फूल फूलते हैं) सघन अन्धकार वाले प्रचण्ड वर्षाकाल को उखाड़ कर ठीक उसी तरह प्राप्त हुआ है, जैसे चन्द्रमा के निर्मल हास से युक्त (अथवा जिन्होंने रावण के निर्मल चन्द्रहास खड्ग को ध्वस्त कर दिया है), विशुद्ध तथा सुन्दर रामचन्द्र, बान्धवों के जीवों को फेर से लौटाते हुए, अत्यधिक अज्ञान (तम) वाले, उग्र तथा सघन काले राक्षस रावण को मारकर प्राप्त हुए हैं।

पात्रं यथा शाकुन्तले—

'तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः।
एष राजेव दुष्यन्तः सारङ्गेणातिरंहसा॥'

(४) पात्रसूचना—इसमें स्थापक किसी पात्र की (नेता या अन्य किसी पात्र की) सूचना देते हुए प्रथम अङ्क में उसके भावी प्रवेश का सङ्केत देता है। जैसे शाकुन्तल में, (नट कह रहा है।)

हे नटी, तेरे गीत की सुन्दर राग से मैं ठीक उसी तरह आकृष्ट हो गया हूँ, जैसे इस तेज वेग वाले हरिण के द्वारा यह राजा दुष्यन्त आकृष्ट किया गया है।

(शाकुन्तल के प्रथम अङ्क में इस सूचना के बाद रथ पर बैठे दौड़ते हरिण का पीछा करता हुआ राजा दुष्यन्त मञ्च पर प्रविष्ट होता है। इस प्रकार स्थापक नट की यह स्थापना-पात्र स्थापना (पात्रसूचना) कहलायगी।)

रङ्गं प्रसाद्य मधुरैः श्लोकैः काव्यार्थसूचकैः।
ऋतुं कञ्चिदुपादाय भारतीं वृत्तिमाश्रयेत्॥ ४॥

रङ्गस्य प्रशस्तिं काव्यार्थानुगतार्थैः श्लोकैः कृत्वा

'औत्सुक्येन कृतत्वरा सहभुवा व्यावर्तमाना ह्रिया
तैस्तैर्बन्धुवधूजनस्य वचनैर्नीताभिमुख्यं पुनः।

रुद्धाऽप्रे प्रसभात्तमाप्यसरसा गौरी नवे सङ्गमे
सरोहत्पुलका हरेण हसता श्लिष्टा शिवा पातु वः ॥

इत्यादिभिरेव भारतीं वृत्तिमाश्रयेत् ।

स्थापक नट सर्वप्रथम काव्य के अर्थ की सूचना देने वाले मधुर श्लोकों के द्वारा रङ्गस्थ सामाजिकों को प्रसन्न कर, किसी ऋतु को वर्णित करते हुए भारती वृत्ति का प्रयोग करे।

सबसे पहले काव्यार्थ से युक्त श्लोकों से रङ्गप्रशस्ति कर, स्थापक निम्न पद्य के सदृश भारती वृत्ति का प्रयोग करे। जैसे रत्नावली नाटिका में निम्न पद्य में भारती वृत्ति का आश्रय लिया गया है।

नववधू पार्वती के हृदय में अपने पति शङ्कर से मिलने की उत्सुकता है, इसलिए वह तेजी के साथ पति के पास जाना चाहती है, पर दूसरी ओर नारीसहज लज्जा उसे वापस लौटा रही है। इस दशा को देखकर पार्वती के बान्धव सखियाँ आदि उसे अनेक प्रकार के वचनों से शङ्कर के प्रति उन्मुख करते हैं, और उन वचनों के द्वारा वह फिर से शङ्कर के सम्मुख ले जाई जाती है। जब वह आगे बढ़ती है, तो अपने पति को देखकर भय तथा प्रम दोनों से युक्त हो जाती है। इस नव सङ्गम के समय उसके रोमाञ्च खड़े हो जाते हैं। शङ्कर पार्वती को सामने देख कर हँसते हुए उसका आलिङ्गन कर लेते हैं। हँसते हुए शङ्कर के द्वारा इस तरह आश्लिष्ट शर्मीली हुई पार्वती सामाजिकों की (आप लोगों की) रक्षा करें।

सा तु—

भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नटाश्रयः।
भेदैः प्ररोचनायुक्तैर्वीथीप्रहसनामुखैः ॥ ५ ॥

पुरुषविशेषप्रयोज्यः संस्कृतबहुलो वाक्यप्रधानो नटाश्रयो व्यापारो भारती, प्ररोचना वीथीप्रहसनाऽऽमुखानि चास्यामङ्गानि।

नट के द्वारा प्रयुक्त संस्कृत भाषा वाला वाग्व्यापार भारती वृत्ति कहलाता है। इसके प्ररोचना, वीथी, प्रहसन तथा आमुख ये चार भेद पाये जाते हैं।

यथोद्देशं लक्षणमाह—

उन्मुखीकरणं तत्र प्रशंसातः प्ररोचना।

प्रस्तुतार्थप्रशंसनेन श्रोतॄणां प्रवृत्त्युन्मुखीकरणं प्ररोचना। यथा रत्नावल्याम्—

'श्रीहर्षो निपुणः कविः परिषदप्येषा गुणग्राहिणी
लोके हारि च वत्सराजचरितं नाट्ये च दक्षा वयम्।
वस्त्वेकैकमपीह वाञ्छितफलप्राप्तेः पदं किं पुन-
र्मद्भाग्योपचयादयं समुदितः सर्वो गुणानां गणः' ॥

अब नाम के साथ साथ उनकी परिभाषा भी देते हैं:—

काव्यार्थादि की प्रशंसा के द्वारा सामाजिकों को उसकी ओर उन्मुख करना, उनके मन को आकृष्ट करना प्ररोचना कहलाता है।

जैसे रत्नावली नाटिका में निम्न पद्य में नट अपने नाटक की प्रशंसा कर सामाजिकों को आकृष्ट करना चाहता है —

इस नाटिका का कवि श्री हर्ष है जो कविता में बड़ा निपुण है। सामाजिकों की यह सभा भी गुणों का ग्रहण करने वाली है। नाटिका की कथावस्तु वत्सराज उदयन के चरित्र

पर आगत है, जो संसार में अतीव मनोहर (समझा जाता) है। साथ ही हम लोग भी नाट्यकला में बड़े दक्ष हैं। कहाँ तक कहें एक एक साधन से भी ईप्सित फल की प्राप्ति हो सकती है, तो फिर यहाँ तो मेरे सौभाग्य की वृद्धि से सारे ही गुणों का समूह एकत्रित हो गया है, इसलिए नाटक के सफल होने में कोई सन्देह ही नहीं।

वीथी प्रहसनं चापि स्वप्रसङ्गेऽभिधास्यते ॥ ६ ॥
वीथ्यङ्गान्यामुखाङ्गत्वादुच्यन्तेऽत्रैव, तत्पुनः ।
सूत्रधारो नटीं ब्रूते मार्षं वाऽथ विदूषकम् ॥ ७ ॥
स्वकार्यं प्रस्तुताक्षेपि चित्रोक्त्या यत्तदामुखम् ।
प्रस्तावना वा तत्र स्युः कथोद्घातः प्रवृत्तकम् ॥ ८ ॥
प्रयोगातिशयश्चाथ वीथ्यङ्गानि त्रयोदश ।

प्रसङ्गोपात्त वीथी तथा प्रहसन का वर्णन हम आगे करेंगे। वैसे वीथी तथा आमुख दोनों भारती भेदों के अङ्ग एक ही हैं, इसलिए उन भेदों का वर्णन हम यहीं कर रहे हैं। आमुख उसे कहते हैं, जहाँ सूत्रधार नटी, मार्ष (पारिपार्श्विक) या विदूषक के साथ बात करते हुए विचित्र उक्ति के द्वारा प्रस्तुत का आक्षेप कर (वस्तु का संकेत करते हुए) अपने कार्य का वर्णन करे। इसी आमुख को प्रस्तावना के नाम से भी पुकारते हैं। इसके कथोद्घात, प्रवृत्तक तथा प्रयोगातिशय ये तीन अङ्ग पाये जाते हैं। वीथी के तेरह अङ्ग होते हैं—(जिनका वर्णन हम इनके बाद करेंगे)।

तत्र कथोद्घात —

स्वेतिवृत्तसमं वाक्यमर्थं वा यत्र सूत्रिणः[1] ॥ ९ ॥
गृहीत्वा प्रविशेत्पात्रं कथोद्घातो द्विधैव सः ।

वाक्यं यथा रत्नावल्याम्—'यौगन्धरायण—द्वीपादन्यस्मादपि—' इति।

वाक्यार्थं यथा वेणीसंहारे—'सूत्रधार —

निर्वाणवैरिदहनाः प्रशमादरीणां
नन्दन्तु पाण्डुतनयाः सह केशवेन ।
रक्तप्रसाधितभुवः क्षतविग्रहाश्च
स्वस्था भवन्तु कुरुराजसुताः सभृत्याः ॥'

सूत्रधार के समान घटना वाले वाक्य को या वाक्यार्थ को लेकर तदनुकूल उक्ति का प्रयोग करते हुए जब कोई नाटकीय पात्र मञ्च पर (प्रथम अङ्क में) प्रवेश करता है, तो उस प्रस्तावना को कथोद्घात कहते हैं। उपर्युक्त भेद के आधार यह दो तरह हो जाता है—वाक्यमूलक तथा वाक्यार्थमूलक।

जैसे वाक्य का प्रयोग रत्नावली नाटिका में पाया जाता है, जहाँ यौगन्धरायण सूत्रधार के ही वाक्य—'द्वीपादन्यस्मादपि'—इत्यादि का प्रयोग अपनी उक्ति में करते हुए प्रविष्ट होता है।

वाक्यार्थ का प्रयोग वेणीसंहार की प्रस्तावना (आमुख) में मिलता है। भीमसेन सूत्रधार के वाक्य के अर्थ को लेकर तदनुकूल उक्ति का प्रयोग करते हुए प्रविष्ट होता है। जैसे निम्न स्थल में—

सूत्रधार।—

शत्रुओं के शान्त होने से वे पाण्डव कृष्ण के साथ आनन्द करें, जिनके वैरियों की आग

1 'वाक्यं वाक्यार्थमथवा प्रस्तुत यत्र सूत्रिणः' इति पाठान्तरम्।

चुका है। परिजनों से युक्त कौरव, जिन्होंने लड़ाई झगड़े को समाप्त कर दिया है, तथा सारी पृथ्वी को प्रसन्न तथा परितुष्ट कर दिया है, स्वस्थ रहें। (सपरिजन कौरव जिनके शरीर क्षतविक्षत हो गये हैं, खून से पृथ्वी को रँगकर, स्वर्ग में निवास करें।)

ततोऽर्थेनाह—'भीम'—

> लाक्षागृहानलविषान्नसभाप्रवेशैः
> प्राणेषु वित्तनिचयेषु च नः प्रहृत्य।
> आकृष्टपाण्डववधूपरिधानकेशाः
> स्वस्था भवन्तु मयि जीवति धार्तराष्ट्राः॥'

भीमः—

लाक्षागृह में आग लगाकर, विष के अन्न को देकर तथा सभा में हमें द्यूतक्रीडा में जीतकर, हमारे प्राण एवं सम्पत्ति पर प्रहार कर, क्या वे धृतराष्ट्र के पुत्र मेरे जीते जी स्वस्थ रह सकते हैं जिन्होंने पाण्डवों की वधू द्रौपदी के वस्त्र तथा केशों को आकृष्ट किया है?

अथ प्रवृत्तकम्—

कालसाम्यसमाक्षिप्तप्रवेशः स्यात्प्रवृत्तकम् ॥ १० ॥

प्रवृत्तकालसमानगुणवर्णनया सूचितपात्रप्रवेशः प्रवृत्तकम्, यथा—

> 'आसादितप्रकटनिर्मलचन्द्रहासः
> प्राप्तः शरत्समय एष विशुद्धकान्तः।
> उत्खाय गाढतमसं घनकालमुग्रं
> रामो दशास्यमिव सम्भृतबन्धुजीवः॥'

प्रवृत्तक नामक आमुख भेद यह होता है, जहाँ ऋतु के वर्णन की समानता के आधार पर श्लेष से किसी पात्र के प्रवेश की सूचना दी जाय।

जैसे निम्न पद्य में शरद् का वर्णन करने के साथ ही साथ श्लिष्ट शब्दों के द्वारा समान गुणों का वर्णन करते हुए राम के प्रवेश की सूचना दी गई है।[1]

विशुद्ध तथा सुन्दर यह शरत्काल, जिसमें चन्द्रमा का निर्मल प्रकाश प्रकटित हो गया है, तथा जिसमें बन्धुजीव (दुपहरिया) के फूल फूल गये हैं सघन अन्धकार से पूर्ण वर्षाकाल को उखाड़ कर ठीक उसी तरह आया है, जैसे चन्द्रमा के निर्मल हास से युक्त (अथवा, जिन्होंने रावण के निर्मल चन्द्रहास खड्ग को प्राप्त कर लिया है), विशुद्ध तथा सुन्दर रामचन्द्र बान्धवों के जीवों को फिर से लौटाते हुए, अत्यधिक अज्ञान (तम) वाले उग्र तथा सघन काले राक्षस रावण को मारकर आये हैं।

अथ प्रयोगातिशयः—

> **एषोऽयमित्युपक्षेपात्सूत्रधारप्रयोगतः।**
> **पात्रप्रवेशो यत्रैष प्रयोगातिशयो मतः ॥ ११ ॥**

यथा 'एष राजेव दुष्यन्तः' इति।

'यह यह आ रहा है' इस प्रकार के वचन को प्रयोग कर जहाँ सूत्रधार किसी पात्र का प्रवेश करता है, वह प्रयोगातिशय नामक आमुख है।

जैसे शाकुन्तल में 'जैसे यह राजा दुष्यन्त' इस सूचना के कारण प्रयोगातिशय है।

---

[1] निम्न पद्य किस नाटक का है यह पता नहीं। धनिक ने भी यहाँ नाटक का उल्लेख नहीं किया है। वैसे इस पद्य को धनिक ने दो स्थान पर इसी प्रकाश में उद्धृत किया है।

अथ वीथ्यङ्गानि—

> उद्घात्यकावलगिते प्रपञ्चत्रिगते छलम्।
> वाक्केल्यधिबले गण्डमवस्यन्दितनालिके ॥ १२ ॥
> असत्प्रलापव्याहारमृदवानि त्रयोदश।

वीथी के जिन तेरह अङ्गों का सङ्केत ऊपर किया गया, वे ये हैं:—उद्घात्यक, अवलगित, प्रपञ्च, त्रिगत, छल, वाक्केली, अधिबल, गण्ड, अवस्यन्दित, नालिका, असत्प्रलाप, व्याहार और मृदव।

तत्र—

> गूढार्थपदपर्यायमाला प्रश्नोत्तरस्य वा ॥ १३ ॥
> यत्रान्योन्यं समालापो द्वेधोद्घात्यं तदुच्यते।

गूढार्थं पदं तत्पर्यायश्चेत्येवं माला प्रश्नोत्तरं चेत्येवं वा माला द्वयोरुक्तिप्रत्युक्ती द्विविधमुद्घात्यकम्। तत्राद्य विक्रमोर्वश्यां यथा-'विदूषक —भो वअस्स को एसो कामो जेण तुमं पि दूमिज्जसि सो किं पुरिसो आदु इत्थिआ त्ति। ('भो वयस्य! क एष कामो येन त्वमपि दूयसे स किं पुरुषोऽथवा स्त्रीति।') राजा—सखे।

> मनोजातिरनाधीना सुखेष्वेव प्रवर्तते।
> स्नेहस्य ललितो मार्गः काम इत्यभिधीयते ॥

विदूषक—एवं पि ण जाणे ('एवमपि न जानामि।') राजा—वयस्य इच्छाप्रभवः स इति।

विदूषक—किं जो जं इच्छादि सो तं कामेदित्ति। ('किं यो यदिच्छति स तत्कामयतीति।') राजा—अथ किम्।

विदूषक—ता जाणिदं जह अहं सूअआरसालाए भोअणं इच्छामि।' ('तज्ज्ञातं यथाऽहं सूपकारशालायां भोजनमिच्छामि।')

जहाँ दो पात्रों की परस्पर बातचीत इस ढङ्ग की पाई जाय, कि वहाँ या तो गूढार्थ पदों तथा उनके पर्याय (अर्थ) की माला बन जाय, या फिर प्रश्न तथा उत्तर की माला पाई जाय। कभी कभी एक पात्र के द्वारा प्रयुक्त गूढार्थ पदों को दूसरा पात्र नहीं समझ पाये, तथा वह उसका व्याख्यान करे, उसके पर्याय का प्रयोग करे, तो वह पहले ढङ्ग का उद्घात्य या उद्घात्यक होता है। कभी २ पात्र अपनी उक्ति में किन्हीं बातों पर प्रश्न पूछकर उसके साथ ही उत्तर देता जाता है, यह प्रश्नोत्तर माला दूसरे ढङ्ग का उद्घात्यक है। इस तरह उद्घात्यक दो तरह का होता है।

पहले ढङ्ग के उद्घात्यक का उदाहरण विक्रमोर्वशीय नाटक से नीचे दिया जा रहा है, जहाँ राजा 'काम' के विषय में गूढार्थ पदों का प्रयोग कर फिर उसका व्याख्यान करता है:—

विदूषक—हे वयस्य, यह 'काम' कौन है, जिससे तुम दुःखी हो रहे हो, यह पुरुष है या स्त्री।

राजा—मित्र, प्रेम का वह सुन्दर मार्ग जो केवल सुख की ओर ही प्रवृत्त होता है, तथा मन में उत्पन्न होता है, काम कहलाता है।

विदूषक—मैं यह भी नहीं जानता।

राजा—मित्र, वह काम इच्छा से उत्पन्न होता है।

विदूषक—तो क्या, जो जिसकी इच्छा करता है, उसकी वह कामना करता है।

राजा—और नहीं तो क्या !

विदूषक—तो समझ गया, जैसे मैं सत्कारशाला (भोजनशाला) में भोजन की इच्छा करता हूँ।'

द्वितीयं यथा पाण्डवानन्दे—

'का श्लाघ्या गुणिनां क्षमा परिभवः को यः स्वकुल्यैः कृतः

किं दुःखं परसंश्रयो जगति कः श्लाघ्यो य आश्रीयते ।

को मृत्युर्व्यसनं शुचं जहति के यैर्निर्जिताः शत्रवः

कैर्विज्ञातमिदं विराटनगरे छन्नस्थितैः पाण्डवैः ॥'

दूसरी तरह के उद्घात्यक का उदाहरण पाण्डवानन्द नाटक के निम्न पद्य के रूप में दिया जा रहा है जहाँ प्रश्नोत्तर की माला है—

सबसे अधिक श्लाघ्य वस्तु क्या है ? गुणियों की क्षमा। परिभव या तिरस्कार किसे कहते हैं ? वह तिरस्कार जो अपने ही कुल के बान्धवों के द्वारा किया गया है। दुःख क्या है ? दूसरे के शरण में रहना ही दुःख है। संसार में प्रशंसनीय कौन है ? जिसका आश्रय लिया जाता है, जिसकी शरण में दूसरा जाता है। मौत किसे कहते हैं ? व्यसन को। शोक का त्याग कौन कर सकते हैं ? जो अपने शत्रुओं को जीत लेते हैं। ये सारी बातें किनने जान ली ? विराटनगर में अज्ञात रूप में छिपकर रहते हुए पाण्डवों ने।

अथावलगितम्—

यत्रैकत्र समावेशात्कार्यमन्यत्प्रसाध्यते ॥ १४ ॥

प्रस्तुतेऽन्यत्र वाऽन्यत्स्यात्तच्चावलगितं द्विधा ।

तत्राद्यं यथोत्तररामचरिते समुत्पन्नवनविहारगर्भदोहदाया सीताया दोहदकार्येऽनु (ण) प्रविश्य जनापवादादरण्ये त्यागः। द्वितीयं यथा छलितरामे—'रामः—लक्ष्मण तातवियुक्तामयोध्यां विमानस्थो नाहं प्रवेष्टुं शक्नोमि तदवतीर्य गच्छामि।

कोऽपि सिंहासनस्याधः स्थितः पादुकयोः पुरः ।

जटावानक्षमाली च चामरी च विराजते ॥'

इति भरतदर्शनकार्यसिद्धिः ।

जहाँ एक ही क्रिया के द्वारा एक कार्य के समावेश से किसी दूसरे कार्य की भी सिद्धि हो जाय, वह पहले ढङ्ग का अवलगित होता है। अथवा एक कार्य के प्रस्तुत होने पर वह न होकर दूसरा हो वह अवलगित का दूसरा प्रकार है। इस तरह अवलगित दो तरह का होता है।

जैसे पहले ढङ्ग के अवलगित का उदाहरण उत्तरचरित (भवभूति के उत्तररामचरित) से दिया जा सकता है, जहाँ वनविहार की दोहद इच्छा वाली गर्भवती सीता को दोहद को पूर्ण करने के व्याज से वन में ले जाकर जनापवाद के कारण वहाँ छोड़ दिया गया है। यहाँ एक कार्य के समावेश (सीतादोहदपूर्ति रूप) से दूसरा कार्य वनत्याग भी सिद्ध हो गया है।

दूसरा प्रकार हम छलितराम[1] नाटक में देख सकते हैं—यहाँ राम इसलिए पैदल जाना चाहते हैं कि पिता से वियुक्त अयोध्या में विमान से प्रवेश करना ठीक नहीं। यहाँ इस प्रस्तुत वस्तु के होते हुए उन्हें आगे भरत के दर्शन (दूसरे कार्य) की सिद्धि हो जाती है।

'राम—लक्ष्मण, पूज्य पिताजी के द्वारा वियुक्त अयोध्या में मैं विमान पर बैठ कर प्रवेश नहीं कर सकता। इसलिए उतर कर पैदल ही चलता हूँ।

१. छलितराम नाटक अनुपलब्ध है, तथा इसके रचयिता का भी पता नहीं।

अरे, सामने सिंहासन के नीचे, पादुकाओं के सामने कोई जटाधारी, अक्षमाला तथा चामर वाला व्यक्ति दिखाई पड़ रहा है। —

अथ प्रपञ्च —

असद्भूतं मिथः स्तोत्रं प्रपञ्चो हास्यकृन्मतः ॥ १५ ॥

असद्भूतेनार्थेन पारदार्यादिनैपुण्यादिना योऽन्योन्यस्तुतिः स प्रपञ्चः । यथा कर्पूरमञ्जर्याम्-भैरवानन्दः—

> रण्डा चण्डा दिक्खिदा धम्मदारा मज्जं मंसं पिज्जए खज्जए अ ।
> भिक्खा भोज्जं चम्मखण्डं च सेज्जा कोलो धम्मो कस्स णो होइ रम्मो ।
> ('रण्डा चण्डा दीक्षिता धर्मदारा मद्यं मांसं पीयते खाद्यते च ।
> भिक्षा भोज्यं चर्मखण्डं च शय्या कौलो धर्मः कस्य न भवति रम्यः ॥')

प्रपञ्च वह वीथ्यङ्ग है, जहाँ पात्र आपस में एक दूसरे की ऐसी अनुचित प्रशंसा करें, जो हास्य उत्पन्न करने वाली हो।

कारिका के असद्भूत अर्थ का तात्पर्य परस्त्रीलोलुपता आदि निपुणता से है, इस ढंग की परस्पर स्तुति जहाँ होगी, वह प्रपञ्च कहलाता है।

जैसे राजशेखर के कर्पूरमञ्जरी सट्टक में कापालिक भैरवानन्द अपने विषय में हास्यमय अनुचित प्रशंसा करते हुए कहता है —

बताइये तो सही, यह कौन धर्म जिसे अच्छा न कहेगा, जहाँ विधवा दीक्षित स्त्रियें धर्मपत्नियाँ बन जाती है, खाने पीने को मांस मद्य मिलता है, भिक्षा का भोजन प्राप्त होता है, चमड़े के टुकड़े की शय्या होती है।

अथ त्रिगतम्—

श्रुतिसाम्यादनेकार्थयोजनं त्रिगतं त्विह ।
नटादित्रितयालापः पूर्वरङ्गे तदिष्यते ॥ १६ ॥

यथा विक्रमोर्वश्याम्—

> 'मत्तानां कुसुमरसेन षट्पदानां
> शब्दोऽयं परभृतनाद एष धीरः ।
> कैलासे सुरगणसेविते समन्तात्
> किंनर्यः कलमधुराक्षरं प्रगीताः ॥'

जहाँ शब्द की समानता के कारण अनेक अर्थों (वस्तुओं) की एक साथ योजना की जाय, वह त्रिगत नामक वीथ्यङ्ग होता है। नट आदि तीन पात्रों के आलाप के कारण पूर्वरङ्ग में भी त्रिगत पाया जाता है।

त्रिगत का उदाहरण विक्रमोर्वशीय नाटक से निम्न पद्य के रूप में दिया गया है। राजा, अप्सराओं के संगीत को सुन कर शब्दसाम्य के आधार पर भ्रमरों के गुञ्जन निनाद तथा कोकिल की काकली की योजना करता है, अतः यह त्रिगत है।

फूलों के रस से मस्त भौंरों का यह गुञ्जन है, यह कोकिल की गम्भीर काकली है। देवताओं के समूह के द्वारा चारों ओर से सेवित कैलाश पर्वत पर किन्नरियाँ रमणीय व मधुर अक्षरों में गा रही है।

अथ छलनम्—

प्रियाभैरप्रियैर्वाक्यैर्विलोभ्य छलनाच्छलम्।

यथा वेणीसंहारे—'भीमार्जुनौ—

कर्ता द्यूतच्छलानां जतुमयशरणोद्दीपनः सोऽभिमानी
राजा दुःशासनादेर्गुरुरनुजशतस्याङ्गराजस्य मित्रम्।
कृष्णाकेशोत्तरीयव्यपनयनपटुः पाण्डवा यस्य दासाः
क्वास्ते दुर्योधनोऽसौ कथयत पुरुषा द्रष्टुमभ्यागतौ स्वः॥'

जहाँ कोई पात्र बाहर से प्रिय लगने वाले, किन्तु वस्तुतः अप्रिय वाक्यों के द्वारा दूसरों का विलोभन करके उनके साथ छल करे, वह छल नामक वीथ्यङ्ग है।

जैसे वेणीसंहार में भीमसेन तथा अर्जुन दुर्योधन को ढूँढते हुए निम्न उक्ति का प्रयोग करते हैं, जो ऐसे अप्रिय वाक्यों से युक्त है, जो बाहर से प्रिय-से मालूम पड़ते हैं:—

द्यूतक्रीडा के समय छल करने वाला, लाक्षागृह को जलाने वाला, दुःशासनादि सौ छोटे भाइयों का पूज्य अग्रज (गुरु), अङ्गराज कर्ण का मित्र, वह अभिमानी राजा दुर्योधन, जो द्रौपदी के बालों व उत्तरीय को खोलने में चतुर है, तथा जिसके पाण्डव सेवक हैं, कहाँ है? हे पुरुषों, हमें बता दो, हम उसे देखने को आये हैं।

अथ वाक्केली—

विनिवृत्त्यास्य वाक्केली द्विस्त्रिः प्रत्युक्तितोऽपि वा॥ १७॥

अस्येति वाक्यस्य प्रक्रान्तस्य साकाङ्क्षस्य विनिवर्तनं वाक्केली द्विस्त्रिर्वा उक्तिप्रत्युक्तयः, तत्राद्या यथोत्तरचरिते—'वासन्ती—

त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं
त्वं कौमुदी नयनयोरमृतं त्वमङ्गे।
इत्यादिभिः प्रियशतैरनुरुध्य मुग्धां
तामेव शान्तमथवा किमतः परेण॥'

उक्तिप्रत्युक्तितो यथा रत्नावल्याम्—'विदूषकः—भोदि मअणिए मं पि एदं चच्चरिं सिक्खावेहि। ('भवति मदनिके मामप्येतां चर्चरीं शिक्षय') मदनिका—हदास ण क्खु एसा चच्चरी। दुवदिखण्डअं क्खु एदम्। ('हताश न खल्वेषा चर्चरी द्विपदीखण्डकं खल्वेतत्।') विदूषकः—भोदि किं एदिणा खण्डेण मोदआ करीअन्ति। ('भवति किमेतेन खण्डेन मोदकाः क्रियन्ते?') मदनिका—णहि, पढीअदि क्खु एदम्।' ('नहि पठ्यते खल्वेतत्।') इत्यादि।

जहाँ वाक्य की विनिवृत्ति पाई जाय, अर्थात् साकाङ्क्ष वाक्य को पूर्ण न कर उसको अधूरा ही कहा जाय तथा उसके भाव को गम्य रख दिया जाय; अथवा जहाँ दो या तीन बार उक्तिप्रयुक्ति का प्रयोग पात्रों द्वारा किया जाय, वहाँ वाक्केली नामक वीथ्यङ्ग होता है।

(इस तरह वाक्केली दो तरह की होती है।)

पहले प्रकार की वाक्केली का उदाहरण उत्तररामचरित के तृतीय अङ्क से दिया गया है, जहाँ सीता के साथ किये गये राम के बर्ताव का वर्णन करते हुए वासन्ती (वनदेवता) राम से कह रही है:—

१ 'छलना' इत्यपि पाठः।

तुमने सीता से कहा था कि तुम मेरा जीवन हो, मेरा दूसरा हृदय हो, मेरे नेत्रों को तृप्त करने वाली चन्द्रिका हो, मेरे अङ्गों को जीवन देने वाला अमृत हो, इस तरह के सैकड़ों प्रिय वाक्यों से उस भोली सीता को भुलावे में डालकर, हाय, तुमने उसी को (बनवास दे दिया), अथवा शान्त हो, इससे आगे के विषय में कहना व्यर्थ है।

दूसरे प्रकार की वाक्केली में दो तीन बार उक्ति प्रत्युक्ति पाई जाती है, जैसे रत्नावली नाटिका के निम्न स्थल में—

विदूषक—हे मदनिके, मुझे भी यह राग (चर्चरी) सिखा दो ना।

मदनिका—मूर्ख यह चर्चरी नहीं है, यह द्विपदीखण्डक[1] है।

विदूषक—अरी, क्या इस खण्ड (शक्कर) में लड्डू बनाये जाते हैं।

मदनिका—नहीं, इसे तो पढ़ा जाता है—गाया जाता है।

अथाधिबलम्

अन्योन्यवाक्याधिक्योक्तिः स्पर्धयाऽधिबलं भवेत्।

यथा वेणीसंहारे—'अर्जुन —

सकलरिपुजयाशा यत्र बद्धा सुतैस्ते
तृणमिव परिभूतो यस्य गर्वेण लोकः।
रणशिरसि निहन्ता तस्य राधासुतस्य
प्रणमति पितरौ वां मध्यमः पाण्डुपुत्रः॥'

जहाँ नाटकीय पात्र एक दूसरे के प्रति वाक्यों का प्रयोग करते समय स्पर्धा से अपने आधिक्य की उक्ति करें उसे अधिबल कहते हैं।

जैसे वेणीसंहार के निम्न स्थल पर अर्जुन, भीम व दुर्योधन का परस्पर वार्तालाप इस ढंग का पाया जाता है कि वे एक दूसरे की स्पर्धा करते हुए अपने आधिक्य की सूचना करते हैं।

अर्जुन—हे पिता-माता, (धृतराष्ट्र व गान्धारी), जिस कर्ण में आपके पुत्रों की समस्त शत्रुओं को जीतने की आशा बँधी हुई थी, और जिसने घमण्ड से सारे संसार को तिनके की तरह नगण्य समझ रखा था, उसी राधापुत्र कर्ण को युद्धस्थल में मारने वाला यह मध्यम पाण्डव अर्जुन आप दोनों को प्रणाम करता है।

इत्युपक्रमे 'राजा—अरे नाहं भवानिव विकत्थनाप्रगल्भः। किन्तु—

द्रक्ष्यन्ति न चिरात्सुप्तं बान्धवास्त्वां रणाङ्गणे।
मद्गदाभिन्नवक्षोऽस्थिवेणिकाभङ्गभीषणम्॥'

इत्यन्तेन भीमदुर्योधनयोरन्योन्यवाक्यस्याधिक्योक्तिरधिबलम्।

राजा—अरे, मैं तुम्हारी तरह आत्मप्रशंसा करने में चतुर नहीं हूँ। लेकिन मेरी गदा से टूटी वक्षःस्थल की हड्डियों के समूह के कारण भीषण दिखाई पड़ते हुए तुम्हें तुम्हारे बान्धव शीघ्र ही युद्धभूमि में सोता पायेंगे।

अथ गण्डः—

गण्डः प्रस्तुतसम्बन्धिभिन्नार्थं सहसोदितम्॥ १८॥

यथोत्तरचरिते—'रामः—

इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयो-
रसावस्याः स्पर्शो वपुषि बहलश्चन्दनरसः।

---

१ चर्चरी, द्विपदीखण्डक आदि गीतों की शैलियाँ हैं, जैसे ध्रुपद, ख्याल, ठुमरी आदि हैं।

'अयं बाहुः कण्ठे शिशिरमसृणो मौक्तिकसरः
किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरहः ॥'

(प्रविश्य) प्रतीहारी—देव उवत्थिदो। ('देव उपस्थितः।') राम—अयि कः? प्रतीहारी—देवस्स आसण्णपरिचारओ दुम्मुहो।' ('देवस्यासन्नपरिचारको दुर्मुखः।') इति।

जहाँ प्रस्तुत विषय में सम्बद्ध अर्थ से भिन्न वस्तु एकदम उपस्थित हो जाय, वहाँ गण्ड होता है।

(गण्ड वस्तुतः वह वाक्य है, जहाँ नाटककार भावी घटना का संकेत किसी भिन्न विषय पर दे जाता है। पाश्चात्य नाटकों की 'ड्रेमेटिक आयरनी' से यह कुछ कुछ मिलता जुलता है।)

जैसे उत्तररामचरित में राम के 'इसका विरह बड़ा असह्य है' यह कहते ही 'देव यह उपस्थित है' इस वाक्य के द्वारा भिन्नार्थ की एकदम उपस्थिति पाई जाती है।

राम—यह सीता मेरे घर की लक्ष्मी है, मेरी आँखों को आनन्द देने वाली अमृत की शलाका है। इसका स्पर्श अङ्गों को इतना शीतल लगता है जैसे सघन चन्दन का लेप हो। सीता का यह बाहु कण्ठ में इस तरह मालूम देता है जैसे शीतल तथा कोमल मोतियों की माला हो। सीता की कौन वस्तु सुन्दर तथा प्यारी नहीं लगती, केवल इसका विरह ही असह्य है।

प्रतीहारी (आकर)—महाराज, उपस्थित है।

राम—अरे कौन।

प्रतीहारी—महाराज, आपका सेवक दुर्मुख।

अथावस्यन्दितम्—

रसोक्तस्यान्यथा व्याख्या यत्रावस्यन्दितं हि तत्।

यथा छलितरामे—'सीता—जाद कल्लं क्खु तुम्हेहिं अजुज्झाए गन्तव्वं तहिं सो राआ विणएण णमिदव्वो। ('जात कल्यं खलु युवाभ्यामयोध्यायां गन्तव्यं तर्हि स राजा विनयेन नमितव्यः।') लव—अम्ब किमावाभ्यां राजोपजीविभ्यां भवितव्यम्। सीता—जाद सो क्खु तुम्हाणं पिदा। ('जात स खलु युवयोः पिता।') लव—किमावयो रघुपतिः पिता? सीता—(साशङ्कम्) जाद ण क्खु परं तुम्हाणं, सअलाए ज्जेव्व पुहवीए।' ('जात न खलु परं युवयोः, सकलाया एव पृथिव्याः।') इति।

जहाँ भावावेश (रस) के कारण किसी वाक्य का प्रयोग कर दिया जाय, और बाद में उस वाक्य की व्याख्या दूसरे ही ढङ्ग से कर वास्तविकता को छिपा दिया जाय उसे अवस्यन्दित कहते हैं।

जैसे छलितराम नाटक के निम्न स्थल में भावावेश में लव के सम्मुख सीता के मुँह से यह बात निकल जाती है कि 'राम तुम्हारे पिता हैं', पर वह बाद में इसकी व्याख्या दूसरे ढङ्ग से कर देती है, कि वे तुम्हारे ही नहीं सारी पृथ्वी के पिता हैं।

सीता—तात, कल तुम्हें अयोध्या जाना है, वहाँ राजा को नम्रता से प्रणाम करना।

लव—माता, क्या हमें राजा के नौकर बनना है?

सीता—तात, वे तुम्हारे पिता हैं।

लव—क्या रघुपति हमारे पिता हैं?

सीता—(आशङ्का के साथ) तात तुम्हारे ही नहीं, सारी पृथ्वी के।

अथ नालिका—

सोपहासा निगूढार्था नालिकैव प्रहेलिका ॥ १९ ॥

यथा मुद्राराक्षसे—'चरः—हंहो बह्मण मा कुप्प किं पि तुह उवज्झाओ जाणादि किं पि अह्मारिसा जणा जाणन्ति।' ('हंहो ब्राह्मण मा कुप्य, किमपि तवोपाध्यायो जानाति किमप्यस्मादृशा जना जानन्ति।') शिष्यः—किमस्मदुपाध्यायस्य सर्वज्ञत्वमपहर्तुमिच्छसि। चरः—यदि दे उवज्झाओ सव्वं जाणादि ता जाणादु दाव कस्स चन्दो अणभिप्पेदो त्ति। ('यदि तव उपाध्यायः सर्वं जानाति तज्जानातु तावत्, कस्य चन्द्रोऽनभिप्रेत इति।') शिष्यः—किमनेन ज्ञातेन भवति।' इत्युपक्रमे 'चाणक्यः—चन्द्रगुप्तादपरक्तान्पुरुषाञ्जानामि।' इत्युक्तं भवति।

हास्य से युक्त, छिपे अर्थ वाली पहेली भरी उक्ति को ही नालिका कहते हैं।

जैसे विशाखदत्त के मुद्राराक्षस नाटक में हास्य से युक्त तथा गूढार्थ पहेली 'बताओ चन्द्र किसे अच्छा नहीं लगता' इसका प्रयोग चर के द्वारा किया गया है जहाँ चन्द्र का गूढार्थ चन्द्रगुप्त (मौर्य) से है।

चरः—अरे ब्राह्मण, गुस्सा न करो, कुछ तो तुम्हारे आचार्य चाणक्य जानते हैं, कुछ हम जैसे लोग ही जानते हैं।

शिष्य—क्या तुम हमारे गुरु की सर्वज्ञता को चुनौती देने की इच्छा करते हो।

चर—अगर तुम्हारे आचार्य सारी बातें जानते हैं, तो बतावें कि किस व्यक्ति को चन्द्र (चन्द्रमा; चन्द्रगुप्त) अच्छा नहीं लगता।

शिष्य—इसे जानने से क्या फायदा।

× × ×

चाणक्य—चन्द्रगुप्त से अप्रसन्न लोगों को मैं जानता हूँ।

अथाऽसत्प्रलापः—

असम्बद्धकथाप्रायोऽसत्प्रलापो यथोत्तरः[1]।

चासम्बद्धार्थत्वेऽसङ्गतिर्नाम वाक्यदोष उक्तः। तत्र—उत्स्वप्नायितमदोन्मादशैशवादीनामसम्बद्धप्रलापितैव विभावो यथा—

> 'अर्चिष्मन्ति विदार्य वक्त्रकुहराण्यासृक्कतो वासुके-
>
> रङ्गुल्या विषकर्बुरान्गणयतः संस्पृश्य दन्ताङ्कुरान्।
>
> एकं त्रीणि नवाष्ट सप्त षडिति प्रध्वस्तसंख्याक्रमा
>
> वाचः क्रौञ्चरिपोः शिशुत्वविकलाः श्रेयांसि पुष्णन्तु वः॥'

जहाँ उटपटाँग असम्बद्ध उक्ति तथा प्रलाप पाया जाय, वह असत्प्रलाप नामक वीथ्यङ्ग होता है।

असम्बद्ध प्रलपित के बारे में यह शङ्का की जा सकती है, कि नाटक में इसका पाया जाना दोष है, क्योंकि असम्बद्ध कथा में असङ्गति नामक वाक्यदोष आ जायगा। इस शङ्का का निराकरण करते हुए वृत्तिकार धनिक कहते हैं कि स्वप्नादि, मदमत्त, पागल तथा बालक पात्रों की बातचीत में असम्बद्ध प्रलपित पाया जाना स्वाभाविक ही है।

जैसे निम्न स्थल में बालक कार्तिकेय का असम्बद्ध प्रलाप स्वाभाविक है।

बालक कार्तिकेय बालकपन के कारण पिता शिव के गले में लटकते हुए वासुकी के

---

1. 'यथोत्तरम्' इत्यपि पाठः।

प्रकाशमय मुखों को ओठों पर ला जोड़ देते हैं। उसके बाद वे उसके अहरीले तथा चित्रविचित्र दाँतों के अङ्कुरों को अंगुली से छू-छू कर गिनते हैं:—एक, तीन, दो, आठ, सात, छः। इस तरह कार्त्तिकेय की गणना में संख्या का कोई क्रम नहीं पाया जाता। क्रौञ्च के शत्रु कार्त्तिकेय की संख्या व्यतिक्रमयुक्त बचपन से तुतलाई हुई वाणी आप लोगों के कल्याण को पुष्ट तथा अभिवृद्ध करे।

यथा च—

> 'हंस प्रयच्छ मे कान्तां गतिस्तस्यास्त्वया हृता।
> विभावितैकदेशेन देयं यदभियुज्यते॥'

यथा वा—

> 'भुक्ता हि मया गिरयः स्नातोऽहं वह्निना पिबामि वियत्।
> हरिहरहिरण्यगर्भा मत्पुत्रास्तेन नृत्यामि॥'

और जैसे प्रिया विरह के कारण उन्मत्त पुरूरवा की इस उक्ति में—

'हे हंस, मुझे मेरी प्रिया को लौटा दे, उसकी चाल तूने छीन ली है। मेरी प्रिया के एकदेश (गति) को लेने वाले तेरे द्वारा मुझे जो कुछ लौटाने योग्य है, वही लौटा देना ठीक होगा।'

अथवा निम्न उन्मादोक्ति में—

मैं पर्वतों को खा चुका हूँ, आग से नहा चुका हूँ, आकाश को पी रहा हूँ। ब्रह्मा, विष्णु, महेश मेरे पुत्र हैं। इसलिए मैं नाच रहा हूँ।

अथ व्याहारः—

> अन्यार्थमेव व्याहारो हास्यलोभकरं वचः॥ २०॥

यथा मालविकाग्निमित्रे लास्यप्रयोगावसाने—'(मालविका निर्गन्तुमिच्छति) विदूषक—मा दाव उवएससुद्धा गमिस्ससि।' ('मा तावद् उपदेशशुद्धा गमिष्यसि') इत्युपक्रमे 'गणदास—(विदूषकं प्रति) आर्य उच्यतां यस्त्वया क्रमभेदो लक्षितः। विदूषक—पढमं पच्चूसे बम्हणस्स पूआ होदि सा तए लङ्घिदा (मालविका स्मयते)।' ('प्रथमं प्रत्यूषे ब्राह्मणस्य पूजा भवति सा त्वया लङ्घिता।') इत्यादिना नायकस्य विस्रब्धनायिकादर्शनप्रयुक्तेन हास्यलोभकारिणा वचनेन व्याहारः।

जहाँ हँसी के लोभ को उत्पन्न करने वाले ऐसे वाक्य का प्रयोग हो, जिसका अर्थ कुछ और ही हो, वह व्याहार कहलाता है।

जैसे मालविकाग्निमित्र में मालविका के द्वारा लास्य के प्रदर्शन किये जाने के बाद वह जाना चाहती है। इस पर विदूषक कहता है—

'तुम उपदेश से शुद्ध होकर (हमसे यह सीख कर) न चली जाना।

गणदास—(विदूषक से) आर्य कोई गलती हुई हो तो कहें।

विदूषक—पहले पहल प्रातः काल में ब्राह्मण की पूजा की जाती है। उसने उस पूजा का उल्लङ्घन किया है।

(मालविका मुसकुराती है।)

यहाँ मालविका को विश्वास में डाल कर नायक को उसका दर्शन कराने के लिए प्रयुक्त वचन का प्रयोग विदूषक ने किया है, जो हास्यकारी है। अतः यहाँ व्याहार नामक वीथ्यङ्ग है।

अथ मृदवम्—

दोषा गुणा गुणा दोषा यत्र स्युर्मृदवं हि तत् ।

यथा शाकुन्तले—

'मेदश्छेदकृशोदरं लघु भवत्युत्थानयोग्यं वपुः
सत्त्वानामुपलक्ष्यते विकृतिमच्चित्तं भयक्रोधयोः ।
उत्कर्षः स च धन्विनां यदिषवः सिध्यन्ति लक्ष्ये चले
मिथ्यैव व्यसनं वदन्ति मृगयामीदृग्विनोदः कुतः ॥'

इति मृगयादोषस्य गुणीकारः ।

जहाँ कोई पात्र गुणों को दोष बता कर तथा दोषों को गुण बता कर कहे, वह मृदव वीथ्यङ्ग है।

जैसे शाकुन्तल के इस पद्य में राजा मृगया के दोषों को गुणों के रूप में रखता है:—

लोग इस मृगया को झूठ में ही व्यसन (बुरी आदत) बताया करते हैं। भला इस जैसा आनन्द कहाँ मिल सकता है। देखो, मृगया से शरीर की सारी चर्बी कम हो जाती है, पेट पतला हो जाता है, तथा शरीर उठने बैठने के योग्य हो जाता है। दूसरी ओर मृगया खेलने से जङ्गली पशुओं के चित्त व आकृति में भय तथा क्रोध के समय क्या-क्या विकार होते हैं, इसका ज्ञान प्राप्त होता है। तीसरे, मृगया खेलने में चञ्चल लक्ष्य को विद्ध करना पड़ता है, अतः उसके बाण चञ्चल लक्ष्य को विद्ध करने में सिद्ध हो जाते हैं, और यह धनुर्धारियों की बहुत बड़ी विशेषता है।

यथा च—

'सततमनिर्वृतमानसमायाससहस्रसङ्कुलक्लिष्टम् ।
गतनिद्रमविश्वासं जीवति राजा जिगीषुरयम् ॥'

इति राज्यगुणस्य दोषीभावः ।

अथवा जैसे निम्न पद्य में राज्य के गुणों को दोष के रूप में वर्णित किया गया है—

शत्रुओं को जीतने की इच्छा वाला यह राजा बड़े कष्ट के साथ जी रहा है—इसका मन कभी शान्त व स्थिर नहीं रहता, अनेक व्यापार इसे क्लेश दिया करते हैं, इसे न तो नींद ही आती है, न किसी के प्रति यह विश्वास ही करता है।

उभयं वा—

'सन्तः सच्चरितोदयव्यसनिनः प्रादुर्भवद्यन्त्रणाः
सर्वत्रैव जनापवादचकिता जीवन्ति दुःखं सदा ।
अव्युत्पन्नमतिः कृतेन न सता नैवासता व्याकुलो
युक्तायुक्तविवेकशून्यहृदयो धन्यो जनः प्राकृतः ॥'

इति प्रस्तावनायाम् ।

कभी-कभी दोषों—गुणों का दोषीभाव तथा दोषों का गुणीभाव एक-एक साथ भी पाये जा सकते हैं:—

सच्चरित्रता के उदय की इच्छा वाले तथा इसीलिए सदा दुःखी रहने वाले सज्जन लोग, जो हमेशा लोगों के द्वारा की गई निन्दा से डरा करते हैं, बड़े दुःख व कष्ट के साथ जीवनयापन करते हैं। वस्तुतः सौभाग्यशाली तो वह प्राकृत (अज्ञानी) पुरुष है, जो भले

भी बात को भी नहीं सोच पाता, जो अच्छे या बुरे काम से कभी व्याकुल नहीं होता और भले बुरे के ज्ञान से निस्पृह हृदय शून्य रहता है।

एवामन्यतमेनार्थं पात्रं वाक्षिप्य सूत्रभृत् ॥ २१ ॥
प्रस्तावनान्ते निर्गच्छेत्ततो वस्तु प्रपञ्चयेत् ।

सूत्रधार इस प्रकार प्ररोचना, वीथी, प्रहसन, आमुख आदि किसी के द्वारा (भारती वृत्ति का आश्रय लेते हुए) काव्यार्थ अथवा नाटकीय पात्र की सूचना दे। उसका आक्षेप तथा परिचय दे देने पर प्रस्तावना के अन्त में वह रङ्गमञ्च से निष्क्रान्त हो जाय तथा तदनन्तर कथावस्तु को प्रपञ्चित करे।

तत्र—अभिगम्यगुणैर्युक्तो धीरोदात्तः प्रतापवान् ॥ २२ ॥
कीर्तिकामो महोत्साहस्त्रय्यास्त्राता महीपतिः ।
प्रख्यातवंशो राजर्षिर्दिव्यो वा यत्र नायकः ॥ २३ ॥
तत्प्रख्यातं विधातव्यं वृत्तमत्राधिकारिकम् ।

यत्रेतिहासे सत्यवागसम्वादकारिनीतिशास्त्रप्रसिद्धाभिगामिकादिगुणैर्युक्तो रामायणमहाभारतादिप्रसिद्धो धीरोदात्तो राजर्षिर्दिव्यो वा नायकस्तत्प्रख्यातमेवात्र नाटक आधिकारिकं वस्तु विधेयमिति ।

यहाँ नाटक (रूपकविशेष) ही का प्रकरण चल रहा है। अतः नाटक के ही नायक तथा तत्सम्बन्ध वस्तु का ही सङ्केत करते हुए कहते हैं—नाटक का नायक या तो प्रसिद्ध कुल में उत्पन्न राजर्षि भूपति होता है, जो उत्कृष्ट गुणों से युक्त होता है, धीरोदात्त प्रकृति का तथा प्रतापशील होता है। वह यश तथा कीर्ति की कामना किया करता है, उत्साह से युक्त होता है तथा तीनों वेदों (वैदिक परम्परा) का रक्षक होता है। अथवा नाटक का नायक कोई दिव्य-देवता-हो सकता है, जो इन सभी विशेषताओं से युक्त होता है। उस नायक के विषय में इतिहास पुराणादि में प्रसिद्ध कथावस्तु को ही नाटक की आधिकारिक वस्तु रखना चाहिए। (यदि कवि उसके सम्बन्ध में रसानुकूल कोई कल्पित वस्तु का सन्निवेश करना चाहता है, तो वह प्रासङ्गिक रूप में ही की जानी चाहिए।) जिस इतिहास प्रसिद्ध (प्रख्यात) वृत्त में इस तरह का, इन गुणों व विशेषताओं से सम्पन्न, नायक हो, वही वृत्त नाटक के उपयुक्त होता है।

जिस कथा (इतिवृत्त) में सत्यवाणी नीतिशास्त्र में प्रसिद्ध उन गुणों से युक्त तथा अनुचित कार्य न करने वाला रामायण महाभारतादि बृहत्कथा आदि ग्रन्थों में भी—में प्रसिद्ध धीरोदात्त कोटि का राजा या दिव्य नायक पाया जाता है, उसी प्रसिद्ध कथा को यहाँ नाटक की आधिकारिक कथावस्तु बनाना ठीक होगा।

(जैसे शाकुन्तल की कथा का नायक दुष्यन्त धीरोदात्त राजर्षि है, कथा महाभारत में प्रसिद्ध है। उत्तररामचरित की कथा भी रामायणादि में प्रख्यात है, तथा इसके नायक धीरोदात्त राजर्षि हैं, वैसे अवतार के कारण उन्हें दिव्यशक्ति सम्पन्न होने से दिव्य भी माना जा सकता है। मुद्राराक्षस का नायक चन्द्रगुप्त धीरोदात्त राजा अवश्य है यह दूसरी बात है कि उसमें—जिस रूप में वह वहाँ चित्रित हुआ है—उच्च कुलीनता नहीं मिलती है। फिर भी नन्द की मुरा दासी के पुत्र होने के कारण—प्रख्यातवंशत्व उसमें घटित हो ही जाता है। कथा भी बृहत्कथादि में प्रख्यात है ही।)

यत्तत्रानुचितं किञ्चिन्नायकस्य रसस्य वा ॥ २४ ॥
विरुद्धं तत्परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत् ।

यथा छद्मना वालिवधो मायुराजेनोदात्तराघवे परित्यक्तः । वीरचरिते तु रावणसौहृदेन वाली रामवधार्थमागतो रामेण हत इत्यन्यथा कृतः ।

नायक की प्रकृति (धीरोदात्तता) तथा नाटक के प्रमुख रस (वीर, या शृङ्गार[1]) के प्रतिकूल जो कोई बात उस इतिवृत्त में पाई जाती हो, कवि को चाहिए कि उसे इस तरह से परिवर्तित कर दे कि नायक के चरित्र का वह दोष न रहे, या रस का वह प्रतिकूल तत्त्व हट जाय। इस तरह की जो कोई अनुचित बात हो या तो उसे छोड़ ही दे या परिवर्तित करके नये रूप में रख दे।

जैसे मायुराज ने अपने नाटक उदात्तराघव में राम के द्वारा छल से बालि का वध सर्वथा छोड़ दिया है, उसने इस घटना का संकेत ही नहीं दिया है। भवभूति के वीरचरित में रावण की मित्रता के कारण बाली राम के वध के लिए आता है, और राम उसे मार देते हैं, इस तरह यह घटना बदल दी गई है।

यहाँ ध्यान देने की बात है कि राम जैसे विष्णवतार तथा धीरोदात्त राजर्षि के उज्ज्वल तथा सात्त्विक चरित्र में बालि को छल से मारना कलङ्क है।

(इस नीति का दूसरा उदाहरण अभिज्ञान शाकुन्तल से ले सकते हैं। पद्मपुराण में जहाँ से यह कथा ली गई है दुर्वासा वाली घटना-शाप-का उल्लेख नहीं। इस प्रकार शकुन्तला को बिना किसी कारण भूल जाना दुष्यन्त की कामुकता व लम्पटता को सिद्ध कर उसके धीरोदात्तत्व को दूषित कर देता है। कविवर कालिदास ने धीरोदात्त दुष्यन्त के चरित्र को अकलुषित रखने के लिए दुर्वासा शाप की कल्पना की है:—स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि सन्, कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव ॥)

आद्यन्तमेवं निश्चित्य पञ्चधा तद्विभज्य च ॥ २५ ॥
खण्डशः सन्धिसंज्ञांश्च विभागानपि खण्डयेत् ।

अनौचित्यरसविरोधपरिहारपरिशुद्धीकृतसूचनीयदर्शनीयवस्तुविभागफलानुसारेणोपक्षिप्तबीजबिन्दुपताकाप्रकरीकार्यलक्षणार्थप्रकृतिकं पञ्चावस्थानुगुण्येन पञ्चधा विभजेत् । पुनरपि चैकैकस्य भागस्य द्वादश त्रयोदश चतुर्दशेत्येवमङ्गसंज्ञान् सन्धीनां विभागान्कुर्यात् ।

नाटक के रचयिता को चाहिए कि उस प्रख्यात कथा का आदि व अन्त कहाँ रखेगा इसका निश्चय कर ले। नाटक किस विशेष घटना से आरम्भ करेगा, और कहाँ जाकर समाप्त करेगा, इसे निश्चित कर लेने पर उसे सारी कथा को पाँच भागों में बाँट लेना चाहिए। ये पाँच खण्ड ही पाँच सन्धियाँ—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श, व निर्वहण हैं। इन सन्धियों को विभागों, अङ्गों में भी विभाजित कर देना चाहिए।

जब रस व नायक के अनौचित्य व विरोध के परिहार से नाटकीय इतिवृत्त परिशुद्ध हो जाय तथा कवि इस बात का विभाग कर ले कि कथावस्तु में किन किन बातों को वह रङ्गमंच पर दिखाना है, किन-किन बातों को नहीं (अर्थात् किन-किन को विष्कम्भकादि के द्वारा सूचना ही देना है)। इसके अनुसार वह इतिवृत्त में बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी तथा कार्य इन अर्थ प्रकृतियों की कल्पना करे, इस प्रकार की उपस्थित वस्तु को आरम्भादि पाँच अवस्थाओं के अनुकूल पाँच टुकड़ों में—मुखादि पाँच सन्धियों में—बाँट दे। फिर इसके बाद

१. दशरूपककार धनञ्जय शान्त को रस नहीं मानते, अतः यहाँ इसे नहीं लिखा है। हम नाटक में शान्त के सही रूप को भी स्वीकार करते हैं।

मुख व गर्भसन्धि को बारह, प्रतिमुख व विमर्श को तेरह तथा निर्वहण सन्धि को चौदह अङ्गों में विभक्त कर दे।

[नाटकीय कथावस्तु के आरम्भ से लेकर अन्त के विभागों को हम एक रेखाचित्र के द्वारा व्यक्त कर सकते हैं।



नाटकीय कथावस्तु एक सरल या सीधी रेखा की तरह एक ही दिशा में नहीं चलती। प्रतिमुख तक वह सीधी चलती है और फिर वह फलप्राप्ति की इच्छा में उन्नतिशील होती है। गर्भसन्धि इसकी चरम सीमा है जिसके अन्तर्गत 'संघर्ष' की स्थिति पाई जाती है। तदनन्तर वह नीचे आती है। विमर्श के बाद फिर वह सीधी होकर नायक के कार्य तथा फलप्राप्ति की ओर उन्मुख होती है। पाश्चात्य नाट्यशास्त्रियों में कुछ लोग इसी तरह की पाँच स्थितियाँ नाटक की कथावस्तु में मानते हैं। यह दूसरी बात है कि वहाँ अन्त सदा सुखान्त न होता हो। कुछ लोग तीन ही अवस्थायें मानते हैं—आरम्भ (Begining), संघर्ष तथा उसकी चरम स्थिति (Climax) तथा अन्त (Denovement)]

चतुःषष्टिस्तु तानि स्युरङ्गानीत्यपरं तथा ॥ २६ ॥
पताकावृत्तमप्यूनमेकाद्यैरनुसन्धिभिः ।
अङ्गान्यत्र यथालाभमसन्धिं प्रकरीं न्यसेत् ॥ २७ ॥

अपरमपि प्रासङ्गिकमितिवृत्तमेकाद्यैरनुसन्धिभिरूनमिति प्रधानेतिवृत्तादेकद्वित्र्यादिभिरनुसन्धिभिर्न्यूनं पताकेतिवृत्तं न्यसनीयम्। अङ्गानि च प्रधानाविरोधेन यथालाभं न्यसनीयानि। प्रकरीतिवृत्तं त्वपरिपूर्णसन्धि विधेयम्।

इस प्रकार आधिकारिक इतिवृत्त के ६४ अङ्ग होते हैं। दूसरा प्रासङ्गिक इतिवृत्त है। इसके पताका नामक भेद में पाँचों सन्धियाँ हों यह आवश्यक नहीं। वह प्रधान वृत्त की अपेक्षा, एक, दो, तीन या चार सन्धियों से न्यून हो सकता है। इसमें यथावश्यक रूप से अङ्गों का समावेश हो सकता है। प्रासङ्गिक कथा के प्रकरी नामक भेद में सन्धिसन्निवेश नहीं होना चाहिए।

दूसरा प्रासङ्गिक इतिवृत्त एकादि सन्धियों से न्यून हो अर्थात् प्रधान इतिवृत्त से एक, दो, तीन या चार अनुसन्धियों से न्यून रूप में पताका इतिवृत्त का विन्यास करना चाहिए। इसके अङ्ग यथावश्यक रूप में रखे जा सकते हैं, इस तरह कि प्रधान इतिवृत्त से उनका विरोध न पड़े। प्रकरी नामक प्रासङ्गिक इतिवृत्त में सन्धि की परिपूर्णता की जरूरत नहीं अतः इसमें सन्धि का विधान नहीं होना चाहिए।

तत्रैव विमर्शे—

आदौ विष्कम्भकं कुर्यादङ्कं वा कार्ययुक्तितः ।

इयमत्र कार्ययुक्तिः—

अपेक्षितं परित्यज्य नीरसं वस्तुविस्तरम् ॥ २८ ॥

यदा सन्दर्शयेच्छेषं कुर्याद्विष्कम्भकं तदा।
यदा तु सरसं वस्तु मूलादेव प्रवर्तते ॥ २९ ॥
आदावेव तदाङ्कः स्यादामुखाक्षेपसंश्रयः

इतिवृत्त का इस प्रकार विभाजन कर लेने पर कवि नाटक के आरम्भ में कार्य की युक्ति के अनुसार या तो विष्कम्भक की योजना करे या अङ्क की व्यवस्था करे। यह योजना कार्य के आधार पर होगी।

यदि आरम्भिक कथांश नीरस है किन्तु उनकी आवश्यकता नाटक की वस्तु को गतिविधि देने के लिए होती ही है, तो ऐसी दशा में कवि को चाहिए कि नीरस किन्तु आवश्यक वस्तु विस्तार को छोड़कर जब वह कथावस्तु के शेषांश को रङ्गमञ्च पर दिखाना चाहे तो वह उस नीरस कथांश की सूचना देने के लिए विष्कम्भक का सन्निवेश करे। यदि कथावस्तु में आरम्भ से ही रसमय वस्तु पाई जाती है, तो ऐसी दशा में विष्कम्भक का प्रयोग करना ठीक नहीं। ऐसी स्थिति में शुरू में ही अङ्क का सन्निवेश करना चाहिए तथा प्रयोगातिशय आदि आमुख भेदों के आधार पर आरम्भ में ही पात्रप्रवेश कर देना चाहिए।

[जैसे मालतीमाधव के आरम्भ में नीरस वस्तु की सूचना के लिए विष्कम्भक की योजना पाई जाती है, जहाँ भगवती (तापसी) आकर भूत वस्तु की सूचना देती है, तब प्रकरण आरम्भ होता है। शाकुन्तल में आरम्भ से ही सरस कथावस्तु का सन्निवेश पाया जाता है, अतः नाटक अङ्क से शुरू किया गया है।]

स च—

प्रत्यक्षनेतृचरितो बिन्दुव्याप्तिपुरस्कृतः ॥ ३० ॥
अङ्को नानाप्रकारार्थसंविधानरसाश्रयः।

रङ्गप्रवेशे साक्षान्निर्दिश्यमाननायकव्यापारो बिन्दूपक्षेपार्थपरिमितोऽनेकप्रयोजनसंविधानरसाधिकरण उत्सङ्ग इवाङ्कः।

विष्कम्भक व अङ्क का भेद बताते हुए कहते हैं कि अङ्क में नाटकादि के नायक का चरित प्रत्यक्ष रूप से पाया जाता है। या तो वह स्वयं मञ्च पर आता है या मञ्च पर घटित घटना उसके चरित्र से साक्षात् सम्बद्ध होती है। उसमें बिन्दु नामक अर्थ प्रकृति व्याप्त पाई जाती है तथा वह नाना प्रकार के नाटकीय प्रयोजन के सम्पादन तथा रस दोनों का आश्रय होता है।

पात्र के रङ्गमञ्च पर प्रवेश करने पर जहाँ साक्षात् रूप से नायक का व्यापार मञ्च पर दिखाया जाता है, जहाँ बिन्दु का उपक्षेप पाया जाता है, तथा अनेक प्रकार के प्रयोजन का विधान रहता है तथा जिसमें रस स्थित रहता है, उसे अङ्क कहते हैं। चूँकि इसमें बिन्दु, नायक का व्यापार तथा रसादि ठीक उसी तरह रहते हैं जैसे गोद में—इसीलिए इसे 'अङ्क' (गोद, उत्सङ्ग) (उपमान के आधार पर) कहा जाता है।

तत्र च—

अनुभावविभावाभ्यां स्थायिना व्यभिचारिभिः ॥ ३१ ॥
गृहीतमुक्तैः कर्तव्यमङ्गिनः परिपोषणम्।

अङ्गिन इत्यङ्गिरसस्थायिनः स्थायिनेति रसान्तरस्थायिनो ग्रहणम्। गृहीतमुक्तैः परस्परव्यतिकीर्णैरित्यर्थः।

इस प्रकार अङ्कव्यवस्था के बाद कवि को चाहिए कि नाटक के अङ्गी रस को पुष्ट

बनावे, उसका परिपोषण करे। वह रस की पुष्टि वह अनुभाव, विभाव तथा व्यभिचारिभाव एवं स्थायी भाव के द्वारा करे। इनमें से वह कुछ को ले सकता है, कुछ को छोड़ सकता है, इस तरह उन विभिन्न अनुभावों, विभावों तथा सञ्चारियों का ग्रहण व त्याग वह आवश्यकतानुसार कर सकता है।

यहाँ मूलकारिका के 'अङ्गिन' रस पद से अङ्गी रस के साथ ही साथ उसके स्थायीभाव का भी ग्रहण हो जाता है, इसलिए कारिका 'स्थायिना' पद से रसान्तरस्थायी-अङ्गिस्थायी से भिन्न स्थायीभाव-का ग्रहण करना चाहिए। गृहीतमुक्त का अर्थ परस्पर अभिन्न होने से है।

न चातिरसतो वस्तु दूरं विच्छिन्नतां नयेत् ॥ ३२ ॥

रसं वा न तिरोदध्याद्वस्त्वलङ्कारलक्षणैः।

यथासंख्यक्रोपमादिलक्षणैर्भूषणादिभिः।

रस का इतना अधिक परिपोष भी न किया जाय कि कथावस्तु ही विच्छिन्न हो जाय, और न वस्तु, अलङ्कार या नाटकीय लक्षणों[1] से रस को ही तिरोहित कर दिया जाय।

[नाटक के सम्बन्ध में रस व वस्तु दोनों महत्त्वपूर्ण वस्तु हैं, अतः दोनों में समुचित सन्तुलन करने से ही नाटक की परिपूर्णता होगी।]

एको रसोऽङ्गी कर्तव्यो वीरः शृङ्गार एव वा ॥ ३३ ॥

अङ्गमन्ये रसाः सर्वे कुर्यान्निर्वहणेऽद्भुतम्।

ननु च रसान्तरस्थायिनेत्यनेनैव रसान्तराणामङ्गत्वमुक्तम्, तत्र-यत्ररसान्तरस्थायी स्वानुभावविभावव्यभिचारियुक्तो भूयसोपनिबध्यते तत्र रसान्तराणामङ्गत्वम्, केवलस्थाय्युपनिबन्धे तु स्थायिनो व्यभिचारितैव।

नाटक में अङ्गी रस एक ही उपनिबद्ध होना चाहिए; वह या तो शृङ्गार हो सकता है या वीर[2]। अङ्ग रूप में और सभी रसों का निबन्धन हो सकता है। निर्वहण सन्धि में अद्भुत रस का उपनिबन्धन किया जाना चाहिए।

यहाँ दूसरे रसों के अङ्गत्व के विषय में इस कारिका में जो उल्लेख किया गया है, उसमें पूर्वपक्षी को पुनरुक्ति दोष दिखाई पड़ता है। इसी शङ्का को उठाते हुए यह कहता है।

ऊपर की ३१ वीं कारिका में स्थायी (भाव) का रसान्तरगतत्व निर्दिष्ट हो चुका है। स्थायी का ही परिपाक रस है, अतः उससे ही अङ्गी रस में दूसरे रसों की अङ्गता स्पष्ट हो ही जाती है। (फिर-फिर से रसान्तरों का अङ्गी रस में अङ्गत्व निर्दिष्ट करना, पुनरुक्ति नहीं है, तो और क्या ?)

इसी का उत्तर [illegible] हुए सिद्धान्तपक्षी बताता है [illegible] वस्तुतः यह बात नहीं है। ३१ वीं कारिका के स्थायी के उल्लेख में रस का समावेश नहीं होता। क्योंकि दोनों की अवस्था भिन्न है। जहाँ किसी दूसरे रस का स्थायी इस ढंग से उपनिबद्ध किया जाय, कि वह अपने अनुकूल अनुभाव, विभाव तथा व्यभिचारी से युक्त हो, तथा उसका निबन्धन अच्छी तरह किया गया हो, वहाँ दूसरे रसों का अङ्गत्व माना जायगा। जहाँ केवल (अनुभावादिहीन) स्थायी का निबन्धन हो वहाँ स्थायी का अङ्गत्व है, तथा वहाँ स्थायी भाव एक प्रकार से व्यभिचारी भाव का ही काम करता है।

---

१. नाट्यशास्त्र में भरत ने नाटकों के सम्बन्ध में ३६ लक्षण माने हैं, इन्हें नाट्यालङ्कार भी कहते हैं। अलङ्कारों से तात्पर्य शब्दालङ्कार व अर्थालङ्कार से है।

२. ध्यान रखिये धनञ्जय शान्त रस को नहीं मानते, न उसका सन्निवेश अङ्गी रूप में नाटक में ही मानते हैं।

दूराध्वानं वधं युद्धं राज्यदेशादिविप्लवम् ॥ ३४ ॥
संरोधं भोजनं स्नानं सुरतं चानुलेपनम् ।
अम्बरग्रहणादीनि प्रत्यक्षाणि न निर्दिशेत् ॥ ३५ ॥

अङ्केनैवोपनिबध्नीत, प्रवेशकादिभिरेव सूचयेदित्यर्थः ।

इस प्रकार रस का वस्तु में सन्निवेश कर लेने पर, कवि को इसे समझ लेना होगा कि कुछ बातें मञ्च पर बताने की नहीं है; यथा—लम्बी सफर, वध, युद्ध, राज्य व देश की क्रान्ति, पुरी का घेरा डाल देना, भोजन, स्नान, सुरत, उबटन लगाना, वस्त्रों का पहनना आदि वस्तुओं को प्रत्यक्ष रूप से मञ्च पर नहीं बताना चाहिए।[१]

इन बातों का उपनिबन्धन अङ्कों के द्वारा कभी न करे, हाँ प्रवेशकादि सूचकों के द्वारा इनकी सूचना दी जा सकती है।

नाधिकारिवधं क्वापि त्याज्यमावश्यकं न च ।

अधिकृतनायकवधं प्रवेशकादिनापि न सूचयेत्, आवश्यकं तु देवपितृकार्याद्यवश्यमेव क्वचित्कुर्यात् ।

अधिकारी नायक के वध की सूचना प्रवेशकादि के द्वारा भी न दे, वैसे आवश्यक वस्तु देव-पितृ-कार्य आदि का निबन्धन अवश्य करे, उस आवश्यक वस्तु की उपेक्षा न करे।

एकाहाचरितैकार्थमित्थमासन्ननायकम् ॥ ३६ ॥
पात्रैस्त्रिचतुरैरङ्कं तेषामन्तेऽस्य निर्गमः ।

एकदिवसप्रवृत्तैकप्रयोजनसम्बद्धमासन्ननायकमबहुपात्रप्रवेशमङ्कं कुर्यात्, तेषां पात्राणामवश्यमङ्कस्यान्ते निर्गमः कार्यः ।

अब अङ्क के विभाजन उसकी वस्तु की समय-सीमा तथा पात्र संख्या का उल्लेख करते कहते हैं:—

एक अङ्क में वस्तु की योजना इस ढङ्ग की हो कि वह केवल एक ही दिन की घटना (चरित) से सम्बद्ध हो, साथ ही एक ही प्रयोजन या एक ही अर्थ से सम्बद्ध हो।[२] उसमें नाटक का नायक आसन्न-समीपस्थ-हो तथा अधिक पात्रों की भीड़ का प्रवेश न कराया जाय, केवल तीन या चार ही पात्र वहाँ प्रवेश करें। अङ्क के अन्त में इन सारे पात्रों का निर्गम कर दिया जाय—ये सारे ही पात्र अङ्क के समाप्त होते समय मञ्च से निष्क्रान्त हो जावें।

---

१. 'प्रत्यक्ष' इत्यपि पाठः ।

१. यहाँ यह बात याद रखने की है कि पाश्चात्य नाट्यशास्त्र, वध, युद्ध, संरोध आदि को मञ्च पर दिखाना अनुचित नहीं समझते, बल्कि त्रासद (Tragedies) नाटकों में तो वे इन्हें मञ्च पर अवश्य दिखाते हैं।

२. पाश्चात्य यवन नाट्यशास्त्री अरस्तू ने नाटकों के लिए 'अन्विति-त्रय' (थ्री यूनिटीज़) की आवश्यकता मानी है। भारतीय नाट्यशास्त्र में अङ्क में एक ही दिन की घटना का, तथा एक ही प्रयोजन का सन्निवेश, क्रमशः कालान्विति (यूनिटी आव् टाइम) तथा कार्यान्विति (यूनिटी आव् एक्शन) से सम्बद्ध है। इसके अतिरिक्त भारतीय नाटक के अङ्कों की एक इकाई (जिनमें दृश्यों का विभाजन नहीं होता है) स्थलान्विति (यूनिटी आव् प्लेस) को भी पूरा करती ही है।

पताकास्थानकान्यत्र बिन्दुरन्ते च बीजवत् ॥ ३७ ॥
एवमङ्का प्रकर्तव्याः प्रवेशादिपुरस्कृता ।
पञ्चाङ्कमेतदवरं दशाङ्कं नाटकं परम् ॥ ३८ ॥

इत्युक्तं नाटकलक्षणम् ।

इस नाटक में भावी भावों के सूचकों—पताकास्थानकों का भी सन्निवेश होना चाहिए। इसमें बिन्दु नामक अर्थ प्रकृति का प्रयोग हो, तथा अन्त में बीज का परामर्श पाया जाय। इस प्रकार अङ्कों की योजना की जाय, जिसमें पात्रों का प्रवेश व निर्गम समुचित रूप से किया जाय। नाटक के अङ्कों की संख्या पाँच अङ्कों या दस अङ्कों की होती है। इसमें पाँच अङ्कों का नाटक निम्न कोटि का होता है, दस अङ्कों का श्रेष्ठ।

[नाटकों को देखने पर पाँच से लेकर दस तक अङ्कों वाले नाटक पाये जाते हैं। अधिकतर संस्कृत नाटक सप्ताङ्क हैं —यथा शाकुन्तल, उत्तररामचरित, मुद्राराक्षस। वेणीसंहार में छ अङ्क हैं, तथा विक्रमोर्वशीय में पाँच। वैसे हनुमन्नाटक में चौदह तक अङ्क पाये जाते हैं। पर मोटे तौर पर नाटक में अङ्क संख्या ५ से १० तक पायी जाती है।]

यहाँ तक नाटक के लक्षण कहे गये।

अथ प्रकरणे वृत्तमुत्पाद्यं लोकसंश्रयम् ।
अमात्यविप्रवणिजामेकं कुर्याच्च नायकम् ॥ ३९ ॥
धीरप्रशान्तं सापायं धर्मकामार्थतत्परम् ।
शेषं नाटकवत्सन्धिप्रवेशकरसादिकम् ॥ ४० ॥

कविबुद्धिविरचितमितिवृत्तं लोकसंश्रयम् = अनुदात्तम् अमात्यादीनामन्यतमं धीरप्रशान्तं नायकं विपदन्तरितार्थसिद्धिं कुर्यात् प्रकरणे, मन्त्री अमात्य एव। सार्थवाहो वणिग्विशेष एवेति स्पष्टमन्यत्।

नाटक के बाद प्रकरण का लक्षण तथा विशेषताएँ बताते हैं:—

प्रकरण का इतिवृत्त कल्पित तथा लोकसंश्रय होता है। लोकसंश्रय का तात्पर्य यह है कि यह राजा आदि की कथा न होकर अन्य वर्ग के सामान्य व्यक्ति की कथा होती है। इसका नायक मन्त्री, ब्राह्मण या वणिये में से कोई एक हो सकता है। यह नायक धीरप्रशान्त कोटि का होता है, तथा विघ्नों से युक्त होता है। यह नायक धर्म, अर्थ तथा काम (त्रिवर्ग) में तत्पर होता है। इसके अन्दर सन्धि, प्रवेशक तथा रसादि का समावेश ठीक नाटक की ही तरह होता है।

इसका इतिवृत्त कवि बुद्धि विरचित तथा लोकसंश्रय अर्थात् अनुदात्त होता है। मन्त्री आदि में से कोई एक इसका नायक होता है, वह धीरप्रशान्त होता है, तथा उसके कार्य की सफलता विघ्नों से अन्तर्हित होती है। मन्त्री अमात्य ही होता है, सार्थवाह बनिया है। और सब स्पष्ट है।

[मृच्छकटिक प्रकरण की कथा कल्पित है तथा लोकसंश्रय भी। इसका नायक चारुदत्त ब्राह्मण है धीरप्रशान्त है। इसका रस शृङ्गार है। मालतीमाधव की कथा भी कल्पित है। इसका नायक भी ब्राह्मण है, तथा धीरप्रशान्त है। दोनों में कार्य सिद्धि विपदन्तरित है—एक में शकार की दुष्टता के कारण, दूसरे में मालती के पिता के वैर तथा नियति की विडम्बना के कारण, जिसमें मालती अघोरघण्ट कापालिक के फन्दे में फँस जाती है।]

नायिका तु द्विधा नेतुः कुलस्त्री गणिका तथा ।

क्वचिदेकैव कुलजा वेश्या क्वापि द्वयं क्वचित् ॥ ४१ ॥
कुलजाभ्यन्तरा, बाह्या वेश्या, नातिक्रमोऽनयोः ।
आभिः प्रकरणं त्रेधा, सङ्कीर्णं धूर्तसङ्कुलम् ॥ ४२ ॥

वेशो भृतिः सोऽस्या जीवनमिति वेश्या तद्विशेषो गणिका । यदुक्तम्—

'आभिरभ्यर्थिता वेश्या रूपशीलगुणान्विता ।
लभते गणिकाशब्दं स्थानं च जनसंसदि ॥'

एवं च कुलजा वेश्या उभयमिति त्रेधा प्रकरणे नायिका । यथा वेश्यैव तरङ्गदत्ते, कुलजैव पुष्पदूषितके, ते द्वेऽपि मृच्छकटिकायामिति । कितवद्यूतकारादिधूर्तसङ्कुलं तु मृच्छकटिकादिवत्सङ्कीर्णप्रकरणमिति ।

प्रकरण के नायक की नायिका दो तरह की हो सकती है—या तो वह कुलीन स्त्री हो या गणिका हो । किसी प्रकरण में अकेली कुलस्त्री ही नायिका हो सकती है, कहीं अकेली वेश्या ही । किन्हीं प्रकरणों में एक साथ दोनों—कुलस्त्री व गणिका—नायिका रूप में पाई जा सकती है । कुलस्त्री आभ्यन्तर नायिका होती है, वेश्या बाहरी नायिका । इस प्रकार प्रकरण की नायिका या तो कुलस्त्री या गणिका या दोनों होंगी इनका व्यतिक्रम नहीं किया जा सकता । इस तरह प्रकरण तीन तरह का हो जाता है—कुलजानिष्ठ, गणिकानिष्ठ, उभयानिष्ठ । जिस प्रकरण में धूर्त-विट शकारादि का समावेश होता है वह प्रकरण सङ्कीर्ण (मिश्रित) होता है ।

वेश्या शब्द की व्युत्पत्ति बताते हुए वृत्तिकार बताता है कि जिसका भरणपोषण-वेश-ही जीवन है, वह वेश्या कहलाती है । गणिका वेश्या का ही भेद है । जैसा कि कहा गया है :—'इन व्यक्तियों के द्वारा प्रार्थित, रूप शील तथा गुण से युक्त वेश्या ही गणिका कहलाती है तथा वह सभाओं में स्थान प्राप्त करती है ।' इस तरह प्रकरण में—कुलजा, वेश्या, दोनों—तीन तरह की नायिका होती है । जैसे तरङ्गदत्त प्रकरण में वेश्या नायिका है, पुष्पदूषितक में कुलजा नायिका है, तथा मृच्छकटिक में दोनों हैं । धूर्त, जुआरी आदि पात्रों से सङ्कुल होने पर प्रकरण सङ्कीर्ण कोटि का होता है, जैसे मृच्छकटिक ।

[मालतीमाधव की नायिका मालती कुलजा है, मृच्छकटिक या मास के चारुदत्त की वसन्तसेना वेश्या है, चारुदत्त वधू आदि कुलजा ।]

अथ नाटिका—

लक्ष्यते नाटिकाप्यत्र सङ्कीर्णान्यनिवृत्तये ।

अत्र केचित्—

'अनयोश्च बन्धयोगादेको भेदः प्रयोक्तृभिर्ज्ञेयः ।
प्रख्यातस्त्वितरो वा नाटीसंज्ञाश्रिते काव्ये ॥'

इत्यमुं भारतीयं श्लोकम् 'एको भेदः प्रख्यातो नाटिकाख्य इतरस्त्वप्रख्यातः प्रकरणिकासंज्ञो नाटीसंज्ञया द्वे काव्ये आश्रिते' इति व्याचक्षाणाः प्रकरणिकामपि मन्यन्ते तदसत् । उद्देशलक्षणयोरनभिधानात् । समानलक्षणत्वे वा भेदाभावात् , वस्तुरसनायकानां प्रकरणाभेदात् प्रकरणिकायाः, अतोऽनुद्दिष्टाया नाटिकाया मुनिना लक्षणे कृते तत्रायमभिप्रायः—शुद्धलक्षणसङ्करादेव तल्लक्षणे सिद्धे लक्षणकरणं सङ्कीर्णानां नाटिकैव कर्तव्येति नियमार्थं विज्ञायते ।

यहाँ नाटक तथा प्रकरण दोनों के लक्षण का निर्देश करने के बाद इनके सङ्कीर्ण भेद नाटिका (उपरूपक) का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि दूसरे उपरूपक का निराकरण करने के लिये यहीं पर सङ्कीर्ण (मिश्रित) नाटिका का लक्षण कर देते हैं।

कुछ लोग सङ्कीर्ण उपरूपकों में नाटिका, तथा प्रकरणिका दो भेदों को मानते हुए प्रकरणिका नामक भेद को भी मानते हैं। इसके प्रमाण स्वरूप वे भरत के इस श्लोक को देते हैं — 'अनयो'''' 'काव्ये'। इस श्लोक का अर्थ वे यों करते हैं कि 'नाटक व प्रकरण इन दोनों के योग से काव्य के दो भेद होते हैं—एक भेद प्रख्यात है—नाटिका, तथा दूसरा अप्रसिद्ध प्रकरणिका है। दोनों नाटी इस संज्ञा से अभिहित होते हैं।'

वृत्तिकार धनिक को यह मत स्वीकार नहीं। वे तो प्रकरणिका को अलग भेद मानने से सहमत नहीं। उनका कहना है कि भरत के उद्धृत श्लोक में प्रकरणिका का नाम (उद्देश) व लक्षण दोनों नहीं पाये जाते। इसका कारण यह है कि प्रकरण के समान ही लक्षण प्रकरणिका में पाये जाते हैं तथा इनमें कोई भिन्नता नहीं। साथ ही प्रकरणिका के वस्तु, रस तथा नायक प्रकरण से अभिन्न होते हैं। नाटिका का लक्षण मुनि भरत ने इसलिए किया है कि वे उस पर कुछ जोर देना चाहते हैं। वैसे तो नाटिका का लक्षण शुद्ध रूपकों (नाटक व प्रकरण) के लक्षणों के सङ्कर मिश्रण से ही सिद्ध हो जाता है, पर फिर भी उसका अलग से लक्षणकरण इस बात का नियमन करता है कि सङ्कीर्ण उपरूपक गोष्ठ्यादि में विशेषतः कवि को नाटिका की ही योजना करनी चाहिए।

तमेव सङ्करं दर्शयति— ।

> तत्र वस्तु प्रकरणान्नाटकान्नायको नृपः ॥ ४३ ॥
> प्रख्यातो धीरललितः शृङ्गारोऽङ्गी सलक्षणः ।

उत्पाद्येतिवृत्तत्वं प्रकरणधर्मः, प्रख्यातनृपनायकादित्वं तु नाटकधर्म इति, एवं नाटकप्रकरणनाटिकातिरेकेण वस्त्वादेः प्रकरणिकायामभावादङ्गपात्रभेदात् यदि भेदस्तत्र (तदा) ।

इसी सङ्कर को बताते हैं कि—नाटिका की कथावस्तु प्रकरण से ली जाती है अर्थात् वह कविकल्पित होती है। उसका नायक नाटक से गृहीत होता है, वह राजा होता है। वह प्रख्यातवंश तथा धीरललित होता है। इसका अङ्गीरस शृङ्गार होता है।

कल्पित इतिवृत्त का होना प्रकरण की विशेषता है, प्रख्यात नृप का नायक होना नाटक की विशेषता। इस तरह नाटक, प्रकरण, नाटिका के अतिरिक्त वस्तु आदि के भेद के अभाव से प्रकरणिका कोई अलग भेद नहीं जान पड़ता। वैसे अङ्कों व पात्रों के भेद से ही अलग भेद माना जाय, तो फिर भेदगणना असीम हो जायगी। रूपकों व उपरूपकों के अनेक व अनन्त भेद हो जायँगे।

> स्त्रीप्रायचतुरङ्कादिभेदकं यदि चेष्यते ॥ ४४ ॥
> एकद्वित्र्यङ्कपात्रादिभेदेनानन्तरूपता ।

तत्र नाटिकेति स्त्रीसमाख्ययौचित्यप्राप्तं स्त्रीप्रधानत्वम्, कैशिकीवृत्त्याश्रयत्वाच्च तदङ्गसंख्ययाऽल्पावमर्शत्वेन चतुरङ्कत्वमप्यौचित्यप्राप्तमेव ।

स्त्री प्राय (स्त्री पात्रों की प्रधानता) तथा चार अङ्क ये नाटिका की विशेषता हैं। इनके कारण प्रकरणिका को भिन्न माना जाय तो एक, दो, तीन अङ्कों या पात्रों के भेद से अनन्तरूप-रूपकों के हो जायँगे।

नाटिका की संज्ञा में स्त्रीत्व का प्रयोग इस बात का सूचक है कि इसमें स्त्रीपात्रों की प्रधानता है। इसमें कैशिकी वृत्ति का आश्रय लिया जाता है, उसके नर्मादि चार अङ्ग हैं, तथा नाटिका में अवमर्श नामक सन्धि बहुत अल्प होती है, इसलिए इसमें चार अङ्कों का सन्निवेश उचित ही जान पड़ता है।

विशेषस्तु—

देवी तत्र भवेज्ज्येष्ठा प्रगल्भा नृपवंशजा ॥ ४५ ॥
गम्भीरा मानिनी, कृच्छ्रात्तद्वशान्नेतृसङ्गमः।

नाटिका में कुछ विशेषता होती है:—

इसमें दो नायिका होती हैं। ज्येष्ठा नायिका देवी (महारानी) होती है, जो राजवंश में उत्पन्न तथा प्रगल्भ प्रकृति की होती है। वह बड़ी गम्भीर तथा मानिनी होती है। नायक का कनिष्ठा नायिका के साथ सङ्गम बड़े कष्ट से होता है, वह सङ्गम इसी ज्येष्ठा देवी के अधीन होता है।

प्राप्या तु—

नायिका तादृशी मुग्धा दिव्या चातिमनोहरा ॥ ४६ ॥

तादृशीति नृपवंशजत्वादिधर्मातिदेशः।

नायिका भी ज्येष्ठा की भाँति ही नृपवंशजा होती है, किन्तु वह मुग्धा होती है—(प्रगल्भ, गम्भीर या मानिनी नहीं) वह अत्यधिक मनोहर तथा सुन्दर होती है।

[रत्नावली नाटिका का नायक राजा उदयन है, उसकी ज्येष्ठा नायिका वासवदत्ता नृपवंशजा है। प्रकृति से वह गम्भीर, प्रगल्भ, तथा मानिनी है। उदयन व रत्नावली का समागम रानी के वश में है। रत्नावली (सागरिका) भी नृपवंशोत्पन्न है—वह मुग्धा तथा सुन्दरी है।]

अन्तःपुरादिसम्बन्धादासन्ना श्रुतिदर्शनैः।
अनुरागो नवावस्थो नेतुस्तस्यां यथोत्तरम् ॥ ४७ ॥
नेता तत्र प्रवर्तेत देवीत्रासेन शङ्कितः।

तस्यां मुग्धनायिकायामन्तःपुरसम्बन्धसङ्गीतकसम्बन्धादिना प्रत्यासन्नायां नायकस्य देवीप्रतिबन्धान्तरित उत्तरोत्तरो नवावस्थानुरागो निबन्धनीयः।

अन्तःपुर आदि के सम्बन्ध के कारण वह नायिका राजा के श्रुतिपथ तथा दृष्टिपथ में अवतरित होती है। उसे देखकर तथा उसके बारे में सुनकर राजा उसको प्रेम करने लगता है। यह प्रेम-अनुराग आरम्भ में नवीन होता है, धीरे-धीरे वह परिपक्व होता जाता है। नायक यहाँ पर सदा महारानी के भय से शङ्कित रहता है—(फलतः उसकी अनुरागचेष्टा छिप छिप कर चला करती है।)

इस मुग्धा नायिका को अन्तःपुर में सङ्गीत आदि के समय नायक समीप पाकर उसके प्रति प्रेम करने लगता है। यह प्रेम देवी के प्रतिबन्ध के कारण छिपा रहता है, पर उत्तरोत्तर बढ़ता रहता है। नाटिका में नायक के इस प्रकार के अनुराग का निबन्धन होना चाहिए।

कैशिक्यङ्गैश्चतुर्भिश्च युक्ताङ्कैरिव नाटिका ॥ ४७ ॥

प्रत्यङ्कोपनिबद्धाभिहितलक्षणकैशिक्यङ्गचतुष्टयवती नाटिकेति।

इस नाटिका में कैशिकी के चार अङ्ग—नर्म, नर्मस्फिञ्ज, नर्मस्फोट तथा नर्मगर्भ प्रयुक्त होते हैं, तथा तद्युक्त चार अङ्कों की योजना की जाती है।

---

1. 'प्राप्यान्त' इत्यपि पाठः।

नाटिका वह है जहाँ हर अङ्क में उपर्युक्त लक्षणवाले कैशिकी वृत्ति के चार अङ्गों नर्मादि का सन्निवेश किया जाय।

[नाटिका के उदाहरण स्वरूप—रत्नावली, प्रियदर्शिका, विद्धशालभञ्जिका, कर्णसुन्दरी, आदि काव्य दिये जा सकते हैं। इसी का एक विशेष प्रकार का भेद सट्टक माना जा सकता है, जहाँ केवल प्राकृत भाषा का ही प्रयोग होता है सट्टक का उदाहरण राजशेखर की कर्पूरमञ्जरी है।]

अथ भाण —

भाणस्तु धूर्तचरितं स्वानुभूतं परेण वा।
यत्रोपवर्णयेदेको निपुणः पण्डितो विटः ॥ ४९ ॥
सम्बोधनोक्तिप्रत्युक्ती कुर्यादाकाशभाषितैः।
सूचयेद्वीरशृङ्गारौ शौर्यसौभाग्यसंस्तवैः ॥ ५० ॥
भूयसा भारती वृत्तिरेकाङ्कं वस्तु कल्पितम्।
मुखनिर्वहणे साङ्गे लास्याङ्गानि दशापि च ॥ ५१ ॥

धूर्तचौरद्यूतकारादयस्तेषां चरितं यत्रैक एव विटः स्वकृतं परकृतं वोपवर्णयति स भारतीवृत्तिप्रधानत्वाद्भाणः। एकस्य चोक्तिप्रत्युक्तय आकाशभाषितैरुत्तरोत्तरत्वेन भवन्ति। अस्पष्टत्वाच्च वीरशृङ्गारौ सौभाग्यशौर्योपवर्णनया सूचनीयौ।

23/1/57

अब प्रसङ्गोपात्त भाण नामक रूप का लक्षण उपनिबद्ध करते हैं:—

भाण वह रूपक है जहाँ कोई अत्यधिक चतुर तथा बुद्धिमान् (पण्डित) विट (एककलापारङ्गत व्यक्ति) अपने द्वारा अनुभूत अथवा किसी दूसरे के द्वारा अनुभूत धूर्तचरित का वर्णन करे। यहाँ पर सम्बोधन, उक्ति व प्रत्युक्ति का सन्निवेश आकाशभाषित से किया जाता है। यहाँ पर कोई दूसरा पात्र नहीं होता। यही विट आकाशभाषित के द्वारा किसी से भाषण या कथनोपकथन करता दिखाया जाता है। भाण के द्वारा सौभाग्य तथा शौर्य के वर्णन कर शृङ्गार तथा वीर रस की सूचना दी जाती है। इसमें भारती वृत्ति की प्रधानता पाई जाती है तथा एक ही अङ्क की योजना की जाती है। इसकी कथावस्तु कविकल्पित होती है। इसमें पाँचों सन्धियाँ नहीं बताई जा सकतीं, अतः मुख तथा निर्वहण ये दो ही सन्धियाँ पाई जाती हैं। इन दो सन्धियों के अङ्गों की योजना इसमें की जाती है, तथा दस लास्याङ्गों का सन्निवेश भी होता है।

जहाँ धूर्त, चोर, जुआरी आदि लोगों के चरित्र का स्वकृत अथवा परकृत वर्णन विट के द्वारा किया जाय, वह भारती वृत्ति की प्रधानता होने के कारण भाण कहलाता है। एक ही विट आकाशभाषित के द्वारा आशङ्का तथा उत्तर देकर उक्तिप्रत्युक्ति का प्रयोग करता है। यहाँ रस की स्पष्टता नहीं पाई जाती अतः सौभाग्य एवं शौर्य के वर्णन के द्वारा क्रमशः शृङ्गार व वीर रस की सूचना दी जाती है।

[इस प्रकार भाण की ये विशेषतायें हैं:—

१. इसकी वस्तु कल्पित व धूर्तचरितपरक होती है, जिसमें मुख व निर्वहण सन्धि होती है।
२. इसका नायक विट होता है, यही एक पात्र इस रूपक में पाया जाता है। यह कथनोपकथन का प्रयोग आकाशभाषित के द्वारा करता है।
३. इसमें भारती वृत्ति पाई जाती है।

४. वीर तथा शृङ्गार रस की सूचना दी जाती है।[1]]

५. इसमें केवल एक अङ्क होता है।

लास्याङ्गानि—

> गेयं पदं स्थितं पाठ्यमासीनं पुष्पगण्डिका।
> प्रच्छेदकस्त्रिगूढं च सैन्धवाख्यं द्विगूढकम् ॥ ५२ ॥
> उत्तमोत्तमकं चान्यदुक्तप्रत्युक्तमेव च।
> लास्ये दशविधं ह्येतदङ्गनिर्देशकल्पनम् ॥ ५३ ॥

शेषं स्पष्टमिति।

भाण के सम्बन्ध में दस लास्याङ्गों का वर्णन किया गया है—ये दस लास्याङ्ग-संगीत के भेद हैं। इनका वर्णन करना आवश्यक समझ कारिकाकार बताते हैं कि लास्य में इन दस अङ्गों की कल्पना की जाती है:—गेयपद, स्थितपाठ्य, आसीन, पुष्पगण्डिका, प्रच्छेदक, त्रिगूढ, सैन्धव, द्विगूढक, उत्तमोत्तमक तथा उक्तप्रत्युक्त।

[(१) गेयपद:—जहाँ पुरःस्थित नायक के सामने वीणा के द्वारा शुष्कगान गाया जाय, वह गेय पद है।

> (तन्त्रीभाण्डं पुरस्कृत्योपविष्टस्यासनेपुरः।
> शुष्कगानं गेयपदम्,)

(२) स्थितपाठ्य—स्थितपाठ्य वह है—जहाँ नायिका मदन से व्याकुल होकर प्राकृत में गीत पढ़ती है।

> (स्थितपाठ्यं तदुच्यते
> मदनोत्तापिता यत्र, पठति प्राकृतं स्थिता ॥)

(३) आसीन—जहाँ किसी भी वाद्य की ध्वनि न हो, तथा शोक व चिन्ता से युक्त स्त्री गात्र को फैलाती हुई गीत गावे, वह आसीन लास्यांग है।

> (निखिलातोद्यरहितं शोकचिन्तान्विताऽबला।
> प्रसारितगात्रं यदासीनाऽऽसीनमेव तत् ॥)

---

१. भाण कई अवस्था में—पाश्चात्य पद्धति के एकाभिनय (मोनो-एक्टिंग) से मिलता है। इसमें भी इसी की तरह एक ही पात्र अभिनय करता है। संस्कृतसाहित्य के रूपक-साहित्य में भाण का विशेष स्थान रहा है। आठवीं शती से लेकर १७ वीं अठारहवीं शती तक सैकड़ों भाण लिखे गये। वामनभट्ट बाण, युवराजरामवर्मा आदि अनेकों ने भाणों को एक सुन्दर साहित्यिक रूप दिया। भाण के द्वारा कवि सामाजिक कुरीतियों पर भी बड़ा गहरा व्यङ्ग कसता है। सामाजिक कुरीतियों [illegible] पर्दाफाश करने के लिए कवि के पास भाण व प्रहसन ये दो बड़े अस्त्र थे। किन्तु दोनों की प्रणाली में गहरा भेद है। भाण की व्यंग्यप्रणाली बड़ी गम्भीर व उदात्त होती है, प्रहसन की छिछली। यही कारण है [illegible] भाण का रस हास्य नहीं होता है, प्रहसन का हास्य होता है। संस्कृत के भाणों में अधिकतर वेश्याओं के वर्णन उनके बाजारों के वर्णन, उनसे सम्बद्ध दूसरे धूर्त व जुआरियों के वर्णन मिलेंगे। भाणों में सर्वत्र शृङ्गार की प्रधानता मिलती है, वीर बहुत कम। इनके प्राकृतिक वर्णन भी शृङ्गार से प्रभावित होते हैं, जैसे युवराज रामवर्मा के एक भाण के रस वर्णन में—

नग्नां वीक्ष्य नगरमणीं विगलितप्रत्यग्रधाराधरश्रेणीकञ्चुकवाससं पति रसो रक्तः स्वयं चुम्बति।
इत्यन्तर्धिरमाकलय्य रजनी चौकालिरेखाद्दिव व्याहाराश्रुव मानिनं निक्षिपति व्यालोलधाराधरैः ॥

२. 'लक्षणम्' इति पाठान्तरम्।

(४) पुष्पगण्डिका—वह गेय जिसमें वाद्यों का प्रयोग होता है, विविध छन्द पाये जाते हैं, तथा स्त्री एवं पुरुष की विपरीत चेष्टा पाई जाती है, पुष्पगण्डिका है।

(आतोद्यमिश्रितं गेयं छन्दांसि विविधानि च ।
स्त्रीपुंसयोर्विपर्यासचेष्टितं पुष्पगण्डिका ॥)

(५) प्रच्छेदक—पति को अन्यासक्त मानकर प्रेमविच्छेद के क्रोध व शोक से जब स्त्री वीणा के साथ गाती है, वह प्रच्छेदक कहलाता है।

(अन्यासक्तं पतिं मत्वा प्रेमविच्छेदमन्युना ।
वीणापुरस्सरं गानं स्त्रियाः प्रच्छेदको मतः ॥)

(६) त्रिगूढ—जहाँ स्त्रीवेशधारी पुरुष नाचें व गावें वह मधुर गान त्रिगूढक कहलाता है।

(स्त्रीवेशधारिणां पुंसां नाट्यं श्लक्ष्णं त्रिगूढकम् ।)

(७) सैन्धव—जहाँ कोई नायक सङ्केतस्थल पर प्रिया के न आने पर, प्राकृत में इस प्रकार वचन कहता है कि उसका करण (गीतप्रकार) स्पष्ट रहता है, उसे सैन्धव कहते हैं।

(कश्चन भ्रष्टसङ्केतः सुव्यक्तकरणान्वितः ।
प्राकृतं वचनं वक्ति यत्र तत् सैन्धवं विदुः ॥)

(८) द्विगूढ—मुख तथा प्रतिमुख से युक्त चतुरस्रपद गीत द्विगूढ है।

(चतुरस्रपदं गीतं मुखप्रतिमुखान्वितम्, द्विगूढम् ॥)

(९) उत्तमोत्तमक—रस तथा भाव से युक्त गीत उत्तमोत्तमक कहलाता है।

(रसभावाढ्यमुत्तमोत्तमकं पुनः ॥)

(१०) उक्तप्रत्युक्त—जहाँ मान तथा प्रसाद हो, नायक का तिरस्कार हो, रस से युक्त हो, हाव तथा हेला से युक्त हो, तथा चित्रबन्ध के कारण भी सुन्दर हो, जिसमें उक्ति प्रत्युक्ति पाई जाती हो, तथा उपालम्भ हो एवं झूठी बातें हों, जिसमें शृङ्गारचेष्टा पाई जाती हो, ऐसा गीत उक्तप्रत्युक्त कहलाता है।)

(कोपप्रसादजमधिक्षेपयुक्तं रसोत्तरम् । हावहेलान्वितं चित्रश्लोकबन्धमनोहरम् ॥
उक्तिप्रत्युक्तिसंयुक्तं सोपालम्भमलीकवत् । विलासान्वितगीतार्थमुक्तप्रत्युक्तमुच्यते ॥)

अथ प्रहसनम्—

तद्वत्प्रहसनं त्रेधा शुद्धवैकृतसङ्करैः ।

तद्वदिति—भाणवद्वस्तुसन्धिसन्ध्यङ्गलास्याङ्गानामतिदेशः ।

तत्र शुद्धं तावत्—

पाखण्डिविप्रप्रभृतिचेटचेटीविटाकुलम् ॥ ५४ ॥
चेष्टितवेषभाषाभिः शुद्धं हास्यवचोन्वितम् ।

पाखण्डिनः शाक्यनिर्ग्रन्थप्रभृतयः, विप्राश्चात्यन्तमृजवः, जातिमात्रोपजीविनो वा प्रहसनाङ्गिहास्यविभावाः, तेषां च यथास्वव्यापारोपनिबन्धनं चेटचेटीव्यवहारयुक्तं शुद्धं प्रहसनम् ।

प्रहसन नामक रूपकभेद वस्तु, सन्धि, सन्ध्यङ्ग, अङ्ग तथा लास्यादि में भाण की ही तरह होता है। यह शुद्ध, विकृत तथा सङ्कर इन भेदों से तीन तरह का होता है। इनमें शुद्ध प्रहसन में पाखण्डी, ब्राह्मण, आदि नौकर और नौकरानियाँ (चेट तथा चेटी) का जमघट होता है—ये इसके पात्र हैं। इनके वेश, तथा इनकी भाषा के अनुरूप चेष्टा यहाँ पाई जाती है, तथा इनका वचन (कथनोपकथन) हास्ययुक्त होता है (तथा यह हास्यपूर्ण वचन से युक्त होता है।)

पाखण्डी का अर्थ ढोंगी संन्यासी—बौद्ध जैन आदि भिक्षुओं से है—ब्राह्मण बड़े भोले भाले पात्र होते हैं, अथवा ये केवल अपनी जाति पर ही आश्रित रहते हैं। ये प्रहसन के हास्य रस के विभाव हैं। इनके उपर्युक्त व्यापार का निबन्धन, जहाँ सेवक सेविका का व्यवहार भी पाया जाता है शुद्ध कोटि का प्रहसन है।

विकृत तु—

कामुकादिवचोवेषैः षण्ढकञ्चुकितापसैः ॥ ५५ ॥
विकृतम्, सङ्करद्वीथ्या सङ्कीर्णं धूर्तसङ्कुलम्।

कामुकादयो भुजङ्गचारभटाद्या तद्वेषभाषादियोगिनो यत्र षण्ढकञ्चुकितापसवृद्धादय-स्तद्विकृतम्, स्वस्वरूपप्रच्युतविभावत्वात्। वीथ्यङ्गैस्तु सङ्कीर्णत्वात् सङ्कीर्णम्।

रसस्तु भूयसा कार्यः षड्विधो हास्य एव तु ॥ ५६ ॥

इति स्पष्टम्।

जहाँ ऐसे नपुंसक, कञ्चुकी या तपस्वी पात्र निबद्ध हों, जो कामुक लोगों के वचन व वेष का प्रयोग करें, वह प्रहसन विकृत कहलाता है। धूर्त व्यक्तियों से पूर्ण प्रहसन सङ्कीर्ण कहलाता है। इस प्रहसन में केवल हास्य रस का ही प्रयोग करना चाहिए। वह हास्य रस पूरी तरह से अपने छः भेदों में उपनिबद्ध होना चाहिए।

जहाँ पर नपुंसक, बुड्ढा कञ्चुकी और तपस्वी (बुजुर्ग) कामुक के समान उनकी भाषा व वेष का प्रयोग करें वहाँ वे अपने स्वरूप से गिर जाते हैं। इस प्रकार के विभाव के उपनिबन्धन के कारण यह प्रहसन विकृत कहलाता है। सङ्कीर्ण में वीथ्यङ्गों का मिश्रण पाया जाता है। (इसमें स्मित, अपहसित, उपहसित, अवहसित, अतिहसित, विहसित इन हास्य के छः रूपों का पूर्ण सन्निवेश होता है।)

अथ डिम—

डिमे वस्तु प्रसिद्धं स्याद्वृत्तयः कैशिकीं विना।
नेतारो देवगन्धर्वयक्षरक्षोमहोरगाः ॥ ५७ ॥
भूतप्रेतपिशाचाद्याः षोडशात्यन्तमुद्धताः।
रसैरहास्यशृङ्गारैः षड्भिर्दीप्तैः समन्वितः ॥ ५८ ॥
मायेन्द्रजालसङ्ग्रामक्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितैः।
चन्द्रसूर्योपरागैश्च न्याय्ये रौद्ररसेऽङ्गिनि ॥ ५९ ॥
चतुरङ्कश्चतुस्सन्धिर्निर्विमर्शो डिमः स्मृतः।

'डिम सङ्घाते' इति नायकसङ्घातव्यापारात्मकत्वाड्डिमः, तत्रेतिहासप्रसिद्धमितिवृत्तम्, हास्यश्च कैशिकीवर्जाश्चितस्रः, रसाश्च वीररौद्रबीभत्साद्भुतकरुणभयानकाः षड्, स्थायी तु रौद्रो न्यायप्रधानः, विमर्शरहिताश्चमुखप्रतिमुखगर्भनिर्वहणाख्याश्चत्वारः सन्धयः साङ्गाः, मायेन्द्रजालाद्यनुभावसमाश्रयाः (च)। शेषं प्रस्तावनादि नाटकवत्। एतच्च—

'इदं त्रिपुरदाहे तु लक्षणं ब्रह्मणोदितम्। ततस्त्रिपुरदाहश्च डिमसंज्ञः प्रयोजितः ॥'

इति भरतमुनिना स्वयमेव त्रिपुरदाहेतिवृत्तस्य तुल्यत्वं दर्शितम्।

डिम नामक रूपक की कथावस्तु प्रसिद्ध—रामायणादि से गृहीत होती है। इसमें कैशिकी के अतिरिक्त अन्य वृत्तियों सात्वती, आरभटी व भारती—का समावेश होता है। इसमें नेता देवता, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, नाग आदि अत्यंत उद्धत कोटि के होते हैं। अथवा भूत, प्रेत, पिशाच आदि पात्रों का भी समावेश होता है। इसके पात्र संख्या में १६ होते हैं तथा वे बड़े उद्धत होते हैं। इसमें शृङ्गार व हास्य के अतिरिक्त बाकी छः रसों का

प्रदीपन पाया जाता है। इसका प्राणी रस रौद्र होता है तथा इसमें माया, इन्द्रजाल, युद्ध, क्रोध, उद्भ्रान्ति आदि चेष्टाओं तथा चन्द्रग्रहण एवं सूर्यग्रहण का दृश्य दिखाया जाता है। इसमें केवल चार अङ्क होते हैं, तथा विमर्श सन्धि के अतिरिक्त बाकी चार सन्धियाँ पाई जाती हैं।

'डिम सङ्घाते' इस धातु से जिसका अर्थ घात-प्रतिघात करना है, डिम शब्द की व्युत्पत्ति होती है। अतः डिम का तात्पर्य वह रूपक है जहाँ नायक का सङ्घात व्यापार हो। इसका इतिवृत्त इतिहास प्रसिद्ध होता है, कैशिकी से इतर तीन वृत्तियाँ पाई जाती हैं, तथा वीररौद्र बीभत्सअद्भुतकरुणभयानक ये छः रस पाये जाते हैं। इनमें प्रधान स्थायी रस रौद्र ही होना चाहिए। विमर्श सन्धि इसमें नहीं होती। मुख, प्रतिमुख, गर्भ तथा निर्वहण ये चार सन्धियाँ अङ्गों सहित पाई जाती हैं। इसमें माया, इन्द्रजाल आदि अनुभावों का आश्रय लिया जाता है। बाकी प्रस्तावना आदि नाटक की ही तरह होती हैं। यही बात महर्षि भरत ने स्वयं त्रिपुरदाह की कथावस्तु की मुख्यता के बारे में बताई है:—

'ब्रह्मा ने त्रिपुरदाह में इसी लक्षण को बताया है। इसलिए त्रिपुरदाह डिम संज्ञक है।'

अथ व्यायोग —

> ख्यातेतिवृत्तो व्यायोगः ख्यातोद्धतनराश्रयः॥ ६० ॥
> हीनो गर्भविमर्शाभ्यां दीप्ताः स्युर्डिमवद्रसाः।
> अस्त्रीनिमित्तसंग्रामो जामदग्न्यजये यथा॥ ६१ ॥
> एकाहाचरितैकाङ्को व्यायोगो बहुभिर्नरैः।

व्यायुज्यन्तेऽस्मिन्बहवः पुरुषा इति व्यायोगः, तत्र डिमवद्रसाः षट् हास्यशृङ्गार-रहिताः। वृत्त्यात्मकत्वाच्च रसानामवचनेऽपि कैशिकीरहितेतरवृत्तित्वं रसवदेव लभ्यते। अस्त्रीनिमित्तश्चात्र संग्रामो यथा परशुरामेण पितृवधकोपात्सहस्रार्जुनवधः कृतः। शेषं स्पष्टम्।

व्यायोग की कथावस्तु इतिहासप्रसिद्ध होती है, तथा किसी प्रसिद्ध उद्धत व्यक्ति (पौराणिक व्यक्तित्व) पर आश्रित होती है। इसमें गर्भ तथा विमर्श ये दो सन्धियाँ नहीं होती। रसों की दीप्ति डिम की तरह ही होती है, अर्थात् हास्य व शृङ्गार से भिन्न रस इसमें हो सकते हैं। इसमें युद्ध वर्णित होता है, पर वह युद्ध स्त्री प्राप्ति के कारण नहीं होता, जैसे जामदग्न्यजय नामक व्यायोग में परशुराम का युद्ध स्त्री निमित्तक नहीं है। व्यायोग की कथा एक ही दिन की होती है तथा उसमें एक ही अङ्क होता है। इसके पात्रों में अधिक संख्या पुरुष पात्रों की होती है।

'जिसमें अनेक पुरुष प्रयुक्त हों' (व्यायुज्यन्ते अस्मिन् बहवः पुरुषाः) इस व्युत्पत्ति के आधार पर व्यायोग शब्द निष्पन्न हुआ है। इसमें डिम की तरह हास्यशृङ्गारवर्जित छः रस होते हैं। रस वृत्ति से अभिन्न है अतः यद्यपि कारिका में व्यायोग की वृत्ति का उल्लेख नहीं, पर रस के अनुकूल कैशिकीरहित अन्य वृत्तियों की स्थिति स्पष्ट होती है। यहाँ युद्ध वर्णित होता है, जो अस्त्रीनिमित्तक होता है, जैसे परशुराम ने पिता के वध से कुपित होकर सहस्रार्जुन को मारा। अन्य सब स्पष्ट है।

अथ समवकार—

> कार्यं समवकारेऽपि आमुखं नाटकादिवत्॥ ६२ ॥
> ख्यातं देवासुरं वस्तु निर्विमर्शास्तु सन्धयः।
> वृत्तयो मन्दकैशिक्यो नेतारो देवदानवाः॥ ६३ ॥
> द्वादशोदात्तविख्याताः फलं तेषां पृथक्पृथक्।

वहुवीररसाः सर्वे यद्वदम्भोधिमन्थने ॥ ६४ ॥
अङ्कैस्त्रिभिस्त्रिकपटस्त्रिशृङ्गारस्त्रिविद्रवः ।
द्विसन्धिरङ्कः प्रथमः कार्यो द्वादशनालिकः ॥ ६५ ॥
चतुर्द्विनालिकावन्त्यौ नालिका घटिकाद्वयम् ।
वस्तुस्वभावदैवारिकृताः स्युः कपटास्त्रयः ॥ ६६ ॥
नगरोपरोधयुद्धे वाताग्न्यादिकविद्रवाः ।
धर्मार्थकामैः शृङ्गारो नात्र विन्दुप्रवेशकौ ॥ ६७ ॥
वीथ्यङ्गानि यथालाभं कुर्यात्प्रहसने यथा ।

समवकार में भी नाटक की तरह आमुख की योजना करना चाहिए। इसकी कथा देवताओं व दैत्यों से सम्बद्ध प्रसिद्ध वस्तु होती है। इसमें विमर्श सन्धि नहीं होती। कैशिकी से भिन्न वृत्तियां पाई जाती हैं तथा इसके नेता-पात्र-देवता व दानव होते हैं। ये नायक इतिहास प्रसिद्ध होते हैं तथा संख्या में १२ होते हैं। इन सब का फल भिन्न भिन्न होता है। ये सभी नायक वीररस से पूर्ण होते हैं, जैसे समुद्रमन्थन में पाये जाते हैं। (इस प्रकार इसका रस वीर होता है।) इसमें तीन अङ्क होते हैं जिनमें तीन बार कपट, तीन प्रकार का धर्म, अर्थ व काम का शृगार तथा तीन बार पात्रों में भगदड़ व विद्रव का संयोजन किया जाना चाहिए। इसके पहले अङ्क में मुख व प्रतिमुख ये दो सन्धियां होनी चाहिए तथा इसकी कथा २४ घड़ी (१२ नालिका) की होनी चाहिए। बाकी के दो अङ्कों में क्रमशः ४ तथा २ नालिका की कथा होनी चाहिए। नालिका से मतलब दो घड़ी से है। इसमें जिन तीन कपटों की योजना होती है वे वस्तु, स्वभाव तथा शत्रुओं के द्वारा विहित होते हैं। इसमें नगरोपरोध, युद्ध, वात, अग्नि आदि उत्पातों के कारण विद्रव (पलायन) का वर्णन होता है। इसमें धर्म, अर्थ तथा काम तीनों तरह का शृङ्गार पाया जाता है, तथा बिन्दु नामक अर्थप्रकृति, प्रवेशक नामक सूचक (अर्थोपक्षेपक) नहीं पाया जाता। प्रहसन की तरह इसमें यथावश्यक वीथ्यङ्गों की योजना की जानी चाहिये।

समवकीर्यन्तेऽस्मिन्नर्था इति समवकारः। तत्र नाटकादिवदामुखमिति समस्तरूपकाणामामुखप्रापणम्। विमर्शवर्जिताश्चत्वारः सन्धयः, देवासुरादयो द्वादश नायकाः, तेषां च फलानि पृथक्पृथग्भवन्ति यथा समुद्रमन्थने वासुदेवादीनां लक्ष्म्यादिलाभाः, वीरश्चाङ्गी, अङ्गभूताः सर्वे रसाः, त्रयोऽङ्काः, तेषां प्रथमो द्वादशनालिकानिर्वर्तितेतिवृत्तप्रमाणः, यथासंख्यं चतुर्द्विनालिकावन्त्यौ, नालिका च घटिकाद्वयम्। प्रत्यङ्कं च यथासंख्यं कपटः तथा नगरोपरोधयुद्धवाताग्न्यादिविद्रवाणां मध्य एकैको विद्रवः कार्यः। धर्मार्थकामशृङ्गाराणामेकैकः शृङ्गारः प्रत्यङ्कमेव विधातव्यः। वीथ्यङ्गानि च यथालाभं कार्याणि। बिन्दुप्रवेशकौ नाटकोक्तावपि न विधातव्यौ। इत्ययं समवकारः।

'इसमें काव्य के प्रयोजन बिखराये जाते हैं' (समवकीर्यन्तेऽस्मिन्नर्था इति समवकारः) इस व्युत्पत्ति से समवकार निष्पन्न होता है। इसमें नाटक की तरह ही आमुख होता है। कारिका का 'अपि' शब्द बताता है कि सारे रूपकों में आमुख अवश्य होना चाहिए। विमर्श-वर्जित चार सन्धियाँ होती हैं, तथा देव दैत्य आदि १२ नायक पात्र होते हैं। इन पात्रों के फल भिन्न २ होते हैं। जैसे समुद्रमन्थन में विष्णु आदि नेताओं को क्रमशः लक्ष्मी आदि की

१. 'नालिक' इत्यपि पाठः। २. 'नालिका' इत्यपि पाठः।

फल प्राप्ति होती है। इसमें वीर अङ्गी रस होता है, बाकी रस अङ्ग होते हैं, तथा तीन अङ्क होते हैं। इनमें से प्रथम अङ्क का इतिवृत्त १२ नालिका का होता है। बाकी दो अङ्क क्रमशः चार नालिका व दो नालिका के इतिवृत्त से युक्त होते हैं। नालिका का तात्पर्य दो घड़ी है। हर अङ्क में तीन कपट तथा नगरोपरोध, युद्ध, वात, अग्नि आदि से जनित विद्रवों में से एक एक विद्रव वर्णित होना चाहिए। धर्म, अर्थ तथा काम इन तीन तरह के शृङ्गारों में से हर अङ्क में एक एक शृङ्गार की योजना होनी चाहिये। वीथ्यङ्गों का प्रयोग आवश्यकतानुसार किया जाना चाहिए। नाटक के बारे में बिन्दु व प्रवेशक का वर्णन किया गया है, पर यहाँ उनकी योजना नहीं की जानी चाहिए। यह समवकार का लक्षण है।

अथ वीथी—

वीथी तु कैशिकीवृत्तौ सन्ध्यङ्गाङ्कैस्तु भाणवत् ॥ ६८ ॥
रसः सूच्यस्तु शृङ्गारः स्पृशेदपि रसान्तरम् ।
युक्ता प्रस्तावनाख्यातैरङ्गैरुद्घात्यकादिभिः ॥ ६९ ॥
एवं वीथी विधातव्या द्व्येकपात्रप्रयोजिता ।

वीथीवद्वीथी मार्गः अङ्गानां पङ्क्तिर्वा भाणवत्कार्या । विशेषस्तु रसः शृङ्गारोऽपरिपूर्णत्वाद्भूयसा सूच्यः, रसान्तराण्यपि स्तोकं स्पर्शनीयानि । कैशिकी वृत्ती रसौचित्यादेवेति । शेषं स्पष्टम् ।

वीथी कैशिकी वृत्ति में निबद्ध की जानी चाहिए। उसमें सन्धि उसके अङ्ग तथा अङ्क भाण की तरह होते हैं—अर्थात् मुख निर्वहण ये दो ही सन्धियाँ होती हैं तथा केवल एक [illegible]। इसका सूच्य रस शृङ्गार होता है, वैसे यह दूसरे रसों का भी स्पर्श कर सकता है। यह प्रस्तावना के उद्घात्यक आदि उपर्युक्त अङ्गों से युक्त होती है। इस तरह वीथी में दो-एक पात्रों की ही योजना करनी चाहिए।

वीथी मार्ग को कहते हैं—यह रूपकभेद मार्ग की तरह है अतः वीथी कहलाता है। इसमें सन्ध्यङ्गों का सन्निवेश भाण की तरह ही होना चाहिये। भेद यह है, कि इसमें शृङ्गार रस होता है, उसका पूर्ण परिपाक न होने के कारण वह सूच्य होता है और रसों का भी थोड़ा-बहुत स्पर्श करना चाहिये। कैशिकी वृत्ति शृङ्गाररस के औचित्य के कारण ही निबेय है।

अथाङ्कः—उत्सृष्टिकाङ्के प्रख्यातं वृत्तं बुद्ध्या प्रपञ्चयेत् ॥ ७० ॥
रसस्तु करुणः स्थायी नेतारः प्राकृता नराः ।
भाणवत्सन्धिवृत्त्यङ्गैर्युक्तः स्त्रीपरिदेवितैः ॥ ७१ ॥
वाचा युद्धं विधातव्यं तथा जयपराजयौ ।

उत्सृष्टिकाङ्क इति नाटकान्तर्गताङ्कव्यवच्छेदार्थम् । शेषं प्रतीतमिति ।

अङ्क अथवा उत्सृष्टिकाङ्क नामक रूपकभेद में इतिवृत्त इतिहास प्रसिद्ध होता है, पर कवि को उसमें अपनी बुद्धि से हेरफेर कर लेना चाहिए। इसका स्थायी रस करुण होता है, तथा इसके नेता-पात्र-प्राकृत (सामान्य) मनुष्य होते हैं। इसके सन्धि, वृत्ति व अङ्ग भाण की तरह होते हैं—अर्थात् इसमें केवल मुख तथा निर्वहण सन्धियाँ होती हैं; भारती वृत्ति पाई जाती है, तथा एक अङ्क होता है। करुण रस होने के कारण इसमें स्त्रियों का रुदन होना चाहिए। इसके पात्रों में वाग्युद्ध की एवं जय तथा पराजय की योजना की जानी चाहिये।

कारिकाकार ने अङ्क को उत्सृष्टिकाङ्क इसलिए कहा है कि नाटक के अन्तर्गत [illegible] अङ्क से इसकी भिन्नता स्पष्ट हो जाय। बाकी कारिका स्पष्ट है।

अथेहामृग —

मिश्रमीहामृगे वृत्तं चतुरङ्कं त्रिसन्धिमत् ॥ ७२ ॥
नरदिव्यावनियमान्नायकप्रतिनायकौ ।
ख्यातौ धीरोद्धतावन्त्यो विपर्यासादयुक्तकृत् ॥ ७३ ॥
दिव्यस्त्रियमनिच्छन्तीमपहारादिनेच्छतः ।
शृङ्गाराभासमप्यस्य किञ्चित्किञ्चित्प्रदर्शयेत् ॥ ७४ ॥
संरम्भं परमानीय युद्धं व्याजान्निवारयेत् ।
वधप्राप्तस्य कुर्वीत वधं नैव महात्मनः ॥ ७५ ॥

मृगवदलभ्यां नायिकां नायकोऽस्मिन्नीहते इतीहामृग । ख्याताख्यातं वस्तु अन्त्य = प्रतिनायको विपर्ययाद्विपर्ययज्ञानादयुक्तकारी विधेय । स्पष्टमन्यत् ।

ईहामृग की कथा मिश्रित-प्रख्यात व कल्पित का मिश्रण होती है। इसमें चार अङ्क होते हैं तथा तीन सन्धियाँ—अर्थात् गर्भ व अवमर्श नहीं होती। नर तथा देवता के नियम से इसमें नायक व प्रतिनायक की योजना होती है। ये दोनों इतिहास प्रसिद्ध तथा धीरोद्धत होते हैं। प्रतिनायक ज्ञान की भ्रान्ति के कारण अनुचित कार्य करने वाला वर्णित होना चाहिये। वह किसी दिव्यस्त्री को—जो उसे नहीं चाहती, भगा कर के लाना चाहता है—इस तरह कवि को चाहिये कि कुछ-कुछ इसका शृङ्गाराभास भी प्रदर्शित किया जाय। इन नायक व प्रतिनायक के विरोध को पूर्णता तक ले जाकर किसी बहाने से युद्ध को हटा दे, उसका निवारण कर दे। उसके वध के समीप होने पर भी उसका वध कभी न कराये।

ईहामृग का यह नाम इसलिये रखा गया है कि इसमें नायक हिरन की तरह—किसी अलभ्य नायिका को प्राप्त करने की इच्छा करता है। इसकी कथावस्तु प्रख्यात व अख्यात का मिश्रण होती है। कारिका का 'अन्त्य' शब्द प्रतिनायक का सूचक है, जो मिथ्या ज्ञान के कारण अनुचितकारी होना चाहिए। बाकी स्पष्ट है।

इत्थं विचिन्त्य दशरूपकलक्ष्ममार्ग-
मालोक्य वस्तु परिभाव्य कविप्रबन्धान् ।
कुर्यादयत्नवदलङ्कृतिभिः प्रबन्धं
वाक्यैरुदारमधुरैः स्फुटमन्दवृत्तैः ॥ ७६ ॥

स्पष्टम् ।

॥ इति धनञ्जयकृतदशरूपकस्य तृतीयः प्रकाशः समाप्तः ॥

कवि को चाहिये कि इस तरह से दशरूपक के लक्षणों से विहित मार्ग को अच्छी तरह समझ कर, कथावस्तु का निरीक्षण कर तथा प्राचीन कवियों के प्रबन्धों का अनुशीलन कर, स्वाभाविक (अयत्नज) अलङ्कारों से युक्त, तथा प्रकट एवं सरल छन्द वाले, उदार एवं मधुर—अर्थ [illegible] समता वाले तथा रमणीय—वाक्यों के द्वारा प्रबन्ध (रूपक) की रचना करे।

तृतीय प्रकाशः

अथ चतुर्थः प्रकाशः ।

अथेदानीं रसभेदः प्रदर्श्यते—

> विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः ।
> आनीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायी भावो रसः स्मृतः ॥ १ ॥

वक्ष्यमाणस्वभावैर्विभावानुभावव्यभिचारिसात्त्विकैः काव्योपात्तैरभिनयोपदर्शितैर्वा श्रोतृप्रेक्षकाणामन्तर्विपरिवर्तमानो रत्यादिर्वक्ष्यमाणलक्षणः स्थायी स्वादगोचरताम् = निर्भरानन्दसंविदात्मतामानीयमानो रसः, तेन रसिकाः सामाजिकाः, काव्यं तु तथाविधानन्दसंविदुन्मीलनहेतुभावेन रसवत् आयुर्घृतमित्यादिव्यपदेशवत् ।

रूपकों की विशेषता का विवेचन करते हुए प्रथम प्रकाश में वस्तु का साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया, तथा द्वितीय प्रकाश में सपरिकर नायक की विवेचना की। तीसरे प्रकाश में रूपकों के विभिन्न प्रकारों के लक्षण बताये गये। अब रूपकों के आनन्दभूत रस की विवेचना आवश्यक हो जाती है, क्योंकि रूपकों के तीन तत्त्वों में से एक 'रस' भी है। अतः अब यहाँ चतुर्थ प्रकाश में धनञ्जय रस के भेदों का प्रदर्शन करते हैं।

विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव एवं व्यभिचारियों के द्वारा जब रत्यादि स्थायी भाव आस्वाद्य—चर्वणा के योग्य—बना दिया जाता है, तो वही रस कहलाता है।

काव्य में प्रयुक्त अथवा नाटकादि अभिनय के द्वारा प्रदर्शित विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव तथा सात्त्विक भावों के द्वारा—जिनका लक्षण व स्वभाव आगे इसी प्रकाश में वर्णित किया जायगा—श्रव्य श्रोताओं (श्रव्य काव्य के सम्बन्ध में) तथा दर्शकों (रूपकों के सम्बन्ध में) के हृदय में परिवर्तनशील रत्यादि स्थायी भाव—जिसका लक्षण हम आगे करेंगे, आस्वाद्य या स्वादगोचर होता है, तो वही रस कहलाता है। काव्य या नाटक का यह स्वाद अनुपम आनन्द से युक्त चेतना वाला होता है। रस का स्वाद लेने वाले रसिक हैं, अतः सामाजिक इसी नाम से कहे जाते हैं। इस प्रकार की अलौकिक निर्भर आनन्द-चेतना को प्रकट करने के कारण उसके हेतु होने से, श्रव्य या दृश्य काव्य 'रसवत्' कहलाता है, ठीक उसी तरह जैसे 'आयुर्घृतं' इस उदाहरण में घृत को 'आयु' कहा जाता है। वृत्तिकार का अभिप्राय यह है कि घृत मनुष्य की आयु तथा बल बढ़ाता है इस बात को देख कर घृत में आयु का हेतुत्व स्पष्ट है। इसलिए उपचार या लक्षणा शक्ति के आधार पर हम घृत को भी आयु कह देते हैं, एक तौर से घृत में आयुष्य को उपचरित कर लेते हैं। ठीक इसी तरह काव्य आनन्दरूप ज्ञानस्वरूप रस [illegible] प्रकट करने का कारण है इसलिए उसमें कार्यकारण भावजन्य लक्षणा के आधार पर ही हम 'रसवत्' का उपचार कर 'रसवत् काव्यम्' इस प्रकार [illegible] प्रयोग करते हैं।[1]

---

१ यहाँ ध्यान देने की बात है कि धनञ्जय व धनिक दोनों ही मीमांसक भट्ट लोल्लट के मतानुयायी हैं। उनके मतानुसार विभावादि रस के हेतु हैं, तथा उसमें वे परस्पर 'उत्पाद्य-उत्पादक' [illegible] सम्बन्ध मानते हैं। 'स्वाद्यत्वं आनीयमान' का दूसरा पद भी इसी बात का सङ्केत करता है। भरत के प्रसिद्ध सूत्र 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः' की विभिन्न व्याख्यायें भूमिका भाग में द्रष्टव्य हैं। यहाँ पर यह कह देना होगा कि ध्वनिवादी साहित्यशास्त्री रस को व्यङ्ग्य मानते हैं, वाच्य तथा उत्पाद्य नहीं, अतः उनकी रस की परिभाषा में इसका स्पष्ट उल्लेख होता है—

> "विभावेनानुभावेन व्यक्तः सञ्चारिणा तथा ।
> रसतामेति रत्यादिः स्थायी भावः सचेतसाम् ॥ (साहित्यदर्पण)

तत्र विभावः—

ज्ञायमानतया तत्र विभावो भावपोषकृत् ।
आलम्बनोद्दीपनत्वप्रभेदेन स च द्विधा ॥ २ ॥

अब रस के हेतु भूत विभावादि में सर्वप्रथम विभाव का ही विवेचन करते हैं:—

विभाव शब्द की व्युत्पत्ति 'विभाव्यत इति' इस प्रकार होने से इसका अर्थ यह है, कि विभाव वह है, जिसका ज्ञान हो सके। जिसे विभावित करके सामाजिक रसास्वाद करता है, वह विभाव है। यह विभाव भाव (स्थायी भाव) को पुष्ट करने वाला है, उसे रसरूप में परिणत करने वाला है। यह विभाव, आलम्बन तथा उद्दीपन [illegible] भेद से दो तरह का होता है।

'एवमयम्' 'एवमियम्' इत्यतिशयोक्तिरूपकाव्यव्यापाराहितविशिष्टरूपतया ज्ञायमानो विभाव्यमानः सन्नालम्बनत्वेनोद्दीपनत्वेन वा यो नायकादिरभिमतदेशकालादिर्वा स विभावः। यदुक्तम्—'विभाव इति विज्ञातार्थ इति' तांश्च यथास्वं यथावसरं च रसेषू-पपादयिष्यामः। अमीषां चानपेक्षितबाह्यसत्त्वानां शब्दोपधानादेवासादिततद्भावानां सामान्यात्मनां स्वस्वसम्बन्धित्वेन विभावितानां साक्षाद्भावकचेतसि विपरिवर्तमानानामाल-म्बनादिभाव इति न वस्तुशून्यता।

श्रव्य काव्य में वर्णित या दृश्य काव्य में मञ्च पर प्रदर्शित दुष्यन्त-शकुन्तला या राम सीता का रूप धारण करने वाले पात्रों को ही हम वैसा मान लेते हैं। जिस रूप में काव्य में दुष्यन्तादि का व्यापार उपनिबद्ध होता है, वह अतिशयोक्तिपूर्ण रहता है, पर इस अतिशयोक्ति रूप वर्णन के द्वारा कवि विशिष्ट दुष्यन्तादि के रूप को ही सम्पादित करता है, और सामाजिक यह समझ लेता है कि 'दुष्यन्त इस तरह का है, राम इस तरह का है' 'शकुन्तला इस तरह की है, सीता इस तरह की है।' इस प्रकार के विशिष्ट रूप में सामाजिकों के ज्ञान का विषय बनाने वाले, उनके द्वारा विभावित होने वाले विभाव कहलाते हैं। ये आलम्बन रूप में नायकादि, दुष्यन्त-शकुन्तला, राम-सीता आदि हो सकते हैं, या उद्दीपन रूप में इष्ट देशकाल आदि, चाँदनी, मन्द पवन, वसन्त ऋतु, पुष्पवाटिका आदि होते हैं। विभाव का अर्थ है, सामाजिकों के द्वारा ज्ञायमान अर्थ, जैसा कि किसी आचार्य ने कहा है—'विभाव [illegible] अर्थ है जिसका अर्थ ज्ञात हो।' ये आलम्बन व उद्दीपन विभाव रसादि के भेद के अनुसार, रसों के वर्णन करते समय वर्णित होंगे।

विभावों के ज्ञायमानत्व के विषय में कोई पूर्वपक्षी यह शङ्का कर सकता है, कि काव्य के विभावादि तो शब्दों तक ही सीमित रहते हैं, उनकी वास्तविक सत्ता तो होती ही नहीं—क्योंकि दृश्य काव्य में भी दुष्यन्तादि वास्तविक न होकर अवास्तविक हैं, ठीक यही बात चाँदनी आदि उद्दीपन विभाव के लिए कही जा सकती है—तो फिर उनकी असत्यता [illegible] कारण उनका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो पाता, अतः काव्य के विभावादि में ज्ञायमानत्व घटित नहीं होता। इसी शङ्का का उत्तर [illegible] हुए वृत्तिकार धनिक कहते हैं, [illegible] काव्य में वर्णित विभावों के बारे में ठीक वही बात लागू नहीं होगी, जो लौकिक ज्ञान के विषयरूप विभावों के बारे में। लौकिक ज्ञान में उनके भौतिक सत्त्व [illegible] आवश्यकता होती है—(देवदत्त [illegible] ज्ञान में प्रत्यक्ष रूप से देवदत्त इन्द्रियग्राह्य होना चाहिए।) किन्तु काव्यगत विभावों की बाह्य सत्त्व-भौतिक सत्ता की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि काव्यगत विभावों की भावना, उनका ज्ञान तो शब्द प्रयुक्त

शब्दों के द्वारा ही हो जाता है, साथ ही लौकिक ज्ञान के विषय विशिष्ट होते हैं, जब कि काव्यगत विभाव सामान्यरूप (सामान्यात्मना) होते हैं।[1]

ये विभाव अपने अपने रस के अनुकूल विभावित होते हैं, तथा सहृदय के चित्त में इस तरह घूमते रहते हैं, जैसे वह इनका साक्षात् ज्ञान प्राप्त कर रहा हो। इन्हीं विशेषताओं से युक्त विभावों को हम आलम्बन व उद्दीपन भाव कहते हैं। किन्तु यह स्पष्ट है, कि सहृदय के हृदय में इन विभावों के सामान्य रूप का साक्षात् ज्ञान होता है, इसलिए इनमें वस्तुशून्यता नहीं मानी जा सकती। शब्दों के द्वारा, जब हम किसी भी वस्तु के बौद्धिक ज्ञान को प्राप्त करते हैं, तो वह प्रत्यक्ष-सा ही होता है।

तदुक्तं भर्तृहरिणा—

'शब्दोपहितरूपांस्तान्बुद्धेर्विषयतां गतान्।
प्रत्यक्षमिव कंसादीन्साधनत्वेन मन्यते॥' इति।

षट्सहस्रीकृताप्युक्तम्—'एभ्यश्च सामान्यगुणयोगेन रसा निष्पद्यन्ते' इति।

इसकी पुष्टि में भर्तृहरि के वाक्यपदीय की यह कारिका दी जा सकती है —

'वाक्यादि में जब 'कंस' आदि शब्द का प्रयोग करते हैं, तो शब्द के कहने के साथ ही साथ वे शब्द कंसादि के रूप को बुद्धि का विषय बना देते हैं। और फिर बुद्धिगत कंसादि को हम लोग प्रत्यक्ष रूप की भाँति कर्म, कारक आदि साधन के रूप में या हमारे ज्ञान के साधक (साधन) के रूप में ग्रहण करते हैं।'

षट्सहस्रीकार ने भी यही बात कही है —'ये विभाव, सामान्य गुणयुक्त होकर ही रस को निष्पन्न करते हैं।'

तत्रालम्बनविभावो यथा—

'अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः
शृङ्गारैकनिधिः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः।
वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः॥'

इसमें आलम्बन विभाव नाटक के सामाजिक के लिए नायक व नायिका दोनों हैं। वह कि नायक के लिए नायिका आलम्बन है, व नायिका के लिए नायक। किन्तु मोटे तौर पर आलम्बन विभाव का विवेचन करते समय नायक को ही रस का आश्रय माना जाता है। उसके लिए आलम्बन नायिका होती है। यहाँ पर इसी ढंग का उदाहरण दिया जा रहा है। विक्रमोर्वशीय नाटक में पुरूरवा उर्वशी को देखकर मुग्ध हो जाता है। निम्न पद्य में [illegible] आलम्बन विभाव रूप उर्वशी का वर्णन कर रहा है —

लोग कहते हैं, [illegible] संसार के प्राणियों की रचना ब्रह्मा करते हैं, पर इस उर्वशी को देखकर तो ऐसी कल्पना होती है, [illegible] इसकी रचना उस वासीस बूढ़े खूसट ब्रह्मा के द्वारा नहीं की गई है। क्योंकि वेदों के बार बार पढ़ने से जड़ व शुष्क हृदय वाला यह बूढ़ा ऋषि ब्रह्मा जिसका अब भोगविलास-विषय के प्रति कोई कुतूहल नहीं रह गया है, इस रमणी के [illegible] मनोहर रूप को बनाने में कैसे समर्थ हो सकता है? हाँ, यदि इसकी सृष्टि करने में कोई सह

1. लौकिक ज्ञान व काव्यसम्बन्धी ज्ञान में सभी साहित्यशास्त्री यह भेद मानते हैं, कि एक में व्यक्ति व विशिष्ट (इन्द्रियग्राह्य) [illegible] ज्ञान होता है, दूसरे में जाति या सामान्य (Idea) का। इसी को भारतीय साहित्यशास्त्री 'साधारणीकरण' कहता है। प्लेटो काव्य का विषय-विशिष्ट न मानकर सामान्य मानता है, व उसे (Idea) कहता है। यही मत शोपेनहावर का है, जो कला या काव्य का प्रतिपाद्य (the Idea of such things) को मानता है।

रहा होगा, तो मेरी ऐसी कल्पना है, कि यह या तो स्वयं चन्द्रमा ही होगा, जो कान्ति को देने वाला है, या फिर शृङ्गार का एक मात्र कोष—कामदेव रहा होगा, या ये दोनों न रहे हों, तो फिर इसकी रचना फूलों से लदे वसन्त मास ने की होगी। इतनी सुन्दर रचना करने की सामर्थ्य चन्द्रमा, कामदेव या वसन्त ऋतु में ही है, उस बूढ़े खूसट ब्रह्मा में कहाँ!

उद्दीपनविभावो यथा—

'अयमुदयति चन्द्रश्चन्द्रिकाधौतविश्व-
परिणतविमलिम्नि व्योम्नि कर्पूरगौरः।
ऋजुरजतशलाकास्पर्धिभिर्यस्य पादै-
र्जगदमलमृणालीपञ्जरस्थं विभाति ॥'

उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत देश काल आदि का समावेश होता है। किसी भी आलम्बन विभाव के कारण उद्बुद्ध स्थायीभाव को ये उद्दीपन विभाव और अधिक उद्दीप्त कर रसत्व को पहुँचाते हैं। मान लीजिये, शकुन्तला को देखकर दुष्यन्त के मन में रति भाव उद्बुद्ध होता है, यहाँ शकुन्तला आलम्बन है। मालिनीतट, वसन्त ऋतु, लताकुञ्ज, कोकिल की काकली आदि वे विभाव हैं, जो उस रति भाव को दुष्यन्त के मन में उद्दीप्त करते हैं। ये उद्दीपन विभाव कहलाते हैं। यहाँ चन्द्रिकारूप उद्दीपन विभाव का उदाहरण देते हैं:—

कपूर के समान श्वेत यह चन्द्रमा, जिसने सारे विश्व को चाँदनी से धो दिया है, निर्मलता से युक्त (जिसकी निर्मलता प्रकट हो गई है) आकाश में उदित हो रहा है। इसकी, कोमल चाँदी की शलाका के समान श्वेत किरणों के द्वारा सारा संसार ऐसा सुशोभित हो रहा है, मानो निर्मल कमलनाल तन्तु के पिंजरे में रखा हुआ हो।

अनुभावो विकारस्तु भावसंसूचनात्मकः ।

विभाव का विवेचन करने पर प्रसङ्गप्राप्त अनुभाव का लक्षण बताते हैं —

रत्यादि स्थायी भाव की सूचना करने वाले विकार (जो दुष्यन्तादि आश्रय में पाये जाते हैं) अनुभाव कहलाते हैं।

स्थायिभावाननुभावयन्तः सामाजिकान् भ्रूविक्षेपकटाक्षादयो रसपोषकारिणोऽनुभावाः, एते चाभिनयकाव्ययोरप्यनुभावयतो साक्षाद्भावकचामनुभवकर्मतयानुभूयन्त इत्यनुभवनमिति चानुभावा रसिकेषु व्यपदिश्यन्ते। विकारो भावसंसूचनात्मक इति लौकिकरसापेक्षया, इह तु तेषां कारणत्वमेव। यथा ममैव—

'उज्जृम्भाननमुल्लसत्कुचतटं लोलभ्रमद्भ्रूलतं
स्वेदाम्भःस्नपिताङ्गयष्टिविगलद्व्रीडं सरोमाञ्चया।
धन्यः कोऽपि युवा स यस्य वदने व्यापारिताः सस्पृहं
मुग्धे दुग्धमहाब्धिफेनपटलप्रख्याः कटाक्षच्छटाः ॥'

इत्यादि यथारसमुदाहरिष्यामः।

अनुभाव, इस शब्द की व्युत्पत्ति यह की जाती है, कि ये सामाजिकों को रत्यादि स्थायिभाव का अनुभव कराते हैं।[1] इन्हें देखकर सामाजिकों को यह अनुभव हो जाता है, कि अमुक

---

[1] अनुभाव शब्द की दूसरी व्युत्पत्ति यह भी की जाती है 'अनुपश्चाद् भवन्तीति अनुभावाः' जो आश्रय में स्थायी भाव के उद्बुद्ध होने के बाद पैदा होते हैं। इसलिए इन्हें स्थायी भाव का कार्य भी कहा जाता है। विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी [illegible] स्थायी भाव का

पान-दुष्यन्तादि में, अमुक स्थायी भाव उद्बुद्ध हो रहा है। ये अनुभाव भ्रूक्षेप, कटाक्ष आदि (आश्रय के) शारीरिक विकार हैं, तथा रस को परिपुष्ट करते हैं। अभिनय (दृश्य काव्य) तथा काव्य में इन अनुभवों का प्रत्यक्ष अनुभव करने वाले सामाजिकों के अनुभव के विषय होते हैं इसलिए अथवा ये रत्यादि स्थायी भाव के बाद होते हैं इसलिए ये अनुभाव कहलाते हैं। रसिकों में ये इसी नाम से पुकारे जाते हैं। कारिका में अनुभावों को भावसंसूचक विकार कहा गया, वह लौकिक रस की दृष्टि से ही कहा गया है, काव्य में तो ये भी रसपोष के कारण ही होते हैं। (लोक में नायक नायिका का जो प्रेम देखा जाता है, वह लौकिक रस है। वहाँ भ्रूविक्षेप आदि उस रस (प्रेम) से उत्पन्न होते हैं, अतः ये कार्य हैं। नाटक व काव्य का रस, जिसकी चर्वणा सामाजिकों द्वारा की जाती है, अलौकिक रस है। वह अनुभाव के बिना उत्पन्न नहीं हो सकता, अतः यहाँ इन्हें कारण [illegible] मानना ठीक होगा।)

अनुभावों के उदाहरण के लिए धनिक का स्वरचित पद्य लिया जा सकता है, जहाँ किसी युवा को देखकर रति भाव से आविष्ट सुन्दरी के अनुभावों का वर्णन किया गया है।

हे भोली सुन्दरी, वह कोई भी युवक सचमुच धन्य है, जिसके चेहरे की ओर (तुमने) कामवासना से पूर्ण होकर, मुँह से जँभाई लेते हुए, स्तनतट को ऊँचा उठाकर सुशोभित होते हुए, भौंहों की लता को चञ्चलता के साथ मटकाते हुए, अपने शरीर को पसीने के जल से नहलाते हुए तथा लज्जा का त्याग करते हुए, रोमाञ्चित होकर, दुग्ध-महासमुद्र के फेनसमूह के समान कान्ति वाले कटाक्षों की शोभा को व्यापारित किया। जिसकी ओर तुमने इस तरह के भाव से कटाक्ष-पात किया, वह युवक सचमुच भाग्यशाली है।

इन अनुभावों को हम प्रत्येक रस के अवसर पर उदाहृत करेंगे।

हेतुकार्यात्मनोः सिद्धिस्तयोः संव्यवहारतः ॥ ६ ॥

ये विभाव तथा अनुभाव रस (लौकिक रस) के कारण तथा कार्य हैं तथा लोकव्यवहार में इनका प्रत्यक्ष रूप देखने के कारण ये व्यवहार सिद्ध हैं—(अतः इनका पृथक् लक्षण नहीं किया गया है।)

तयोर्विभावानुभावयोर्लौकिकरसं प्रति हेतुकार्यभूतयोः संव्यवहारादेव सिद्धत्वान्न पृथग्लक्षणमुपयुज्यते। तदुक्तम्—'विभावानुभावौ लोकसंसिद्धौ लोकयात्रानुगामिनौ लोकस्वभावोपगतत्वाच्च न पृथग्लक्षणमुच्यते' इति।

(१) ये दोनों विभाव व अनुभाव जो लौकिक रस के हेतु तथा कार्य हैं, लौकिक व्यवहार से ही सिद्ध हैं, अतः इनका पृथक् लक्षणीकरण आवश्यक नहीं। जैसा कि कहा गया है—'विभाव तथा अनुभाव लोकव्यवहार के द्वारा प्रमाणित हैं, तथा वे लोकव्यवहार के अनुसार पाये जाते हैं—लोकयात्रानुगामी हैं—साथ ही लोकस्वभाव से युक्त हैं, इन कारणों से उनका पृथक् लक्षण नहीं कहा गया है।'

अथ भावः—

सुखदुःखादिकैर्भावैर्भावस्तद्भावभावनम्।

अनुकार्याश्रयत्वेनोपनिबध्यमानैः सुखदुःखादिरूपैर्भावैस्तद्भावस्य भावकचेतसो भावनं वासनं भावः। तदुक्तम्—'अहो ह्यनेन रसेन गन्धेन [illegible] सर्वमेतद्भावितं वासितम्' इति।

क्रमशः कारण, कार्य तथा सहकारी कारण माना जाता है, वैसे काव्य में ये सभी कारण हैं। यहाँ पर यह भी याद रखने की है, कि आलम्बन के शारीरिक विकार 'अनुभाव' नहीं माने जाते। वे 'हाव' 'हेला' आदि के अन्तर्गत आते हैं, तथा उद्दीपन विभाव के अङ्ग हैं।

यत्तु 'रसान्भावयन्भाव' इति 'कवेरन्तर्गतं भावं भावयन्भाव' इति [illegible] तद् अभिनयकाव्ययोः प्रवर्तमानस्य भावशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तकथनम्। ते च स्थायिनो व्यभिचारिणश्चेति वक्ष्यमाणाः।

प्रथम कारिका में विभाव व अनुभाव के साथ सात्त्विक तथा व्यभिचारी का उल्लेख हुआ है। सात्त्विक तथा व्यभिचारी दोनों के साथ स्थायी की भाँति 'भाव' शब्द का प्रयोग पाया जाता है, जैसे सात्त्विक भाव, व्यभिचारी भाव, स्थायी भाव। इसलिए यहाँ 'भाव' शब्द की परिभाषा देना आवश्यक हो जाता है। उसीका लक्षण बताते हैं:—

काव्य या अभिनय में उपनिबद्ध आश्रय (दुष्यन्तादि) के सुख दुःख, हर्ष-शोक आदि भावों के द्वारा सामाजिक के हृदय का उस ही भाव से भावित होना—उस भाव तथा सामाजिक के भाव की एकतानता 'भाव' कहलाती है।

नाटक में जिन व्यक्तियों का अनुकरण किया जाता है, वे वास्तविक रामादि या दुष्यन्तादि होते हैं। कवि यहाँ में सुख [illegible]ख आदि भावों का उपनिबन्धन करता है, जिनका निरूपण नट करता है। इन अनुकार्य व्यक्तियों के सुख दुःखादि भाव की भावना-वासनाएँ—जब सहृदय हृदय के द्वारा होती है, तो इस वासना को भाव कहते हैं। (मान लीजिये, शकुन्तला से विरहित दुष्यन्त को दुःखी देख कर व उसके शोक में षष्ठ अङ्क में चित्रलेखन के द्वारा जी बहलाते देख कर दुष्यन्त के दुःख के साथ हमारी एकतानता हो जाती है। जैसे दुष्यन्त के दुःखादि भाव ने हमारे मानस को भावित या वासित कर दिया है।) ठीक यही बात एक आचार्य ने कही है,—'अरे इस रस या गन्ध से यह सब कुछ भावित हो गया, वासित हो गया है।' (यह ठीक वैसे ही है जैसे अगरबत्ती आदि की धूप जो अगरबत्ती में आश्रित है, धुक होने पर सारे समीपस्थ प्रदेश को वासित कर देती है, वैसे ही अनुकार्य रामादि में आश्रित दुःखादि, सामाजिक के हृदय को वासित कर देते हैं।)

भाव की व्युत्पत्ति दूसरे ढङ्ग से भी की गई है—'भाव वह है जो रसों को भावित करता है,' या 'भाव वह है जो कवि के आन्तरिक भाव को भावित करता है।' इसलिए पूर्वपक्षी यह शङ्का कर सकता है, कि प्राचीन आचार्यों की 'भाव' के सम्बन्ध में यह व्युत्पत्ति है, फिर ऊपर जो नई व्युत्पत्ति दी गई वह कैसे मानी जाय। इसीका उत्तर देते हुए धनिक का कहना है कि ये दो व्युत्पत्तियाँ उस भाव शब्द की दी गई हैं, जो अभिनय व काव्य का प्रवर्तक या बोधक है, तथा इनका प्रयोग उन्हीं दोनों कार्यों से सम्बद्ध भाव के लिए है। जैसे (धनिक ने) जिस अर्थ से भाव की व्युत्पत्ति दी है वह रसिक के हृदय में भावित भाव की दृष्टि से। अतः दोनों का विषय भिन्न होने से इस व्युत्पत्ति का प्राचीनों की व्युत्पत्ति से कोई विरोध नहीं पड़ता। ये भाव दो तरह के होते हैं:—स्थायी तथा व्यभिचारी, इनका वर्णन आगे किया जायगा।

पृथग्भावा भवन्त्यन्येऽनुभावत्वेऽपि सात्त्विकाः ॥ ४ ॥
सत्त्वादेव समुत्पत्तेस्तच्च तद्भावभावनम्।

परगतदुःखहर्षादिभावनायामत्यन्तानुकूलान्तःकरणत्वं सत्त्वम्, यदाह—'सत्त्वं नाम मनःप्रभवं तच्च समाहितमनस्त्वादुत्पद्यते, एतदेवास्य सत्त्वं यत् खिन्नेन प्रहर्षितेन चाश्रुरोमाञ्चादयो निर्वर्त्यन्ते तेन सत्त्वेन निर्वृत्ताः सात्त्विकास्त एव भावास्तत उत्पद्यमानत्वादश्रुप्रभृतयोऽपि भावा भावसंसूचनात्मकविकाररूपत्वाच्चानुभावा इति द्वैरूप्यमेषाम्।' इति।

यद्यपि सात्त्विक भावों में अनुभावत्व है, वे अनुभावों की ही तरह आश्रय के विकार

हैं, फिर भी सात्विक भाव अलग से भाव माने जाते हैं। इन सात्त्विकों को 'भाव' संज्ञा इसलिए दी जाती है कि ये सत्त्व (मानसिक स्थिति) से ही उत्पन्न होते हैं। सत्त्व का अर्थ है, अनुकार्य रामादि के दुःखादि भाव से भावक के चित्त का भावित होना।

दूसरे लोगों के दुःख, हर्ष आदि की भावना में जब भावक का अन्तःकरण अत्यधिक अनुकूल व एकतान हो जाय उसे 'सत्त्व' कहते हैं। जैसा कहा गया है—'सत्त्व का अर्थ है मन से उत्पन्न, यह सत्त्व मन की एकाग्रता से उत्पन्न होता है। मन का सत्त्व यही है कि जब वह दुखी या हर्षित होता है तो अश्रु रोमाञ्च आदि निकल पड़ते हैं। ये अश्रुरोमाञ्चादि सत्त्व से निर्वृत्त होते हैं, अतः सात्त्विक भाव कहलाते हैं। इसलिए सत्त्व से उत्पन्न होने के कारण ये अश्रु आदि—किन्तु ये भाव के सूचक हैं—भाव कहलाते हैं, दूसरी ओर ये विकार रूप भी हैं इसलिए अनुभाव भी हैं। इस तरह अश्रु आदि एक ओर सात्त्विक भाव व दूसरी ओर अनुभाव इन दो रूपों से युक्त होते हैं।

(निम्नोक्त आठ सात्त्विक भावों के अतिरिक्त और विकाररूप अनुभाव ही होते हैं।)

ते च—

स्तम्भप्रलयरोमाञ्चाः स्वेदो वैवर्ण्यवेपथू ॥ ५ ॥
अश्रुवैस्वर्यमित्यष्टौ, स्तम्भोऽस्मिन्निष्क्रियाङ्गता ।
प्रलयो नष्टसंज्ञत्वम्, शेषाः सुव्यक्तलक्षणाः ॥ ६ ॥

ये सात्त्विक भाव आठ हैं:—स्तम्भ, प्रलय (अचेतनता), रोमाञ्च, स्वेद, वैवर्ण्य (मुँह का रङ्ग फीका पड़ जाना), वेपथु (कम्प), अश्रु, वैस्वर्य (आवाज में परिवर्तन)। स्तम्भ का अर्थ है अङ्गों का निष्क्रिय हो जाना, तथा प्रलय का अर्थ है संज्ञा-चेतना-का नष्ट हो जाना। बाकी नाम स्पष्ट ही हैं।

यथा—

वेवइ सेअदवदनो रोमञ्चिअ गत्तिए वलइ ।
विल्लुलु उ वलअ लहु बाहोअल्लीए रवेलि ॥
मुहउ सामलि होई खणे विमुच्छइ विअग्घेण ।
मुद्धा मुहअल्ली तुअ पेम्मेण सावि ण धिम्मइ ॥'
('वेपते स्वेदवदना रोमाञ्चं गात्रे वपति ।
विलोलस्ततो वलयो लघु बाहुवल्लया रणति ॥'
मुखं श्यामलं भवति क्षणं विमूर्च्छति विदग्धेन ।
मुग्धा मुखवल्ली तव प्रेम्णा सापि न धैर्यं करोति')

उदाहरण के रूप में एक ही उदाहरण में सारे सात्त्विक भावों का उल्लेख करते हैं —

हे युवक, तेरे प्रेम के कारण वह नायिका बिलकुल धैर्य धारण नहीं करती। उसके चेहरे पर पसीना आ जाता है, उसके शरीर में रोंगटे उठ आते हैं, तथा वह काँपने लगती है। उसका चञ्चल कड़ा (हाथ का वलय) बाहु रूपी लता में मन्द-मन्द शब्द करता है। उसका मुँह काला पड़ जाता है, तथा क्षण भर के लिए मूर्च्छित हो जाती है। उसकी मुखरूपी लता कुछ भी धीरज नहीं धरती।

अथ व्यभिचारिणः, तत्र सामान्यलक्षणम्—

विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः ।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नाः कल्लोला इव वारिधौ ॥ ७ ॥

यथा वारिधौ सत्येव कल्लोला उद्भवन्ति विलीयन्ते च तद्वदेव रत्यादौ स्थायिनि सत्येवाविर्भावतिरोभावाभ्यामाभिमुख्येन चरन्तो वर्तमाना निर्वेदादयो व्यभिचारिणो भावाः।

अब प्रसङ्गप्राप्त व्यभिचारियों का सामान्यलक्षण बताते हैं:—जो भाव विशेष रूप से, अर्थात् आभिमुख्य से, स्थायी भाव के अन्तर्गत कभी उठते और कभी गिरते-डूबते-उतराते-नजर आते हैं, वे व्यभिचारी भाव होते हैं। ये भाव स्थायी भाव में इसी तरह उन्मग्न तथा निमग्न होते हैं, जैसे समुद्र में तरङ्गें उठती हैं व विलीन हो जाती हैं।

जैसे समुद्र में ही लहरें पैदा होती हैं और विलीन होती हैं, वैसे ही रत्यादि स्थायी भाव में ही निर्वेदादि व्यभिचारी भाव आविर्भूत होते हैं तथा तिरोहित हो जाते हैं, इस प्रकार व्यभिचारी भाव विशेष रूप से स्थायी भाव में ही उठते व विलीन होते रहते हैं। ये भाव ३३ होते हैं।

ते च—

निर्वेदग्लानिशङ्काश्रमधृतिजडताहर्षदैन्यौग्र्यचिन्ता-
त्रासेर्ष्यामर्षगर्वाः स्मृतिमरणमदाः सुप्तनिद्राविबोधाः।
व्रीडापस्मारमोहाः सुमतिरलसतावेगतर्कावहित्था
व्याध्युन्मादौ विषादोत्सुकचपलयुतास्त्रिंशदेते त्रयश्च॥ ८॥

ये व्यभिचारी भाव ३३ होते हैं—निर्वेद, ग्लानि, शङ्का, श्रम, धृति, जड़ता, हर्ष, दैन्य, औग्र्य, चिन्ता, त्रास, ईर्ष्या, अमर्ष, गर्व, स्मृति, मरण, मद, सुप्त, निद्रा विबोध, व्रीडा, अपस्मार, मोह, मति, अलसता, वेग, तर्क, अवहित्था, व्याधि, उन्माद, विषाद, उत्सुकता (औत्सुक्य) तथा चपलता।

तत्र निर्वेदः—

तत्त्वज्ञानापदीर्ष्यादेर्निर्वेदः स्वावमाननम्।
तत्र चिन्ताश्रुनिःश्वासवैवर्ण्योच्छ्वासदीनताः॥ ९॥

(निर्वेद)

तत्त्वज्ञान, आपत्ति या ईर्ष्या के कारण स्वयं का तिरस्कार, निर्वेद नामक व्यभिचारी भाव कहलाता है। इसके चिह्न (अनुभाव) चिन्ता, अश्रु, वैवर्ण्य, उच्छ्वास तथा दीनता है।

तत्त्वज्ञानान्निर्वेदो यथा—

'प्राप्ताः श्रियः सकलकामदुघास्ततः किं
दत्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किम्।
सम्प्रीणिताः प्रणयिनो विभवैस्ततः किं
कल्पं स्थितं तनुभृतां तनुभिस्ततः किम्॥'

तत्त्वज्ञान से निर्वेद जैसे—

अगर समस्त इच्छाओं को पूर्ण करने वाली सम्पत्ति प्राप्त हो जाय तो उससे क्या? शत्रुओं के सिर पर पैर रख दिया गया हो, उन्हें कुचल दिया हो, तो उससे क्या? मित्रों व स्नेही बान्धवों को धनादि से तुष्ट कर दिया हो, तो क्या हुआ? शरीरधारी मनुष्यों के शरीर कल्प पर्यन्त जीवित रहें, तो भी क्या लाभ?

आपदो यथा—

'राज्ञो विपद्बन्धुवियोगदुःखं देशच्युतिर्दुर्गममार्गखेदः ।
आस्वाद्यतेऽस्याः कटुनिष्फलायाः फलं मयैतच्चिरजीवितायाः ॥'

आपत्ति से निर्वेद जैसे—

राजा के लिए विपत्ति, बान्धवों के वियोग का दुःख, देश का खो देना, तथा दुर्गम मार्ग में घूम कर कष्ट सहना—(विरोधी बातें हैं।)। पर मेरे द्वारा कड़वे फलवाली, चिरकाल रहने वाली, इस (प्रकृति-स्वभाव) का यह फल चखा जा रहा है।

ईर्ष्यातो यथा—

'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः
सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसभटाञ्जीवत्यहो रावणः ।
धिग्धिक्शक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनपरैः पीनैः किमेभिर्भुजैः ॥'

ईर्ष्या से निर्वेद, जैसे राम से हारते हुए रावण की निम्न उक्ति में—

यह मेरा सबसे बड़ा अपमान है, कि मेरे जैसे वीर के भी शत्रु हो सकते हैं, और फिर शत्रु भी है, तो यह तापस बाला, और फिर वह यहीं—मेरे घर में ही, लङ्का में—आकर राक्षस वीरों को मार रहा है। इस तिरस्कार व अपमान को सह कर भी रावण जिन्दा है, यह बहुत बड़े दुःख की बात है। इन्द्र को जीतने वाले मेघनाद को—उसकी वीरता को—धिक्कार है, अथवा कुम्भकर्ण को नींद से जगाने से भी क्या लाभ हुआ, और स्वर्ग के छोटे गाँव को लूटने में निपुण मेरे ये मोटे हाथ भी व्यर्थ हैं।

वीरशृङ्गारयोर्व्यभिचारी निर्वेदो यथा—

'ये बाहवो न युधि वैरिकठोरकण्ठ-
पीठोच्छलद्रुधिरराजिविराजितांसाः ।
नापि प्रियापृथुपयोधरपत्रभङ्ग-
सङ्क्रान्तकुङ्कुमरसाः खलु निष्फलास्ते ॥'

आत्मानुरूपं रिपुं रमणीं चाऽलभमानस्य निर्वेदादियमुक्तिः । एवं रसान्तराणामप्यङ्गभाव उदाहार्यः ।

वीर तथा शृङ्गार रस के व्यभिचारिभावरूप निर्वेद का उदाहरण, जैसे—

जो हाथ, न तो युद्ध में वैरियों के कठोर कण्ठतट में उछलते हुए, खून से सुशोभित भाग वाले हैं, और न प्रिया के पीन स्तनों की पत्रावली के कुङ्कुम रस से गीले ही हुए हैं, निःसन्देह वे हाथ निष्फल ही हैं।'

यह उक्ति ऐसे व्यक्ति के निर्वेद को सूचक है, जिसे न तो अपने लायक शत्रु ही मिला है, न कोई सुन्दरी प्रिया ही प्राप्त हुई है। जैसे यहाँ वीर तथा शृङ्गार के व्यभिचारिभूत निर्वेद का उदाहरण दिया गया, वैसे दूसरे रसों के अङ्गरूप में भी इसका उदाहरण दिया जा सकता है।

रसानङ्गः स्वतन्त्रो निर्वेदो यथा—

'कस्त्वं भो कथयामि दैवहतकं मां विद्धि शाखोटकं
वैराग्यादिव वक्षि साधु विदितं कस्मादिदं श्रूयताम् ।

यत्नेनात्र परस्तमध्वगजनः सर्वात्मना सेवते

न च्छायापि परोपकारकरणी मार्गस्थितस्यापि मे ॥

विभावानुभावरसाङ्गानङ्गभेदादनेकशो निर्वेदो निदर्शनीयः।

निर्वेद स्वतन्त्र रूप में भी पाया जा सकता है, जहाँ वह किसी रस का अङ्ग नहीं रहता। स्वतन्त्र निर्वेद का उदाहरण, जैसे—

कोई व्यक्ति शाखोटक वृक्ष से प्रश्न पूछ रहा है, तथा वह उत्तर देता है। इस प्रकार उत्तर प्रत्युत्तर रूप में शाखोटक वृक्ष का निर्वेद बताया गया है।

'तुम कौन हो, भाई' 'कहता हूं, मैं अभागा शाखोटक हूँ' 'तुम तो वैराग्य से बोल रहे हो।' 'तुमने ठीक समझा' 'ऐसा क्यों' 'तो सुनो, देखो, इधर बाईं ओर एक बरगद का पेड़ है। राहगीर उसे हर तरह से सेते हैं। यद्यपि मैं सड़क पर खड़ा हूँ, तथापि मेरी छाया भी दूसरे का उपकार नहीं कर पाती।'

(अप्रस्तुत प्रशंसा के द्वारा किसी ऐसे व्यक्ति का निर्वेद सूच्य है, जो दिल से तो परोपकार करना चाहता है, पर उसके पास परोपकार करने के साधन नहीं हैं।)

यह निर्वेद विभाव, अनुभाव तथा रस के अङ्ग रूप में तथा स्वतन्त्र रूप में अनेक प्रकार का दिखाया जा सकता है।

अथ ग्लानिः—

रत्यायासतृट्क्षुद्भिर्ग्लानिर्निष्प्राणतेह च।

वैवर्ण्यकम्पानुत्साहक्षामाङ्गवचनक्रियाः ॥ १० ॥

निधुवनकलाभ्यासादिश्रमतृट्क्षुदादिभिर्निष्प्राणतारूपा ग्लानिः। अस्यां च वैवर्ण्यकम्पानुत्साहादयोऽनुभावाः।

(ग्लानि)

सुरत आदि से उचित परिश्रम, तृषा तथा क्षुधा के द्वारा जो निष्प्राणता हो जाती है, उसे ग्लानि भाव कहते हैं। इसके अन्तर्गत वैवर्ण्य, कम्प, अनुत्साह, अङ्ग, वचन, व क्रिया का मन्द हो जाना—ये अनुभाव पाये जाते हैं।

यथा माघे—

'लुलितनयनताराः क्षामवक्त्रेन्दुबिम्बा

रजनय इव निद्राक्लान्तनीलोत्पलाक्ष्यः।

तिमिरमिव दधानाः स्रंसिनः केशपाशा

नवनिपतिगृहेभ्यो यान्त्यमूर्वारवध्वः'

शेषं निर्वेदवदूह्यम्।

ग्लानि का उदाहरण माघ के एकादश सर्ग का निम्न पद दिया गया है—

देखो, प्रातःकाल होते ही ये वारविलासिनियाँ, जिनके नेत्रों की पुतलियाँ निष्कम्प हो गई हैं, जिनके मुख रूपी चन्द्रबिम्ब दुबले-पड़ गये हैं (क्षीणकान्ति हो गये हैं), और जिनकी नील कमल के समान नींद के कारण सुन्दर आँखें मुरझा गई हैं, अन्धकार के समान ढीले घने काले केशपाश को धारण करती हुई, राजाओं के घर से इसी तरह लौट रही हैं, जैसे प्रातःकाल के कारण प्रकाशहीन तारों वाली, पीले चन्द्रमा वाली, तथा क्लान्त इन्दीवर से युक्त, प्रभात समय रात्रियाँ राजगृह से वापस जा रही हों।

ग्लानि के विषय में रसाङ्गता या अनङ्गता ठीक उसी तरह समझी जानी चाहिए, जैसा हम निर्वेद के बारे में कह चुके हैं।

(श्रम)

मार्ग में चलने के कारण या सुरत के कारण जनित खेद को श्रम कहते हैं। इसमें स्वेद, मर्दन आदि अनुभाव पाये जाते हैं।

मार्गजनित श्रम, जैसे उत्तररामचरित में (राम सीता से कहते हैं)—

हे सीते, यह वही स्थान है, जहाँ मार्ग में चलने के कारण उत्पन्न खेद से अलसाए मनोहर एवं मुग्ध अङ्गों को, जो कुम्हलाए बिसतन्तु के समान दुर्बल थे, तथा जिन्हें मैंने गाढ आलिङ्गनों के द्वारा सवाहित किया (दबाया) था—मेरे वक्षःस्थल पर रख कर तुम सो गई थी।

रतिश्रमो यथा माघे—

'प्राप्य मन्मथरसादतिभूमिं दुर्वहस्तनभराः सुरतस्य ।
शश्रमुः श्रमजलार्द्रललाटश्लिष्टकेशमसितायतकेश्यः ॥'

इत्याद्युत्प्रेक्ष्यम् ।

रतिश्रम, जैसे शिशुपालवध के दशम सर्ग में—

काले तथा लम्बे बालों वाली रमणियाँ, जिनके स्तन का भार वहन करना बड़ा कठिन हो गया था, मन्मथ राग के कारण सुरत की पराकाष्ठा को प्राप्त कर (अत्यधिक सुरतक्रीडा करके), पसीने की बूँदों से गीले ललाट पर चिपके हुए बालों को धारण करती हुईं, थक गईं।

श्रम के विषय में इसी प्रकार आदि इसी तरह समझ लेना चाहिए।

अथ धृति —

सन्तोषो ज्ञानशक्त्यादेर्धृतिरव्यग्रभोगकृत् ॥ १९ ॥

ज्ञानाद्यथा भर्तृहरिशतके—

'वयमिह परितुष्टा वल्कलैस्त्वं च लक्ष्म्या
सम इह परितोषो निर्विशेषो विशेषः ।
स तु भवतु दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला
मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः ॥'

शक्तितो यथा रत्नावल्याम्—

'राज्यं निर्जितशत्रु योग्यसचिवे न्यस्तः समस्तो भरः
सम्यक्पालनपालिताः प्रशमिताशेषोपसर्गाः प्रजाः ।
प्रद्योतस्य सुता वसन्तसमयस्त्वं चेति नाम्ना धृतिं
कामः काममुपैत्वयं मम पुनर्मन्ये महानुत्सवः ॥'

इत्याद्यूह्यम् ।

(धृति)

ज्ञान, शक्ति, आदि के कारण जहाँ ऐसा सन्तोष हो जाय, जो बिना किसी व्यग्रता के कर्मभोग को भोगे, वह सन्तोष धृति (धैर्य) कहलाता है।

ज्ञान से धृति जैसे भर्तृहरिशतक में—(कोई सन्तोषी सम्पत्तिवान् से कहता है)—

हम लोग इन वल्कलों से ही सन्तुष्ट हैं और तुम सम्पत्ति से प्रसन्न हो। इस तरह तुम्हारा और हमारा सन्तोष समान है। अब हम दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। जिसकी तृष्णा बहुत बड़ी होती है, वह दरिद्र हो सकता है। अरे जब मन ही सन्तुष्ट है तो कौन सम्पत्तिशाली, और कौन दरिद्र?

प्राप्ति से जनित धृति, जैसे रत्नावली नाटिका के उदयन में धृति भाव की स्थिति—

'राज्य के सारे शत्रु जीते जा चुके हैं। कोई भी ऐसा नहीं जो राज्य में विघ्न उपस्थित करे। राज्यशासन का सारा भार सुयोग्य मन्त्री यौगन्धरायण को सौंप दिया है। प्रजाओं को अच्छी तरह से व्यवस्थित व पालित किया गया है, उनके सारे दुःख-उपसर्ग (अकाल आदि ईतियाँ) शान्त हो चुके हैं। मेरे हृदय को प्रसन्न रखने के लिए प्रद्योत की पुत्री वासवदत्ता मौजूद है और तुम (वसन्तक) मौजूद हो। इन वस्तुओं के नाम से ही काम (इच्छा) पैदा हो जाता है। अथवा इन सब वस्तुओं के विद्यमान होने पर कामदेव मजे से आवे, मैं तो यह समझता हूँ कि मेरे लिए यह बहुत बड़े उत्सव का अवसर उपस्थित हुआ है। मैं कामदेव के उत्सव का स्वागत करने को प्रस्तुत हूँ।

इसी तरह और भी समझना चाहिए।

अथ जडता—

अप्रतिपत्तिर्जडता स्यादिष्टानिष्टदर्शनश्रुतिभिः।
अनिमिषनयननिरीक्षणतूष्णींभावादयस्तत्र ॥ २३ ॥

इष्टदर्शनाद्यथा—

'एवमालि निगृहीतसाध्वसं शङ्करो रहसि सेव्यतामिति।
सा सखीभिरुपदिष्टमाकुला नास्मरत्प्रमुखवर्तिनि प्रिये ॥'

(जडता)

इच्छित या अनीप्सित वस्तु के देखने या सुनने से जो अज्ञानावस्था तथा किंकर्तव्यविमूढ़ता हो जाती है, उसे जडता कहते हैं। इसमें नेत्रों का अपलक ठहर जाना, चुप रहना इत्यादि अनुभाव पाये जाते हैं।

इष्टदर्शन जनित जडता, जैसे कुमारसम्भव में पार्वती के निम्न वर्णन में—

'हे सखी, एकान्त में चित्त को स्थिर करके इस तरह से शङ्कर के प्रति आचरण करना।' इस तरह सखियों के द्वारा दिये गये उपदेश को, शङ्कर के सम्मुख होने पर व्याकुल पार्वती बिल्कुल याद न कर पाईं।

अनिष्टश्रवणाद्यथोदात्तराघवे—'राक्षस'—

तावन्तस्ते महात्मानो निहताः केन राक्षसाः।
येषां नायकतां याताः त्रिशिरःखरदूषणाः ॥

द्वितीय—गृहीतधनुषा रामहतकेन। प्रथम—किमेकाकिनैव? द्वितीयः—अदृष्ट्वा कः प्रत्येति? पश्य तावत्तोऽस्मद्बलस्य—

सद्यश्छिन्नशिरःश्वभ्रमज्जत्कङ्ककुलाकुलाः।
कबन्धाः केवलं जातास्तालोत्ताला रणाङ्गणे ॥

प्रथम—सखे यद्येवं तदाहमेवंविधः किं करवाणि? इति।

अनिष्टश्रवणजनित जडता, जैसे उदात्तराघव नाटक में—

राक्षस—जिन राक्षसों के सेनापति त्रिशिरा, खर व दूषण थे, उन असंख्य महाबली राक्षसों को किसने मार गिराया?

द्वितीय—धनुर्धारी दुष्ट राम ने।

प्रथम—क्या अकेले ने ही उन्हें मार गिराया?

द्वितीय—बिना देखे कौन विश्वास करता है? देखो, हमारी सारी सेना युद्धभूमि में केवल

ताड़ के वृक्ष के समान लम्बे-लम्बे उन कबन्धों (धड़ों) के रूप में बची रह गई, जो (रुण्ड) सिर के एकदम कट जाने से पैदा हुए गड्ढों में घूमते तथा उनको खाते गीध पक्षियों से व्याकुल हो रहे थे।

प्रथम—मित्र, यदि यही बात है, तो मैं इस अवस्था में कर ही क्या सकता हूँ?

अथ हर्षः—

प्रसत्तिरुत्सवादिभ्यो हर्षोऽश्रुस्वेदगद्गदाः।

प्रियागमनपुत्रजननोत्सवादिविभावैश्चेतःप्रसादो हर्षः। तत्र चाश्रुस्वेदगद्गदादयोऽनुभावाः। यथा—

'आयाते दयिते मरुस्थलभुवामुत्प्रेक्ष्य दुर्लङ्घ्यतां
गेहिन्या परितोषबाष्पकलिलामासज्य दृष्टिं मुखे।
दत्त्वा पीलुशमीकरीरकवलान्स्वेनाञ्चलेनादरा-
दुन्मृष्टं करभस्य केसरसटाभारावलग्नं रजः॥'

निर्वेदवदितरदुन्नेयम्।

(हर्ष)

उत्सव आदि के कारण जनित प्रसन्नता हर्ष कहलाती है। इसके अनुभाव अश्रु, स्वेद तथा गद्गद हो जाना है।

प्रिय के आगमन, पुत्रोत्पत्ति आदि विभावों से मन में जो प्रसन्नता होती है, उसे हर्ष कहते हैं। उसके अश्रु, स्वेद, गद्गद आदि अनुभाव हैं। जैसे प्रिय के आगमन से प्रसन्न युवती का निम्न पद्य में वर्णित हर्ष का चित्रण—

प्रिय बड़े दिनों में घर लौट कर आया है। मार्ग में उसने अगम्य तथा दुर्लङ्घ्य मरुभूमि को पार किया है। मरुभूमि की इस गहन प्रकृति का विचार कर गृहिणी (मान्यवधू) ने उसके मुख की ओर प्रसन्नता व सन्तोष से आये आँसुओं से भरी निगाह डाली। आखिर मेरे लिए तुम मरुभूमि की गहनता की भी परवाह न करके आये हो, यह भाव भी यहाँ अभिव्यक्त है। लेकिन इसमें प्रमुख साधन तो वह ऊँट है, जो मरुभूमि के दुर्भेद्य कान्तार को पार कर नायक को यहाँ तक ले आया है, अतः वह भी तो प्रशंसा का पात्र है। नायिका अपने आँचल में पीलु, शमी तथा करीर की पत्तियों को लेकर बड़े आदर से अपने हाथों उसे खिलाती है, और फिर उस ऊँट की गरदन में, अयाल पर, लगी धूल को झटकार देती है।

और बातें ठीक निर्वेद की ही तरह समझी जानी चाहिए।

अथ दैन्यम्—

दौर्मत्याद्यैरनौजस्यं दैन्यं कार्ष्ण्यामृजादिमत् ॥ १४ ॥

दारिद्र्यन्यक्कारादिविभावैरनौजस्कता चेतसो दैन्यं तत्र च कृष्णतामलिनवसनादयोऽनुभावाः। यथा—

'वृद्धोऽन्धः पतिरेष मञ्चकगतः स्थूणावशेषं गृहं
कालोऽभ्यर्णजलागमः कुशलिनी वत्सस्य वार्तापि नो।
यत्नात्संचिततैलबिन्दुघटिका भग्नेति पर्याकुला
दृष्ट्वा गर्भभरालसां सुतवधूं श्वश्रूश्चिरं रोदिति॥'

शेषं पूर्ववत्।

(दैन्य)

बुद्धिहीनता आदि कारणों से कान्ति तथा ओज का क्षीण हो जाना, दैन्य कहलाता है, इसमें कालापना, मलिनता आदि अनुभाव पाये जाते हैं।

दारिद्र्य, अपमान आदि विभावों से जनित चित्त का मन्दकान्ति होना दैन्य कहलाता है, इसके अनुभाव है —कृष्णता, वस्त्रों व दाँतों का मलिन रहना आदि। जैसा निम्न पद्य में किसी बुढ़िया के दारिद्र्य का तथा तज्जनित दैन्य का वर्णन है—

पति तो बड़ा बूढ़ा है और हर दम खटिया में पड़ा रहता है। घर अब केवल स्थूणा (थूणी) के ही आधार पर टिका है, वह भी गिरने वाला है। बरसात का मौसम पास है। इधर विदेश में गये बेटे की कोई कुशल-खबर भी नहीं आई। बड़े यत्न से तेल की बूँद बूँद को जोड़ कर तेल की एक छोटी सी हँड़िया भरी थी, हाय, वह भी फूट गई। इन सारी बातों को सोच कर तथा बहू को गर्भ के भार के कारण अलसाई देख कर व्याकुल सास बड़ी देर तक रोती रहती है।

अथौग्र्यम्—

> दुष्टेऽपराधदौर्मुख्यक्रौर्यैश्चण्डत्वमुग्रता ।
> तत्र स्वेदशिरःकम्पतर्जनाताडनादयः ॥ १५ ॥

यथा वीरचरिते—जामदग्न्यः—

> 'उत्कृत्योत्कृत्य गर्भानपि शकलयतः क्षत्रसन्तानरोषा-
> दुद्दामस्यैकविंशत्यवधि विशसतः सर्वतो राजवंश्यान् ।
> पित्र्यं तद्रक्तपूर्णह्रदसवनमहानन्दमन्दायमान-
> क्रोधाग्नेः कुर्वतो मे न खलु न विदितः सर्वभूतैः स्वभावः ॥'

(औग्र्य)

अपराध, दुष्टता, क्रूरता आदि के कारण दुष्ट व्यक्ति के प्रति जो क्रोध आता है, जो कर्कश भाव उत्पन्न होता है, उसे उग्रता कहते हैं। इसके अनुभाव है —स्वेद, सिर को हिलाना, लोगों को डराना, धमकाना तथा पीटना, आदि।

जैसे महावीरचरित की परशुराम की निम्न उक्ति में—

क्षत्रियों की सन्तान के प्रति जनित रोष के कारण गर्भ में स्थित भ्रूणों को भी काट-काट कर टुकड़े करते हुए, तथा समस्त राजवंशोत्पन्न क्षत्रियों को २१ बार मौत के घाट उतारने वाले दुर्धर्ष तेज वाले, मेरा स्वभाव समस्त प्राणियों द्वारा विदित न हो यह बात नहीं है, बल्कि हर एक व्यक्ति मेरे इस स्वभाव को जानता है कि मैंने राजवंशोत्पन्न क्षत्रियों के रक्त से भरे तालाबों में तर्पणादि करके अत्यधिक आनन्दित होकर अपनी क्रोध रूपी अग्नि को शान्त किया है, तथा इस प्रकार पितृ-कार्य-श्राद्ध-तर्पणादि-विहित किया है।

अथ चिन्ता—

> ध्यानं चिन्तेहितानाप्तेः शून्यताश्वासतापकृत् ।

यथा—

> 'पक्ष्माग्रग्रथिताश्रुबिन्दुनिकरैर्मुक्ताफलस्पर्धिभिः
> कुर्वन्त्या हरहासहारि हृदये हारावलीभूषणम् ।
> बाले बालमृणालनालवलयालङ्कारकान्ते करे
> विन्यस्याननमायताक्षि सुकृती कोऽयं त्वया स्मर्यते ॥'

(असूया)

घमण्ड, दुष्टता, तथा क्रोध के कारण किसी दूसरे व्यक्ति की उन्नति का न सह सकना असूया कहलाता है। इसमें दोष से युक्त उक्ति का प्रयोग, उस व्यक्ति के प्रति अनादर, भ्रुकुटि, क्रोध, शोक आदि चिह्न पाये जाते हैं।

गर्वजनित असूया जैसे महावीरचरित की इस उक्ति में जहाँ रावण के गर्व का उल्लेख किया गया है—

रावण ने जनक से अर्थी बन कर सीता को माँगा, पर फिर भी स्वामी रावण को कन्याप्राप्ति न हो सकी। बल्कि उनसे शत्रुता करने वाले विरोधी दशरथ के पुत्र राम को वह कन्या मिल गई। शत्रु की उन्नति, स्वयं के मान तथा यश का ध्वंस, तथा स्त्रीरत्न का इस तरह हाथ से चला जाना, भला यह घमण्डी जगत्पति रावण कैसे सह सकेगा?

दौर्जन्याद्यथा—

> 'यदि परगुणा न क्षम्यन्ते यतस्व गुणार्जने
>
> नहि परयशो निन्दाव्याजैरलं परिमार्जितुम्॥
>
> विरमसि न चेदिच्छाद्वेषप्रसक्तमनोरथो
>
> दिनकरकरान् पाणिच्छत्रैर्नुदञ्छ्रममेष्यसि॥'

दुष्टताजनित असूया, जैसे—

अगर तू दूसरों के गुणों को नहीं सह सकता, तो खुद ही गुणों के अर्जन का प्रयत्न कर। दूसरों की निन्दा कर कर इस बहाने से उनके यश को हटाने की, उसे धोने की, चेष्टा करना ठीक नहीं है। इच्छा व द्वेष से भरे मनोरथ वाला है तू दूसरों की निन्दा करने से नहीं रुकेगा, तो सूर्य की किरणों को हाथ के छत्रों से रोकने की चेष्टा करता हुआ खुद ही थक कर शान्त हो जायगा। दूसरे यशस्वी पुरुषों की निन्दा कर तू उनका उसी तरह कुछ भी नहीं बिगाड़ पायेगा, जैसे सूर्य की किरणों को, रोकने की कोशिश करने पर भी उन्हें कोई नहीं रोक पाता।

मन्युना यथाऽमरुशतके—

> 'पुरस्तान्व्या गोत्रस्खलनचकितोऽहं नतमुखः
>
> प्रवृत्तो वैलक्ष्यात्किमपि लिखितुं दैवहतकः।
>
> स्फुटो रेखान्यासः कथमपि स तादृक्परिणतो
>
> गता येन व्यक्तिं पुनरवयवैः सैव तरुणी॥
>
> ततश्चाभिज्ञाय स्फुरदरुणगण्डस्थलरुचा
>
> मनस्विन्या रोषप्रणयरभसाद्गद्गदगिरा।
>
> अहो चित्रं चित्रं स्फुटमिति निगद्याश्रुकलुषं
>
> रुषा ब्रह्मास्त्रं मे शिरसि निहितो वामचरणः॥'

क्रोधजनित असूया, जैसे अमरुकशतक के इस पद्य में—

कोई नायक किसी मित्र से अपने प्रति आचरित ज्येष्ठा नायिका के क्रोध [illegible] वर्णन करते कह रहा है। बातचीत के सिलसिले में उस सुन्दरी—ज्येष्ठा नायिका—के सामने मेरे मुँह से एक दम दूसरी नायिका का 'नाम' निकल गया। उसके मुँह से निकलते ही देख कर मैं चकित हो गया, और कहीं यह ज्येष्ठा नायिका, उस दूसरी नायिका के प्रति मेरे प्रेम को न ताड़ ले, इसलिए मैं लज्जा से मुँह नीचा किये कुछ लिखने लग गया। पर मैं मन्दभाग्य था, मेरे द्वारा जो

चित्र लिखा गया, उसकी रेखाएँ ही कुछ इस ढंग से बन गईं कि यह कनिष्ठा उस रेखाचित्र के द्वारा सम्पूर्ण अङ्गों से युक्त स्पष्ट दिखाई पड़ी—वह उसीका चित्र बन गया। तब उस चित्र को देख कर वह ज्येष्ठा नायिका सारी बात समझ गई। उसके कपोल पर क्रोध के कारण लाली दौड़ आई, ओठ फड़कने लगे, तथा उसकी वाणी रोष व प्रेम से गद्गद हो गई। उस मानिनी ने आँसू गिराते हुए 'अहो, बड़ा आश्चर्य है, बड़ा आश्चर्य है, (अथवा, अहो बड़ा सुन्दर चित्र है) यह कह कर, महावर के समान अपने बायें चरण को क्रोध से मेरे सिर पर डाल दिया।

अथामर्ष—

> अधिक्षेपापमानादेरमर्षोऽभिनिविष्टता।
> तत्र स्वेदशिरःकम्पतर्जनाताडनादयः॥ १८॥

यथा वीरचरिते—

> 'प्रायश्चित्तं चरिष्यामि पूज्यानां वो व्यतिक्रमात्।
> न त्वेवं दूषयिष्यामि शस्त्रग्रहमहाव्रतम्॥'

(अमर्ष)

तिरस्कार, अपमान आदि को न सह सकना अमर्ष कहलाता है। इसमें स्वेद, सिर को हिलाना, तर्जन, ताड़न आदि अनुभाव पाये जाते हैं।

जैसे महावीरचरित में—

आप जैसे पूज्यों का उल्लङ्घन करने के कारण मैं प्रायश्चित करूँगा। शस्त्रग्रहण करने की महती प्रतिज्ञा को मैं यों ही दूषित न करूँगा।

यथा वा वेणीसंहारे—

> 'युष्मच्छासनलङ्घनाम्भसि मया मग्नेन नाम स्थितं
> प्राप्ता नाम विगर्हणा स्थितिमतां मध्येऽनुजानामपि।
> क्रोधोल्लासितशोणितारुणगदस्योच्छिन्दतः कौरवा-
> नद्यैकं दिवसं ममासि न गुरुर्नाहं विधेयस्तव॥'

अथवा जैसे वेणीसंहार की भीमसेन की निम्न उक्ति में—

भीमसेन युधिष्ठिर के पास सहदेव के द्वारा यह बात कहला रहा है—'आप की आज्ञा के उल्लङ्घन न करने के कारण मैं अब तक आपकी आज्ञा के अङ्कुश रूपी जल में मग्न रहा, अब तक मैंने आपकी आज्ञा का उल्लङ्घन न किया। और इसीलिए आपकी आज्ञा में स्थित दूसरे छोटे भाइयों के बीच मैंने (भी) निन्दा व तिरस्कार प्राप्त किया। पर आज तो मैं कौरवों से सारा बदला चुका लेना चाहता हूँ। इसलिए खून से रँगी गदा को क्रोध से घुमाते हुए तथा कौरवों का नाश करते हुए मेरे, सिर्फ एक दिन के लिए, खाली आज भर के लिए, न तो आप बड़े भाई ही हैं, और न मैं आप का आज्ञाकारी सेवक (विधेय) हूँ।'

अथ गर्वः—

> गर्वोऽभिजनलावण्यबलैश्वर्यादिभिर्मदः।
> कर्माण्याधर्षणावज्ञा सविलासाङ्गवीक्षणम्॥ १९॥

यथा वीरचरिते—

> 'मुनिरयमथ वीरस्तादृशस्तत्प्रियं मे
> विरमतु परिकम्पः कातरे क्षत्रियासि।

तपसि विततकीर्तेर्दर्पकण्डूलदोष्णः
परिचरणसमर्थो राघवः क्षत्रियोऽहम् ॥'

(गर्व)

उच्च कुल, सुन्दरता, बल, ऐश्वर्य आदि के द्वारा जनित मद को गर्व कहते हैं। इसमें ऐंठ, दूसरों की अवज्ञा करना, अपने अङ्गों का विलास के साथ देखना आदि अनुभाव होते हैं।

जैसे महावीरचरित में—

राम परशुराम से डरी हुई सीता को सान्त्वना बंधाते कह रहे हैं;—

यह मुनि परशुराम इतने बोल्ड हैं, तो यह मेरे लिए अच्छी बात है, मुझे प्यारी लग रही है। लेकिन सीते, तुम क्षत्रिया हो इसलिए यह दीनता व कम्प ठीक नहीं, इस कम्प को रोक लो। तपस्या में यश प्राप्त करने वाले, तथा घमण्ड से जिसके हाथों में खुजली चल रही है, ऐसे व्यक्ति की परिचर्या करने में मैं-क्षत्रिय राम-भलीभाँति समर्थ हूँ।

यथा वा तत्रैव—

'ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवतामेव भूतये।
जामदग्न्यश्च वो मित्रमन्यथा दुर्मनायते॥'

अथवा वहीं वीरचरित नाटक में ही परशुराम के द्वारा रावण को भेजे गये निम्न सन्देश में—

ब्राह्मणों के प्रति अपराध करने को छोड़ देना, तुम्हारे ही कल्याण के लिए है। जमदग्नि का ▪ परशुराम तुम्हारा मित्र है। यदि तुम ब्राह्मणों का अतिक्रम करना नहीं छोड़ते, तो वह बड़ा क्रोधी है।

अथ स्मृतिः—

सदृशज्ञानचिन्ताद्यैः संस्कारात्स्मृतिरत्र च।
ज्ञातत्वेनार्थभासिन्यां भ्रूसमुन्नयनादयः॥ २०॥

यथा—

'मैनाकः किमयं रुणद्धि गगने मन्मार्गमव्याहतं
शक्तिस्तस्य कुतः स वज्रपतनाद्भीतो महेन्द्रादपि।
तार्क्ष्यः सोऽपि समं निजेन विभुना जानाति मां रावण-
मा ! ज्ञातं, स जटायुरेष जरसा क्लिष्टो वधं वाञ्छति॥'

(स्मृति)

जब किसी समान पदार्थ के ज्ञान या उसकी चिन्ता आदि कारणों से, जिस वस्तु का ज्ञान हम पहले कर चुके हैं उस पूर्वानुभव का संस्कार मन में उद्बुद्ध होता है, तो इसी को स्मृति कहते हैं। स्मृति में हम पहले ज्ञात किसी वस्तु का ज्ञान फिर से प्राप्त करते हैं; स्मृति पूर्वज्ञान के द्वारा अपने ज्ञेय पदार्थ या प्रमेय को बाद दिखाती है। इसके अनुभाव, भौंहों का ऊँचा करना आदि है।

जैसे, सीता को रथ में भगाकर ले जाता हुआ रावण किसी विशाल शरीर को उसके मार्ग का अवरोध करते देखता है। उसे देखकर वह सोच रहा है—क्या मेरे अप्रतिहत मार्ग को, आकाश में, यह मैनाक रोक रहा है। पर मैनाक में मेरे मार्ग को रोकने की ताकत कहाँ से आई, वह तो इन्द्र के वज्रपात से भी डरा हुआ है, डरकर समुद्र में छिपा है। यह गरुड भी

नहीं हो सकता, क्योंकि वह अपने स्वामी विष्णु के साथ युद्ध रावण को खूब जानता है। गरुड़ ही नहीं, गरुड़ का स्वामी विष्णु भी मेरे बल को खूब जानता है, इसलिए मेरे रास्ते को रोकने की हरकत गरुड़ भी कभी नहीं करेगा। (तो फिर यह कौन हो सकता है।) अहा, पता चल गया, यह तो बूढ़ा जटायु है, जो मेरे हाथों अपनी मौत को बुला रहा है।

यथा वा मालतीमाधवे—'माधवः—मम हि प्राक्तनोपलम्भसंभावितात्मजन्मनः संस्कारस्यानवरतप्रबोधात् प्रतीयमानस्तद्विसदृशैः प्रत्ययान्तरैरतिरस्कृतप्रवाहः प्रियतमा-स्मृतिप्रत्ययोत्पत्तिसंतानस्तन्मयमिव करोति वृत्तिसारूप्यतश्चैतन्यम्—

'लीनेव प्रतिबिम्बितेव लिखितेवोत्कीर्णरूपेव च
प्रत्युप्तेव च वज्रसारघटितेवान्तर्निखातेव च।
सा नश्चेतसि कीलितेव विशिखैश्चेतोभुवः पञ्चभि-
श्चिन्तासंततितन्तुजालनिबिडस्यूतेव लग्ना प्रिया॥'

अथवा मालतीमाधव की निम्न उक्ति में—

माधव—प्राक्तन ज्ञान के साक्षात्कार से उत्पन्न संस्कार के बार बार प्रबुद्ध होने के कारण मन में प्रतीत होता हुआ, तथा जिससे भिन्न दूसरे ज्ञानानुभवों के द्वारा जिसकी धारा को रोका नहीं गया है, ऐसी प्रियतमा स्मृति रूप ज्ञान की परम्परा मेरी समस्त आत्मा को जैसे मालती की वृत्ति में ही परिणत कर रही है। मालती की एकाग्रचित्त होकर स्मृतिपथगत बनाये हुए मेरा चित्त जैसे मालतीमय हो गया है—ऐसा प्रतीत हो रहा है, जैसे मालती मेरे मन में घुल मिल गई हो, अथवा जैसे वह मन में प्रतिबिम्बित हो गई हो, अथवा मन के चित्रफलक पर चित्रित की गई हो, या किसी शिल्पकार ने इस मन में टंकण के द्वारा उसकी मूर्ति को खोद दिया (उत्कीर्ण कर दिया) हो। अथवा वह इसमें जड़ दी गई हो, या फिर जैसे वज्रसार (चूने आदि के मजबूत लेप) के द्वारा उसकी मूर्ति को मन में ही चुन दिया गया हो, अथवा जैसे मन में खोद दी गई हो। मालती हमारे चित्त में इसी तरह बैठ गई है मानो कामदेव के पाँच बाणों ने हमारे चित्त में उसे कील दिया है, अथवा चिन्ता (बार बार उसका विचार करने) की परम्परा रूपी धागों के जाल के द्वारा उसे मन में सघन रूप से सी दिया है, मानों चिन्ता के धागों ने उसे मन में अनुस्यूत कर दिया है।

अथ मरणम्—

मरणं सुप्रसिद्धत्वादनर्थत्वाच्च नोच्यते।

यथा—

'संप्राप्तेऽवधिवासरे क्षणमनु त्वद्वर्त्मवातायनं
वारंवारमुपेत्य निष्क्रियतया निश्चित्य किंचिच्चिरम्।
संप्रत्येव निवेद्य केलिकुररीं सास्रं सखीभ्यः शिशो-
र्माधव्याः सहकारकेण करुणः पाणिग्रहो निर्मितः॥'

इत्यादिवच्छृङ्गाराश्रयालम्बनत्वेन मरणे व्यवसायमात्रमुपनिबन्धनीयम्।

(मरण)

मरण लोकप्रसिद्ध है, तथा अनर्थ सूचक है, इसलिए इसका लक्षण नहीं किया गया है। जैसे प्रोषितभर्तृका नायिका के इस वर्णन में—

नायक विदेश चला गया है। उसके आने का दिन आ गया है। उस दिन नायिका की क्या अवस्था थी, इसी का वर्णन करते हुए उसकी सखियाँ नायक से कह रही हैं। बड़े दिनों

से प्रतीक्षा करते करते, आखिर तुम्हारे आने का दिन समीप आया। उस दिन नायिका बार बार तुम्हारे आने के मार्ग की ओर के वातायन के पास आ आ कर खड़ी रही। उस समय उसका शरीर निष्क्रिय-सा हो गया, बड़ी देर तक वह तुम्हारे आने की बाट देखती रही। पर तुम न आये। यह देखकर उसने बड़ी देर तक कुछ सोचा। फिर आँखों में आँसू भरकर शोक के लिए पाली हुई कुररी पक्षिणी को एक दम सखियों को सौंप दिया, और छोटी सी माधवी लता का करुणाभरा विवाह आम के पेड़ के साथ कर दिया।

शृङ्गार के आलम्बन में कभी भी मरण का वर्णन नहीं करना चाहिए। वहाँ केवल मरण की तैयारी भर का सङ्केत किया जा सकता है। ऊपर के पद्य के वर्णन की तरह शृङ्गार में मरण का व्यवसायमात्र ही निबद्ध करना चाहिए।

अन्यत्र कामचारो यथा वीरचरिते—'पश्यन्तु भवन्तस्ताडकाम्—
हृन्मर्मभेदिपतदुत्कटकङ्कपत्रसंवेगतत्क्षणकृतस्फुरदङ्गभङ्गा।
नासाकुटीरकुहरद्वयतुल्यनिर्यदुद्बुद्बुदध्वनदसृक्प्रसरा मृतैव॥'

दूसरे रसों में मरण का यथेच्छ वर्णन हो सकता है जैसे वीरचरित में—

'आप लोग ताडका को देखें—यह ताडका तो मर ही गई है। इसके हृदय के मर्म का भेदन करने वाले, राम के तेज कङ्कपत्र (बाण) ने वेग के साथ ही साथ उसी क्षण इसके अङ्गों का भङ्ग कर दिया है, और इसके दोनों नाक के नथुनों (नाक की दो गुफाओं) के समान रूप से बुदबुदों से युक्त, बुदबुद शब्द करता हुआ रक्तप्रवाह निकल रहा है।'

यथा मदः—

हर्षोत्कर्षो मदः पानात्स्खलदङ्गवचोगतिः॥ २१॥
निद्रा हासोऽत्र रुदितं ज्येष्ठमध्याधमादिषु।

(मद)

मद्यपान से उत्पन्न हर्ष को मद कहते हैं। इसमें अङ्ग, वचन व गति स्खलित होने लगती है, अङ्ग, वाणी व चाल लड़खड़ाने लगती है. यह मद तीन तरह का होता है, ज्येष्ठ, मध्य तथा अधम जिनमें क्रमशः निद्रा, हास तथा रुदन ये अनुभाव पाये जाते हैं।

यथा माघे—

'हावहारि हसितं वचनानां कौशलं दृशि विकारविशेषाः।
चक्रिरे भृशमृजोरपि वध्वाः कामिनेव तरुणेन मदेन॥'

इत्यादि।

जैसे माघ के दशम सर्ग में—

अत्यधिक उत्कट मद ने मुग्धा नायिका में हावभाव से मनोहर हँसी, वचनों के कौशल, आँखों में विकार (कटाक्षपात) को ठीक उसी तरह उत्पन्न कर दिया, जैसे तरुण नायक ने मुग्धा में भी इन भावों को उत्पन्न कर दिया है। जब शराब के नशे में मुग्धा नायिकाओं की ही यह दशा थी, तो फिर मदमस्त प्रौढा नायिकाओं की हावपूर्ण हँसी, वचनभङ्गी तथा तिरछी दृष्टि से देखने की बात तो क्या कहें।

अथ सुप्तम्—

सुप्तं निद्रोद्भवं तत्र श्वासोच्छ्वासक्रिया परम्॥ २२॥

यथा—

'लघुनि तृणकुटीरे क्षेत्रकोणे यवानां
नवकलमपलालस्रस्तरे सोपधाने।

परिहरति सुषुप्तं हालिकद्वन्द्वमाराद्
कुचकलशमहोष्माबद्धरेखस्तुषारः ॥

(सुप्त)

निद्रा के कारण जनित स्थिति को 'सुप्त' कहते हैं। इसके अनुभाव श्वास तथा उच्छ्वास की क्रिया है।

जौ के खेत के एक कोने पर बनी घास की छोटी झोंपड़ी में, नये पुआल के बिछौने पर, जिस पर (पुआल का ही) तकिया लगा है, सोये हुए कृषकदम्पति को, कृषकसुन्दरी के कुचकलश की गर्मी के कारण वहाँ जमी हुई ठंडक बचा रहा है। वायु में तुषार (शीतलता) है, कृषकरमणी के स्तनकलशों की गर्मी से वह ठंडक प्रतीत होता है, और इस ठण्डक का अनुभव करते ही कृषकदम्पति जग जाते हैं।

अथ निद्रा—

मनस्संमीलनं निद्रा चिन्तालस्यक्लमादिभिः ।
तत्र जृम्भाङ्गभङ्गाक्षिमीलनोत्स्वप्नतादयः ॥ २३ ॥

'निद्रार्धनिमीलितदृशो मदमन्थराणि
नाप्यर्थवन्ति न च यानि निरर्थकानि ।
अद्यापि मे मृगदृशो मधुराणि तस्या-
स्तान्यक्षराणि हृदये किमपि ध्वनन्ति ॥'

(निद्रा)

चिन्ता, आलस्य, परिश्रम आदि कारणों से मन का सम्मीलन निद्रा कहलाता है। इसके अनुभाव हैं, जँभाई लेना, अङ्गों का दुखलाना, आँखों का मींच लेना, सोना आदि।

जैसे निम्न पद्य में नायिका की निद्राजनित अवस्था का वर्णन है।

उस हिरन के समान नेत्र वाली सुन्दरी के वे मधुर अक्षर, जो नींद के कारण, आँखों के आधे बन्द होने के कारण, मद से मन्थर-मन्थर धीमे-धीमे रूप में उच्चरित किये गये, और जिन्हें न तो सार्थक ही कहा जा सकता है, न निरर्थक है—आज भी मेरे हृदय में कुछ ध्वनि कर रहे हैं।

यथा च माघे—

'प्रहरकमपनीय स्वं निदिद्रासतोच्चैः
प्रतिपदमुपहूतः केनचिज्जागृहीति ।
मुहुरविशदवर्णां निद्रया शून्यशून्यां
दददपि गिरमन्तर्बुध्यते नो मनुष्यः ॥'

और जैसे माघ के एकादश सर्ग के इस वर्णन में—

किसी पहरेदार ने अपना पहरा जगकर पूरा कर दिया है। अब अपने पहरे को समाप्त कर वह सोना चाहता है, और इसीलिये बार बार दूसरे व्यक्ति को (जिसका पहरा आगे आना है) 'उठो, उठो' इस तरह पुकार रहा है। वह आदमी नींद से अस्पष्ट वर्ण वाली शून्य वाणी में उत्तर तो दे रहा है, पर जग नहीं रहा है।

---

1. 'जृम्भाङ्गभङ्गाक्षिमीलनादयः' इति पाठान्तरम् ।

अथ विबोध —

विबोधः परिणामादेस्तत्र जृम्भाक्षिमर्दने ।

(विबोध)

परिणाम अर्थात् अवस्था के परिवर्तन आदि के कारण विबोध उत्पन्न होता है, नींद की अवस्था के चले जाने पर विबोध होता है। इसके अनुभाव, जँभाई लेना, तथा आँखें मसलना है।

यथा माघे—

'चिररतिपरिखेदप्राप्तनिद्रासुखानां
चरममपि शयित्वा पूर्वमेव प्रबुद्धाः ।
अपरिचलितगात्राः कुर्वते न प्रियाणा-
मशिथिलभुजचक्राश्लेषभेदं तरुण्यः ॥'

जैसे माघ के एकादश सर्ग के इस पद्य में—

तरुण तथा तरुणियों ने रात को बड़ी देर तक सुरतक्रीडा की। इस लम्बी सुरतक्रीडा के कारण थककर तरुण तथा तरुणियोंने दोनों नींद के सुख को प्राप्त किया। सुरतक्रीडा की थकावट के कारण नींद के सुख में डूबे प्रियतमों के पहले ही अच्छी तरह सोकर जगी हुई सुन्दर युवतियाँ अपने शरीर को नहीं हिलाती डुलातीं, तथा अपने बाहुओं के गाढ परिरम्भण को नहीं छोड़तीं। उन्हें एक तो इस बात का डर है कि कहीं प्रिय की निद्रा में बाधा न पड़े, साथ प्रेम के कारण वे प्रिय के आलिङ्गन को भी नहीं छोड़ना चाहतीं।

अथ व्रीडा—

दुराचारादिभिर्व्रीडा धार्ष्ट्याभावस्तमुन्नयेत् ।
साचीकृताङ्गावरणवैवर्ण्याधोमुखादिभिः ॥ २४ ॥

(व्रीडा)

स्वकृत बुरे आचरणों के कारण व्रीडा उत्पन्न होती है। धृष्टता का समाप्त होना व्रीडा को उत्पन्न करता है। टेढ़ा मुँह करके अङ्गों को छिपाना, मुँह के रङ्ग का फीका पड़ना, नीचा मुँह कर लेना आदि इसके अनुभाव हैं।

यथाऽमरुशतके—

'पटालग्ने पत्यौ नमयति मुखं जातविनया
हठाश्लेषं वाञ्छत्यपहरति गात्राणि निभृतम् ।
न शक्नोत्याख्यातुं स्मितमुखसखीदत्तनयना
ह्रिया ताम्यत्यन्तः प्रथमपरिहासे नववधूः ॥'

जैसे अमरुकशतक के निम्न पद्य में—

कोई नई पत्नी पति के समीपस्थ होने पर बड़ी लज्जित हो रही है। उसी का एक चित्र यहाँ उपस्थित किया गया है। पति उसे बिठाने के लिए या आलिङ्गन करने के लिए उसके आँचल को पकड़ लेता है, इसे देखकर वह झुककर अपने मुँह को नीचा कर लेती है। जब पति जबरदस्ती उसका आलिङ्गन करना चाहता है, तो वह चुपके से अङ्गों को हटा लेती है। अपनी सखियों को हँसते देखकर वह उनके मुँह की ओर दृष्टि डालती है, पर लाज के मारे कुछ कह नहीं पाती। इस तरह नई पत्नी के साथ पहले पहल परिहास किया जाता है, तो वह लज्जा के कारण मन ही मन परेशान रहती है।

अथापस्मार —

आवेशो ग्रहदु खाद्यैरपस्मारो यथाविधिः (धि)।
भूपातकम्पप्रस्वेदलालाफेनोद्गमादय ॥ २५ ॥

(अपस्मार)

प्रारब्धवश ग्रहजनित दु ख आदि के कारण जो आवेश आ जाता है, उसे अपस्मार कहते हैं। जमीन पर गिर पड़ना, काँपना, पसीना आ जाना, मुह में लाला और फेन का भर जाना, आदि अपस्मार के अनुभाव हैं।

यथा माघे—

'आश्लिष्टभूमिं रसितारमुच्चैर्लोलद्भुजाकारबृहत्तरङ्गम्।
फेनायमानं पतिमापगानामसावपस्मारिणमाशशङ्के ॥'

जैसे माघ के तृतीय सर्ग में—

कृष्ण ने भूमि का आलिङ्गन करते हुए (पृथ्वी पर गिरे हुए), भुजाओं के समान बड़ी बड़ी चञ्चल तरङ्गों वाले (चञ्चल भुजाओं वाले), और से शब्द करते हुए (चिल्लाते हुए), फेनयुक्त (जिसके मुंह से झाग निकल रहे हैं), समुद्र (नदियों के पति) को अपस्मार रोग से पीड़ित समझा।

अथ मोह —

मोहो विचित्तता भीतिदु खावेशानुचिन्तनै.।
तत्राज्ञानभ्रमाघातघूर्णनादर्शनादय ॥ २६ ॥

(मोह)

भय, दुःख का आवेश तथा चिन्ता के कारण चित्त का अस्त व्यस्त हो जाना मोह कहलाता है। इसमें अज्ञान, भ्रम, चोट का लग जाना, सिर का चकराना, दिखाई न देना आदि अनुभाव पाये जाते हैं।

यथा कुमारसम्भवे—

'तीव्राभिषङ्गप्रभवेन वृत्तिं मोहेन संस्तम्भयतेन्द्रियाणाम्।
अज्ञातभर्तृव्यसना मुहूर्तं कृतोपकारेव रतिर्बभूव ॥'

जैसे कुमारसम्भव के तृतीय सर्ग में—

समस्त इन्द्रियों की वृत्ति को स्तब्ध कर देने वाले, तीव्र पराभव से जनित मोह के द्वारा [illegible] किया गया, क्योंकि मोह के कारण वह अपने पति कामदेव की मृत्यु के बारे में कुछ न जान सकी।

यथा चोत्तररामचरिते—

'विनिश्चेतुं शक्यो न सुखमिति वा दुःखमिति वा
प्रमोहो निद्रा वा किमु विषविसर्पः किमु मद ।
तव स्पर्शे स्पर्शे मम हि परिमूढेन्द्रियगणो
विकार कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च कुरुते ॥'

अथवा, जैसे उत्तररामचरित में—(राम सीता से कह रहे हैं —)

'मैं यह निश्चय ही नहीं कर पाता कि यह सुख है या दुःख है। अथवा यह मोह है, या निद्रा, या फिर जहर का असर है या नशा। तेरे प्रत्येक स्पर्श में कोई ऐसा विकार मेरे अन्त'

करण को स्तब्ध कर देता है, तथा स्वप्न पैदा करता है, जिसके प्रभाव से मेरी सारी इन्द्रियाँ मन्द पड़ जाती हैं।'

अथ मतिः—

भ्रान्तिच्छेदोपदेशाभ्यां शास्त्रादेस्तत्त्वधीर्मतिः।

(मति)

शास्त्र आदि में भ्रान्ति के हट जाने तथा उपदेश के कारण जो तत्त्वज्ञान की बुद्धि होती है, उसे मति कहते हैं।

यथा किराते—

'सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्।
वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव संपदः॥'

यथा च—

'न पण्डिताः साहसिका भवन्ति श्रुत्वापि ते संतुलयन्ति तत्त्वम्।
तत्त्वं समादाय समाचरन्ति स्वार्थं प्रकुर्वन्ति परस्य चार्थम्॥'

जैसे किरातार्जुनीय के द्वितीय सर्ग में—(युधिष्ठिर कहते हैं —)

किसी भी काम को बिना सोचे समझे एकदम नहीं करना चाहिए। बुद्धिहीनता, ज्ञान का अभाव, परम आपत्तियों का कारण है। सोच विचार कर काम करने वाले व्यक्ति के गुणों से आकृष्ट होकर सम्पत्ति खुद ही उसका वरण करती है।

और जैसे,

बुद्धिमान् तथा विद्वान् व्यक्ति साहसी (किसी भी काम को एकदम कर लेने वाले) नहीं होते। किसी बात को सुन लेने पर भी वे उसके तत्त्व की आलोचना करते हैं। तत्त्व के ग्रहण करने के बाद ही वे स्वार्थसम्बन्धी या परार्थसम्बन्धी कार्य का व्यवहार रूप में आचरण करते हैं।

अथालस्यम्—

आलस्यं श्रमगर्भादेर्जाड्यं जृम्भासितादिमत्॥ २७॥

यथा ममैव—

'चलति कथंचित्पृष्टा यच्छति वचनं कथंचिदालीनाम्।
आसितुमेव हि मनुते गुरुगर्भभरालसा सुतनुः॥'

(आलस्य)

परिश्रम, गर्भ आदि के द्वारा जनित जाड्य को आलस्य कहते हैं। जँभाई लेना, एक जगह बैठा रहना आदि इसके अनुभाव हैं।

जैसे धनिक की स्वनिर्मित निम्न आर्या में—

गर्भ के अति भार के कारण अलसाई हुई सुन्दरी किसी तरह चलती अवश्य है, तथा सखियों के पूछने पर किसी तरह उत्तर भी अवश्य देती है, पर सच पूछो तो वह एक जगह पर ही बैठा रहना चाहती है।

अथावेगः—

आवेगः सम्भ्रमोऽस्मिन्नभिसरजनिते शस्त्रनागाभियोगो[1]
वातात्पांसूपदिग्धस्त्वरितपदगतिर्वर्षजे पिण्डिताङ्गः।

---

1 मायाभियोगो' इति पाठान्तरम्।

उत्पातात्स्रस्तताङ्गेष्वहितहितकृते शोकहर्षानुभावा
वह्नेर्धूमाकुलास्यः करिजमनु भयस्तम्भकम्पापसाराः ॥ २८ ॥

(आवेग)

युद्धादि से डर के राजाओं का भागना, झंझावात, जोर की वर्षा, उत्पात, अग्नि, हाथी आदि के द्वारा जनित ध्वंस से लोगों में जो संभ्रम या हड़बड़ी पाई जाती है, उसे आवेग नामक संचारी भाव कहते हैं। अभिसार या राजविद्रवादि जनित आवेग में शस्त्र, हाथी आदि का सम्मर्द पाया जाता है। झंझावात जनित आवेग में लोग धूलिधूसरित होते हैं तथा उनकी चाल बड़ी तेज होती है। जोर की वर्षा से उत्पन्न आवेग में अङ्गप्रत्यङ्ग संकुचित रहते हैं। उत्पातजनित आवेग में अङ्ग शिथिल हो जाते हैं। यदि आवेग शत्रुजनित (शत्रुकृत) है तो शोक, तथा यह सुहृत्कृत है तो हर्ष अनुभाव पाया जाता है। अग्निजनित आवेग में मुंह का धुएं से व्याकुल चित्रित करना आवश्यक है। तथा हस्तिजनित आवेग में भय, स्तम्भ, कम्प तथा भगदड़—ये अनुभाव पाये जाते हैं।

अभिसरो राजविद्रवादि तद्धेतुरावेगो यथा ममैव—

'आगच्छागच्छ सज्जं कुरु वरतुरगं संनिधेहि द्रुतं मे
खड्गः क्वासौ कृपाणीमुपनय धनुषा किं किमङ्गप्रविष्टम् ।
संरम्भोन्निद्रितानां क्षितिभृति गहनेऽन्योन्यमेवं प्रतीच्छन्
वादः स्वप्नाभिदृष्टे त्वयि चकितदृशां विद्विषामाविरासीत् ॥'

इत्यादि ।

वृत्तिकार इन्हीं विभिन्न कारणों से जनित आवेगों के उदाहरण क्रमशः उपस्थित करते हैं। पहले पहल अभिसर या राजविद्रवादि जनित आवेग के उदाहरण के रूप में स्वनिर्मित पद्य देते हैं:—

हे राजन्, तुम्हारे डर से (या तुमसे हार कर) गहन पर्वत में भगे हुए तुम्हारे शत्रु कभी-कभी सोते समय स्वप्न में तुम्हें देख लेते हैं। जब वे तुम्हें स्वप्न में देखते हैं, तो एकदम हड़बड़ा कर जग जाते हैं और चञ्चल नेत्रों से एक दूसरे को देखते हुए इस तरह कहा करते हैं। 'आओ, इधर आओ, मेरे श्रेष्ठ घोड़े को सजा दो, जल्दी करो, मेरा खड्ग कहाँ है, कटार (छुरी) ले आओ, धनुष से क्या होगा, अरे क्या (शत्रु राजा नगर में) घुस आया है।'

'तनुत्राणं तनुत्राणं शस्त्रं शस्त्रं रथो रथः' ।
इति शुश्रुविरे विष्वगुद्भटाः सुभटोक्तयः ॥

'कवच, कवच, शस्त्र, शस्त्र, रथ, रथ' इस प्रकार की योद्धाओं की उत्कट उक्तियाँ चारों तरफ सुनाई देती थीं। यहाँ युद्धस्थल में भटों की आवेगदशा का वर्णन है।

यथा वा—

'प्रारब्धां तरुपुत्रकेषु सहसा संत्यज्य सेकक्रिया-
मेतास्तापसकन्यकाः किमिदमित्यालोकयन्त्याकुलाः ।
आरोहन्त्युटजद्रुमांश्च बटवो वाचंयमा अप्यमी
सद्यो मुक्तसमाधयो निजवृषीष्वेवोच्चपादं स्थिताः ॥'

वातावेगो यथा—'वाताहतं वसनमाकुलमुत्तरीयम्' इत्यादि ।

अथवा जैसे,

पुत्रों के समान स्नेह से पाले गये वृक्षों की सेकक्रिया को एक दम छोड़ कर ये तपस्वी कन्याएँ 'यह क्या हो गया' इस प्रकार व्याकुल होकर देख रही हैं। ब्रह्मचारी शिष्य उटज के वृक्षों पर चढ़ कर देख रहे हैं, तथा महर्षि लोग अपनी समाधि को एक दम छोड़ कर अपने आसन पर ही बिना बोले (मौन धारण किये हुए) भी पैरों को ऊँचा करके खड़े हो रहे हैं।

(किसी राजा की सेना, या आततायियों का समूह आश्रम के समीप आया है। उसके कारण सारी आश्रम-शान्ति भङ्ग हो गई है। यही सम्भ्रम से जनित आवेग का उदाहरण है।)

वातजनित आवेग जैसे 'हवा के तेज झोंके से वस्त्र तथा उत्तरीय चञ्चल (व्याकुल) हो रहा है।'

वर्षतो यथा—

देवे वर्षत्यशनपचनव्यापृता वह्निहेतो-
गेहाद्गेहं फलकनिचितैः सेतुभिः पङ्कभीताः।
नीध्रप्रान्तानविरलजलान्पाणिभिस्ताडयित्वा
शूर्पच्छत्रस्थगितशिरसो योषितः सञ्चरन्ति॥

वृष्टिजनित आवेग जैसे—

चारों ओर बड़े जोरों से बारिश हो रही है। घर की स्त्रियाँ भोजन बनाने में व्यस्त हैं, पर अग्नि के लिए वे एक घर से दूसरे घर लकड़ी के तख्तों से पटे हुए सेतुओं (पुलों) के द्वारा जाती हैं। इन पुलों पर चढ़ कर वे इसलिए जाती हैं कि कहीं कीचड़ में न सन जायँ। वे निरन्तर घने जल वाले पटलप्रान्तों को हाथों से पीटती हुई, सूप के छत्र से अपना सिर ढँक कर भोजन बनाने के लिए आग लेने घर-घर घूम रही हैं।

उत्पातजो यथा—

'पौलस्त्यपीनभुजसम्पदुदस्यमान-
कैलाससम्भ्रमविलोलदृशः प्रियायाः।
श्रेयांसि वो दिशतु निह्नुतकोपचिह्न-
मालिङ्गनोत्पुलकभासितमिन्दुमौलेः॥

उत्पातजनित आवेग जैसे—

पुलस्त्य के पौत्र रावण की पुष्ट भुजाओं से कैलास के उठाए जाने पर डरी हुई पार्वती के नेत्र चञ्चल हो उठते हैं। उनका क्रोध कम पड़ जाता है, तथा शिव के प्रति उत्पन्न प्रणयकोप के चिह्न छिप जाते हैं। वे भय तथा सम्भ्रम से महादेव का आलिङ्गन कर लेती हैं, जिसके कारण महादेव (इन्दुमौलि) का शरीर रोमाञ्चित हो उठता है। महादेव का यह पार्वती-आलिङ्गन जनित पुलक आप लोगों को कल्याण प्रदान करे।

अहितकृतस्त्वनिष्टदर्शनश्रवणाभ्यां तथोदात्तराघवे—'चित्रमायः (ससम्भ्रमम्) भगवन् कुलपते रामभद्र परित्रायतां परित्रायताम्। (इत्याकुलतां नाटयति)' इत्यादि। पुनः 'चित्रमायः'—

मृगरूपं परित्यज्य विधाय विकटं वपुः।
नीयते रक्षसाऽनेन लक्ष्मणो युधि संशयम्॥

अहितकृत आवेग अनिष्ट वस्तु के दर्शन या श्रवण से होता है, जैसे उदात्तराघव नाटक में— चित्रमाय (संभ्रम के साथ)—भगवान् रामचन्द्र, रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये।

(आकुलता का अभिनय करता है)

हिरन के रूप को छोड़ कर तथा विकट शरीर को धारण कर, यह राक्षस युद्ध में लक्ष्मण को संशय से युक्त (उसके जीवन को सन्देहमय) बना रहा है।

रामः—

> वत्सस्याभयवारिधेः प्रतिभयं मन्ये कथं राक्षसात्
>
> त्रस्तश्चैष मुनिर्विरौति मनसश्चास्त्येव मे सम्भ्रमः।
>
> माहासीर्जनकात्मजामिति मुहुः स्नेहाद्गुरुर्याचते
>
> न स्थातुं न च गन्तुमाकुलमतेर्मूढस्य मे निश्चयः॥'

इत्यन्तेनानिष्टाप्तिकृतसम्भ्रमः।

इष्टप्राप्तिकृतो यथाऽत्रैव—'(प्रविश्य पटाक्षेपेण सम्भ्रान्तो वानरः) वानरः—महाराअ एदं खु पवणणन्दणागमणेण पहरिस—' ('महाराज एतत्खलु पवनन्दनागमनेन प्रहर्ष—' ।) इत्यादि 'देवस्स हिअआणन्दजणणं विअलिदं महुवणम्।' ('देवस्य हृदयानन्दजननं विदलितं मधुवनम्' ।) इत्यन्तम्।

राम—निर्भयता के समुद्र वत्स लक्ष्मण को राक्षस से भय हो यह मैं कैसे मान लूँ। और यह मुनि (चित्रमाय) डर कर लक्ष्मण को बचाने के लिए चिल्ला रहा है, तो इसे भी झूठ कैसे मान लिया जाय। मेरे मन में भी संभ्रम है ही। गुरु ने स्नेह से यह उपदेश दिया था कि 'सीता को अकेली कभी मत छोड़ना'। इन सारी बातों को सोच कर मैं किंकर्तव्यविमूढ हो गया हूँ तथा मेरी बुद्धि व्याकुल हो गई है। मैं न तो ठहरने के ही न लक्ष्मण की सहायता करने जाने के ही बारे में निश्चय कर पा रहा हूँ।

इष्टकृत संभ्रम, जैसे उदात्तराघव नाटक में ही पटाक्षेप को हटाकर प्रविष्ट व्याकुल वानर सुग्रीव को सूचना देता है—'महाराज, हनुमान् के आगमन से प्रसन्न वानरों ने आपके हृदय को प्रसन्न करने वाले मधुवन नामक उपवन को उजाड़ दिया है।'

यथा वा वीरचरिते—

> 'एह्येहि वत्स रघुनन्दन पूर्णचन्द्र
>
> चुम्बामि मूर्धनि चिरस्य परिष्वजे त्वाम्।
>
> आरोप्य वा हृदि दिवानिशमुद्वहामि
>
> वन्देऽथवा चरणपुष्करकद्वयं ते॥'

अथवा, जैसे महावीरचरित में—

हे, पूर्ण चन्द्रमा के समान सुन्दर वत्स राम, आओ, इधर आओ। मैं तुम्हारे सिर को बड़ी देर तक चूमूँ तथा तुम्हारा आलिंगन करूँ। अथवा तुम्हें अपने हृदय में बिठा कर दिन-रात धारण किया करूँ, या तुम्हारे दोनों चरणकमलों की वन्दना करूँ।

वह्निजो यथाऽमरुशतके—

> 'क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोंऽशुकान्तं
>
> गृह्णन्केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः सम्भ्रमेण।
>
> आलिङ्गन्योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः साश्रुनेत्रोत्पलाभिः
>
> कामीवार्द्रापराधः स दहतु दुरितं शाम्भवो वः शराग्निः॥'

अग्निजनित आवेग जैसे अमरुकशतक में—

त्रिपुरासुर के वध के समय महादेव के बाणों से फैला हुआ प्रचण्ड अग्नि आप लोगों के पापों को जला दे। महादेव के बाणों का यह अग्नि कामी पुरुष के समान (अपराधी नायक के समान) त्रिपुरासुर की स्त्रियों के समीप जाता है, जब वह जाकर उनको हाथ से (लपटों से) पकड़ता है, तो वे इसे झट्ट हटा देती हैं, जब वह उनके वस्त्र का अञ्चल पकड़ने लगता है, तो इसे बड़े जोरों से पीटती हैं, जब वह उनके केश पकड़ने लगता है, तो हटा दिया जाता है, जब वह (उन्हें खुश करने के लिए) पैरों पड़ता है, तो वे संभ्रम के कारण उसे देखती भी नहीं, तथा आलिङ्गन करने पर वे उसका तिरस्कार करती हैं। इसी प्रकार आँसू से भरे कमल के समान नेत्रों वाली त्रिपुर-युवतियों के द्वारा अपराधी कामी की तरह तिरस्कृत महादेव के बाणों का अग्नि आपके दुष्कर्मों को भस्म कर दे।

यथा वा रत्नावल्याम्—

'विरम विरम वह्ने मुञ्च धूमाकुलत्वं
प्रसरयसि किमुच्चैरर्चिषां चक्रवालम्।
विरहहुतभुजाऽहं यो न दग्धः प्रियायाः
प्रलयदहनभासा तस्य किं त्वं करोषि॥'

अथवा जैसे रत्नावली नाटिका में—

सागरिका को अग्नि से बचाने के लिए उद्यत उदयन अग्नि से कह रहा है।

'हे अग्नि, शान्त हो जाओ, इस धुएँ की आकुलता को छोड़ दो। लपटों के इस ऊँचे समूह को क्यों फैला रहे हो। अरे मुझे प्रिया के विरह की अग्नि ही न जला पाई, तो फिर प्रलय काल की अग्नि के समान तेज से तुम मेरा क्या बिगाड़ लोगे?

करिजो यथा रघुवंशे—

'स च्छिन्नबन्धद्रुतयुग्यशून्यं भग्नाक्षपर्यस्तरथं क्षणेन।
रामापरित्राणविहस्तयोधं सेनानिवेशं तुमुलं चकार॥'

करिग्रहणं व्यालोपलक्षणार्थं, तेन व्याघ्रशूकरवानरादिप्रभवा आवेगा व्याख्याताः।

करिज आवेग जैसे रघुवंश में—

उस हाथी ने अपने सारे बन्धन तेजी के साथ तोड़ दिये, वह जङ्गल से शून्य था। उसने एक ही क्षण में सेना के रथों की धुरी को तोड़ कर छिन्न-भिन्न कर दिया। हाथी के भय से डरी स्त्रियों को बचाने के लिए सारे योद्धा जुट गये थे, तथा सारे सेनानिवेश में भीषण व्याकुलता व कोलाहल का संचार हो गया था।

कारिका के 'करिज आवेग' के 'करि' शब्द से सारे ही पशुओं का उपलक्षण हो जाता है। इसलिये व्याघ्र, शूकर, वानर आदि के भय से उत्पन्न आवेग की भी व्याख्या हो जाती है। कोई पूर्वपक्षी यह शङ्का करे कि आवेग अन्य पशुओं के कारण भी हो सकता है, तो उसीका उत्तर देते हुए वृत्तिकार ने इसे स्पष्ट किया है।

अथ वितर्कः—

तर्को विचारः सन्देहाद्भ्रूशिरोऽङ्गुलिनर्तकः।
(वितर्क)

सन्देह के कारण जनित विचार को तर्क कहते हैं। इसमें भौंहें, सिर व अँगुलियों की चञ्चलता पाई जाती है, ये इसके अनुभाव हैं।

यथा—

'किं लोभेन विलङ्घितः स भरतो येनैतदेवं कृतं
सद्यः स्त्रीलघुतां गता किमथवा मातैव मे मध्यमा।
मिथ्यैतन्मम चिन्तितं द्वितयमप्यार्यानुजोऽसौ गुरु-
र्माता तातकलत्रमित्यनुचितं मन्ये विधात्रा कृतम्॥'

जैसे, नीचे के पद्य में लक्ष्मण तर्क कर रहे हैं:—

क्या कहीं भरत लोभ के वशीभूत हो गया है? जिससे उसने यह कार्य (राम का वनवासविषयक) किया है। या फिर मेरी मँझली माँ कैकेयी ही अन्य स्त्रियों की भाँति एक दम तुच्छ स्वभाव वाली हो गई। मेरा ये दोनों बातें सोचना झूठा है। आखिर भरत आर्य राम के छोटे भाई तथा मेरे अग्रज हैं, साथ ही माता कैकेयी पूज्य पिता की पत्नी है। अत राम के अनुज, तथा दशरथ के कलत्र से ऐसी अनुचित क्रिया नहीं हो सकती। ऐसा प्रतीत होता है कि यह सारी अनुचित बात विधाता की ही करतूत है।

अथवा।

'कः समुचिताभिषेकादार्यं प्रच्यावयेद्गुणज्येष्ठम्।
मन्ये ममैव पुण्यैः सेवावसरः कृतो विधिना॥'

अथवा, राम-वनवास को सुनकर लक्ष्मण के तर्क का दूसरा उदाहरण—

समस्त गुणों से उत्कृष्ट पूज्य रामचन्द्र को उनके योग्य अभिषेक से कौन च्युत कर सकता है? मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि मेरे ही पुण्यों के कारण विधाता ने मुझे रामचन्द्र की सेवा करने का अवसर दिया है।

अथावहित्था—

लज्जाद्यैर्विक्रियागुप्ताववहित्थाङ्गविक्रिया।

(अवहित्था)

हृदय के भाव या विकार को लज्जा आदि के द्वारा छिपाना अवहित्था कहलाता है, इसके अनुभाव हैं—अङ्गों में विकार उत्पन्न होना।

यथा कुमारसम्भवे—

'एवंवादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती॥'

जैसे, कुमारसम्भव के षष्ठ सर्ग में पार्वती का यह अवहित्था नामक सञ्चारी भाव—

जब नारद पार्वती तथा शिव के भावी विवाह के विषय में हिमालय से बातें कर रहे थे, तो पास में ही बैठी हुई पार्वती अपना सिर नीचा करके लीलाकमल के पत्तों को (हिमालय व नारद की बातों में कोई कुतूहल न बताती-सी, तथा लज्जा से अपने भाव को छिपाती हुई) गिन रही थी।

अथ व्याधि—

व्याधयः सन्निपाताद्यास्तेषामन्यत्र विस्तरः॥ २६॥

(व्याधि)

सन्निपात आदि रोगों को व्याधि कहते हैं। व्याधियों का विशेष विवरण दूसरे स्थल पर, आयुर्वेद के ग्रन्थों में किया गया है, अत यहाँ अप्रस्तुत है।

दिङ्मात्रं तु यथा—

> 'अच्छिन्नं नयनाम्बु बन्धुषु कृतं चिन्ता गुरुभ्योऽर्पिता
> दत्तं दैन्यमशेषतः परिजने तापः सखीष्वाहितः।
> अद्य श्वः परनिर्वृतिं भजति सा श्वासैः परं खिद्यते
> विस्रब्धो भव विप्रयोगजनितं दुःखं विभक्तं तया ॥'

यहाँ उसका सङ्केत मात्र कर दिया जाता है—

कोई सखी नायक के पास जाकर उसके वियोग से उत्पन्न नायिका की मरणासन्न दशा का वर्णन करते कह रही है। पहले तो तुम्हारे वियोग में यह नायिका दिनरात रोया करती थी, चिन्ता करती थी, दीन प्रतीत होती थी, तथा विरहताप से उत्तप्त रहती थी। पर अब तो उसकी दशा ही बदल गई है। जब तुम्हारे वियोगजनित दुःख को वह न सह पाई, तो उसने अपने सारे दुःख को दूसरे लोगों में बाँट दिया। अपने नेत्रजलों के निरन्तर धाराप्रवाह को उसने बान्धवों में बाँट दिया है। उसने चिन्ता घर के बड़े बूढ़े-मातृ-पित्रादि को अर्पित कर दी है। उसने अपनी सारी दीनता नौकरों को दे दी है, तथा अपने विरहताप को सखियों के पास रख दिया है। उस नायिका की मरणासन्न अवस्था देखकर बान्धव रो रहे हैं, बड़े-बूढ़े चिन्तित हैं, नौकर परेशान हैं, तथा सखियाँ विह्वल हैं। वह आज या कल परम शान्ति को प्राप्त होने वाली है, केवल सांस ही उसे परेशान कर रहे हैं, उसके बाकी सारे दुःख मिट गये हैं। इसलिए उसके विषय में कोई भी सोचने की बात नहीं है, उसके बारे में तुम निश्चिन्त रहो, उसको कोई दुःख नहीं, क्योंकि दूसरे लोगों ने उसके दुःख को बाँट लिया है। तुम्हारे वियोग में दुःखी नायिका कुछ ही समय की मेहमान है, यह व्यंग्य है।

अथोन्मादः—

> अप्रेक्षाकारितोन्मादः सन्निपातग्रहादिभिः।
> अस्मिन्नवस्था रुदितगीतहासासितादयः ॥ ३० ॥

(उन्माद)

त्रिदोषजन्य सन्निपात, ग्रह आदि कारणों से बुद्धि का अस्तव्यस्त हो जाना तथा विवेकहीन कार्य करना उन्माद कहलाता है। इसमें रोना, गाना, हँसना, बैठ जाना, गिर पड़ना आदि अनुभाव पाये जाते हैं।

यथा—'आः! क्षुद्रराक्षस! तिष्ठ तिष्ठ, क्व मे प्रियतमामादाय गच्छसि' इत्युपक्रमे 'कथम्—

> नवजलधरः सन्नद्धोऽयं न दृप्तनिशाचरः
> सुरधनुरिदं दूराकृष्टं न तस्य शरासनम्।
> अयमपि पटुर्धारासारो न बाणपरम्परा
> कनकनिकषस्निग्धा विद्युत्प्रिया न ममोर्वशी ॥' इत्यादि।

जैसे विक्रमोर्वशीय में उर्वशी के अन्तर्धान से विरहित पुरूरवा की इस उन्मादोक्ति में—

'अरे नीच राक्षस, ठहर, ठहर। मेरी प्रिया को लेकर कहाँ जा रहा है। क्या! यह तो पानी के भार से झुका हुआ नया बादल है, यह ढीठ राक्षस नहीं है। यह तो दूर तक फैला हुआ इन्द्रधनुष है, उस राक्षस का धनुष नहीं है। और यह भी तेज बारिश की बूँदें हैं, बाणों

1. 'स्यान°' इति पा०।

की वर्षा नहीं है। जिसे मैं उर्वशी समझ रहा हूँ, वह भी मेरी प्रिया उर्वशी नहीं है, किन्तु सुवर्ण की कसौटी की रेखा के समान चिकनी व सुन्दर बिजली है।'

अथ विषाद —

प्रारब्धकार्यासिद्ध्यादेर्विषादः सत्त्वसंक्षयः।
निःश्वासोच्छ्वासहृत्तापसहायान्वेषणादिकृत् ॥ ३१ ॥

(विषाद)

आरम्भ किये हुए कार्य के पूरे न होने पर व्यक्ति का सत्त्व, बल, मन्द पड़ जाता या नष्ट हो जाता है। इसी 'सत्त्वसंक्षय' को विषाद कहते हैं। इसके अनुभाव हैं— निःश्वास, उच्छ्वास, हृदय में ताप होना, सहाय को ढूँढना आदि।

यथा वीरचरिते—'हा आर्ये ताडके! किं हि नामैतत्, अम्बुनि मज्जन्त्यलाबूनि, ग्रावाणः प्लवन्ते।

नूनं राक्षसपतेः स्खलितः प्रतापः
प्राप्तोऽद्भुतः परिभवो हि मनुष्यपोतात्।
दृष्टः स्थितेन च मया स्वजनप्रमाथो
दैन्यं जरा च निरुणद्धि कथं करोमि ॥'

जैसे वीरचरित में राक्षसपति रावण का विषाद—

हा, पूज्ये ताडके! यह क्या आश्चर्य है कि समुद्र के पानी में लौकियाँ डूब रही हैं, पर पत्थर तैर रहे हैं। ऐसा मालूम होता है कि राक्षसों के स्वामी रावण का प्रताप मन्द पड़ गया है। तभी तो इस मनुष्य के बच्चे से उसकी हार हो रही है। मैंने जीवित रहते हुए बान्धवों का नाश खुद अपनी आँखों से देखा है। दीनता और वृद्धावस्था दोनों ने मुझे (मेरी शक्ति को) रोक दिया है, मैं अब क्या करूँ।

अथौत्सुक्यम्—

कालाक्षमत्वमौत्सुक्यं रम्येच्छारतिसम्भ्रमैः।
तत्रोच्छ्वासत्वरा[1]श्वासहृत्तापस्वेदविभ्रमाः ॥ ३२ ॥

(औत्सुक्य)

किसी मनोहर अभिलाषा, सुख या सम्भ्रम के कारण समय को न सह सकना उत्सुकता (औत्सुक्य) कहलाती है। उच्छ्वास, त्वरा, श्वास, हृत्ताप, पसीना, भ्रम ये अनुभाव औत्सुक्य में पाये जाते हैं।

यथा कुमारसम्भवे—

'आत्मानमालोक्य च शोभमानमादर्शबिम्बे स्तिमितायताक्षी।
हरोपयाने त्वरिता बभूव स्त्रीणां प्रियालोकफलो हि वेषः ॥'

जैसे कुमारसम्भव में—

शिव के पास जाने के लिए तैयारी करती हुई चञ्चल व लम्बे नेत्र वाली पार्वती अपने सुन्दर रूप को दर्पण में देखती है, तथा शिव के पास जाने के लिए शीघ्रता करती है। सच है स्त्रियों की सुन्दर वेश भूषा तभी सफल है जब कि वह प्रिय के नयनपथ में अवतरित हो।

---

1 'त्वरि' इति पा०।

यथा वा तत्रैव—

'पशुपतिरपि तान्यहानि कृच्छ्रादगमयदद्रिसुतासमागमोत्कः ।
कमपरमवशं न विप्रकुर्युर्विभुमपि तं यदमी स्पृशन्ति भावाः ॥'

अथवा जैसे उसी काव्य में—

पार्वती के समागम की उत्सुकता वाले पशुपति महादेव ने भी उन दिनों को बड़ी कठिनाई से किसी तरह गुजारा। जब इस तरह के रतिविषयक भाव महादेव जैसे परम समर्थ देवता को भी चञ्चल कर सकते हैं, तो दूसरे साधारण मानव को चञ्चल तथा अवश क्यों नहीं बना सकते?

अथ चापलम्—

मात्सर्यद्वेषरागादेश्चापलं त्वनवस्थितिः।
तत्र भर्त्सनपारुष्यस्वच्छन्दाचरणादयः ॥ ३३ ॥

(चापल)

मात्सर्य, द्वेष, राग आदि से मन का स्थिर न रहना चापल है। इसमें भर्त्सना, कठोरता, स्वच्छन्दता, आदि का आचरण पाया जाता है।

यथा विकटनितम्बायाः—

'अन्यासु तावदुपमर्दसहासु भृङ्ग
लोलं विनोदय मनः सुमनोलतासु ।
बालामजातरजसं कलिकामकाले
व्यर्थं कदर्थयसि किं नवमल्लिकायाः ॥'

जैसे विकटनितम्बा के इस पद्य में जहाँ भ्रमर की चपलता का वर्णन किया गया है।

हे, भँवरे, तुम कहीं दूसरी पुष्पलताओं पर जाकर अपने चञ्चल मन को बहलाओ जो तुम्हारे मोड़े तथा मर्दन को सह सकें। अरे मूर्ख, इस नवमल्लिका की कोमल (बाला) कली को, जिसमें अभी पराग भी उत्पन्न नहीं हुआ है, व्यर्थ ही क्यों बिगाड़ रहे हो। अरे अभी तो इसके विकास का समय भी नहीं आया।

अप्रस्तुतप्रशंसा के द्वारा किसी रागी नायक को जो अप्राप्तयौवना बाला नायिका को ही भोगना चाहता है, कवयित्री सचेत कर रही है। अरे तुम कहीं प्रौढ नायिकाओं के साथ जाकर विहार करो, इस भोली-भाली बाला को, जो अभी ऋतुधर्म से भी युक्त नहीं हुई, क्यों नष्ट करना चाहते हो।[1]

यथा वा—

'विनिकषणरणत्कठोरदंष्ट्राक्रकचविशङ्कटकन्दरोदराणि ।
अहमहमिकया पतन्तु कोपात् सममधुनैव किमत्र मन्मुखानि ॥
अथवा प्रस्तुतमेव तावत्सुविहितं करिष्ये ।' इति ।

अन्ये च चित्तवृत्तिविशेषा एतेषामेव विभावानुभावस्वरूपानुप्रवेशान्न पृथग्वाच्याः ।

---

१ मिलाइये—बिहारी का प्रसिद्ध दोहा—(जो इसी पद्य की छाया है)
नहिं पराग, नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल ।
अली कली ही सों बँध्यो आगे कौन हवाल ॥ (बिहारीसतसई)

अथवा, रावण की निम्न उक्ति में—

बार-बार पीसने के कारण शब्द करती हुई कठोर दाढ़ों की करवत से भीषण कन्दरा वाले, मेरे सारे मुंह, गुस्से से, अहमहमिका के साथ (पहले मैं खाऊँ, पहले मैं खाऊँ) एक साथ ही यहाँ इस वानरसेना पर गिर पड़ें। अथवा अवसर के अनुरूप कार्य को ठीक तरह से करूँगा।'

पूर्वपक्षी इस विषय में यह शङ्का कर सकता है कि चित्तवृत्ति के तो कई प्रकार पाये जाते हैं, जिनमें से कई का उल्लेख यहाँ नहीं किया गया है। इसीका उत्तर देते हुए कहते हैं कि इस बात से हम सहमत हैं कि दशरूपककार के द्वारा निर्दिष्ट चित्तवृत्तियों के अतिरिक्त चित्तवृत्तियाँ भी लोकव्यवहार में पाई जाती हैं, पर ये सब इन्हीं के अन्तर्गत होकर विभाव या अनुभाव के रूप में प्रविष्ट होती हैं इसलिए उनका अलग से उल्लेख करना ठीक नहीं समझा गया है।

(इस सम्बन्ध में यह निर्देश कर देना अनावश्यक न होगा कि भरतसम्मत ३३ सञ्चारियों को ही सभी आचार्यों ने माना है। केवल भानुमिश्र ने 'रसतरङ्गिणी' में 'छल' नामक ३४ वें सञ्चारी की कल्पना की है। इन्हीं के आधार पर हिन्दी के रीतिकालीन कवि व आलङ्कारिक देव ने भी 'छल' का अलग से उल्लेख किया है। पर ऐसा करने पर तो सञ्चारियों की संख्या में अव्यवस्था हो जायगी, क्योंकि सञ्चारियों की संख्या अनगिनती है। भरतसम्मत ३३ सञ्चारी तो वस्तुतः केवल उपलक्षण मात्र हैं, अतः मोटे तौर पर उपलक्षणार्थ यही संख्या मान लेना विशेष ठीक होगा।)

अथ स्थायी—

> विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः।
> आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः ॥ ३४ ॥

सजातीयविजातीयभावान्तरैरतिरस्कृतत्वेनोपनिबध्यमानो रत्यादिः स्थायी यथा बृहत्कथायां नरवाहनदत्तस्य मदनमञ्जुकायामनुरागः तत्तदवान्तरानेककन्यानुरागैरतिरस्कृतः स्थायी। यथा च मालतीमाधवे श्मशानाङ्के बीभत्सेन माधवस्यानुरागस्यातिरस्कारः—'मम हि प्राक्तनोपलम्भसम्भावितात्मजन्मनः संस्कारस्यानवरतप्रबोधात् प्रतीयमानस्तद्विसदृशैः प्रत्ययान्तरैरतिरस्कृतप्रवाहः प्रियतमास्मृतिप्रत्ययोत्पत्तिसंतानस्तन्मयमिव करोत्यन्तर्वृत्तिसारूप्यतश्चैतन्यम्' इत्यादिनोपनिबद्धः। तदनेन प्रकारेण विरोधिनामविरोधिनां च समावेशो न विरोधी।

सात्त्विक भाव तथा सञ्चारी भाव के विवेचन के बाद स्थायी भाव का विवेचन प्रसङ्गप्राप्त है, अतः उसीको स्पष्ट करने के लिए धनञ्जय ने निम्न कारिका अवतरित की है—

स्थायी भाव को स्पष्ट करने के लिए समुद्र (लवणाकर) की उपमा ले सकते हैं। समुद्र के अन्तर्गत कोई भी खारा या मीठा पानी मिलकर तद्रूप हो जाता है। समुद्र समस्त वस्तुओं को आत्मसात् करके, आत्मरूप बना लेता है। वैसे ही स्थायी भाव भी बाकी सभी भावों को आत्मरूप बना लेता है। स्थायी भाव हम उसे कहते हैं, जो (रत्यादि) भाव अपने से प्रतिकूल अथवा अनुकूल किसी भी तरह के भाव से विच्छिन्न नहीं हो पाता, तथा दूसरे सभी प्रतिकूल या अनुकूल भावों को आत्मरूप बना लेता है।

यह रत्यादि भाव जो सजातीय या विजातीय अन्य भावों से तिरस्कृत नहीं हो पाता, स्थायी भाव कहलाता है। जैसे बृहत्कथा में मदनमञ्जुका के प्रति नरवाहनदत्त के राग का

वर्णन किया गया है, वहीं दूसरे नायकों का भी अन्य नायिकाओं से प्रेम वर्णित है, किन्तु नरवाहन के बृहत्कथा के प्रमुख नायक होने से उसका रति भाव, अन्य नायकों के रति भावों से तिरस्कृत नहीं हो पाता। इस प्रकार बृहत्कथा में सजातीय भाव इस रति भाव को विच्छिन्न नहीं कर पाते हैं। इसी तरह मालतीमाधव के पञ्चम व षष्ठ अङ्क में वर्णित श्मशान का बीभत्स वर्णन, तथा बीभत्स रस मालती के प्रति उत्पन्न माधव के रति भाव को तिरस्कृत नहीं कर पाता। इस प्रकार यहाँ स्थायी भाव विजातीय या प्रतिकूल भाव के द्वारा भी विच्छिन्न नहीं हो पाता। माधव का रति भाव बीभत्स के द्वारा विच्छिन्न नहीं होता, यह माधव की उसी अङ्क की इस उक्ति से स्पष्ट है—'प्राक्तन ज्ञान के साक्षात्कार से उत्पन्न संस्कार के बार बार प्रबुद्ध होने के कारण मन में प्रतीत होता हुआ, तथा इस ज्ञान से भिन्न दूसरे ज्ञानानुभवों के द्वारा जिसकी धारा को रोका नहीं गया है, ऐसी प्रियतमा-स्मृति-रूप-ज्ञान की परम्परा मेरी आत्मा को जैसे मालती की वृत्ति में ही परिणत कर रही है। मालती को एकाग्रचित्त होकर स्मृतिपथ का विषय बनाते हुए मेरा चित्त जैसे मालतीमय हो गया है।' प्रश्न हो सकता है कि दो भावों का एक साथ वर्णन (समावेश) विरोधी होगा, इसी को बताते हुए कहते हैं कि इस प्रकार अङ्गाङ्गिभावरूप में अनुकूल या प्रतिकूल भाव को अङ्गी स्थायी भाव का अङ्ग बनाकर समाविष्ट करना विरोधी न हो सकेगा।

*तथाहि—विरोधः सहानवस्थानं बाध्यबाधकभावो वा उभयरूपेणापि न तावत्-*दात्म्यमस्यैकरूपत्वेनैवाविर्भावात्। स्थायिनां च भावादीनां यदि विरोधस्तत्रापि न तावत् सहानवस्थानम्—रत्याद्युपरक्ते चेतसि स्रक्सूत्रन्यायेनाविरोधिनां व्यभिचारिणां चोपनिबन्धः समस्तभावकस्वसंवेदनसिद्धः, यथैव स्वसंवेदनसिद्धस्तथैव काव्यव्यापारसंरम्भेणानुकार्येष्वारोप्यमाणः स्वचेतःसम्भेदेन तथाविधानन्दसंविदुन्मीलनहेतुः सम्पद्यते तस्मान्न तावद्भावानां सहानवस्थानम्।

इसी अविरोध को स्पष्ट करते हुए बताते हैं:—

भावों में परस्पर विरोध दो तरह से हो सकता है। या तो वे भाव एक ही स्थल पर साथ साथ न रह पाते हों (सहानवस्थान), या फिर उनमें परस्पर बाध्यबाधक भाव हो, अर्थात् एक भाव दूसरे भाव की प्रतीति में बाधा उपस्थित करता हो। लेकिन इस विषय में यह बात ध्यान में रखने की है कि यदि उन भावों की प्रतीति एक रूप में होती है, यदि वे एकरूप में आविर्भूत होते हैं, तो फिर इन दोनों दशाओं में भी विरोध नहीं होगा। भाव यह है कि यदि दोनों भावों की प्रतीति अलग अलग हो रही हो, तो ऐसी दशा में विरोध हो सकता है, पर उनकी प्रतीति मिश्रितरूप में होने पर विरोध नहीं माना जायगा क्योंकि विरोध होने पर तो मिश्रण ही न हो सकेगा।

यदि कोई यह कहे कि स्थायी भावों का दूसरे भावों, सञ्चारी भावों के साथ विरोध हो सकता है, तो यह ठीक नहीं क्योंकि ऊपर बताया जा चुका है कि विरोध दो ही दशाओं में हो सकता है। सञ्चारी भाव तथा स्थायी भाव में कोई विरोध नहीं है, क्योंकि वे तो साथ साथ अवस्थित रहते ही हैं, इनमें सहानवस्थान वाला नियम लागू नहीं हो सकता। लौकिक व्यवहार में हम देखते हैं कि रति आदि भावों से युक्त व्यक्ति के चित्त में चिन्ता आदि व्यभिचारी भाव अविरुद्ध रूप में पाये जाते हैं। जैसे एक सूत्र में माला बनाते समय कई पुष्प गूँथ दिये जाते हैं, वैसे ही 'स्रक्सूत्रन्याय' से रतिभाव में कई व्यभिचारी भी उपनिबद्ध होते हैं। इस तरह रतिभावयुक्त चित्त में दूसरे व्यभिचारी भावों का आविर्भाव होता है, यह सभी सहृदय के अनुभवगम्य है। ठीक यही बात हम काव्य या नाटक के अनुकार्य राम,

दुष्यन्त, माधव या चारुदत्त के भावों के विषय में कह सकते हैं। यह बात नहीं है कि काव्य के अनुकार्य रामादि की भावानुभवदशा हमारी व्यावहारिक भावानुभवदशा से भिन्न हो। काव्यव्यापार के निबन्धन के द्वारा भावों तथा सञ्चारियों का जो प्रादुर्भाव अनुकार्य रामादि में उपनिबद्ध किया जाता है, वह रस की अलौकिक संवित् को उद्बुद्ध करने में इसलिए समर्थ हो जाता है कि रामादि के चित्त के साथ हमारे चित्त का तादात्म्य हो जाता है। रामादि में उपनिबद्ध स्थायी भाव तथा सञ्चारियों का यह सहावस्थान (एक साथ वर्णन) हमारे चित्त में रस का आविर्भाव करता है अतः उन दोनों में सहानवस्थान (एक साथ रहने की अयोग्यता) नहीं है। स्थायी और व्यभिचारी भाव एक साथ नहीं रह सकते, यह कैसे माना जा सकता है, क्योंकि ऐसा मानना अनुभवविरुद्ध होगा।

बाध्यबाधकभावस्तु भावान्तरैर्भावान्तरतिरस्कारः स च न स्थायिनामविरुद्धव्यभिचारिभिः स्थायिनोऽविरुद्धत्वात् तदङ्गत्वात्-प्रधानविरुद्धस्य चाङ्गत्वायोगात्, भावान्तर्विरोधित्वमप्यनेन प्रकारेणाऽपास्तं भवति। तथा च मालतीमाधवे शृङ्गारानन्तरं बीभत्सोपनिबन्धेऽपि न किञ्चिद्वैरस्यं तदेवमेव स्थितो विरुद्धरसैकालम्बनस्थमेव विरोधे हेतुः, स त्वविरुद्धरसान्तरव्यवधानेनोपनिबध्यमानो न विरोधी।

सहानवस्थान के बाद विरोध की दूसरी शर्त है—बाध्यबाधकभाव। जहाँ एक भाव दूसरे भाव का तिरस्कार कर दे, उसकी प्रतीति ही न होने दे, वहाँ उनमें परस्पर बाध्यबाधकभाव माना जायगा। यह बाध्यबाधकभाव स्थायी भावों के अपने अपने अविरुद्ध व्यभिचारियों के साथ नहीं होगा। भाव यह है कि प्रत्येक स्थायी भाव के कुछ नियत सञ्चारी माने गये हैं। जहाँ इन सञ्चारियों का स्थायी भाव के साथ समावेश होगा, वहाँ बाध्यबाधकभाव नहीं हो सकता। क्योंकि सञ्चारी भाव सदा स्थायी भाव के अङ्ग होते हैं, और अङ्ग होने के कारण वे स्थायी भाव के विरोधी नहीं हो सकते। क्योंकि विरुद्ध भाव उसका अङ्ग बन ही नहीं सकता, वह उसका अङ्ग बनने के योग्य नहीं। इस तरह से एक के बाद दूसरे का वर्णन भी विरोधी नहीं है यह बता दिया गया है। भावों का आन्तर्विरोध भी इसी तरह हटा दिया गया है। इसी को स्पष्ट करने के लिए मालतीमाधव के श्मशानाङ्क से बीभत्स व शृङ्गार के दो विरोधी भावों—जुगुप्सा तथा रति—का एक साथ समावेश उदाहृत करते हुए बताते हैं। मालतीमाधव में एक ओर शृङ्गार का वर्णन है, उसी के बाद बीभत्स का उपनिबन्धन किया गया है, वहाँ कोई भी विरोध या वैरस्य नहीं है। इनमें परस्पर विरोध न माने जाने का कोई कारण है। दो विरोधी रसों का एक ही आलम्बन को लेकर किया गया निबन्धन विरोध का कारण हो सकता है। (मान लीजिये एक ही आलम्बन मालती—के प्रति रति तथा जुगुप्सा दोनों भावों की प्रतीति हो रही हो, तो वह विरोध होगा। पर श्मशान के दृश्य के प्रति जुगुप्सा, मालती के प्रति उत्पन्न रति की बाधक नहीं हो सकती, क्योंकि दोनों भावों, दोनों रसों के आलम्बन भिन्न-भिन्न हैं।) लेकिन एक ही आलम्बन के प्रति दो विरोधी रसों का समावेश कभी कभी अविरुद्ध भी हो सकता है। यदि उन दोनों विरोधी रसों के बीच में किसी ऐसे रस का समावेश कर दिया जाय जो दोनों का विरोधी न हो, तो ऐसी दशा में उन रसों में विरोध नहीं होगा।

यथा—'भणह तुण हुमदेकिमहुगुरुपरिमलुसुअन्धु।
गुरुकन्तह अगत्यणहमाण पिदद गन्धु॥
(नितान्तासङ्गतत्वादस्य श्लोकस्य व्याख्या न क्रियते।)

इत्यत्र बीभत्सरसस्याङ्गभूतरसान्तरव्यवधानेन शृङ्गारसमावेशो न विरुद्धः। प्रकारान्तरेण चैकाश्रयविरोधः परिहर्तव्यः।

ननु यत्रैकतात्पर्येणेतरेषां विरुद्धानामविरुद्धानां च न्यग्भूतत्वेनोपादानं तत्र भवत्वङ्गत्वेनाऽविरोधः, यत्र तु समप्रधानत्वेनानेकस्य भावस्योपनिबन्धनं तत्र कथम्?

जैसे 'अण्णुण्णकुमदेलिअ' आदि गाथा में एक साथ बीभत्स रस तथा शृङ्गाररस का समावेश किया गया है, किन्तु शृङ्गाररस का समावेश करने के पहले बीभत्स रस के अङ्गभूत दूसरे रस का, जो दोनों का विरोधी नहीं है—समावेश किया गया है, अतः इसके व्यवधान के कारण बीभत्स व शृङ्गार का एक साथ वर्णन विरोधी नहीं है। अथवा एक आश्रय के प्रति दो विरोधी रसों के समावेश वाला विरोध किसी दूसरे ढङ्ग से भी हटाया जा सकता है।

इस सम्बन्ध में पूर्वपक्षी एक शङ्का उठाता है। वह इस बात से तो सहमत है कि जहाँ किन्हीं भी विरोधी या अविरोधी भावों का एक ही तात्पर्य को लेकर (एक विषय में) इस तरह उपनिबन्धन किया जाय, कि दूसरे भाव कुछ निम्न कोटि के दर्शाये गये हों, वे न्यग्भूत हो गये हों, वहाँ वे न्यग्भूत भाव, प्रधान भाव के अङ्ग हो जाते हैं, अतः उनमें परस्पर विरोध नहीं होगा। लेकिन पूर्वपक्षी को इस विषय में सन्देह है कि जहाँ एक साथ कई भाव समान रूप में उपनिबद्ध हों, वहाँ भी अविरोध ही रहेगा। इसीलिए वह उत्तरपक्षी से पूछना चाहता है कि अनेक भावों के समाधान रहने पर उनका सम्बन्ध अविरोधी कैसे रहेगा? इसको स्पष्ट करते हुए वृत्तिकार ने पूर्वपक्ष के मत की पुष्टि में दो पद्य दिये हैं, जहाँ पूर्वपक्षी के मत से कई परस्पर विरोधी भावों का समप्राधान्य उपनिबद्ध किया गया है।

यथा—'एक्कत्तो रुअइ पिआ अण्णत्तो समरतूरणिग्घोसो।
पेम्मेण रणरसेण अ भडस्स डोलाइअं हिअअम्॥'
(एकतो रोदिति प्रियाऽन्यतः समरतूर्यनिर्घोषः।
प्रेम्णा रणरसेन च भटस्य दोलायितं हृदयम्॥)

इत्यादौ रत्युत्साहयोः, यथा वा—

१. युद्ध में जाते हुए प्रिय के वियोग की आशङ्का से एक ओर प्रिया रो रही है, दूसरी ओर युद्ध की तूर्य-ध्वनि सुनाई दे रही है। प्रिया के अनुराग के कारण वीर योद्धा का हृदय यह चाहता है कि वह यहीं रहे, लड़ने न जाय, पर दूसरी ओर युद्ध का उत्साह उसे रणभूमि में जाने को बाध्य कर रहा है। इस तरह योद्धा का हृदय प्रियानुराग तथा युद्धोत्साह से दोलायित हो रहा है।

इस गाथा में एक ओर योद्धा के हृदय में रति नामक स्थायी भाव का चित्रण किया गया है, तो दूसरी ओर वीर रस के स्थायी भाव उत्साह का भी समावेश पाया जाता है। ऐसी दशा में एक ही आश्रय में दो भावों का समान रूप से चित्रण किया गया है। प्रिया के प्रति अनित रति तथा युद्ध के प्रति अनित उत्साह दोनों इस गाथा में समान रूप से प्रधान हैं, कोई भी एक दूसरे का अङ्ग नहीं है। यहाँ इनमें परस्पर विरोध कैसे न होगा?

'मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य कार्यमार्याः समर्यादमिदं वदन्तु।
सेव्या नितम्बाः किमु भूधराणामुत स्मरस्मेरविलासिनीनाम्॥'

इत्यादौ रतिशमयोः, यथा च—

२. हे महानुभावो! मात्सर्य को छोड़ कर तथा अच्छी तरह विचार कर मर्यादापूर्वक इस बात पर अपना निर्णय दीजिये कि लोगों को पर्वतों की तलहटियों का सेवन करना चाहिए या कामदेव की लीलाओं से रमणीय विलासिनियों के नितम्बों का?

यहाँ 'पर्वतों की तलहटियों के सेवन' के द्वारा शम या निर्वेद भाव का तथा 'विलासिनियों के नितम्बों के सेवन' के द्वारा रति भाव का उपनिबन्धन किया गया है। ऐसी दशा में रति भाव तथा शम भाव दोनों का समप्राधान्य स्पष्ट है। यहाँ भी इनमें अविरोध कैसे होगा?

> 'इयं सा लोलाक्षी त्रिभुवनललामैकवसतिः
>
> स चायं दुष्टात्मा स्वसुरपकृतं येन मम तत्।
>
> इतस्तीव्रः कामो गुरुरयमितः क्रोधदहनः
>
> कृतो वेषश्चायं कथमिदमिति भ्राम्यति मनः॥'

इत्यादौ रतिक्रोधयोः,

किसी नाटक से रावण की उक्ति है:—

३. जब रावण सीता का अपहरण करने आया है, तो सीता तथा लक्ष्मण को देख कर यह सोच रहा है। 'एक ओर तो समस्त संसार की सुन्दरता का खजाना—यह चञ्चल आँखों वाली सुन्दरी है, और दूसरी ओर यह वही दुष्ट व्यक्ति मौजूद है, जिसने मेरी बहिन का अपकार किया है। इस सुन्दरी के प्रति तीव्र कामवासना उत्पन्न हो रही है, और इधर इस दुष्ट के प्रति महान् क्रोधाग्नि प्रज्वलित हो रही है। और इधर मैंने इस संन्यासी के वेष को धारण कर रक्खा है। 'यह कैसे हो सकता है' यह सोच कर मेरा मन किसी निर्णय पर स्थिर नहीं हो रहा है, यह घूम रहा है।

यहाँ एक ही आश्रय में एक साथ रति व क्रोध नामक स्थायी भावों का निबन्धन किया गया है। यह निबन्धन समप्राधान्यरूप में है, क्योंकि सुन्दरी के प्रति रति, तथा स्वसा के अपकारी दुष्ट के प्रति क्रोध दोनों प्रधान रूप से चित्रित किये गये हैं। यहाँ रति व क्रोध का परस्पर विरोध कैसे निराकृत होगा?

> 'अन्त्रैः कल्पितमङ्गलप्रतिसराः स्त्रीहस्तरक्तोत्पल-
>
> व्यक्तोत्तंसभृतः पिनद्धशिरसा हृत्पुण्डरीकस्रजः।
>
> एताः शोणितपङ्ककुङ्कुमजुषः संभूय कान्तैः पिब-
>
> न्त्यस्थिस्नेहसुरां कपालचषकैः प्रीताः पिशाचाङ्गनाः॥'

इत्यादावेकाश्रयत्वेन रतिजुगुप्सयोः,

४. किसी श्मशान का वर्णन है। पिशाचिनियों ने अँतड़ियों को गले और हाथ में लपेट रखा है, जैसे उन्होंने मङ्गलसूत्र पहन रखा हो। उन्होंने अपने कानों में स्त्रियों के हाथों के लाल कमल खोंस लिये हैं, वे स्त्रियों के हाथों को कानों में इसी तरह खोंसे हैं, जैसे रमणियाँ कमल का अवतंस धारण करती हैं। नसों तथा शिराओं के द्वारा मृतकों के हृदय के कमलों को पिरो कर उनकी माला उनने पहन रखी है। अथवा शवों के मस्तकों तथा हृत्कमलों की माला उन्होंने पहन रखी है। उन्होंने अपने शरीर पर खून के घने कुङ्कुम को लगा रखा है, इस तरह उत्सव के अनुरूप मङ्गल वेषभूषा बना कर। (मङ्गलसूत्र पहन कर कमल का अवतंस धारण कर, माला पहन कर तथा कुङ्कुम लगा कर) ये पिशाचों की स्त्रियाँ अपने प्रिय पिशाचों के साथ प्रसन्न होकर, कपाल के पान पात्रों से अस्थिस्नेह (चर्बी) की मदिरा का पान कर रही हैं।

यहाँ एक ही आश्रय—पिशाचाङ्गनाओं—में एक साथ, समप्रधानरूप रति तथा जुगुप्सा दोनों भावों का निबन्धन हुआ है। यहाँ भी इनमें परस्पर अविरोध कैसे हो सकेगा?

> 'एकं ध्याननिमीलनान्मुकुलितं चक्षुर्द्वितीयं पुनः
>
> पार्वत्या वदनाम्बुजस्तनतटे शृङ्गारभारालसम्।

> अन्यद्दूरविकृष्टचापमदनक्रोधानलोद्दीपितं
> शम्भोर्भिन्नरसं समाधिसमये नेत्रत्रयं पातु वः ॥'

इत्यादौ शमरतिक्रोधानाम्,

५ महादेव समाधि में स्थित हैं। इधर समीपस्थित पार्वती के प्रति उनके मन को चञ्चल करने के लिए कामदेव बाण मारता है, और महादेव के नेत्र एक साथ खुल पड़ते हैं। महादेव के तीनों नेत्रों की विभिन्न दशा का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि उनका एक नेत्र तो ध्यान में मग्न होने के कारण मुकुलित (बन्द) है। उनका दूसरा नेत्र पार्वती के मुखरूपी कमल तथा स्तन पर टिक कर शृङ्गार के बोझ से अलसाया सा हो गया है, अर्थात् पार्वती को देख कर उनका दूसरा नेत्र रति भाव का अनुभव कर रहा है। महादेव का तीसरा नेत्र दूर में बैठ कर धनुष को चढ़ाये हुए कामदेव के प्रति उत्पन्न क्रोधरूपी अग्नि से प्रज्वलित हो रहा है। इस तरह समाधि के समय महादेव के तीनों नेत्रों में तीन भिन्न भिन्न रसों की स्थिति हो रही है। महादेव के ये तीन नेत्र आप लोगों की रक्षा करें।

यहाँ एक ही आश्रय-महादेव में एक साथ शम (समाधिविषयक), रति (पार्वतीविषयक), तथा क्रोध (कामविषयक) इन तीन भावों का निबन्धन समप्रधान रूप में हुआ है। यहाँ भी शम, रति तथा क्रोध में परस्पर कोई विरोध नहीं है यह कैसे माना जा सकता है, क्योंकि इन तीनों में वस्तुतः विरोध माना जाता है।

> 'एकेनाक्ष्णा प्रविततरुषा वीक्षते व्योमसंस्थं
> भानोर्बिम्बं सजललुलितेनापरेणात्मकान्तम् ।
> अह्नश्छेदे दयितविरहाशङ्किनी चक्रवाकी
> द्वौ सङ्कीर्णौ रचयति रसौ नर्तकीव प्रगल्भा ॥'

इत्यादौ च रतिशोकक्रोधानां समप्राधान्येनोपनिबन्धस्तत्कथं न विरोधः ?

६ सूर्य अस्ताचल का चुम्बन करने जा रहा है। दिनान्त को समीप जान कर चकवाकी समझ लेती है कि अब उसको अपने प्रिय से वियोग होने वाला है। वह इस वियोग का एकमात्र कारण सूर्य को ही समझती है। कहीं यह सूर्य कुछ देर और रुका होता, इसे अस्त होने की जल्दी क्यों पड़ी है आखिर यह मुझे प्रिय से वियुक्त करना क्यों चाहता है। चकवाकी क्रोध से भरे हुए एक नेत्र से आकाशस्थित सूर्य-मण्डल की ओर,—जो अस्त होने को है—देख रही है। दूसरे नेत्र में आँसू भर कर वह अपने प्रिय को देख रही है जो अब रात भर के लिए उससे दूर हो जाने वाला है। इस प्रकार सूर्य के प्रति क्रोध, तथा प्रिय के भावी विरह के कारण शोकमिश्रित रति इन दो भावों का सञ्चार एक साथ चकवाकी के हृदय में हो रहा है। दिनावसान के समय, प्रिय के विरह की आशङ्का वाली चकवाकी एक कुशल नर्तकी के समान दो भिन्न रसों रौद्र (क्रोध) तथा शृङ्गार (रति) को मिश्रित रूप में एक साथ प्रकट कर रही है। जिस तरह एक कुशल नर्तकी एक साथ ही शरीर के विभिन्न अङ्गों के सञ्चालन के द्वारा भिन्न भिन्न रसों की व्यञ्जना करने में समर्थ होती है, तथा यह उसकी कला-निपुणता की उत्कृष्टता है, इसी तरह चकवाकी भी, शाम के समय, एक साथ एक-एक नेत्र के द्वारा अलग-अलग भावों की व्यञ्जना कर रही है।

इस पद्य में चक्रवाकी को आश्रय बना कर एक साथ क्रोध (सूर्यविषयक) तथा शोकपूर्ण रति (कान्तविषयक) का समावेश किया गया है। क्योंकि पूर्वपक्षी की कल्पना है कि यहाँ रति, शोक तथा क्रोध तीनों का उपनिबन्धन प्रधान रूप से तथा समान रूप से हुआ है।

[1]ऐसी दशा में इस पद्य में निबद्ध रति, शोक तथा क्रोध में परस्पर विरोध किस तरह नहीं माना जायगा।

पूर्वपक्षी ने उपर्युक्त छः पद्यों के द्वारा ऐसे स्थल उपस्थित किये, जहाँ उसके मतानुसार एक साथ कई भिन्न भावों का समप्रधानरूप से समावेश किया गया है। ऐसी दशा में इनमें विरोध है या नहीं। पूर्वपक्षी स्वयं तो यही विरोध ही स्वीकार करता है। इसीका उत्तर देते हुए, पूर्वपक्षी की शङ्का का परिहार करते हुए वृत्तिकार धनिक इन्हीं पद्यों को एक-एक लेकर सिद्धान्तपक्ष को प्रतिष्ठित करते हैं।

अत्रोच्यते—अत्राप्येक एव स्थायी, तथा हि—'एकत्तो रुअइ पिआ' इत्यादौ स्थायीभूतोत्साहव्यभिचारिलक्षणवितर्कभावहेतुसन्देहकारणतया करुणसंग्रामतूर्ययोरुपादानं वीरमेव पुष्णातीति भटस्येत्यनेन पदेन प्रतिपादितम्। न च द्वयोः समप्रधानयोरन्योन्यमुपकार्योपकारकभावरहितयोरेकवाक्यभावो युज्यते, किंचोपयान्ते संग्रामे सुभटानां कार्यान्तरकरणेन प्रस्तुतसंग्रामौदासीन्येन महदनौचित्यम्। अतो भटं संग्रामैकरसिकतया शौर्यमेव प्रकाशयन् प्रियतमारुदितं वीरमेव पुष्णाति।

इस विषय में हमारा यह उत्तर है कि इन उदाहरणों में भी ध्यान से देखा जाय तो स्थायी भाव दो न होकर एक ही है, चाहे वे दो या अधिक दिखाई देते हों। इन पद्यों में प्रधान स्थायी भाव एक ही चित्रित किया गया है, अन्य भाव उसके ही अङ्गरूप में उपनिबद्ध किये गये हैं, अतः इन भावों का समप्राधान्य मानना ठीक नहीं होगा। इस मत को स्पष्ट करने के लिए पूर्वपक्षी के उपर्युद्धृत छः ही उदाहरणों को एक-एक कर लिया जा सकता है, तथा उनके पर्यालोचन से यह मत और अधिक पुष्ट हो जाता है।

सबसे पहले 'एकत्तो रुअइ पिआ' इस प्राकृत गाथा को ले लीजिये, जहाँ भट में एक साथ प्रियानुराग (रति) तथा युद्धोत्साह का सञ्चार हो रहा है। क्या यहाँ दोनों का समप्राधान्य है? नहीं। इस गाथा का प्रधान स्थायी भाव उत्साह है, इस उत्साह स्थायी भाव के साथ वितर्क नामक व्यभिचारी भाव का समावेश किया जाता है और इस वितर्क का कारण भट का यह सन्देह है कि उसे यहाँ रहना चाहिए या जाना चाहिए। योद्धा के हृदय का संशयग्रस्त हो जाना वितर्क का कारण है, तथा वितर्क नामक व्यभिचारी उत्साह का अङ्ग बन कर आया है। साथ ही गाथा में एक ओर प्रिया के करुण रुदन तथा दूसरी ओर युद्धतूर्य का निबन्धन हुआ है, ये दोनों वीर रस को ही पुष्ट कर रहे हैं। दो भिन्न उपकरणों—करुणरुदन तथा युद्धवाद्य का उपादान इसीलिए किया गया है कि यही तो योद्धा के हृदय को दोलायित करने वाला है, उसके हृदय में सन्देह उत्पन्न करने वाला है, अतः करुण रुदन तथा युद्धवाद्य दोनों एक ही रस—उत्साह स्थायी भाव—के साधन हैं। गाथा में 'भट' शब्द का प्रयोग हुआ है (भडस्स दोलाइअं हिअअम्), जिसका अर्थ है वीर योद्धा। इसलिए प्रकरण में वीर योद्धा के वर्णित उत्साह स्थायी भाव की ही प्रधानता प्रतिपादित है। और अधिक स्पष्ट करते हुए हम कह सकते हैं कि वीर योद्धा के हृदय में केवल सन्देह भर हुआ है, उसने लड़ने जाना छोड़ नहीं दिया है, अतः उत्साह को ही प्रधान भाव तथा वीर को ही अङ्गी रस मानना होगा।

---

१. वस्तुतः इस पद्य में दो ही भावों का समावेश है—रति तथा क्रोध का। शोक को अलग से भाव मानना ठीक न होगा। यह तो भविष्यद् विप्रलम्भ शृङ्गार के स्थायी भाव रति में ही अन्तर्भावित हो जाता है। धनिकके 'दो सङ्कीर्णौ रसध्वनि रसौ' से भी यही सिद्ध होता है।

पूर्वपक्षी इस बात पर ज्यादा जोर देता है कि दोनों भाव समप्रधान रूप से उपनिबद्ध किये गये हैं। इसीका उत्तर देते हुए वृत्तिकार बताता है कि यदि कहीं दो भाव समप्रधान हैं तो इसका अर्थ यह है कि वे एक दूसरे के उपकारक नहीं। समप्रधान होने पर उनमें उपकार्य-उपकारक-भाव माना ही नहीं जा सकता। ऐसी दशा में उनका समावेश अलग अलग वाक्यों में करना ही ठीक होगा। जब वे दोनों एक दूसरे के साथ सम्बद्ध ही नहीं हैं, दोनों समान रूप से प्रधान हैं, तथा एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं तो उनका एक ही वाक्य में प्रयोग ठीक नहीं है, ऐसा करना दोष ही होगा। हाँ, एक अङ्गी भाव के उपकारक अङ्गभूत भावों का वर्णन एक ही वाक्य में करना ठीक है। ऐसी दशा में यदि यहाँ दोनों भावों का समप्राधान्य मान लेते हैं तो ऐसा समावेश दोष होगा। वीर पुरुषों का युद्ध के उपस्थित होने पर किसी दूसरे काम में फँस जाना तथा संग्राम के प्रति उदासीन हो जाना बहुत अनुचित है। ऐसी दशा में वीर पुरुष का युद्ध के उपस्थित होने पर भी प्रियानुराग के प्रति महत्त्व देना अनुचित ही माना जायगा। इसलिए प्रिया का करुणविप्रलम्भ एक तरह से वीर योद्धा के संग्रामप्रेम तथा शौर्य को ही प्रकाशित करता है तथा वीररस की ही पुष्टि करता है। इस तरह स्पष्ट है कि 'एकत्तो रुअइ पिआ' इस गाथा में प्रमुखता वीर रस तथा उत्साह भाव की ही है, प्रियाविषयक विप्रलम्भ (करुणविप्रलम्भ) इसीका अङ्ग तथा पोषक भाव है।

एवं 'मात्सर्यम्' इत्यादावपि चिरप्रवृत्तरतिवासनाया हेयत्वयोपादानाच्छमैकपरत्वम् 'आर्याः समर्यादम्' इत्यनेन प्रकाशितम्।

दूसरे उदाहरण 'मात्सर्यमुत्सार्य' आदि पद्य में भी यही दशा है। यहाँ भी दोनों भाव—शम तथा रति—समप्रधान नहीं हैं। यहाँ भी चिरकाल से प्रवृत्त कामवासना तथा रति को तुच्छ तथा नगण्य बताने के कारण शम की ही प्रधानता सिद्ध होती है। कवि यहाँ शम भाव को ही प्रधान मानता है और 'आर्याः समर्यादं' इस पदद्वय के द्वारा उसने साफ बता दिया है कि वह इस बात का निर्णय पर्वत की तलहटियाँ अच्छी हैं, या रमणियों के नितम्ब, पूज्य सम्मान्य व्यक्तियों से ही पूछता है, तथा इसका मर्यादित निर्णय सुनना चाहता है। यह इस बात का प्रकाशन करता है कि यहाँ रति भाव शम भाव का ही पोषक अङ्ग है।

एवम् 'इयं सा लोलाक्षी' इत्यादावपि रावणस्य प्रतिपक्षनायकतया निशाचरत्वेन मायाप्रधानतया च रौद्रव्यभिचारिविषादविभाववितर्कहेतुतया रतिक्रोधयोरुपादानं रौद्रपरत्वेव। 'भ्रूलग्ने कल्पितमङ्गलप्रतिसरा' इत्यादौ हास्यरसैकपरत्वमेव, 'एक ध्याननिमीलनात्' इत्यादौ शम्भोर्भावान्तरैरलाक्षिततया शमस्वस्यापि योग्यन्तरशमाद्वैलक्षण्यप्रतिपादनेन शमैकपरत्वेव 'समाधिसमये' इत्यनेन स्फुटीकृता। 'एकेनाक्ष्णा' इत्यादौ तु समस्तमपि वाक्यं भविष्यद्विप्रलम्भविषयमिति न क्वचिदनेकतात्पर्यम्।

तीसरा उदाहरण 'इयं सा लोलाक्षी' रावण की उक्ति है। इसमें एक साथ रति तथा क्रोध, इन दो भावों का समावेश किया गया है। पूर्वपक्षी यहाँ इन दोनों भावों का समप्राधान्य मानता है। किन्तु रावण के विषय में यह ठीक नहीं जान पड़ता। रावण पहले तो प्रतिपक्ष नायक है, दूसरे वह राक्षस है, तीसरे मायावी है। इन सब बातों को देखने से यह पता चलता है कि यहाँ का अङ्गी रस रौद्र ही है। रौद्र रस के व्यभिचारी भाव 'विषाद' का, तथा उसके (विषाद के) आलम्बन सीता व लक्ष्मण के विषय में उत्पन्न वितर्क के द्वारा रति तथा क्रोध इन दो भावों का समावेश हुआ है। अब 'क्या किया जाय, एक ओर तो यह सुन्दरी है, दूसरी ओर यह दुरात्मा, तथा दोनों विभिन्न भावों के आलम्बन हैं' यह वितर्क रौद्र रस की

की पुष्टि करता है। इस तरह रति भाव भी रौद्र रस का ही पोषक है तथा उसी का अङ्ग है। 'स्य सा लोलाक्षी' इस पद्य में क्रोध ही प्रमुख स्थायी भाव है यह स्पष्ट है।

चौथे उदाहरण में, पिशाचिनियों का वर्णन करते हुए कवि ने एक साथ बीभत्स व शृङ्गार का समावेश 'अन्त्रैः कल्पितमङ्गलप्रतिसराः' इस पद्य में किया है। यहाँ भी जुगुप्सा तथा रति भाव का समप्राधान्य नहीं है, जैसा पूर्वपक्षी मानता है। यहाँ पर तो पिशाचिनियों को हास्यरस का आलम्बन बनाया गया है तथा जुगुप्सा व रति दोनों उसके अङ्ग बने हुए हैं। 'अहा, पिशाचिनियाँ किस ठाट से सजधज कर उत्सव में सम्मिलित होती हुई पानगोष्ठी का अनुभव कर रही हैं' यह व्यङ्ग्य पिशाचिनियों के प्रति हास भाव की प्रतीति करा रहा है। अतः पूर्वपक्षी की शङ्का का यहाँ भी निराकरण हो ही जाता है। यहाँ भी केवल एक ही अर्थ प्रधान है, वह है हास्य रस तथा उसका स्थायी हास।

पाँचवा उदाहरण 'एकं ध्याननिमीलनात्' आदि है। इसमें रति, शम तथा क्रोध इन भावों की स्थिति वर्णित की गई है। यहाँ भी पूर्वपक्षी इन तीनों का समप्राधान्य मानता है। यहाँ महादेव के वर्णन में समाधि के शम भाव के अतिरिक्त दूसरे भावों का समावेश इसलिए किया गया है, कि कवि यह बताना चाहता है कि समाधिस्थ होने पर भी महादेव की शम भाव की अनुभूति साधारण योगियों से विलक्षण है। इसलिए इस सारे पद्य में शम ही प्रधान है, तथा रति भाव एवं क्रोध दोनों भाव शमपरक ही है।

'एकेनाक्ष्णा प्रवितत'-इस छठे उदाहरण में क्रोध, शोक तथा रति भाव का समावेश है। यहाँ भी इन तीनों का समप्राधान्य नहीं माना जा सकता। सारे पद्य का एक ही विषय है और वह यह है कि शाम के समय चक्रवाकी अपने प्रिय के भावी वियोग की आशङ्का से दुखित हो रही है। ऐसी दशा में समस्त वाक्य भावी विप्रलम्भ का ही सूचक है। इसलिए क्रोध या शोक के अर्थ का कोई अलग तात्पर्य नहीं निकलता। क्रोध (सूर्यविषयक) तथा शोक दोनों रति के ही अङ्ग बन जाते हैं। अतः यहाँ भी प्रधानता एक ही भाव की सिद्ध होती है।[1]

यत्र तु श्लेषादिवाक्येष्वनेकतात्पर्यमपि तत्र वाक्यार्थभेदेन स्वतन्त्रतया चार्थद्वयपर-तेत्यदोषः। यथा—

कुछ ऐसे भी स्थल होते हैं, जहाँ एक ही वाक्य के द्वारा अनेक तात्पर्यों की प्रतीति होती है। ऐसे स्थलों पर दो भिन्न भावों का एक साथ समावेश पूर्वपक्षी दोष माने, तो उसका निराकरण करते हुए वृत्तिकार कहते हैं कि जिन स्थलों में श्लेष आदि से अनेकार्थ वाक्यों में कई तात्पर्यों की प्रतीति होती है, वहाँ उसी वाक्य के अलग-अलग प्रत्येक तात्पर्यार्थ स्वतन्त्र हैं, वे एक दूसरे से संबद्ध नहीं हैं, अतः उनमें दो अर्थ माने जायँगे। ऐसी दशा में उनमें दोष नहीं रहेगा। भाव यह है कि श्लेष के द्वारा एक ही वाक्य से दो या अधिक अर्थों की प्रतीति होती है। जहाँ इन दोनों अर्थों में उपमानोपमेयभाव होगा वहाँ तो उपमेयपक्ष वाले अर्थ

---

1. इसी सम्बन्ध में एक उदाहरण और लिया जा सकता है —

कपोले जानक्याः करिकलभदन्तद्युतिमुषि स्मरस्मेरस्फारोड्डमरपुलकं वक्त्रकमलम्।
मुहुः पश्यञ्छृण्वन् रजनिचरसेनाकलकलं जटाजूटग्रन्थिं द्रढयति रघूणां परिवृढः॥

(इस पद्य के अनुवाद के लिए देखिये द्वितीय प्रकाश में माधुर्य का उदाहरण)

यहाँ पर राम में एक ओर रति तथा दूसरी ओर उत्साह का वर्णन किया गया है। ऊपर के 'एकत्तो रुअइ' आदि गाथा की भाँति यहाँ भी उत्साह ही प्रमुख भाव मानना ठीक होगा। रति भाव यहाँ वीर रस का ही पोषक अङ्ग है, यह स्पष्ट है। (अनुवादक)

की प्रधानता सिद्ध हो ही जाती है। यदि दोनों ही अर्थ स्वतन्त्र हैं, तो फिर तत्तद् प्रकरण में तत्तद् अर्थ की प्रधानता सिद्ध हो सकती है। इस तरह श्लेषादि के द्वारा दो या अधिक भावों का एक साथ समावेश विरुद्ध नहीं होगा। श्लेष के एक उदाहरण को लेकर इसे स्पष्ट करते हैं—

'श्लाघ्याशेषतनु सुदर्शनकरः सर्वाङ्गलीलाजित-
त्रैलोक्यां चरणारविन्दललितेनाक्रान्तलोको हरिः।
बिभ्राणां मुखमिन्दुसुन्दररुचं चन्द्रात्मचक्षुर्दधत्
स्थाने यां स्वतनोरपश्यदधिकां सा रुक्मिणी वोऽवतात् ॥'

इत्यादौ। तदेवमुक्तप्रकारेण रत्याद्युपनिबन्धे सर्वत्राविरोधः। यथा वा श्रूयमाण-रत्यादिपदेष्वपि वाक्येषु तत्रैव तात्पर्यं तथाग्रे दर्शयिष्याम ।

जब कृष्ण ने रुक्मिणी को देखा, तो उन्हें पता चला कि वह तो उनसे भी अधिक सुन्दर है, उनके भी शरीर से अधिक है। कृष्ण का तो केवल हाथ ही सुन्दर (सुदर्शनकर) है, (कृष्ण के हाथ में सुदर्शन चक्र है), लेकिन रुक्मिणी का समस्त शरीर अतीव प्रशंसनीय तथा रमणीय है। कृष्ण ने संसार को केवल चरणारविन्द की ही सुन्दरता से जीता है, अर्थात् उनका केवल चरण ही ललित है, जो सुन्दरता में संसार की होड़ कर सके, (कृष्ण ने वामनावतार में चरणकमल के द्वारा सारे लोकों को नाप लिया है), लेकिन रुक्मिणी ने सारे अंगों की शोभा से तीनों लोकों को जीत लिया है। कृष्ण की केवल आँख ही चन्द्रमा के समान है, बाकी सारा मुँह कुरूप है, (कृष्ण परमात्मा के अवतार होने के कारण, उनका वाम नेत्र चन्द्रमा है); लेकिन रुक्मिणी सुन्दर कान्तिवाले मुख-चन्द्र को धारण करती है। इस तरह कृष्ण का केवल हाथ ही सुन्दर है पाँव ही शोभामय है, तथा आँख ही चन्द्रतुल्य है, जब कि रुक्मिणी का पूरा शरीर सुन्दर है, उसके सारे अंग शोभा से तीनों लोकों को जीत लेते हैं, तथा उसका पूरा मुख चन्द्रमा जैसा है, इसलिए कृष्ण रुक्मिणी को अपने से अधिक पाते हैं। वह रुक्मिणी जो कृष्ण से अधिक सुन्दर तथा उत्कृष्ट है, आप लोगों की रक्षा करे।

इत्यादि उदाहरणों में वाक्यार्थ अनेक पाये जा सकते हैं, पर उनके दो अर्थ होने के कारण अदोष ही मानना होगा।

इस तरह से उपर्युक्त प्रक्रिया से काव्य में रति आदि स्थायी भावों के उपनिबन्धन में विरोध नहीं आता। इस विषय में यह भी पूछा जा सकता है कि जहाँ रत्यादि पदों का काव्य में प्रयोग होता (रत्यादि पद श्रूयमाण होते हैं), [1]वहाँ भी तात्पर्य रति आदि भावों में ही होता है, क्योंकि विभाव आदि साधनों के कारण ही भावों का आक्षेप होता है, पदों के साक्षात् प्रयोग के कारण नहीं।

ते च—

रत्युत्साहजुगुप्साः क्रोधो हासः स्मयो भयं शोकः।
शममपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य ॥ ३५ ॥

ये स्थायी भाव आठ होते हैं:—रति, उत्साह, जुगुप्सा, क्रोध, हास, स्मय, भय तथा शोक। कुछ आचार्य शम जैसे नवें स्थायी भाव को भी मानते हैं, किन्तु इस भाव की पुष्टि नाट्य (रूपकों) में नहीं होती। हमारे मतानुसार यह भाव नाट्यानुकूल नहीं है। अतः नाट्यशास्त्र की दृष्टि से स्थायी भाव केवल आठ ही है। शम जैसे नवें स्थायी भाव तथा उसके रस-शान्त-को अलग से मानना हमें सम्मत नहीं।

---

१ यहाँ यह भी अर्थ हो सकता है कि जहाँ रत्यादि पद का काव्य में साक्षात् प्रयोग (श्रूयमाण) होता है, वहाँ भी तात्पर्य (फिर से) उन्हीं भावों में होगा।

(इस प्रकार धनञ्जय के मत से शृङ्गार, वीर, बीभत्स, रौद्र, हास्य, अद्भुत, भयानक तथा करुण ये आठ ही रस होते हैं। उन्हें शान्त रस स्वीकार नहीं, क्योंकि वह रूपकों के अनुपयुक्त है।)

इह शान्तरसं प्रति वादिनामनेकविधा विप्रतिपत्तयः, तत्र केचिदाहुः—'नास्त्येव शान्तो रसः' तस्याचार्येण विभावाद्यप्रतिपादनाल्लक्षणाकरणात्। अन्ये तु वस्तुतस्तस्याभावं वर्णयन्ति—अनादिकालप्रवाहायातरागद्वेषयोरुच्छेत्तुमशक्यत्वात्। अन्ये तु वीरबीभत्सादावन्तर्भावं वर्णयन्ति। एवं वदन्तः शममपि नेच्छन्ति। यथा तथास्तु। सर्वथा नाटकादावभिनयात्मनि स्थायित्वमस्माभिः शमस्य निषिध्यते, तस्य समस्तव्यापारप्रविलयरूपस्याभिनयायोगात्।

शान्त रस के विषय में विद्वानों के कई भिन्न भिन्न मत पाये जाते हैं। शान्त रस के विरोधी इसका निषेध कई ढंग से करते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि शान्त जैसा रस है ही नहीं। नाट्यशास्त्र में आचार्य भरत ने केवल शृङ्गारादि आठ ही रसों के विभावादि साधनों का वर्णन किया है। नाट्यशास्त्र में शान्त रस के न तो विभावादि ही वर्णित हैं, न उसका लक्षण ही दिया गया है। ऐसी दशा में यह स्पष्ट है कि मुनि भरत शान्त को नवाँ रस नहीं मानते। यदि शान्त को अलग से रस माना जाता, या वह रस होता, तो भरत उसका वर्णन अवश्य करते। शान्त को अलग रस मानना प्रस्थानविरुद्ध तथा आचार्य भरत के मत के प्रतिकूल है। अतः शान्त जैसा रस नहीं है।

दूसरे लोग उसका वास्तविक अभाव मानते हैं। पहले मत वाले तो केवल नाट्य में (या काव्य में भी) उसकी सत्ता नहीं मानते, पर ये दूसरे मतावलम्बी शम की सत्ता व्यावहारिक क्षेत्र में भी नहीं मानते। उनकी दलील है कि शान्त रस की स्थिति तभी हो सकती है, जब कि व्यक्ति के राग-द्वेष का नाश हो जाय। राग तथा द्वेष मनुष्य में अनादि काल से चले आ रहे हैं, अतः उनकी आत्यन्तिक निवृत्ति होना असम्भव है। जब अनादि काल से चले आते हुए राग-द्वेष का नाश असम्भव है तो फिर शान्त रस कैसे परिपुष्ट हो सकता है।

कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो शम या शान्तिपरक चित्तवृत्ति की स्थिति तो मानते हैं, पर उसे अलग से स्थायी भाव नहीं मानते। उनके मतानुसार शम को वीर बीभत्स आदि में अन्तर्भावित किया जा सकता है। यथा संसार के प्रति घृणा, जो शम का एक तत्त्व है बीभत्स के अन्तर्गत आ जाता है, इसी तरह नश्वर परम तत्त्व के प्रति उत्सुकता वीर के स्थायी उत्साह का अङ्ग बन जाता है। इस तरह शान्त को अलग से रस नहीं माना जा सकता।

अब ये तीनों मत वाले विद्वान् शान्त रस को ही नहीं मानते तो उसके स्थायी भाव शम को कैसे स्वीकार करेंगे? इसलिए वे शम की भी इच्छा नहीं करते। और उनका मत कुछ भी हो, तथा लौकिक रूप में शम को माना जाय या न माना जाय, इससे हमें कोई मतलब नहीं। हम लोग तो यह मानते हैं कि शम स्थायी (शान्त रस) रूपक (अभिनय) के सर्वथा अनुपयुक्त है। नाटकादि रूपकों में अभिनय की प्रधानता है, अभिनय ही इन रूपकों की आत्मा है। अतः अभिनयपरक रूपकों में हम शम का निषेध सचमुच में कर रहे हैं। इसका खास कारण यह है कि शम में व्यक्ति की समस्त लौकिक प्रक्रियाओं का लोप हो जाता है, (एक वीतराग समाधिदशा शम में पाई जाती है)। इस प्रकार की दशा का अभिनय करना असम्भव है। इसलिए अभिनय की असम्भवता के कारण ही हम नाटकादि में शम स्थायी की स्थिति स्वीकार नहीं करते।

यत्तु कैश्चिन्नागानन्दादौ शमस्य स्थायित्वमुपवर्णितम्, तत्तु मलयवत्यनुरागेणाऽऽप्र-

धन्धप्रवृत्तेन विद्याधरचक्रवर्तित्वप्राप्त्या विरुद्धम्। न ह्येकानुकार्यविभावालम्बनौ विषया-नुरागापरागावुपलब्धौ, अतो दयावीरोत्साहस्यैव तत्र स्थायित्वं तत्रैव शृङ्गारस्याङ्गत्वेन चक्रवर्तित्वावाप्तेश्च फलत्वेनाविरोधात्। ईप्सितमेव च सर्वत्र कर्तव्यमिति परोपकारप्रवृत्तस्य विजिगीषोर्नान्तरीयकत्वेन फलं सम्पद्यत इत्यावेदितमेव प्राक्। अतोऽष्टावेव स्थायिनः।

कुछ लोग (पूर्वपक्षी) हर्षरचित नागानन्द नाटक में शान्त रस मानकर उसका स्थायी शम मानते हैं, वह ठीक नहीं है। नागानन्द नाटक में सारे प्रबन्ध में आरम्भ से अन्त तक जीमूतवाहन (नायक) का मलयवती के प्रति अनुराग निबाहा गया है, तथा उसे अन्त में विद्याधरचक्रवर्तित्व की प्राप्ति होती है। ये दोनों ही बातें शम के विरुद्ध पड़ती हैं। शम की स्थिति में अनुराग का वर्णन तथा बाद में किसी लौकिक फल की प्राप्ति होना विरोधी है। शम में तो व्यक्ति विषयों से विमुख रहता है, तथा किसी लौकिक फल की इच्छा नहीं रखता, यदि उसे कोई इच्छा होती भी है तो वह पारलौकिक फल (मोक्ष) की ही। ऐसी दशा में नागानन्द का स्थायी भाव शम कैसे हो सकता है? एक ही अनुकार्य जीमूतवाहनादि के विभाव तथा आलम्बन एक साथ विषयानुराग (विषय के प्रति आसक्ति), तथा विषयापराग (विषयों से विरक्ति) दोनों नहीं हो सकते। या तो उसमें विषयासक्ति ही हो सकती है, या विषय-विरक्ति ही। जीमूतवाहन में विषय राग स्पष्ट है, अतः विषय-विरक्ति रूप शम नहीं हो सकता।

तो फिर नागानन्द का स्थायी क्या है? यह प्रश्न सहज ही उपस्थित होता है। इसी का उत्तर देते हुए वृत्तिकार कहते हैं कि इस नाटक में वीर रस का स्थायी उत्साह ही स्थायी भाव है। उत्साह को स्थायी भाव मान लेने पर मलयवती विषयक प्रेम (शृङ्गार) उसका अङ्ग बन जाता है तथा चक्रवर्तित्व की प्राप्ति भी उसका फल हो जाता है। इस प्रकार उत्साह स्थायी भाव का शृङ्गार तथा ऐहिक फल प्राप्ति से कोई विरोध भी नहीं पड़ता। जो भी कुछ किया जाता है उसकी इच्छा अवश्य होती है, सारे कर्तव्य ईप्सित होते हैं, इसलिए परोपकार में प्रवृत्त वीर को, जो दूसरे लोगों को परोपकारादि से जीत लेना चाहता है, फल प्राप्ति होना तो आवश्यक ही है, यह हम पहले ही द्वितीयप्रकाश के धीरोदात्तनायक के प्रकरण में बता चुके हैं।

ननु च—

> 'रसनाद्रसत्वमेतेषां मधुरादीनामिवोक्तमाचार्यैः।
> निर्वेदादिष्वपि तन्निकाममस्तीति तेऽपि रसाः॥'

इत्यादिना रसान्तराणामप्यन्यैरभ्युपगतत्वात् स्थायिनोऽप्यन्ये कल्पिता इत्यव-धारणानुपपत्तिः।

इसलिये यह स्थित है कि केवल आठ ही स्थायी भाव हैं।

पूर्वपक्षी को इस संख्या (आठ) के अवधारण पर आपत्ति है। वह कहता है कि निर्वेद आदि भावों को भी रस मानना ठीक होगा। नाट्यादि में निर्वेदादि भावों का आस्वाद किया ही जाता है, उनकी चर्वणा ठीक उसी तरह होती है, जैसे रत्यादि स्थायी भावों की। आस्वाद विषय होने के कारण मधुर, अम्ल आदि रस कहलाते हैं, क्योंकि उनका रसन (स्वाद) प्राप्त किया जाता है। यह रसन निर्वेदादि भावों में भी पूरी तरह मौजूद है, इसलिए ये भी रस हैं। इनको रस मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। (इस उक्ति के अनुसार) कई विद्वानों ने दूसरे रसों को भी स्वीकार किया है, और इस तरह उन उन रसों के दूसरे स्थायी भाव की भी कल्पना हो जाती है। अतः धनञ्जय का कारिका में केवल आठ ही स्थायी गिनाना तथा वृत्तिकार का भी 'अष्टावेव' इस तरह संख्या का अवधारण करदेना ठीक नहीं

पैठ पाता। उन विद्वानों से यह मत विरुद्ध जान पड़ता है। इसी पूर्वपक्ष रूप शंका को करते हुए धनञ्जय ने आगे की कारिका अवतरित की है:—

अत्रोच्यते—

निर्वेदादिरताद्रूप्यादस्थायी स्वदते कथम्।
वैरस्यायैव तत्पोषस्तेनाष्टौ स्थायिनो मताः ॥ ३६ ॥

हम बता चुके हैं कि स्थायी भाव वह है जो विरुद्ध या अविरुद्ध भावों से विच्छिन्न नहीं हो पाता, वह समुद्र की तरह उन्हें आत्मसात् कर लेता है। यह ताद्रूप्य (इस तरह से विरुद्ध या अविरुद्ध भावों से विच्छिन्न न होने का गुण) निर्वेदादि में नहीं पाया जाता। अतः स्थायी की शर्तें पूरी न उतरने से निर्वेदादि को स्थायी कैसे मान सकते हैं, तथा उनकी चर्वणा कैसे हो सकती है? यदि निर्वेदादि की काव्य नाटकादि में पुष्टि होती भी तो वह रस के स्थान पर वैरस्य (रसविकार) उत्पन्न करेगी। अतः उन्हें रस के स्थायी नहीं माना जा सकता, इसी लिए हमने आठ ही स्थायी माने हैं।

(अताद्रूप्यात् =) विरुद्धाविरुद्धाविच्छेदित्वस्य निर्वेदादीनामभावादस्थायित्वम्, अत एव ते चिन्तादिस्वस्वव्यभिचार्यन्तरिता अपि परिपोषं नीयमाना वैरस्यमावहन्ति। न च निष्फलावसानत्वमेतेषामस्थायित्वनिबन्धनम्, हास्यादीनामप्यस्थायित्वप्रसङ्गात्। पारम्पर्येण तु निर्वेदादीनामपि फलवत्त्वात्। अतो निष्फलत्वमस्थायित्वे प्रयोजकं न भवति किन्तु विरुद्धाविरुद्धैर्भावैरतिरस्कृतत्वम्। न च तन्निर्वेदादीनामिति न ते स्थायिनः, ततो रसत्वमपि न तेषामुच्यते अतोऽस्थायित्वादेवैतेषामरसता।

स्थायी भाव की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह विरोधी तथा अविरोधी भावों से विच्छेदित नहीं होता। निर्वेदादि भाव दूसरे भावों से विच्छिन्न हो जाते हैं इसलिए इनमें 'विरुद्धाविरुद्धाविच्छेदित्व' नहीं माना जा सकता। इसके अभाव के कारण, निर्वेदादि स्थायी भी नहीं बन सकते। कुछ कवि लोग निर्वेदादि के साथ चिन्ता आदि अपने-अपने अविरोधी व्यभिचारियों का समावेश कर काव्य में उनकी पुष्टि कराते हैं, किन्तु वहाँ वे पुष्ट नहीं हो पाते। चिन्तादि सञ्चारियों के द्वारा दूसरे विरोधी रसों से अलग कर दिये जाने पर भी निर्वेदादि की पुष्टि रस के स्थान पर वैरस्य ही उत्पन्न करती है। जो चर्वणा सहृदयों की शृङ्गारादि (रत्यादि) के परिपोष से होती है, तथा जो आनन्द संवित् का अनुभव उनसे होता है, वह निर्वेदादि से नहीं। यदि कोई यह कहे कि निर्वेदादि भावों का अन्त (परिणाम) फलरहित है; इसलिए उनको स्थायी नहीं माना जा सकता, तो यह बात नहीं है। निष्फलावसानत्व के ही कारण इनको स्थायी न मानने पर तो हास आदि भावों को भी स्थायी नहीं मानना पड़ेगा। हास आदि भावों के परिणाम भी फलरहित हो हैं, क्योंकि हास के आश्रय को मनोरञ्जन के अतिरिक्त ऐहिक या पारलौकिक फल प्राप्ति नहीं होती। और ध्यान से देखा जाय, तो निर्वेदादि भी फलरहित नहीं हैं; क्योंकि निर्वेदादि किसी न किसी स्थायी के अङ्ग बन कर आते हैं; वह स्थायी फलरहित नहीं होता; इस तरह परम्परा से ये भी फलयुक्त हो ही जाते हैं। इसलिए जो भी भाव निष्फल हैं; वे स्थायी नहीं हैं, यह कोई नियम नहीं है; फलरहितता को हम स्थायी न मानने का कारण (प्रयोजक) नहीं मानते। यदि किसी भाव को स्थायी घोषित न करने का कोई कारण है, तो वह केवल यही कारण हो सकता है कि अमुक भाव विरोधी तथा अविरोधी भावों से तिरस्कृत हो जाता है। विरोधी तथा अविरोधी भावों से तिरस्कृत न होना ही वह कसौटी है जिस पर भाव के स्थायित्व की परख होती है,

यही उसका प्रयोजक है। निर्वेदादि भावों में यह बात नहीं पाई जाती, अतः वे स्थायी नहीं हैं। जब वे भाव ही नहीं तो उनके रस (शान्तादि) भी नहीं हो सकते, इन्हें 'निर्वेदादिष्वपि तत् प्रकाम मस्तीति तेऽपि रसाः' के आधार पर रस भी नहीं कहा जा सकता। जब इनमें से कोई भाव स्थायी नहीं तो वे रस भी नहीं हैं। अतः स्पष्ट है कि स्थायी भाव तथा उनके रस आठ ही हैं।

[स्थायी भावों व रसों का निर्धारण हो जाने पर, उनकी संख्या नियत कर देने पर, एक प्रश्न उठना स्वभाविक है, कि रस व स्थायी का काव्य-नाटक से क्या सम्बन्ध है। काव्य या नाटक के द्वारा रस की प्रतीति किस तरह से, किस प्रक्रिया से, कौन से व्यापार से होती है। इसके विषय में विद्वानों के कई मत हैं। धनञ्जय व धनिक के विरोधी मतों में प्रमुख मत ध्वनिवादियों का है जो रस तथा काव्य में व्यङ्ग्यव्यञ्जक भाव सम्बन्ध मानते हैं, तथा इस सम्बन्ध के लिए अभिधा, लक्षणा तथा तात्पर्य इन तीन वृत्तियों (शब्दशक्तियों) से भिन्न तुरीया वृत्ति-व्यञ्जना-की कल्पना करते हैं।[1] ध्वनिकार तथा आनन्दवर्धन दोनों ही रस को वाच्य, लक्ष्य या तात्पर्यार्थ मानने से सहमत नहीं, वे इसे अभिव्यङ्ग्य मानते हैं। धनञ्जय तथा धनिक मीमांसक हैं, वे अभिधावादी हैं, तथा लोल्लट के दीर्घदीर्घतराभिधाव्यापार को भी मानते हैं जहाँ अभिधाव्यापार बाण की तरह काम करता माना गया है—सोयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरोऽभिधाव्यापारः। स्थायी भाव तथा रस की प्रतीति को वे तात्पर्य या वाक्यार्थ ही मानते हैं। इसलिए ध्वनिवादियों की व्यञ्जना तथा उसके आधार पर रस या भाव की व्यङ्ग्यता का खण्डन करने के लिए वृत्तिकार 'वाच्या प्रकरणादिभ्यो' इस कारिका के पहले ध्वनिवादी के पूर्वपक्षी मत को विशद रूप से रखता है, जिसके उत्तर में इस कारिका में धनञ्जय ने अपना सिद्धान्तपक्ष प्रतिष्ठापित किया है।]

कः पुनरेतेषां काव्येनापि सम्बन्धः? न तावद्वाच्यवाचकभावः स्वशब्दैरनावेदितत्वात्, नहि शृङ्गारादिरसेषु काव्येषु शृङ्गारादिरसशब्दा रत्यादिशब्दा वा श्रूयन्ते येन तेषां तत्परिपोषस्य वाभिधेयत्वं स्यात्, यत्रापि च श्रूयन्ते तत्रापि विभावादिद्वारकमेव रसत्वमेतेषां न स्वशब्दाभिधेयत्वमात्रेण।

प्रश्न होता स्वाभाविक है कि स्थायी भावों तथा उनके रसों का काव्य से किस प्रकार का सम्बन्ध है? यह तो स्पष्ट है कि काव्य (नाटकादि) के ही द्वारा—देख कर (या सुन कर) सहृदय रस की चर्वणा करते हैं, किन्तु रस चर्वणा काव्य का साक्षात् अर्थ, वाच्यार्थ है, लक्ष्यार्थ है, अथवा इससे भी भिन्न कोई दूसरा अर्थ इसे माना जाना चाहिए। इस प्रश्न का उत्तर ध्वनि तथा व्यञ्जना की कल्पना करने वाले आचार्य इस प्रकार से देते हैं। उनके मतानुसार काव्य तथा रस में वाच्यवाचक भाव सम्बन्ध नहीं मान सकते, न तो रस वाच्य ही है, न काव्य (काव्य ही नहीं काव्य में वर्णित विभावादि भी) उसका वाचक ही। शब्द [illegible] अब तक दो शक्तियाँ मानी जाती रही हैं, अभिधा तथा लक्षणा, जिनके साथ तात्पर्य नामक वाक्यवृत्ति का भी समावेश किया जाता है। अभिधा शक्ति के द्वारा शब्द तथा उसके अर्थ में जो सम्बन्ध स्थापित किया जाता है, वह सम्बन्ध वाच्यवाचक भाव सम्बन्ध कहलाता है। जैसे 'गौः' शब्द 'सास्नादिमान् पशु' का वाचक है, तद्विशिष्ट पशु उसका वाच्य। काव्य तथा रस के विषय में ऐसा नहीं कहा जाता।

१. ध्वनिवादियों के रस मत का विवेचन भूमिका भाग में द्रष्टव्य है।

मान लीजिए, कि काव्य (अर्थात् काव्य प्रयुक्त शब्द) रस के वाचक हैं, तथा मुख्या (अभिधा) वृत्ति के द्वारा साक्षात् रूप में उसका बोध कराते हैं, तो ऐसी दशा में शृङ्गार, वीर आदि शब्दों का प्रयोग तत्तत्काव्य में अवश्य होना चाहिए। तभी तो रस वाच्य रूप में प्रतीत हो सकता है। किन्तु काव्यगत वास्तविकता इससे सर्वथा भिन्न है। हम किसी भी शृङ्गारादि रस के काव्य को ले लें। ऐसे काव्यों में शृङ्गारादि शब्दों या उनके स्थायी भाव रत्यादि के वाचक शब्दों का प्रयोग नहीं होता, ऐसा प्रयोग किसी भी काव्य में नहीं सुना जाता है। वाच्यार्थ की प्रतीति तभी होगी, जब उसके साक्षात् वाचक शब्द का श्रवणेन्द्रिय से सन्निकर्ष हो। जब काव्य में शृङ्गार या रति (रस अथवा उसके भाव) का साक्षात् प्रयोग ही नहीं होता, तो फिर रस या स्थायी भाव की पुष्टि को वाच्य कैसे मान सकते हो, वह अभिधेयत्व की कोटि को ग्रहण ही कैसे कर सकता है।[1] मान लीजिये, कुछ स्थलों पर ऐसे शब्दों का प्रयोग देखा भी जाता है, किन्तु वहाँ भी यह नहीं कहा जा सकता कि तत्तत् भाव या तत्तत् रस की प्रतीति उन शब्दों के प्रयोग के ही कारण है। भाव या रस का परिपोष विभाव अनुभाव तथा संचारी के कारण होता है। अतः शब्दों के प्रयोग होने पर भी वहाँ उस काव्य में वर्णित विभावादि के कारण ही रस प्रतीति होती है, खाली शब्दों के द्वारा ही रस वाच्य नहीं हो सकता। (यदि किसी काव्य में केवल रत्यादि भाव या शृङ्गारादि रस के वाचक शब्दों का प्रयोग कर दिया जाय, और विभावादि का सुचारु सन्निवेश न हो पाय, तो रसचर्वणा हो ही न सकेगी। साथ ही ध्वनिवादी के अनुसार तो कभी-कभी काव्य के भाव या रस के स्वशब्द का प्रयोग-स्वशब्दनिवेदित दोष भी माना गया है।)[2]

(इस विवेचना से यह स्पष्ट है कि भाव या रस की प्रतीति अभिधा से सामान्य वास्तविकता से दूर जाना है, जब कि काव्यादि में उसके अभिधायक या वाचक शब्द हैं ही नहीं। इस तरह 'घटादि' शब्द के उच्चारणाभाव में 'घटादि' के अर्थ की प्रतीति मान लेने का प्रसंग उपस्थित हो सकता है। वस्तुतः काव्य रस या भाव का वाचक कभी नहीं माना जा सकता।)

नापि लक्षणलक्षणया –तत् सामान्याभिधायिनस्तु–शब्दस्य पदस्याप्रयोगात् नापि लक्षितलक्षणया तत्प्रतिपत्तिः । यथा 'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ तत्र हि स्वार्थे स्रोतोलक्षणे घोषस्यावस्थानासम्भवात्स्वार्थं स्खलद्गतिर्गङ्गाशब्दः स्वार्थाविनाभूतत्वोपलक्षितं तटमुपल-

---

1. उदाहरण के लिए—

शयिता सविधेऽप्यनीश्वरा सफलीकर्तुमहो मनोरथान् ।
दयिता दयिताननाम्बुजं दरमीलन्नयना निरीक्षते ॥ (पण्डितराज)

अथवा,

सघन कुञ्ज छाया सुखद, सीतल मन्द समीर ।
मन ह्वै, जात अजौं वहै, वा जमुना के तीर ॥ (बिहारी)

इन दोनों पद्यों में रति भाव या शृङ्गार रस के वाचक शब्दों का प्रयोग नहीं है, तथापि सहृदयों को संयोग तथा विप्रलम्भ शृङ्गार की क्रमशः प्रतीति हो रही है, यह अनुभवसिद्ध ही है।

2. पक्वबिम्बाधरोष्ठीं तां दृष्ट्वा पीनकुचां मुदा ।
सद्यो मनसि निरुद्धो भावो रतिरजायत ॥ (अनुदाहरण)

इस पद्य में वर्णित रति भाव या शृङ्गार रस 'भावो रतिः' इसके प्रयोग के कारण प्रतीत नहीं हो रहा है, अपितु यहाँ 'स्व शब्द निवेदित दोष' हो है। इसके स्थान पर 'सद्यो मनसि निरुद्धं मधुमिश्रमजायत' इस पाठ के कर देने पर भी भावप्रतीति में कोई भेद न आयगा, प्रत्युत दोष भी न रहेगा। यहाँ तद्वाचक कोई शब्द नहीं है।

क्षयति। अत्र तु नायकादिशब्दाः स्वार्थेऽस्खलद्गतयः कथमिवार्थान्तरमुपलक्षयेयुः ? । को वा निमित्तप्रयोजनाभ्यां विना मुख्ये सत्युपचरितं प्रयुञ्जीत ? अत एव 'सिंहो माणवक' इत्यादिवत् गुणवृत्त्यापि नेयं प्रतीतिः ।

काव्य तथा उसके कार्यभूत रस में वाच्यवाचकभाव का निराकरण करने के बाद पूर्वपक्षी उसके लक्ष्यलक्षकभाव का निराकरण करता है। काव्य तथा रस में लक्ष्यलक्षकभाव भी नहीं है। न तो काव्य लक्षक ही है, न रस लक्ष्य ही। अभिधा के बाद दूसरी शब्द शक्ति है लक्षणा। अभिधा का निराकरण करने पर कुछ लोग रस को लक्ष्य मानकर उसको लक्षणा व्यापारगम्य मानें, तो यह मत भी ठीक नहीं।[1]

(जब हम देखते हैं कि किसी वाक्य में प्रयुक्त कोई शब्द साक्षात् अर्थ को लेने पर प्रकरण में ठीक नहीं बैठ पाता, तो हम उस दशा में मुख्यार्थ का त्याग कर देते हैं, तथा दूसरे अर्थ की प्रतीति करते हैं। यदि यह दूसरा अर्थ किसी न किसी तरह मुख्यार्थ से सम्बद्ध रहता है, तथा इस प्रकार के शब्द से मुख्यार्थ का बाध होने के कारण वैसे अमुख्यार्थ की (जो कि मुख्यार्थ से सम्बद्ध है) प्रतीति कराने में कोई न कोई कारण (रूढि या प्रयोजन) विद्यमान रहता है, तो उस अर्थ की प्रतीति को हम लक्षणाव्यापारगम्य मानते हैं, क्योंकि वह दूसरा अर्थ मुख्यावृत्ति के द्वारा प्रतीत नहीं हो पाता। इस तरह लक्षणा शक्ति के क्रियाशील होने में तीन शर्तों का होना आवश्यक है—मुख्यार्थबाध, तद्योग, रूढि अथवा प्रयोजन। इसी बात को मम्मट ने काव्यप्रकाश में कहा है—

मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणाऽऽरोपिता क्रिया॥ (काव्यप्रकाश २-९)

लक्षणा का हम प्रसिद्ध उदाहरण ले सकते हैं:—'गङ्गायां घोषः', यहाँ 'गङ्गा' का अभिधा शक्ति के द्वारा प्रतीत वाच्यार्थ है 'गङ्गा की धारा, गङ्गा का प्रवाह', जब कि गङ्गा में आभीरों की बस्ती (घोष) स्थित नहीं रह सकती। प्रवाह तो कभी भी किसी बस्ती का आधार नहीं हो सकता। फलतः मुख्यार्थ का बाध हो जाता है, वाच्यार्थ ठीक नहीं बैठता। इसके बाद इसका अर्थ 'गङ्गा के तीर पर आभीरों की बस्ती' यह लेना पड़ता है। अभिधा के केवल सङ्केतित शब्द तक ही सीमित रह सकने के कारण, इस अर्थ की प्रतीति किसी दूसरी वृत्ति 'लक्षणा' के द्वारा होती है। यहाँ 'गङ्गातीर' 'गङ्गाप्रवाह' के समीप है, इस तरह उन दोनों में योग है ही, साथ ही 'गङ्गा' शब्द का प्रयोग करने का यह प्रयोजन है कि गङ्गातीर में भी गङ्गाप्रवाह की शीतलता तथा पवित्रता की प्रतिपत्ति हो। इस तरह 'गङ्गायां घोषः' में लक्षणा है।)

काव्य तथा रस में लक्ष्यलक्षकभाव इसलिए नहीं माना जा सकता कि लक्षणा व्यापार सामान्यशब्द (गङ्गादि) का प्रयोग विशिष्ट धर्मवाले पदार्थ (गङ्गातीरादि) में किया जाता है। (मोटे तौर पर सामान्य का अर्थ बतानेवाले शब्द का विशिष्ट अर्थ में प्रयोग लक्षणा है।) यदि रस को काव्य का लक्ष्य मानें, तो काव्य में ऐसे लक्षक शब्दों (पदों) का प्रयोग होना चाहिए, जो (मुख्या वृत्ति न सही, लक्षणा से ही) रस की प्रतीति करावें। काव्य में ऐसा नहीं होता, इसलिए लक्षितलक्षणा (अजहल्लक्षणा) के द्वारा रस की पुष्टि या प्रतीति होती है,

---

१ इस सम्बन्ध में यह संकेत कर देना अनावश्यक न होगा कि 'अभिधावृत्तिमातृका' के रचयिता मुकुलभट्ट ने रस को लक्षणागम्य ही माना है। 'दुर्वारा मदनेषवो' आदि उदाहरण को लेकर वे इसमें विप्रलम्भशृङ्गार को लक्ष्य मानते लिखते हैं:—

'तात्पर्यालोचनसामर्थ्याच्च विप्रलम्भशृङ्गाररूपोऽत्र लक्षणाज्ञानात्मिका लक्षणा।'

(अभिधावृत्तिमातृका पृ. १४)

ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसे स्पष्ट करने के लिए हम लक्षणा के प्रसिद्ध उदाहरण 'गङ्गायां घोषः' लेकर उसकी अर्थ प्रक्रिया की तुलना रसप्रतीति की प्रक्रिया से कर सकते हैं। इससे साफ होगा कि रस लक्षणाव्यापार का विषय है ही नहीं।

'गङ्गायां घोषः' इस उदाहरण में हम देखते हैं कि 'गङ्गा' का वाच्यार्थ (स्वार्थ, मुख्यार्थ) गङ्गा का स्रोत या गङ्गा का प्रवाह है। *किन्तु गङ्गा के स्रोत पर घोष की स्थिति असम्भव है।* इस तरह से 'गङ्गा' शब्द इस वाक्य में अपने अर्थ की प्रतीति कराने में असमर्थ है, उसकी गति स्खलित [illegible] जाती है। जब वह अपने स्वार्थ की प्रतीति नहीं करा सकता, तो उस स्वार्थ से सम्बद्ध (अविनाभूत) गङ्गातट को लक्षित करता है। ठीक यही बात रस के बारे में कहना ठीक नहीं होगा। काव्य में वर्णित दुष्यन्तादि नायक, तथा उनसे सम्बद्ध विभावादि ही रस के व्यञ्जक हैं, यह तो सर्वमान्य है। ऐसी दशा में दुष्यन्तादि के अभिधायक शब्द ही रस के व्यञ्जक हो सकते हैं। जब दुष्यन्तादि शब्दों के द्वारा रस लक्षित होता है, तो लक्षणा के हेतुत्रय के अनुसार सबसे पहले दुष्यन्तादि शब्दों के मुख्यार्थ दुष्यन्तादि का तो बाध होना आवश्यक ही है। पर नाटकादि में दुष्यन्तादि शब्दों में मुख्यार्थ बाध स्वीकार लेने से तो बड़ी गड़बड़ी हो जायगी। दुष्यन्तादि शब्द दुष्यन्तादि की प्रतीति कथमपि नहीं कराते, यह तो विरोधी पक्ष को भी मान्य नहीं होगा। अतः स्पष्ट हो जाता है कि काव्य के नायकादि शब्द स्खलद्गति नहीं हैं। जब वे स्खलद्गति नहीं हैं, तो दूसरे अर्थ-लक्ष्यार्थ (रस) की प्रतीति कैसे करायेंगे, वे रस को लक्षित कर [illegible] कैसे सकते हैं? साथ ही लक्षणा के प्रयोग में रूढि या प्रयोजन का होना भी आवश्यक है, पर यहाँ न तो शब्द स्खलद्गति ही है, न प्रयोजन ही दिखाई देता है।[1]

यदि कोई व्यक्ति [illegible] कहे कि अभिधा तथा शुद्धा लक्षणा से रस की प्रतीति न होती है, तो रस को उपचार प्रतीत या गौणी लक्षणा के द्वारा प्रतिपादित मान लिया जाय, तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं।[2]

यदि वाच्यत्वेन रसप्रतिपत्तिः स्यात्तदा केवलवाच्यवाचकभावमात्रव्युत्पन्नचेतसामप्यरसिकानां रसास्वादो भवेत्। न च काल्पनिकत्वम्—अविगानेन सर्वसहृदयानां रसास्वादोद्भूतेः। अतः केचिदभिधालक्षणागौणीभ्यो वाच्यान्तरपरिकल्पितशक्तिभ्यो व्यतिरिक्तं व्यञ्जनत्वलक्षणं शब्दव्यापारं रसालङ्कारवस्तुविषयमिच्छन्ति।

(जिस तरह शुद्धा लक्षणा में मुख्यार्थबाध, तद्योग तथा प्रयोजन कारण होता है, उसी

---

१. लक्षणा के द्वारा तुरीयकक्षाविनिविष्ट व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराने की चेष्टा करने वाले आचार्यों का खण्डन ध्वनिवादियों ने इसी आधार पर किया है। काव्यप्रकाशकार मम्मट की निम्न प्रसिद्ध कारिका इस सम्बन्ध में उद्धृत की जा सकती है, जहाँ व्यंग्य को (जिसमें रस भी सम्मिलित है) लक्ष्य न मानने के कारण बताये गये हैं:—

लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्र बाधो योगः फलेन नो। न प्रयोजनमेतस्मिन् न च शब्दः स्खलद्गतिः॥

(काव्यप्रकाश कारिका १५, पृ ९०.)

२. प्राभाकर मीमांसक गौणी को अलग ही वृत्ति मानते हैं, जब कि भाट्ट मीमांसक (तथा ध्वनिवादी भी) इसे लक्षणा के ही अन्तर्गत मानकर लक्षणा के शुद्धा तथा गौणी, ये दो भेद, उपचारामिश्रितत्व तथा उपचार मिश्रितत्व के आधार पर करते हैं। प्राभाकर मीमांसकों का यह मत प्रतापरुद्रीयकार विद्यानाथ ने उद्धृत किया है:—

गौणवृत्तिर्लक्षणातो भिन्नेति प्राभाकराः। तदयुक्तम्। तस्या लक्षणायामन्तर्भावात्।

—प्रतापरुद्रीय (के. पी. त्रिवेदी सं.) पृ. ४४.

तरह गौणी में भी ये तीन कारण अवश्य होते हैं। शुद्धा तथा गौणी का परस्पर प्रमुख भेद यह है कि शुद्धा में प्रयोग किसी सादृश्येतर सम्बन्ध (कार्य-कारण, सामीप्य, अङ्गाङ्गिभाव आदि सम्बन्ध) के कारण होता है, जब कि गौणी में वह सादृश्य सम्बन्ध पर आधृत होता है। इसी को उपचार भी कहते हैं। जहाँ दो भिन्न पदार्थों के अत्यधिक सादृश्य के कारण उन दोनों में भेदप्रतीति को छिपा दिया जाय, उसे उपचार कहते हैं —'अत्यन्त विशकलितयोः सादृश्या-तिशयमहिम्ना भेदप्रतीतिस्थगनमुपचारः।' 'मुखं चन्द्रः' (मुख चन्द्रमा है), गौर्वाहीकः' (पंजाबी बैल है) 'सिंहो माणवकः' (बच्चा शेर है) आदि में मुख तथा चन्द्र, गौ तथा वाहीक माणवक तथा सिंह इन परस्पर अत्यन्त भिन्न पदार्थों में क्रमशः आह्लादकत्वादि, मौर्ख्यादि, तथा शौर्यादि के सादृश्य के कारण अभेद स्थापित कर दिया गया है। यह सादृश्य ही मुख्य वृत्ति के स्थान पर उपचरित वृत्ति का, वाचक शब्द के स्थान पर उपचारक शब्द के प्रयोग का निमित्त तथा प्रयोजन है। प्रयोक्ता वाहीक के साथ 'गौ' का प्रयोग इस निमित्त से करता है कि श्रोता को इस बात की प्रतीति हो जाय कि (यह) पंजाबी उतना ही मूर्ख है, जितना पशु-बैल।)

हम देखते हैं कि जहाँ कहीं 'सिंहो माणवकः' आदि उदाहरणों में गौणी (उपचार) वृत्ति का प्रयोग होता है, वहाँ किसी निमित्त तथा प्रयोजन की स्थिति अवश्य होती है, वहाँ शौर्यादि के सादृश्य की प्रतीति कराना प्रयोजन होता है। यदि किसी सादृश्य की प्रतीति कराना न होता, तो मुख्य के स्थान पर अमुख्य पद का प्रयोग उन्मत्तप्रलपित ही होगा। जब किसी भी अर्थ (माणवकादि) का वाचक शब्द विद्यमान है, तो ऐसा कौन होगा जो बिना किसी निमित्त या प्रयोजन के उपचरित शब्द (सिंहादि) का भी प्रयोग करे? रसादि को उपचारवृत्ति का विषय नहीं माना जा सकता। जैसे 'सिंहो माणवकः' में सिंह तथा माणवक (बच्चा) में समान शौर्य देखकर उस शौर्य के सादृश्य की प्रतीति कराना, उपचारवृत्ति का प्रयोजन है, वैसे रस तथा काव्य में भी कोई सादृश्य है तथा उसकी प्रतीति कराना कवि को अभीष्ट है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। काव्य तथा रस में कोई अतिशय सादृश्य है ही नहीं, जब ऐसा सादृश्य है ही नहीं, तो उसकी प्रतीति कराने का भी प्रश्न उपस्थित नहीं होता।[1]

अगर विरोधी पक्ष के इस मत को हम मान भी लें कि काव्य रस की प्रतीति अभिधावृत्ति

---

१ काव्य में मुख्यार्थबाध होने पर ही तो हम रस को उपचारगम्य मान सकते हैं, पर काव्य में प्रयुक्त पदादि में मुख्यार्थबाध 'स्खलद्गतित्व' होता ही नहीं है। वस्तुतः मुख्यार्थ से ही रस की प्रतीति तीसरे क्षण में होती है। इसीलिए व्यङ्ग्यार्थ को (रस को भी) गौणीवृत्ति का विषय नहीं माना जा सकता है, इस बात को ध्वनिकार ने इस कारिका में निबद्ध किया है —

मुख्यां वृत्तिं परित्यज्य, गुणवृत्त्यार्थदर्शनम्।

यदुद्दिश्य फलं तत्र शब्दो नैव स्खलद्गतिः ॥ (ध्वन्यालोक उद्योत १ कारिका २०)

इसी को अभिनवगुप्त ने अपने 'लोचन' में ठीक उसी उदाहरण को लेकर स्पष्ट किया है, जिसको वृत्तिकार धनिक ने ऊपर पूर्वपक्षी के मत में उद्धृत किया है। आचार्य अभिनवगुप्त ने बताया है कि 'सिंहो बटुः' उदाहरण में भी उपचार के द्वारा 'सिंह' शब्द का अन्वय 'बटु' से घटित हो जाता है, किन्तु उसका प्रयोजन—शौर्यातिशय की प्रतीति—तो उपचारगम्य माना ही नहीं जा सकता (ठीक यही बात रस के बारे में कही जा सकती है)। उपचार के प्रयोजन को भी उपचारगम्य मानने में तो अनवस्था दोष आ जायगा।

'यदि च सिंहो बटुः" इति शौर्यातिशये प्ववगमयितव्ये स्खलद्गतित्वं शब्दस्य, तर्हि प्रतीतिं नैव कुर्यादिति किं वा तस्य प्रयोगः। उपचारेणकरिष्यतीति चेद्, तत्रापि प्रयोजनान्तरमन्वेष्यम्। तत्राप्युपचारेऽनवस्था, अथ न तत्र स्खलद्गतित्वम्।' (लो॰ पृ॰ २७६) (मद्रास सं॰)

के द्वारा कराते हैं, तथा काव्य या काव्योपात्त शब्द रस के वाचक हैं, तथा रस वाच्यार्थ, तो इस मत को मानने पर यह भी मानना होगा कि जिस किसी व्यक्ति को उस उस शब्द के साक्षात् सङ्केतित अर्थ का ज्ञान है, उसे रसचर्वणा अवश्य होगी। हम दो आदमियों को ले लेते हैं, दोनों को शब्द तथा उनके मुख्यार्थ का व्यावहारिक ज्ञान है। उनमें से एक सहृदय है, दूसरा सहृदय नहीं है। हम एक काव्य को लेकर उनको सुनाते हैं। वे दोनों काव्य का मुख्यार्थ समझ लेते हैं। पर सहृदय व्यक्ति उसके उपनिषद्भूत रस का भी आनन्द उठाता है, जब कि अरसिक व्यक्ति को उस काव्य में कोई आनन्द नहीं आता। यदि रस वाच्यार्थ या मुख्यार्थ ही होता, तो मुख्यार्थ को समझने वाले व्यक्ति को भी रसास्वाद होना चाहिए था। पर वास्तविकता यह नहीं है। वाच्यवाचक भाव मात्र का ज्ञान हो जाने भर से अरसिक व्यक्तियों को रसास्वाद नहीं हो पाता। अतः इस युक्ति से यह स्पष्ट हो जाता है कि रस वाच्यार्थ नहीं है, न काव्य व रस में वाच्यवाचक भाव ही है।[1]

कुछ लोग ऐसे भी हैं जो काव्योपात्त शब्दों के द्वारा रस प्रतीति को किसी दूसरे ही ढंग से समझाने का प्रयत्न करते हैं। ये लोग रस को काल्पनिक मानते हैं। इन लोगों का यह मत है कि कवि अपने काव्य के शब्दों को अपने ईप्सित रस का काल्पनिक सङ्केत मान लेता है। इस प्रकार इन इन शब्दों के प्रयोग से अमुक काव्य में अमुक रस की प्रतीति होगी, ऐसी कल्पना कर लेता है। पर यह मत भी ठीक नहीं। रस को काल्पनिक नहीं मान सकते। यदि रस काल्पनिक होता, तो फिर उसकी प्रतीति कुछ ही लोगों को हो पाती, जिन्हें काव्य के रचयिता कवि की उस व्यवस्था—उस कल्पित सङ्केत का पता है। किन्तु, ऐसा नहीं है। इस बात में कोई विरोध नहीं कि सभी रसिकों को एक साथ रस का आस्वाद प्राप्त होता है। अतः रस काल्पनिक नहीं है।[2]

इस प्रकार के तर्क के आधार पर कुछ लोग (ध्वनिवादी) रस, अलङ्कार तथा वस्तुरूप (व्यंग्य या प्रतीयमान) अर्थ की प्रतीति व्यञ्जनास्वरूप नये शब्दव्यापार (व्यञ्जना शक्ति) के द्वारा मानते हैं, जो वाच्यार्थादि की प्रतीति के लिए कल्पित अभिधा, लक्षणा या गौणी शक्ति से सर्वथा भिन्न है।[3]

(यहाँ यह बता दिया जाय कि ध्वनिवादी काव्यार्थ के तीन रूप मानते हैं—रस, वस्तु तथा अलङ्कार। रस रूप काव्यार्थ में काव्य में उपात्त शब्दों का मुख्यार्थ इत्यादि भाव या शृङ्गारादि रस की व्यञ्जना कराता है, वह उन्हें सहृदयहृदय के आस्वाद का विषय बनाता है। वस्तुरूप काव्यार्थ में काव्य का वाच्यार्थ, जो स्वयं वस्तुरूप या अलङ्काररूप होता है, किसी वस्तु की व्यञ्जना कराता है। अलङ्काररूप काव्यार्थ में काव्य का वस्तुरूप या अलङ्काररूप वाच्यार्थ, अलङ्कार की व्यञ्जना करता है। वस्तु तथा अलङ्कार व्यञ्जक भी हो सकते हैं, व्यङ्ग्य

१ मिलाइये—शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम् ॥ (ध्वन्यालोक कारिका १.७)

२ व्यङ्ग्यार्थ के काल्पनिक मानने के मत को प्रकारान्तर से विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में भी उद्धृत किया है, तथा उसका खण्डन किया है, यद्यपि विश्वनाथ कल्पना के स्थान पर वहाँ 'वचनबुद्धि' का प्रयोग करते हैं —

किञ्च, वचनक्रियादौ तर्जनीतोलनेन दशसंख्यादिवत् वचनबुद्धिवेद्योऽप्ययं न भवति।
(साहित्यदर्पण परिच्छेद ५, पृ २९०)

३ मिलाइये—
तस्मात् अभिधातात्पर्यलक्षणाव्यतिरिक्तः चतुर्थोऽसौ व्यापारो ध्वननद्योतनव्यञ्जनप्रत्यायनावगमनादिसोदरव्यपदेशनिरूपितोऽभ्युपगन्तव्यः। (लोचन, पृ. ११५—मद्रास संस्करण)

भी। रस सदा व्यङ्ग्य ही होता है, उसका व्यञ्जक, काव्य का मुख्यार्थ (वाच्यार्थ), वस्तुरूप होगा या अलङ्काररूप। ऊपर ध्वनिवादी ने बताया है कि प्रतीयमान अर्थ अभिधादि के द्वारा प्रतीत हो ही नहीं सकता। उसके लिए व्यञ्जना नामक व्यापार की कल्पना करनी ही पड़ेगी, इसे स्पष्ट करने के लिए धनिक ने पूर्वपक्षी के मत को तीन उदाहरणों से स्पष्ट किया है। इन तीनों उदाहरणों का प्रयोग आनन्दवर्धन ने अपने 'आलोक' (ध्वन्यालोक) में किया है। धनिक ने उन्हीं के आधार पर पूर्वपक्ष को स्पष्ट किया है।)

तथा हि विभावानुभावव्यभिचारिमुखेन रसादिप्रतिपत्तिरुपजायमाना कथमिव वाच्या स्यात्, यथा कुमारसम्भवे—

'विवृण्वती शैलसुतापि भावमङ्गैः स्फुरद्बालकदम्बकल्पैः।
साचीकृता चारुतरेण तस्थौ मुखेन पर्यस्तविलोचनेन॥'

इत्यादावनुरागजन्यावस्थाविशेषानुभाववद्गिरिजालक्षणविभावोपवर्णनादेवाशब्दापि शृङ्गारप्रतीतिरुदेति, रसान्तरेष्वप्ययमेव न्यायः, न केवलं रसेष्वेव यावद्वस्तुमात्रेऽपि।

हम बता चुके हैं कि रस की प्रतीति काव्योपात्त शब्दों के द्वारा नहीं होती। वह तो विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी के निबन्धन के द्वारा होती है। अतः काव्योपात्त शब्दों या काव्य का उसे वाच्यार्थ कैसे माना जा सकता है। इसे स्पष्ट करने के लिए हम कुमारसम्भव के तृतीय सर्ग से निम्न पद्य ले सकते हैं:—

कोमल तथा छोटे चञ्चल कदम्ब के समान सुन्दर अङ्गों से भाव को प्रकट करती हुई पार्वती भी, (उस समय, जब कामदेव ने शिव को अपने बाण का लक्ष्य बनाया), इधर उधर चञ्चलता से फेंके हुए नेत्र वाले सुन्दर मुख से कुछ टेढ़ी होकर बैठी थी।

इस पद्य में शिव विषयक रति भाव के आलम्बन विभावरूप पार्वती का वर्णन किया गया है। पार्वतीरूप विभाव में अनुराग के कारण उत्पन्न अवस्था वाले अनुभावों, अङ्गों का पुलक, नेत्रों का चाञ्चल्य, मुख का साचीकरण आदि का वर्णन किया गया है। इस प्रकार आलम्बन विभाव (पार्वती) का उसके अनुभावों के साथ वर्णन शृङ्गार की प्रतीति करा रहा है। यद्यपि यहाँ रति भाव या शृङ्गार रस का वाचक शब्द नहीं है, फिर भी शृङ्गार की प्रतीति उत्पन्न हो ही रही है। यह बात शृङ्गार के बारे में ही नहीं है, दूसरे रसों के विषय में भी लागू होती है।

रस ही नहीं वस्तु या अलङ्कार भी जहाँ प्रतीयमानरूप में प्रतीत होते हैं, वहाँ शब्द के वाचक न होने पर भी उनकी प्रतीति होती ही है। हम वस्तुमात्र या अलङ्कारमात्र का एक एक उदाहरण ले सकते हैं, जहाँ रस की प्रधानता नहीं है।

यथा—'भम धम्मिअ वीसद्धो सो सुणहो अज्ज मारिओ तेण।
गोलाणइकच्छकुडङ्गवासिणा दरिअसीहेण॥'
('भ्रम धार्मिक विश्रब्धः स श्वाद्य मारितस्तेन।
गोदावरीनदीकच्छकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन')

इत्यादौ निषेधप्रतिपत्तिरशब्दापि व्यञ्जकशक्तिमूलैव।

वस्तुमात्र जैसे—

'हे धार्मिक, अब तुम आनन्द से गोदावरी के तीर पर घूमा करो, अब तुम्हें चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं। गोदानदी के कछार पर कुञ्ज में रहने वाले बलवान् सिंह ने उस कुत्ते को आज मार डाला है, (जिसके डर से तुम वहाँ जानेसे घबराया करते थे)।'[1]

---

1. घूमहु अब निहचिन्त हे धार्मिक गोदातीर
   वा कूकर को कुञ्ज में मारयो सिंह गँभीर॥ (अनुवादक)

किसी नायिका का उपपति से मिलने का सङ्केतस्थल गोदावरी के तीर का कुञ्ज है। पर एक धार्मिक पुष्पचयन के लिए वहाँ जा जाकर उनके चौर्यरतादि के कार्य में विघ्न उपस्थित कर देता है। नायिका उसका आना रोकने के लिए एक कुत्ता पाल लेती है, जो तापस को कुञ्ज में आने नहीं देता, उसे भौंक कर डराता है। पर धार्मिक भी तो अपनी पूजा आदि धार्मिक क्रिया में विघ्न कैसे कर सकता था? वह कुत्ते से नहीं घबराता। उसका पुष्पचयन करना जारी रहता है, और साथ ही हमारे नायक-नायिका का दुर्भाग्य, कि उनका शुभ कार्य सदा रोक दिया जाता है। नायिका इस बूढ़े धार्मिक से बचने की नई योजना बनाती है। एक दिन वह बड़ी खुशी से धार्मिक को यह खुशखबरी सुनाती है कि उसे परेशान करने वाले कुत्ते को गोदातीर के कुञ्ज में रहने वाले शेर ने फाड़ खाया है, अब धार्मिक को सताने वाला कुत्ता नहीं है, इसलिए वह मजे से गोदातीर पर भ्रमण करे। पर वाच्य की इस तरह विधेयीभूत करने पर भी नायिका का अभिप्राय यह है, कि इस खबर को सुन कर धार्मिक महाराज शेर के खाये जाने के डर से वहाँ जाना छोड़ दें। नायिका के इस वाक्य का व्यङ्ग्यार्थ तो यह है:—'बच्चू, उधर पैर भी न रखना, नहीं तो जान खतरे में होगी।' यद्यपि गाथा में प्रकट रूप में 'वहाँ मजे से भ्रमण करो' इस वाच्यरूप विधि का प्रयोग हुआ है, पर व्यङ्ग्यार्थ 'वहाँ कभी न जाना' इस निषेध की प्रतीति कराता है। इस प्रकार गाथा में विधिरूप वाच्य वस्तु के द्वारा निषेधरूप व्यङ्ग्य वस्तु की व्यञ्जना कराई गई है।

इस गाथा में निषेध का स्पष्ट प्रयोग नहीं है। काव्य में 'भम' (भ्रम) का प्रयोग हुआ है 'ण भम' (न भ्रम) का नहीं। इसलिए शाब्दिक या वाच्य रूप में तो विध्यर्थ ही प्रतीत होगा। किन्तु यह सहृदयानुभव सिद्ध है कि यह कुलटा नायिका अपने चौर्यरत का निर्बाध व्यापार चाहने के कारण धार्मिक का गोदातीर पर जाना पसन्द नहीं करती, तथा कुत्ते के मारे जाने की झूठी खबर कह रही है। इसलिए गाथा का निषेधरूप अर्थ पुष्ट हो जाता है। गाथा में निषेधवाचक शब्दों के अभाव के कारण निषेध प्रतीति अशाब्द ही माननी होगी। अतः उसे अभिधाविषयक न मान कर, व्यञ्जना शक्तिविषयक मानना पड़ेगा।

तथाऽलङ्कारेष्वपि—

> 'लावण्यकान्तिपरिपूरितदिङ्मुखेऽस्मिन्
> स्मेरेऽधुना तव मुखे तरलायताक्षि।
> क्षोभं यदेति न मनागपि तेन मन्ये
> सुव्यक्तमेव जलराशिरयं पयोधिः'

इत्यादिषु 'चन्द्रतुल्यं तन्वीवदनारविन्दम्' इत्याद्युपमाद्यलङ्कारप्रतिपत्तिर्व्यङ्ग्यत्व-निबन्धनीति। न चात्रार्थापत्तिगम्या—अनुपपद्यमानार्थापेक्षाभावात्। नापि वाक्यार्थत्वं व्यङ्ग्यस्य—तृतीयकक्षाविषयत्वात्। तथा हि—'भ्रम धार्मिक' इत्यादौ पदार्थविषया-भिधालक्षणप्रथमकक्षातिक्रान्तक्रियाकारकसंसर्गात्मकविधिविषयवाक्यार्थकक्षातिक्रान्ततृतीय-कक्षाक्रान्तो निषेधात्मा व्यङ्ग्यलक्षणोऽर्थो व्यञ्जकशक्त्युपोद्बलितः स्फुटमेवावभासते, अतो नासौ वाक्यार्थः।

ठीक यही बात अलङ्काररूप प्रतीयमान अर्थ के बारे में कही जा सकती है। जैसे निम्न उदाहरण में—

हे चञ्चल नेत्र वाली सुन्दरी, समस्त दिशाओं को अपने लावण्य (सौन्दर्य) की कान्ति से प्रदीप्त करने वाले, मुस्कराते हुए तुम्हारे मुख को देख कर भी यह समुद्र बिल्कुल क्षुब्ध

नहीं होता, इस बात को देख कर मैं मानता हूँ कि समुद्र सचमुच ही जड़राशि (पानी का समूह; मूर्ख) है। तुम्हारा मुख पूर्ण चन्द्रमा है। समुद्र पूर्णिमा के चन्द्र को देखकर चञ्चल व क्षुब्ध होता ही है। पर तुम्हारे मुखरूपी पूर्णचन्द्र को देख कर उसका क्षुब्ध नहीं होना उसके 'जड़राशित्व' की पुष्टि कर देता है। तुम जैसी अनिन्द्य सुन्दरी को देख कर किसका मन चञ्चल न होगा। यदि कोई व्यक्ति चञ्चल न हो, तो वह मेरी समझ में मूर्ख है।

इस पद्य में 'नायिका का मुख पूर्ण चन्द्रमा है' इस रूपक अलङ्कार की प्रतीति हो रही है, पर पद्य में इस ढंग की पदावली नहीं कि इस अर्थ को शाब्दिक या वाच्य कहा जा सके। अतः इस रूपक अलङ्कार रूप अर्थ को अभिधा का विषय न मान कर व्यञ्जनाप्रतिपाद्य ही मानना ठीक होगा। ऊपर के पद्य में 'नायिका का मुखकमल चन्द्र के समान है' यह उपमादि अलङ्कार की प्रतिपत्ति व्यञ्जना के ही द्वारा होती है।

(कुछ लोग व्यङ्ग्यार्थ को अर्थापत्तिग्राह्य मान लेते हैं। मीमांसकों ने यथार्थ ज्ञान के साधनरूप प्रमाणों में एक नये प्रमाण की कल्पना की है। वह प्रमाण अर्थापत्ति कहलाता है। जहाँ वाक्य का अर्थ ठीक नहीं बैठ पाता हो और बाहर से वाक्य में प्रयुक्त पदों में अनुपपत्ति मालूम होती हो, वहाँ अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा अर्थ की प्रतीति मानी जाती है। उदाहरण के लिए 'मोटा देवदत्त दिन में नहीं खाता' (पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते) इस वाक्य में 'देवदत्त कभी खाता ही नहीं' ऐसा अर्थ नहीं ले सकते। क्योंकि यह खाता ही न खाता होता, तो मोटा न रह पाता, पतला हो जाता। इसलिए यहाँ 'अर्थात् वह रात में खाता है' (अर्थात् रात्रौ भुङ्क्ते) इस अर्थ की प्रतीति अर्थापत्ति से हो जाती है। इसी सरणि से व्यङ्ग्यार्थ-रसादि-की भी प्रतीति हो ही सकती है यह व्यञ्जनाविरोधी का मत है।)

जिस तरह 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इस वाक्य का देवदत्तविषयक रात्रिभक्षण रूप अर्थ अर्थापत्ति प्रमाण वेद्य है, ठीक वैसे ही रस भी अर्थापत्ति के द्वारा काव्योपात्त वाक्यों से प्रतीत हो जायगा, यह मत मानना ठीक नहीं। वस्तुतः रसचर्वणा अर्थापत्तिवेद्य या अर्थापत्तिजन्य नहीं है। अर्थापत्ति वहाँ ही होती, जहाँ अर्थ ठीक नहीं बैठता हो। काव्योपात्त शब्दों का वाच्यार्थ तो ठीक बैठ ही जाता है; अतः वहाँ 'अर्थात्' की आपत्ति नहीं करनी पड़ती। रसादि की चर्वणा के पूर्व वहाँ अनुपपद्यमानार्थत्व होता ही नहीं। रसादि की प्रतीति में, अर्थ ज्ञान ठीक नहीं बैठने पर ही अर्थापत्ति हो सकती है।

व्यङ्ग्यरूप रसादि को वाक्यार्थ भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि व्यङ्ग्य की प्रतीति सदा तीसरे क्षण में होती है, वह तृतीय कक्षा का विषय है। हम इसे स्पष्ट करने के लिए कोई भी काव्य ले सकते हैं। उदाहरण के लिए 'भ्रम धार्मिक' वाली गाथा ले लें। सबसे पहले इस गाथा के 'भ्रम' 'धार्मिक' 'विश्रब्धः' आदि पदों में से प्रत्येक पद का अभिधा वृत्ति के द्वारा स्वतन्त्र रूप में वाच्यार्थ प्रतीत होगा। जब काव्योपात्त समस्त पद स्वतन्त्र रूप से वाक्य के पदों की अपनी-अपनी अभिधा से अपना-अपना वाच्यार्थ बता चुकेंगे, तब फिर सारे वाक्य में क्रिया तथा कारक के संसर्ग या अन्वय के द्वारा वाक्यार्थ की प्रतीति होगी। इस तरह वाक्यार्थ तक पहुँचने में दो क्षण लगेंगे। पहले क्षण में, पहली कक्षा में, शब्द अपने निजी वाच्यार्थ का स्वतन्त्र होकर अवगाहन करायेंगे। दूसरे क्षण में, दूसरी कक्षा में, वे कारक क्रिया के आधार पर (अथवा आकाङ्क्षा, योग्यता तथा आसत्ति के आधार पर) अन्वित होंगे तथा सम्पूर्ण वाक्य फिर वाक्यार्थ की प्रतीति करायेगा। इसके बाद व्यङ्ग्यार्थ की, रसादि की प्रतीति हो सकेगी। इस तरह व्यङ्ग्यार्थ सदा तृतीय कक्षाविषयक होगा। 'भ्रम धार्मिक' में पहले अलग-अलग पद का अर्थ हुआ, फिर सारे वाक्य का 'वहाँ जरूर घूमो, निश्चिन्त होकर घूमो' इस विशिष्ट वाक्यार्थ का; तब तीसरे क्षण में जाकर 'वहाँ कभी न जाना' यह निषेधरूप

व्यङ्ग्यार्थ प्रतीत हो सकेगा। इस तरह यह निषेधरूप व्यङ्ग्यार्थ तृतीय कक्षा का विषय है। यह सर्वमान्य है कि शब्द, बुद्धि तथा कर्म एक ही क्षण तक रहते हैं। 'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य-व्यापाराभाव' इस न्याय के अनुसार पदार्थप्रत्यायक अभिधा केवल वाच्यार्थ तक ही सीमित रहती है। दूसरे क्षण का वाक्यार्थ भी बुद्धि के व्यापार का विषय उसी क्षण तक रहता है। तब तीसरे क्षण में बुद्धि को जिस अर्थ का ज्ञान होता है वह न तो वाच्यार्थ ही है, न वाक्यार्थ ही। वह इन सब से भिन्न व्यङ्ग्यार्थ है, जिसकी प्रतिपत्ति व्यञ्जनाशक्ति के आधीन है, यह स्पष्ट ही प्रतीत हो जाता है।[1]

ननु च तृतीयकक्षाविषयत्वमश्रूयमाणपदार्थतात्पर्येषु 'विषं भुङ्क्ष्व' इत्यादिवाक्येषु निषेधार्थविषयेषु प्रतीयत एव वाक्यार्थस्य। न चात्र व्यञ्जकत्वादिनापि वाक्यार्थत्वं नेष्यते तात्पर्यादन्यत्वाद्ध्वनेः। तत्र, स्वार्थस्य द्वितीयकक्षायामविश्रान्तस्य तृतीयकक्षाभावात्, नैव निषेधकक्षा। तत्र द्वितीयकक्षाभाविनी क्रियाकारकसंसर्गानुपपत्तेः प्रकरणात्पितरि वक्तरि पुत्रस्य विषभक्षणनियोगाभावात्।

रसवद्वाक्येषु च विभावप्रतिपत्तिलक्षणद्वितीयकक्षायां रसानवगमात्।

इस सम्बन्ध में, तात्पर्य में व्यञ्जना का समावेश करने वाला ध्वनिवादी के सम्मुख यह युक्ति रखता है। हम इस वाक्य को लें 'विषं भुङ्क्ष्व मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः'—'चाहे विष खाओ, पर इसके घर कभी न खाना'। इस वाक्य में 'विषं भुङ्क्ष्व' (ज़हर खाओ) इसका प्रयोग हुआ है, यहाँ पदार्थ रूप में विधि का प्रयोग हुआ है, किन्तु पदार्थ का तात्पर्य निषेध रूप में ही है। 'इस शत्रु के घर कभी खाना न खाना' यह निषेधरूप वाक्यार्थ तीसरे क्षण में ही प्रतीत होता है। अतः 'विषं भुङ्क्ष्व' इस वाक्य को इस बात का उदाहरण माना जा सकता है कि तात्पर्य रूप वाक्यार्थ तृतीय कक्षा का विषय भी हो सकता है। यदि कोई कहे कि यहाँ

---

1. वाक्यार्थ के विषय में मीमांसकों के दो दल हैं। भाट्ट मीमांसक यह मानते हैं कि वाक्यार्थ की प्रतीति आकाङ्क्षा, योग्यता तथा सन्निधि के आधार पर वाक्य में प्रयुक्त पदों के अर्थों के अन्वित होने पर तात्पर्य वृत्ति के द्वारा होता है। तथा यह वाक्यार्थ पदार्थ से सर्वथा भिन्न होता है—'विशेषवपुरपदार्थोऽपि वाक्यार्थः'। ये लोग सबसे पहले अभिधा के द्वारा पदार्थ (वाच्यार्थ) प्रतीति, तदनन्तर तात्पर्य वृत्ति के द्वारा वाक्यार्थ प्रतीति मानते हैं। अत इन्हें अभिहितान्वयवादी कहा जाता है। दूसरे लोग जो प्रभाकर भट्ट के अनुयायी हैं इस वृत्ति को नहीं मानते। वे अभिधा से ही वाक्यार्थ प्रतीति भी मानते हैं। उनके मतानुसार बच्चे को किसी भी अर्थ का ज्ञान वाक्य रूप में ही होता है—पदों का प्रयोग, पदों के स्वतन्त्र वाच्यार्थ का ज्ञान भी वे अन्वयव्यतिरेक से ही करते हैं। 'देवदत्त गाय लाओ, घोड़ा लाओ, घोड़ा ले जाओ, गाय ले जाओ' आदि वाक्यों को सुन कर ही बच्चा भाषा सीखता है, तथा तत्तद् अर्थ का ग्रहण 'आवापोद्वाप' से करता है। पर बारीकी में पहुँचने पर प्रभाकर भी इस वाच्यार्थ रूप वाक्यार्थ के 'सामान्य' तथा 'विशेष' दो रूप मानते जान पड़ते हैं (देखिये, काव्यप्रकाश उल्लास ५)। इस प्रकार वाक्यार्थ तो दोनों ही मानते हैं, इसमें समानता है। हाँ, उनकी प्रतिपत्ति की सरणि या प्रक्रिया में दोनों सम्प्रदायों में परस्पर भेद है। इन्हीं लोगों के मतानुयायी आलङ्कारिकों ने—जिनमें धनञ्जय व धनिक भी शामिल हैं—व्यङ्ग्यार्थ को वाक्यार्थ या तात्पर्य में ही शामिल करने की चेष्टा की है। इन्हीं लोगों का विरोध ऊपर किया गया है। ध्वनिवादी के इसी विरोध को धनिक ने पूर्वपक्ष के रूप में रक्खा है।

निषेधार्थ रूप अर्थ वाक्यार्थ नहीं है, तो ऐसा स्वयं व्यञ्जनावादी भी मानेंगे। व्यञ्जनावादी स्वयं ध्वनि को तात्पर्य से भिन्न मानते हैं, तथा यहाँ तात्पर्य है। अतः यहाँ पर व्यञ्जनावादी भी वाक्यार्थ नहीं है, ऐसा न कहेंगे। वे भी यहाँ वाक्यार्थ मानेंगे ही। यदि विरोधिपक्ष, इस तरह से तृतीय कक्षा तक तात्पर्य वृत्ति का विषय तथा वाक्यार्थ माने तो ठीक नहीं। 'विष भुंक्ष्व' में पहली कक्षा में 'विष' तथा 'भुङ्क्ष्व' के व्यस्त वर्णों के अर्थ की प्रतीति होती है। द्वितीय कक्षा में वाक्य अन्वयघटित होकर प्रकरणसम्मत अर्थ की प्रतीति कराता है। इसी प्रकरणगत अन्वित अर्थ को वाक्यार्थ कहेंगे। इस वाक्य को लेने पर हम देखते हैं कि 'विष खालो' यहीं तक द्वितीय कक्षा नहीं है। जब तक वाक्यार्थ द्वितीय कक्षा में विश्रान्त नहीं हुआ है, तब तक तृतीय कक्षा का प्रश्न ही नहीं उठता। कहने का तात्पर्य यह है कि 'विष खालो' तक पूर्ण रूप से वाक्य का प्रकरण घटित नहीं हो पाता, विधिरूप अर्थ पूर्ण वाक्यार्थ नहीं होने के कारण अर्थ की आकाङ्क्षा बनी ही रहती है। इस तरह द्वितीय कक्षा यहीं समाप्त नहीं हो जाती, वह तो 'उस शत्रु के घर पर भोजन न करना' इस निषेधार्थ रूप वाक्यार्थ पर जाकर विश्रान्त होती है। अतः निषेध की प्रतीति द्वितीय कक्षाविषयक ही है। अतः द्वितीय कक्षा के समाप्त होये बिना ही इस निषेधरूप अर्थ में तृतीय कक्षा मानना अनुचित है, उसमें तृतीय कक्षा का सर्वथा अभाव है। प्रकरण के पर्यालोचन से पता चलता है कि इस वाक्य का प्रयोग पिता ने अपने पुत्र के प्रति किया है। द्वितीय कक्षा में वाक्यार्थ ज्ञान होते समय जब हम देखते हैं कि यह वाक्य पिता ने पुत्र से कहा है, जो यह कभी नहीं चाहेगा कि उसका पुत्र विष खाले, तो हमें यह पता लगता है कि यहाँ 'भुङ्क्ष्व' क्रिया के साथ 'कर्ता' (त्व) तथा कर्म (विषं) इन कारकों का अन्वय ठीक तरह उपपन्न नहीं होता। क्योंकि यह स्पष्ट है कि पिता का पुत्र के प्रति यह आदेश नहीं है कि 'सचमुच विष खालो,' किन्तु यह कि शत्रु के घर न खाना। इसलिए पूरा अर्थ द्वितीय कक्षा का ही विषय है।

और यह नियम है कि रसादि व्यङ्ग्यार्थ सदा तृतीयकक्षानिविष्ट ही हैं। यह निश्चित है। रस से युक्त वाक्यों में हम देखते हैं कि वाक्यार्थ विभाव, अनुभाव या सञ्चारी परक होता है। विभावादि के ज्ञान वाली द्वितीय कक्षा में ही रस प्रतीति नहीं हो जाती, क्योंकि विभावादि तो रस की व्यञ्जना के साधन हैं, अतः उनका प्राग्भाव होना आवश्यक है। विभावादि के साथ साथ ही, द्वितीय कक्षा में ही, रस प्रतिपत्ति कभी नहीं होती।[1]

तदुक्तम्—'अप्रतिष्ठमविश्रान्तं स्वार्थे यत्परतामिदम्।

वाक्यं विगाहते तत्र न्याय्या तत्परताऽस्य सा॥

यत्र तु स्वार्थविश्रान्तं प्रतिष्ठां तावदागतम्।

तत्प्रसर्पति तत्र स्यात्सर्वत्र ध्वनिना स्थितिः॥'

इत्येवं सर्वत्र रसानां व्यङ्ग्यत्वमेव। वस्त्वलङ्कारयोस्तु क्वचिद्वाच्यत्वं क्वचिद्व्यङ्ग्यत्वं, तत्रापि यत्र व्यङ्ग्यस्य प्राधान्येन प्रतिपत्तिस्तत्रैव ध्वनिः, अन्यत्र गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वम्।

जैसा कि ध्वनिकार ने कहा भी है —

'जब तक वाक्य अपने अर्थ पर समाप्त नहीं हो पाता, तथा पूरी तरह ठीक नहीं बैठता, तथा किसी दूसरे अंश तक अर्थ को उपपन्न करता है; तब तक उस अर्थ तक वाक्य का वाक्यार्थ

1 ध्यान रखिये विभावादि कारण से रसरूप कार्य तक पहुँचने का क्रम असंलक्ष्य भले ही हो पर वहाँ क्रम का सर्वथा अभाव नहीं चाहे वह क्रम "शतपत्रपत्र" के भेदन के सदृश रहित [illegible]। 'शतपत्रपत्रभेदन्यायेनाकलनात्'।

माना जायगा। वाक्यार्थ के ठीक न बैठने पर जहाँ कहीं वाक्यार्थ ठीक बैठे वहीं तक (विषभुक्ष्व आदि वाक्यों में निषेधरूप अर्थ तक) तत्परता-वाक्यार्थपरता मानी जायगी।

लेकिन जहाँ वाक्य, वाक्यार्थ में आकर समाप्त हो जाता है, तथा अर्थ पूर्णतः प्रतिष्ठित या उपपन्न हो जाता है, और वाक्य किसी अन्य अर्थ का बोध कराने के लिए फिर से आगे बढ़ता है, तो ऐसे स्थलों पर वाक्यार्थ तो पहले ही विश्रान्त हो चुका है, अतः यह अन्य अर्थ व्यङ्ग्य ही होता है, ऐसे स्थलों पर ध्वनि का ही विषय होता है।'

इन कारिकाओं के आधार पर स्पष्ट है कि विभावादि रूप वाक्यार्थ के विश्रान्त होने पर प्रतीत रस व्यङ्ग्य ही है, वाक्यार्थ नहीं। वस्तु तथा अलङ्कार के बारे में दूसरी बात है। वे यहाँ व्यङ्ग्य भी होते हैं, वहीं वाच्य भी, किन्तु रस सदा व्यङ्ग्य ही होता है। लेकिन वस्तु तथा अलङ्कार [illegible] व्यङ्ग्य रूप में भी जहाँ व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ से प्रधान है, वहीं ध्वनि होगी, और स्थानों पर वाच्यार्थ के समकक्ष होने पर या वाच्यार्थ के प्रधान होने पर व्यङ्ग्यार्थ गौण होगा, अतः वे काव्य गुणीभूत व्यङ्ग्य ही कहलाएँगे।[१]

---

१. ध्वनिवादी काव्य के तीन भेद करता है:—ध्वनि (उत्तम), गुणीभूत व्यङ्ग्य (मध्यम) तथा चित्रकाव्य (अधम) यह भेद व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता या अप्रधानता के आधार पर किया जाता है।

(१) ध्वनि काव्य में व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ से अधिक चमत्कारी तथा प्रधान होता है—
'इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः।'

जैसे:—

निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः।
मिथ्यावादिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे
वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम्॥

'हे बान्धवों की पीड़ा न जानने वाली झूठी दूति, तू यहाँ से बावली में नहाने गई थी, उस अधम के पास न गई। तेरे स्तनों के प्रान्त भाग का सारा ही चन्दन गिर गया है, तेरे अधर ओठ की लाली मिट गई है, दोनों नेत्रों के किनारे अञ्जन रहित हैं, तथा तेरा यह दुर्बल शरीर भी पुलकित हो रहा है।'

यहाँ 'तू उस अधम के पास न गई' इस विधिरूप वाच्यार्थ [illegible] 'ये सब चिह्न बावली स्नान से नहीं है, अपितु तू मेरे प्रिय के साथ रमण करके आई है' यह व्यङ्ग्यार्थ प्रतीत होता है, जो काव्य में वाच्यार्थ से प्रधान है। अतः व्यङ्ग्यार्थ के वाच्यार्थ से प्रधान होने के कारण यहाँ ध्वनि काव्य है।

(२) गुणीभूत व्यङ्ग्य में व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ से प्रधान नहीं होता।

(अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम्)

जैसे—

वाणीरकुडंगुड्डीणसउणिकोलाहलं सुणन्तीए।
घरकम्मवावडाए बहुए सीअन्ति अङ्गाइं॥
(वानीरकुञ्जोड्डीनशकुनिकोलाहलं शृण्वन्त्याः।
गृहकर्मव्यापृताया वध्वाः सीदन्त्यङ्गानि॥)

'बेंत कुञ्ज से उड़ते पक्षियों के कोलाहल को सुनती हुई, घर के काम में व्यस्त, बहू के अङ्ग शिथिल हो रहे हैं।'

तदुक्तम्—'यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥
प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः ।
काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः ॥'

जैसा कि ध्वनिकार ने कहा है —

'जिस काव्य में शब्द अथवा उसका वाच्यार्थ, अथवा दोनों एक साथ, अपने वाच्यार्थ को तथा स्वयं को गौण बना कर किसी अलौकिक रमणीयता वाले व्यङ्ग्यार्थ को अभिव्यञ्जित करते हैं, उस काव्य को ध्वनि कहा जाता है। भाव यह है कि ध्वनि काव्य में या तो शब्द अपने वाच्यार्थ को गौण बना कर व्यङ्ग्यार्थ की प्रधान रूप में प्रतीति कराता है, या वाच्यार्थ स्वयं को गौण बना कर व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति कराता है, या शब्द और अर्थ दोनों एक साथ वाच्यार्थ तथा स्वयं को गौण बना कर व्यङ्ग्य की प्रतीति कराते हैं। (ध्यान रखने की बात है, इसी के आधार शब्दशक्तिमूलक, अर्थशक्तिमूलक, तथा उभयशक्तिमूलक, ये तीन ध्वनिभेद किये जाते हैं।)'

जिस काव्य में वाक्यार्थ (वाच्यार्थ) के प्रधान होने पर, रसादि (रस, वस्तु, या अलङ्कार, अथवा रस, भावादि) उसके अङ्ग बन जाते हैं, उस काव्य में रसादि रसवत् आदि अलङ्कार बन जाते हैं, ऐसा हमारा मत है। (इन स्थलों पर जहाँ व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ का अङ्ग हो जाता है, गुणीभूत व्यङ्ग्य नामक काव्य होता है।)'

यथा—'उपोढरागेण' इत्यादि। तस्य च ध्वनेर्विवक्षितवाच्याविवक्षितवाच्यत्वेन द्वैविध्यम्, अविवक्षितवाच्योऽप्यत्यन्ततिरस्कृतस्वार्थोऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्यश्चेति द्विधा। विवक्षितवाच्यश्च असंलक्ष्यक्रमः क्रमद्योत्यश्चेति द्विविधः, तत्र रसादीनामसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वम् । नित्य प्राधान्येन प्रतिपत्तौ सत्यां अङ्गत्वेन प्रतीतौ रसवदलङ्कार इति।

जैसे 'उपोढरागेण' आदि पद्य में व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ का अङ्ग हो गया है, तथा प्रधानता वाच्यार्थ की ही है। पूरा पद्य यों है —

यहाँ शकुनि कोलाहल सुन कर अङ्गों का शिथिल पड़ जाना वाच्यार्थ है। प्रकरणादि के वश से शकुनियों के उड़ने के कारणभूत, वेतस कुञ्ज में उपपति के आगमन की व्यङ्ग्यार्थ रूप में प्रतीति हो रही है। यहाँ यह व्यङ्ग्यार्थ प्रथम तो उतना चमत्कारयुक्त नहीं है, जितना कि 'अङ्गों के शिथिल पड़ जाने वाला' वाच्यार्थ। दूसरे यह व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ का साधन बन कर उसे स्पष्ट करता है। व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होने पर ही 'अङ्गों के शिथिल पड़ने' का अर्थ घटित होता है। व्यङ्ग्यार्थ यहाँ वाच्यार्थ का उपस्कारक हो गया है। इस प्रकार व्यङ्ग्यार्थ के अप्रधान (गौण) होने के कारण यहाँ गुणीभूत व्यङ्ग्य है।

(२) चित्रकाव्य में शब्दालङ्कार या अर्थालङ्कार रूप वाच्यार्थ इतना अधिक होता है, कि व्यङ्ग्यार्थ सर्वथा नगण्य बन जाता है, जैसे—

विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिराद् भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयापि यम्।
ससम्भ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गला निमीलिताक्षीव भियाऽमरावती ॥

हयग्रीव के निकलने की खबर सुनते ही इन्द्र अमरावती की अर्गला को बन्द करा देता था, मानों अमरावती डर के मारे आँखें बन्द कर लेती थी। इस अर्थ में उत्प्रेक्षा रूप अर्थालङ्कार वाला वाच्यार्थ ही प्रधान है, हयग्रीव की वीरता वाला व्यङ्ग्य नगण्य।

> उपोढरागेण विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम् ।
> यथा समस्तं तिमिरांशुकं तया पुरोऽपि रागाद् गलितं न लक्षितम् ॥

'चन्द्रमा के उदय का वर्णन है । उदयकालीन ललाई लिए चन्द्रमा पूर्व दिशा में उदित हो रहा है, उसकी किरणों से सारा अन्धकार नष्ट हो गया है । ललाई (राग) को धारण करने वाले चन्द्रमा ने रात्रि के प्रारम्भिक अंश को, जिसमें तारे झिलमिला रहे थे, इस तरह ग्रहण किया कि उसकी ललाई (प्रकाश) के कारण रात्रि ने अपने सारे अन्धकार रूपी वस्त्र को खिसकते ही न जाना । इस प्रस्तुत वाच्यरूप चन्द्रवर्णन के द्वारा कवि ने यहाँ नायक-नायिका-व्यवहार रूप अप्रस्तुत व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति कराई है । यहाँ पर समासोक्ति नामक अलङ्कार है । व्यङ्ग्य रूप में शब्दों के श्लिष्ट प्रयोग के कारण नायक-नायिका-व्यवहार-समारोप प्रतीत हो रहा है ।' प्रेम को धारण करते हुए नायक (चन्द्रमा) ने चञ्चल पुतलियों वाली नायिका (निशा) के मुख को इस तरह चूम लिया कि उस नायिका ने प्रेम के आवेश के कारण आगे से गिरते हुए (गलित होते हुए) अपने समस्त वस्त्र को भी न जाना । नायक के चूमने पर राग के कारण नायिका के वस्त्र एक दम शिथिल हो गये, और इसे राग के वशीभूत होने के कारण नायिका जान भी न पाई ।

इस उदाहरण में व्यङ्ग्यार्थ गौण ही है, क्योंकि प्रधानता प्रस्तुत चन्द्रोदय वर्णनरूप वाच्यार्थ की ही है । अतः यहाँ गुणीभूत व्यङ्ग्य ही है । तथा यह व्यङ्ग्यार्थ समासोक्ति रूप अलङ्कार का उपनिबन्धक है ।

इस ध्वनि के सर्वप्रथम दो भेद हैं:—विवक्षितवाच्य (अभिधामूलक), तथा अविवक्षित-वाच्य (लक्षणमूलक) अविवक्षितवाच्य के भी दो भेद होते हैं:—अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य तथा अर्थान्तर संक्रमितवाच्य । विवक्षितवाच्य ध्वनि के असंलक्ष्यक्रम तथा संलक्ष्यक्रम (क्रमद्योत्य) ये दो भेद होते हैं । जब काव्य में रसादि की प्रतिपत्ति प्रधानरूप से हो, असंलक्ष्य क्रम ध्वनि होती है । यदि रसादि अङ्गरूप में प्रतीत होते हों, तो वहाँ ध्वनि नहीं होती, वहाँ पर रसवद् अलङ्कार ही होता है ।[1]

---

[1]. ध्वनि के मोटे तौर पर १८ भेद माने जाते हैं। इनमें भी पहले पहल लक्षणा के आधार पर दो भेद, तथा अभिधा के आधार पर दो भेद होते हैं । इन्हें क्रमशः अर्थान्तर संक्रमित-वाच्य, अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य, असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य तथा संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य कहा जाता है । ध्वनि के भेदोपभेदों के विशेष ज्ञान के लिए ध्वन्यालोक या काव्यप्रकाशादि द्रष्टव्य है । यहाँ दिङ्मात्ररूप में इन चार ध्वनिभेदों को स्पष्ट कर देना पर्याप्त होगा ।

अविवक्षितवाच्य ध्वनिः—जहाँ लक्षक पद के द्वारा प्रतीत प्रयोजनरूप व्यङ्ग्यार्थ काव्य में प्रधान हो, वहाँ लक्षणामूलक अविवक्षितवाच्य ध्वनि होती है । लक्षणा के दो भेद होते हैं:—लक्षणलक्षणा तथा उपादान लक्षणा । अतः इन्हीं के आधार इस ध्वनि के भी दो भेद हो जाते हैं । लक्षणलक्षणा वाले व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता हो तो वहाँ अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य होगा । उपादान लक्षणा में अर्थान्तर संक्रमितवाच्य ध्वनि होगा । इन दोनों के उदाहरण क्रमशः ये हैं:—

(क) अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यः—

> उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते, सुजनता प्रथिता भवता परम् ।
> विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्स्व ततः शरदां शतम् ॥

इस पद्य में किसी अपकारी व्यक्ति के प्रति कहा जा रहा है:—'आपने हमारा बड़ा उपकार किया है, कहाँ तक कहें । आपने बड़ी सज्जनता बताई है । भगवान् करे आप इसी

अत्रोच्यते—

वाच्या प्रकरणादिभ्यो बुद्धिस्था वा यथा क्रिया।
वाक्यार्थः कारकैर्युक्ता, स्थायीभावस्तथेतरैः ॥ ३७ ॥

ध्वनिवादी के इस पूर्वपक्ष का—जिसके अनुसार रस व्यङ्ग्य है, तथा व्यञ्जनाशक्ति प्रति॰ पाद्य है—खण्डन करते हुए धनञ्जय निम्न कारिका में अपने सिद्धान्तपक्ष का अवतरण करते हैं:—

किसी वाक्य को सुनकर या पढ़कर उस वाक्य के प्रकरण—वक्ता, श्रोता, देश, काल आदि का ज्ञान प्राप्त करके, इस प्रकरण के द्वारा हम वाक्य में प्रयुक्त

तरह उपकार करते सैकड़ों वर्ष सुखी रहें।' यहाँ इस वाच्यार्थ के बाद 'आपने हमारा बड़ा अपकार किया है' इस लक्ष्यार्थ के प्रतीत होने पर तृतीयकोटि में व्यङ्ग्यार्थ प्रतीत होता है जो उस व्यक्ति की नीचता ध्वनित करता है। अतः यहाँ वाच्यार्थ के पूर्णतः तिरस्कृत हो जाने से अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य ध्वनि है।

(ख) अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यः—

मुखं विकसितस्मितं वशितवक्रिमप्रेक्षितं,
समुच्छलितविभ्रमा गतिरपास्तसंस्था मतिः ।
उरो मुकुलितस्तनं जघनमंसबन्धोद्धुरं
बतेन्दुवदनातनौ तरुणिमोद्गमो मोदते ॥

यौवन से युक्त किसी नायिका को देखकर, उसके यौवन के नूतन प्रादुर्भाव की स्थिति का वर्णन करते हुए कवि कह रहा है। इस चन्द्रमुखी नायिका के शरीर में यौवन का उद्गम प्रसन्न हो रहा है। यौवन सचमुच महाभाग्य है कि वह इस चन्द्रमुखी के शरीर में प्रविष्ट हुआ है। इसीलिए यौवन फूला नहीं समाता। यौवन के प्रादुर्भाव के समस्त चिह्न इस नायिका में दृष्टिगोचर हो रहे हैं। उसके मुख में मुस्कराहट विकसित हो रही है। जिस तरह फूल के विकसित होने पर सुगन्ध फूट पड़ती है, वैसे ही इसके मुख से सुगन्ध भरी पड़ी है। इससे नायिका पद्मिनी है यह भी व्यञ्जना हो रही है। इसकी आँखों ने बाँकेपन को भी वश में कर लिया है। इसकी टेढ़ी चितवन सब लोगों को वश में करने की क्षमता रखती है। जब यह चलती है, तो ऐसा जान पड़ता है कि विलास और लीला छलक पड़ रहे हों। इसमें विलास तथा लीला का प्राचुर्य है। अतः इसका प्रत्येक अङ्ग मनोहर है। इसकी बुद्धि एक जगह स्थिर नहीं रहती। यौवन के आगम के कारण इसका मन अत्यधिक अधीर तथा चञ्चल हो गया है। पहले तो भोलेपन के कारण बड़े लोगों के सामने प्रियतम को देखकर इसकी दृष्टि मर्यादित रहती थी, किन्तु अब वैसी नहीं रहती। गुरुजनों के सामने अब भी वैसे तो मर्यादापूर्ण ही रहती है, पर प्रियतम को देखकर मन [illegible] अधीर हो उठता है। इसके वक्षःस्थल में स्तन मुकुलित हो गये हैं। कली की तरह ये स्तन भी कठिन हैं तथा आलिङ्गन योग्य हैं। इसके जघनस्थल के अवयव उभर आये हैं। जघन अत्यधिक रमणीय हो गया है, इन सब बातों को देखकर यह जान पड़ता है कि नायिका ने यौवन में पदार्पण कर लिया है।

यहाँ 'मोदते' 'विकसित' 'वशित' 'समुच्छलित' 'मुकुलित' आदि शब्दों का लाक्षणिक प्रयोग हुआ है। इनसे यौवन का नायिका को पाकर अपने आपको सौभाग्यशाली समझना, मुख का सुगन्धित होना, आदि आदि व्यङ्ग्यार्थों की प्रतीति होती है, जिन्हें ऊपर पद्य [illegible] व्याख्या में स्पष्ट कर दिया गया है। यहाँ ये पद अपने वाच्यार्थ को रखते हुए लक्ष्यार्थ की प्रतीति कराकर व्यङ्ग्यार्थ प्रतिपादित कराते हैं।

कारकों की सहायता से वाक्य में साक्षात् उपात्त शब्द के वाच्यार्थ के रूप में क्रिया का ज्ञान प्राप्त करते हैं। कभी कभी वाक्य में क्रिया का साक्षात् वाचक शब्द उपात्त नहीं होता, फिर भी प्रकरणानुकूल क्रिया का (बुद्धिस्थ क्रिया का) अध्याहार कर ही लिया जाता है। इस प्रकार वाक्य में चाहे क्रिया वाच्य हो, या बुद्धिस्थ हो, वही वाक्य का वाक्यार्थ है। ठीक इसी तरह विभावानुभावव्यभिचारी के द्वारा स्थायी भाव काव्य के वाक्यार्थ (तात्पर्य) के रूप में प्रतीत होता है। स्थायी भाव भी वाक्य में बुद्धिस्थ क्रिया की भाँति वाच्य न होकर प्रकरण लभ्य है।

यथा लौकिकवाक्येषु श्रूयमाणक्रियेषु 'गामभ्याज' इत्यादिषु अश्रूयमाणक्रियेषु च—'द्वारं द्वारम्' इत्यादिषु स्वशब्दोपादानात्प्रकरणादिवशाद्बुद्धिसंनिवेशिनी क्रियैव कारकोपचिता वाक्यार्थः, तथा काव्येष्वपि क्वचित् स्वशब्दोपादानात् 'प्रीत्यै नवोढा प्रिया' इत्येवमादौ क्वचिच्च प्रकरणादिवशान्नियताभिहितविभावाद्यविनाभावाद्वा साक्षाद्भावकचेतसि विपरिवर्तमानो रत्यादिः स्थायी स्वस्वविभावानुभावव्यभिचारिभिस्तत्तच्छब्दोपनीतैः संस्कारपरम्परया परं प्रौढिमानीयमानो रत्यादिर्वाक्यार्थः।

हम देखते हैं कि किसी भी लौकिक वाक्य में दो प्रकार के पदों का प्रयोग होता है, एक कारक पद, दूसरे क्रिया पद। इन्हीं को भर्तृहरि तथा दूसरे वैयाकरणों ने सिद्ध पद तथा साध्य पद कहा है। वाक्य का तात्पर्य वही होगा, जो अभी तक सिद्ध नहीं है, किन्तु साध्य ही है। अतः क्रिया में ही वाक्य का तात्पर्य निहित होता है। किसी भी वाक्य में क्रियारूप वाक्यार्थ (तात्पर्य) का होना आवश्यक है, चाहे उस क्रिया के वाचक शब्द का प्रयोग वाक्य में हुआ हो या न हुआ हो। उदाहरण के लिए हम दो लौकिक वाक्यों को लेते हैं, एक में क्रिया वाच्य

विवक्षितवाच्य—जहाँ अभिधा द्वारा प्रतीत वाच्यार्थ ही व्यङ्ग्यार्थ प्रतीति कराता हो, वहाँ विवक्षितवाच्य ध्वनि होगा। इसके प्रक्रिया के आधार पर दो भेद होते हैं। एक में वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ तक पहुँचने का क्रम लक्षित होता है, दूसरे (रसादि) में यह 'शतपत्रपत्रभेदन्याय' से असंलक्ष्य होता है। इस तरह इसके संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य तथा असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य दो भेद होते हैं। इसके हम हिन्दी काव्य से दो उदाहरण दे रहे हैं।

(ग) संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य—

पत्राही तिथि पाइये वा घर के चहुँपास।
नित प्रति पून्यौ ही रहत, आनन ओप उजास॥

यहाँ वाच्य रूप वस्तु से 'नायिका मुख पूर्ण चन्द्र है' इस अलङ्कार (रूपक अलङ्कार) की व्यङ्ग्यार्थप्रतीति हो रही है। यहाँ वस्तुरूप वाच्यार्थ से रूपक अलङ्काररूप व्यङ्ग्यार्थ तक का क्रम अच्छी तरह लक्षित हो जाता है।

(घ) असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य—

सघन कुञ्ज छाया सुखद सीतल सुरभि समीर।
मन ह्वै जात अजौं वहै, वा जमुना के तीर॥

यहाँ वाच्यार्थ के द्वारा विप्रलम्भ शृङ्गार की व्यञ्जना हो रही है। वाच्यार्थ स्मृति तथा औत्सुक्यनामक सञ्चारिभावों की प्रतीति कराकर उनके द्वारा विप्रलम्भ शृङ्गार की अभिव्यञ्जना कराता है। वाच्यार्थ से इस रसरूप व्यङ्ग्यार्थ तक पहुँचने का क्रम लक्षित नहीं है। अतः यहाँ असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि है।

ध्यान रखिये, इन चारों उदाहरणों में व्यङ्ग्यार्थ ही वाच्यार्थ से प्रधान है, अतः ध्वनि काव्य है। ऐसा न होने पर काव्य में ध्वनित्व नहीं हो पाता, वह गुणीभूत व्यङ्ग्य हो जाता है।

है, श्रूयमाण है, दूसरे में वह केवल बुद्धिस्थ है, प्रकरणवेद्य है। 'गा मभ्याज' (गा के जाओ) इस वाक्य में या ऐसे ही दूसरे लौकिक वाक्यों में 'अभ्याज' आदि क्रिया श्रूयमाण है, वक्ता इस क्रिया के वाचक शब्द का साक्षात् प्रयोग करता है, तथा श्रोता को वह शब्द कर्णशष्कुली के द्वारा सुनाई देता है। दूसरे वाक्यों में क्रिया का साक्षात् उपादान न भी पाया जाय, जैसे 'द्वार द्वार' इस वाक्य में क्रिया श्रूयमाण नहीं है, वक्ता उसका साक्षात् प्रयोग नहीं करता पर प्रकरणवश 'दरवाजा खोलो' या 'दरवाजा बंद करो' अर्थ लिया जा सकता है। दोनों ही वाक्यों में चाहे शब्द का प्रयोग हो, चाहे प्रकरण के द्वारा ही क्रिया बुद्धिस्थ हो जाय, दोनों स्थानों पर कारकों के द्वारा पुष्ट होकर क्रिया ही वाक्यार्थ का रूप धारण करती है। कारकपरिपुष्ट क्रिया ही वाक्यार्थ या वाक्य का तात्पर्य है।

ठीक यही बात काव्य के विषय में स्पष्ट होती है। काव्य में कभी कभी तो रत्यादि भाव के वाचक शब्दों का साक्षात् प्रयोग पाया जाता है, जैसे 'प्रीत्यै नवोढा प्रिया' जैसे उदाहरणों में रति भाव के वाचक शब्द (प्रीत्यै) का साक्षात् उपादान पाया जाता है। दूसरे उदाहरणों में जो शृङ्गार रस या रति भाव के प्रतिपादक हैं, ऐसे शब्दों का उपादान नहीं भी हो सकता है। ऐसे काव्यों में प्रकरण आदि के आधार पर ही काव्य के द्वारा वाच्यरूप में उपात्त (अभिहित) विभाव, अनुभाव, तथा संचारी भावों के साथ स्थायी भाव का अविनाभाव सम्बन्ध होने के कारण, रत्यादि स्थायी भाव सहृदय के चित्त में ठीक उसी तरह स्फुरित होने लगता है, जैसे प्रकरणादि के कारण किसी वाक्य में प्रयुक्त कारकादि के द्वारा उनसे अविनाभावतया सम्बद्ध क्रिया की प्रतिपत्ति होती है। इन रत्यादि स्थायी भावों के उपाद विभावों, अनुभावों या संचारियों का तो काव्य में साक्षात् शब्द से उपादान होता है, वे तो साक्षात् वाच्यरूप में प्रतिपन्न होते ही हैं, वे संस्कार परम्परा के कारण, विभावों के पूर्वानुभव के आधार पर रत्यादि स्थायी भाव की [illegible] करते हैं। इस प्रकार काव्य में वाच्यरूप में उपात्त विभावादि के द्वारा प्रतीत, काव्य में वाच्यरूप से उपात्त अथवा प्रकरणादि के द्वारा बुद्धिस्थ रूप में प्रतीत रत्यादि स्थायी भाव, किसी व्यञ्जना जैसी कल्पित शक्ति का विषय न होकर, काव्य का वास्तविक वाक्यार्थ ही है।

न चाऽपदार्थस्य वाक्यार्थत्वं नास्तीति वाच्यम्–कार्यपर्यवसायित्वात्तात्पर्यशक्तेः[1]। तथा हि–पौरुषेयमपौरुषेयं वाक्यं सर्वं कार्यपरम्–अतत्परत्वेऽनुपादेयत्वादुन्मत्तादिवाक्यवत्। काव्यशब्दानां चान्वयव्यतिरेकाभ्यां निरतिशयसुखास्वादव्यतिरेकेण प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोः प्रवृत्तिविषययोः प्रयोजनान्तरानुपलब्धेः स्वानन्दोद्भूतिरेव कार्यत्वेनावधार्यते, तदुद्भूतिनिमित्तत्वं च विभावादिसंसृष्टस्य स्थायिन एवावगम्यते, अतो वाक्यस्याभिधानशक्तिस्तेन तेन रसेनाऽऽकृष्यमाणा तत्तत्स्वार्थापेक्षितावान्तरविभावादिप्रतिपादनद्वारा स्वपर्यवसायितामानीयते, तत्र विभावादयः पदार्थस्थानीयास्तत्संसृष्टो रत्यादिर्वाक्यार्थः। तदेतत्काव्यवाक्यं यदीयं ताविमौ पदार्थवाक्यार्थौ।

रसादि प्रतीयमान अर्थ वाक्य में प्रयुक्त पदों के वाच्यार्थ तो है ही नहीं, अतः अपूयमाण पदों वाले अर्थ को वाक्यार्थ कैसे माना जा सकता है। वाक्य तो पदों का समूह है, अतः पदों के वाच्यार्थों का समूह ही वाक्यार्थ कहा जा सकता है। ऐसी दशा में 'भ्रम धार्मिक' आदि उदाहरणों में निषेधवाची पद के न होने से निषेध को पदार्थ भाव के कारण वाक्यार्थ नहीं माना जाना चाहिए। ठीक यही बात रस के विषय में कही जा सकती है। यदि पूर्वपक्षी इस प्रकार की दलील दे, तो ठीक नहीं। अपदार्थ रसादि को वाक्यार्थ नहीं माना जा सकता, यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि तात्पर्य शक्ति का पर्यवसान वक्ता के प्रयोजन (कार्य) तक रहता

है। जिस प्रकार अभिधा शक्ति का साध्य वाच्यार्थ है, लक्षणा शक्ति का साध्य लक्ष्यार्थ है, ठीक वैसे ही तात्पर्य शक्ति वक्ता के कार्य को प्रतिपादित करती है। अतः जहाँ तक वक्ता का कार्य प्रसारित होगा, वहीं तक तात्पर्यशक्ति का क्षेत्र होगा। यदि वक्ता का कार्य 'निषेधरूप' है, यदि वक्ता को निषेधार्थ ही अभीष्ट है तो तात्पर्य शक्ति की सीमा वहीं तक मानी जायगी, उसका बोधन कराने के बाद ही तात्पर्य शक्ति क्षीण होगी। संसार में जितने वाक्यों का प्रयोग होता है, चाहे वे लौकिक भाषा के वाक्य हों, या वैदिक वाक्य हों, किसी कार्य को लेकर आते हैं, उस प्रयोजन की सिद्धि ही उस वाक्य का लक्ष्य होता है। यदि वाक्य में कोई कार्य या प्रयोजन न होगा, तो उन्मत्त प्रलपित की तरह उस वाक्य का लौकिक उपयोग न हो सकेगा। कार्यहीन वाक्य का प्रयोग करने पर वक्ता, श्रोता को किसी प्रकार के भाव की प्रतिपत्ति न करा सकेगा, वह उन्मत्तप्रलाप के समान निरर्थक ध्वनिसमूह (न कि वाक्य) होगा। अतः स्पष्ट है कि किसी भी लौकिक या वैदिक वाक्य में कार्यपरत्व होना आवश्यक है।

काव्य में शब्दों के द्वारा विभावादि अर्थ की प्रतीति होती है, तथा विभावादि स्थायी भाव तथा रस की प्रतीति कराते हैं। ऐसी दशा में काव्य के शब्दों (काव्य में प्रयुक्त वाक्य) का विभावादि रूप अर्थ से अन्वय व्यतिरेक रूप[1] सम्बन्ध है। यदि काव्य में तदभिधायक शब्दों का प्रयोग होगा तो विभावादि की प्रतीति होगी, अन्यथा नहीं। इस प्रकार काव्योपात्त शब्दादि ही विभावादि की प्रतीति कराते हैं। इन काव्योपात्त शब्दों या विभावादि में ही निरतिशय सुख का आस्वाद—रस रूप अलौकिक आनन्द की चर्वणा—नहीं पाया जाता, अपितु वह 'रस' इनका प्रतिपाद्य है। इस प्रकार काव्यप्रयुक्त शब्दों की प्रवृत्ति, उनका प्रयोग, विभावादि स्थायी भाव एवं रस के लिए होता है। इनमें भी विभावादि स्थायी भाव तथा रस के प्रतिपादक हैं, रस व भाव इनके प्रतिपाद्य। काव्य, काव्योपात्तशब्द, विभावादि, तथा स्थायी भाव एवं रस के परस्पर सम्बन्ध की पर्यालोचना करने पर काव्यरूप वाक्य का हमें केवल एक ही कार्य अथवा प्रयोजन दिखाई पड़ता है, वह है सहृदय के चित्त में आनन्दोद्भूति करना। इस प्रयोजन के अतिरिक्त काव्य का और कोई प्रयोजन दिखाई नहीं पड़ता, अन्य किसी भी काव्यप्रयोजन की उपलब्धि नहीं होती, इसलिए आनन्दोद्भूति को ही काव्य का कार्य माना जायगा। वह आनन्दोद्भूति विभावादि से युक्त स्थायी के ही कारण होती है। काव्य में विभावादि से युक्त स्थायी भाव की पर्यालोचना करने पर ही सहृदय को आनन्द की प्राप्ति होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्यप्रयुक्त वाक्य की प्रतिपादक शक्ति (तात्पर्य शक्ति) काव्य के प्रतिपाद्य अर्थ, रस के द्वारा आकृष्ट होती है, कार्य रूप रस उस शक्ति को क्रियमाण होने को बाध्य करता है। इसलिए वाक्य की प्रतिपादक तात्पर्य शक्ति को रस रूप स्वार्थ की प्रतीति कराने के लिए विभावादि अन्य साधनों की आवश्यकता होती है, तथा उन विभावादि के प्रतिपादन के द्वारा ही वह शक्ति रस की प्रतीति करा कर पर्यवसित होती है। रस प्रतीति की सरणि में काव्यप्रयुक्त पदों के अर्थ (पदार्थ) विभावादि हैं, तथा इन विभावादि से संसृष्ट रत्यादि स्थायी भाव काव्य का वाक्यार्थ है। इस प्रकार वह वाक्यवाक्य ही है, जिसके विभाव पदार्थ हैं, और स्थायी भाव वाक्यार्थ। (अतः स्पष्ट है कि स्थायी भाव तथा रस की प्रतीति व्यङ्ग्य न होकर, काव्य का वाक्यार्थ है, तथा उसकी प्रतीति व्यञ्जना नामक कल्पित शक्ति का विषय न होकर, तात्पर्यशक्ति का क्षेत्र है।)

---

१. एक वस्तु के होने पर, दूसरी वस्तु का होना, तथा एक के अभाव में, दूसरी वस्तु का न रहना, अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध कहलाता है। (तत्सत्त्वे तत्सत्त्वं अन्वयः, तदभावे तदभावः व्यतिरेकः।)

है, श्रूयमाण है, दूसरे में वह केवल बुद्धिस्थ है, प्रकरणवेद्य है। 'गा मभ्याज' (गा ले आवो) इस वाक्य में या ऐसे ही दूसरे लौकिक वाक्यों में 'अभ्याज' आदि क्रिया श्रूयमाण है, वक्ता इस क्रिया के वाचक शब्द का साक्षात् प्रयोग करता है, तथा श्रोता को वह शब्द कर्णशष्कुली के द्वारा सुनाई देता है। दूसरे वाक्यों में क्रिया का साक्षात् उपादान न भी पाया जाय, जैसे 'द्वार द्वार' इस वाक्य में क्रिया श्रूयमाण नहीं है, वक्ता उसका साक्षात् प्रयोग नहीं करता पर प्रकरणवश 'दरवाजा खोलो' या 'दरवाजा बंद करो' अर्थ लिया जा सकता है। दोनों ही वाक्यों में चाहे शब्द का प्रयोग हो, चाहे प्रकरण के द्वारा ही क्रिया बुद्धिस्थ हो जाय, दोनों स्थानों पर कारकों के द्वारा पुष्ट होकर क्रिया ही वाक्यार्थ का रूप धारण करती है। कारकपरिपुष्ट क्रिया ही वाक्यार्थ या वाक्य का तात्पर्य है।

ठीक यही बात काव्य के विषय में लागू होती है। काव्य में कभी कभी तो रत्यादि भाव के वाचक शब्दों का साक्षात् प्रयोग पाया जाता है, जैसे 'प्रीत्यै नवोढा प्रिया' जैसे उदाहरणों में रति भाव के वाचक शब्द (प्रीत्यै) का साक्षात् उपादान पाया जाता है। दूसरे उदाहरणों में जो शृङ्गार रस या रति भाव के प्रतिपादक हैं, ऐसे शब्दों का उपादान नहीं भी हो सकता है। ऐसे काव्यों में प्रकरण आदि के आधार पर ही काव्य के द्वारा वाच्यरूप में उपात्त (अभिहित) विभाव, अनुभाव, तथा सञ्चारी भावों के साथ स्थायी भाव का अविनाभाव सम्बन्ध होने के कारण, रत्यादि स्थायी भाव सहृदय के चित्त में ठीक उसी तरह स्फुरित होने लगता है, जैसे प्रकरणादि के कारण किसी वाक्य में प्रयुक्त कारकादि के द्वारा उनसे अविनाभावतया सम्बद्ध क्रिया की प्रतिपत्ति होती है। इन रत्यादि स्थायी भावों के तत्तत् विभावों, अनुभावों या सञ्चारियों का तो काव्य में साक्षात् शब्द से उपादान होता है, वे तो साक्षात् वाच्यरूप में प्रतिपन्न होते ही हैं, ये संस्कार परम्परा के कारण, विभावों के पूर्वानुभव के आधार पर रत्यादि स्थायी भाव को पुष्ट करते हैं। इस प्रकार काव्य में वाच्यरूप में उपात्त विभावादि के द्वारा प्रतीत, काव्य में वाच्यरूप से उपात्त अथवा प्रकरणादि के द्वारा बुद्धिस्थ रूप में प्रतीत रत्यादि स्थायी भाव, किसी व्यञ्जना जैसी कल्पित शक्ति का विषय न होकर, काव्य का वास्तविक वाक्यार्थ ही है।

न चाऽपदार्थस्य वाक्यार्थत्वं नास्तीति वाच्यम्—कार्यपर्यवसायित्वात्तात्पर्यशक्तेः। तथा हि—पौरुषेयमपौरुषेयं वाक्यं सर्वं कार्यपरम्—अतत्परत्वेऽनुपादेयत्वादुन्मत्तादिवाक्यवत्। काव्यशब्दानां चान्वयव्यतिरेकाभ्यां निरतिशयसुखास्वादव्यतिरेकेण प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोः प्रवृत्तिविषययोः प्रयोजनान्तरानुपलब्धेः स्वानन्दोद्भूतिरेव कार्यत्वेनावधार्यते, तदुद्भूतिनिमित्तत्वं च विभावादिसंसृष्टस्य स्थायिन एवावगम्यते, अतो वाक्यस्याभिधानशक्तिस्तेन तेन रसेनाऽऽकृष्यमाणा तत्तत्स्वार्थापेक्षितावान्तरविभावादिप्रतिपादनद्वारा स्वपर्यवसायितामानीयते, तत्र विभावादयः पदार्थस्थानीयास्तत्संसृष्टो रत्यादिर्वाक्यार्थः। तदेतत्काव्यवाक्यं यदीयं ताविमौ पदार्थवाक्यार्थौ।

रसादि प्रतीयमान अर्थ वाक्य में प्रयुक्त पदों के वाच्यार्थ तो हैं ही नहीं, अतः अश्रूयमाण पदों वाले अर्थ को वाक्यार्थ कैसे माना जा सकता है। वाक्य तो पदों का संघात है, अतः पदों के वाच्यार्थों का समूह ही वाक्यार्थ कहा जा सकता है। ऐसी दशा में 'भ्रम धार्मिक' आदि उदाहरणों में निषेधवाची पद के न होने से निषेध को पदार्थ भाव के कारण वाक्यार्थ नहीं माना जाना चाहिए। ठीक यही बात रस के विषय में कही जा सकती है। यदि पूर्वपक्षी इस प्रकार की दलील दे, तो ठीक नहीं। अपदार्थ रसादि को वाक्यार्थ नहीं माना जा सकता, यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि तात्पर्य शक्ति का पर्यवसान वक्ता के प्रयोजन (कार्य) तक रहता

है। जिस प्रकार अभिधा शक्ति का साध्य वाच्यार्थ है, लक्षणा शक्ति का साध्य लक्ष्यार्थ है, ठीक वैसे ही तात्पर्य शक्ति वक्ता के कार्य को प्रतिपादित करती है। अतः जहाँ तक वक्ता का कार्य प्रसारित होगा, वहीं तक तात्पर्यशक्ति का क्षेत्र होगा। यदि वक्ता का कार्य 'निषेधरूप' है, यदि वक्ता को निषेधार्थ ही अभीष्ट है तो तात्पर्य शक्ति की सीमा वहीं तक मानी जायगी, उसका बोधन कराने के बाद ही तात्पर्य शक्ति क्षीण होगी। संसार में जितने वाक्यों का प्रयोग होता है, चाहे वे लौकिक भाषा के वाक्य हों, या वैदिक वाक्य हों, किसी कार्य को लेकर चलते हैं, उस प्रयोजन की सिद्धि ही उस वाक्य का लक्ष्य होता है। यदि वाक्य में कोई कार्य या प्रयोजन न होगा, तो उन्मत्त प्रलपित की तरह उस वाक्य का लौकिक उपयोग न हो सकेगा। कार्यहीन वाक्य का प्रयोग करने पर वक्ता, श्रोता को किसी प्रकार के भाव की प्रतिपत्ति न करा सकेगा, वह उन्मत्तप्रलाप के समान निरर्थक ध्वनिसमूह (न कि वाक्य) होगा। अतः स्पष्ट है कि किसी भी लौकिक या वैदिक वाक्य में कार्यपरत्व होना आवश्यक है।

काव्य में शब्दों के द्वारा विभावादि अर्थ की प्रतीति होती है, तथा विभावादि स्थायी भाव तथा रस की प्रतीति कराते हैं। ऐसी दशा में काव्य के शब्दों (काव्य में प्रयुक्त वाक्य) का विभावादि रूप अर्थ से अन्वय व्यतिरेक रूप[1] सम्बन्ध है। यदि काव्य में तदभिधायक शब्दों का प्रयोग होगा तो विभावादि की प्रतीति होगी, अन्यथा नहीं। इस प्रकार काव्योपात्त शब्दादि ही विभावादि की प्रतीति कराते हैं। इन काव्योपात्त शब्दों या विभावादि में ही निरतिशय सुख का आस्वाद–रस रूप अलौकिक आनन्द की चर्वणा—नहीं पाया जाता, अपितु वह 'रस' इनका प्रतिपाद्य है। इस प्रकार काव्यप्रयुक्त शब्दों की प्रवृत्ति, उनका प्रयोग, विभावादि स्थायी भाव एवं रस के लिए होता है। इनमें भी विभावादि स्थायी भाव तथा रस के प्रतिपादक हैं, रस व भाव उनके प्रतिपाद्य। काव्य, काव्योपात्तशब्द, विभावादि, तथा स्थायी भाव एवं रस के परस्पर सम्बन्ध की पर्यालोचना करने पर काव्यरूप वाक्य का हमें केवल एक ही कार्य अथवा प्रयोजन दिखाई पड़ता है, वह है सहृदय के चित्त में आनन्दोद्भूति करना। इस प्रयोजन के अतिरिक्त काव्य का और कोई प्रयोजन दिखाई नहीं पड़ता, अन्य किसी भी काव्यप्रयोजन की उपलब्धि नहीं होती, इसलिए आनन्दोद्भूति को ही काव्य का कार्य माना जायगा। यह आनन्दोद्भूति विभावादि से युक्त स्थायी के ही कारण होती है। काव्य में विभावादि से युक्त स्थायी भाव की पर्यालोचना करने पर ही सहृदय को आनन्द की प्राप्ति होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्यप्रयुक्त वाक्य की प्रतिपादक शक्ति (तात्पर्य शक्ति) काव्य के प्रतिपाद्य तत्त्व रस के द्वारा आकृष्ट होती है, कार्य रूप रस उस शक्ति को क्रियमाण होने को बाध्य करता है। इसलिए वाक्य की प्रतिपादक तात्पर्य शक्ति को रस रूप स्वार्थ की प्रतीति कराने के लिए विभावादि अन्य साधनों की आवश्यकता होती है, तथा उन विभावादि के प्रतिपादन के द्वारा ही वह शक्ति रस की प्रतीति करा कर पर्यवसित होती है। रस प्रतीति की सरणि में काव्यप्रयुक्त पदों के अर्थ (पदार्थ) विभावादि हैं, तथा इन विभावादि से संसृष्ट रत्यादि स्थायी भाव काव्य का वाक्यार्थ है। इस प्रकार वह काव्यवाक्य ही है, जिसके विभाव पदार्थ हैं, और स्थायी भाव वाक्यार्थ। (अतः स्पष्ट है कि स्थायी भाव तथा रस की प्रतीति व्यङ्ग्य न होकर, काव्य का वाक्यार्थ है, तथा उसकी प्रतीति व्यञ्जना नामक कल्पित शक्ति का विषय न होकर, तात्पर्यशक्ति का क्षेत्र है।)

---

१. एक वस्तु के होने पर, दूसरी वस्तु का होना, तथा एक के अभाव में, दूसरी वस्तु का न रहना, अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध कहलाता है। (तत्सत्त्वे तत्सत्त्वं अन्वयः, तदभावे तदभावः व्यतिरेकः।)

न चैवं सति गीतादिवत्सुखजनकत्वेऽपि वाच्यवाचकभावानुपयोगः विशिष्टविभावादिसामग्रीविदुषामेव तथाविधरत्यादिभावनावतामेव स्वानन्दोद्भूते, तदनेनातिप्रसङ्गोऽपि निरस्तः ईदृशि च वाक्यार्थनिरूपणे परिकल्पिताभिधादिशक्तिवशेनैव समस्तवाक्यार्थावगते शक्त्यन्तरपरिकल्पनं प्रयासः यथावोचाम काव्यनिर्णये—

हम देखते हैं कि गीतादि के श्रवण के बाद सुख (आनन्द) उत्पन्न होता है। पर गीतादि उस सुख के वाचक नहीं, न वह सुख गीतादि का वाच्य ही। ठीक इसी तरह काव्य तथा उससे प्राप्त सुख (निरतिशय आनन्दरूप रस) के बारे में कहा जा सकता है। अतः काव्य तथा रस के विषय वाच्यवाचक भाव का उपयोग नहीं हो पाता। यदि पूर्वपक्षी ऐसी युक्ति दे, तो ठीक नहीं। गीतादि तथा तज्जनित सुख वाला दृष्टान्त काव्य तथा रस के बारे में देना ठीक नहीं होगा। हम देखते हैं कि काव्य से प्रत्येक व्यक्ति को रस प्रतीति नहीं होती। जो लोग विशिष्ट विभावादि सामग्री का ज्ञान रखते हैं, तथा उस प्रकार के रत्यादि भाव की भावना से युक्त हैं, केवल उन्हीं सहृदयों के हृदय में काव्य को सुन कर तद्वद् रसपरक आनन्द की प्रतीति होती है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि इन विभावादि के ज्ञान से रहित तथा रत्यादि भावों की भावना से शून्य, अरसिकों को आनन्द की प्रतीति नहीं होती।

इस प्रकार हमें पता चलता है कि रस के वाक्यार्थ रूप में निरूपित कर देने पर अब तक दार्शनिकों तथा आलङ्कारिकों द्वारा स्वीकृत अभिधा आदि (तात्पर्यशक्ति, लक्षणा) शक्ति के द्वारा ही समस्त श्रूयमाणपदार्थ या अश्रूयमाणपदार्थ की प्रतीति हो ही जाती है। इसलिए व्यञ्जना जैसी अलग से शक्ति की कल्पना व्यर्थ का प्रयत्न है। इसी बात को हम काव्यनिर्णय[1] नामक दूसरे ग्रन्थ में बता चुके हैं।

'तात्पर्यानतिरेकाच्च व्यञ्जनीयस्य न ध्वनिः।

किमुक्तं स्यादश्रुतार्थतात्पर्येऽन्योक्तिरूपिणि ॥ १॥

धनिक ने काव्यनिर्णय से उद्धृत इन कारिकाओं में से प्रथम पाँच कारिकाओं में व्यञ्जनावादी पूर्वपक्ष को उद्धृत किया है, तथा बाद की दो कारिकाओं में सिद्धान्तपक्ष की प्रतिष्ठापना की है। इनमें भी चतुर्थ कारिका में धनिक का सिद्धान्तपक्ष वादविवाद के रूप में आ गया है। अतः १, २, ३ तथा ५ कारिका में ही पूर्वपक्ष है।

व्यञ्जना तथा ध्वनि के विरोधियों का कहना है कि 'काव्य में प्रतीयमान या व्यञ्जनीय अर्थ का समावेश तात्पर्य में ही हो जाता है' इसलिए प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति तात्पर्यशक्ति के द्वारा ही हो जाती है, फिर उसके लिए व्यञ्जना जैसी शक्ति की कल्पना, या इस प्रतीयमान अर्थ को ध्वनि कहना ठीक नहीं।' इन ध्वनिविरोधियों से हम पूछना चाहते हैं कि जहाँ वक्ता का तात्पर्य श्रूयमाण नहीं है, उसका काव्य में साक्षात् प्रयोग नहीं हुआ है, पर फिर भी अन्योक्ति के कारण प्रतीयमान अर्थ की व्यञ्जना हो रही है, ऐसे स्थलों पर अश्रुत-पदार्थ में वाक्यार्थ (तात्पर्य) कैसे माना जा सकेगा। (जैसे 'कस्त्वं भो कथयामि दैवहतकं मां विद्धि शाखोटक' आदि पूर्वोदाहृत पद्य को ले लीजिये। इस पद्य में कहने वाला कवि शाखोटक जैसे जड वृक्ष के निर्वेद का वर्णन कर रहा है। यहाँ कवि की इच्छा में तात्पर्य हो सकता है, शाखोटक के निर्वेद में नहीं है, क्योंकि वहाँ वक्ता का प्रयोजन नहीं है। इसलिए व्यङ्ग्यार्थ का

---

१ धनिक ने दशरूपक की 'अवलोक' वृत्ति के अतिरिक्त 'काव्यनिर्णय' नामक अलङ्कार-ग्रन्थ की रचना की थी। किन्तु खेद का विषय है कि धनिक का काव्यनिर्णय अनुपलब्ध है। काव्यनिर्णय में धनिक ने व्यञ्जनावृत्ति का विशेष रूप से खण्डन किया था, इसका पता इस वृत्ति में उद्धृत काव्यनिर्णय की कारिकाओं से चलता है।

तात्पर्य में अन्तर्भाव नहीं हो सकता । व्यंजना की अपेक्षा होने पर ध्वनि की भी सिद्धि हो ही जाती है ।)

विषं भक्षय पूर्वो यश्चैवं परसुतादिषु ।
प्रसज्यते प्रधानत्वाद्ध्वनित्वं केन वार्यते ॥ २ ॥

तात्पर्यवादी 'विषं भक्षय, मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः' (विष खाओ, इसके घर भोजन न करो) इस वाक्य के आधार पर व्यंजना तथा ध्वनि का समावेश तात्पर्य शक्ति तथा तात्पर्य में करते हैं । उनका कहना है कि प्रकरणज्ञान के बाद वक्ता के पिता आदि हितैषी होने पर 'ज़हर खाओ' वाला विध्यर्थ ठीक नहीं बैठता, क्योंकि कोई पिता या मित्र पुत्र मित्रादि से यह न कहेगा । अतः उसका निषेधार्थरूप अर्थ लेना पड़ेगा । यह निषेधार्थ अभूयमाणपद है, तथा ध्वनिवादी भी यहाँ तात्पर्य मानता ही है । प्रतीयमान रसादि भी ठीक इसी तरह अभूयमाण-पद हैं, अतः वे तात्पर्य (वाक्यार्थ) ही माने जाने चाहिए । इस ध्वनिविरोधी मत की दलील का उत्तर देते हुए ध्वनिवादी कहता है कि जो अभूयमाणपदादि में आप तात्पर्य मानते हैं, वह भी ठीक नहीं, क्योंकि 'विषं भक्षय' इस वाक्य से प्रतीत अर्थ जिसका प्रयोग पुत्रादि के लिए किया गया है, वहाँ भी 'ज़हर खा लेने से भी बुरा शत्रु भोजन है' यह प्रतीयमान अर्थ तात्पर्यशक्ति के द्वारा प्रतीत नहीं हो पाता, अतः यहाँ ध्वनि ही है तथा इसकी प्रतीति व्यंजना व्यापार से ही होती है । इस अर्थ में ध्वनित्व को कौन मना कर सकता है ?[1]

ध्वनिश्चेत्स्वार्थविश्रान्तं वाक्यमर्थान्तराश्रयम् ।
तत्परत्वं त्वविश्रान्तौ, तन्न विश्रान्त्यसम्भवात् ॥ ३ ॥

ध्वनि वहीं होगी, जहाँ स्वार्थ (वाक्य का तात्पर्यार्थ) एक बार समाप्त हो गया हो, वह विश्रान्त हो गया हो, तथा वाक्य किसी दूसरे तात्पर्यार्थेतर प्रतीयमान अर्थ का आश्रय ले । जैसे 'भ्रम धार्मिक' वाक्य में तात्पर्य विध्यर्थ में ही विश्रान्त हो जाता है, किन्तु वाक्य निषेध-रूप प्रतीयमान की भी प्रतीति कराता है । ऐसे स्थलों पर ही ध्वनि हो सकेगी । यदि स्वार्थ विश्रान्त नहीं हो सका है, तो उसकी विश्रान्तिसीमा तक तात्पर्य माना जायगा । पर इस बात से ध्वनिविरोधी सहमत नहीं है ।' ध्वनिविरोधी धनिक का कहना है कि जहाँ कहीं व्यंजक माना जाता है, वहाँ व्यंजक या ध्वनि मानना ठीक नहीं होगा, क्योंकि किसी भी वाक्य के वाक्यार्थ या तात्पर्यार्थ की विश्रान्ति होना असम्भव है—काव्य के प्रयोजन पर ही जाकर वह विश्रान्त होता है ।

(इस तृतीय कारिका में 'तत्परत्वं त्वविश्रान्तौ' तक पूर्वपक्षी ध्वनिवादी का मत है, 'तन्न विश्रान्त्यसम्भवात्' यह सिद्धान्तपक्षी धनिक का मत है । आगे की चतुर्थ कारिका में भी सिद्धान्त पक्ष ही उपनिबद्ध हुआ है । पञ्चम कारिका में फिर ध्वनिवादी का मत है, तथा षष्ठ एवं सप्तम कारिका में पुनः सिद्धान्त पक्ष की प्रतिष्ठापना ।)

---

१. इस सम्बन्ध में यह कह देना होगा कि मम्मट आदि ध्वनिवादियों ने इस वाक्य के निषेधरूप अर्थ को अलग न मानकर तात्पर्य ही माना है । 'विष भक्षय' वाले वाक्यार्थ को निषेधार्थ में 'मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः' इस उत्तरार्ध परक मानते हैं तथा 'च' से सम्बद्ध होने के कारण दोनों वाक्यों को उद्देश्यविधेयरूप से सम्बद्ध मान लेते हैं । अतः इस उदाहरण को व्यंजना का उदाहरण वे भी नहीं मानते । मम्मट यहाँ तात्पर्य में अभूयमाणपदत्व भी नहीं मानते, क्योंकि इस वाक्य के उत्तरार्ध में 'मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः' में निषेध स्पष्टतः वाच्य है ।
(देखिये—काव्यप्रकाश उल्लास ५, पृ. २८८)

एतावत्येव विश्रान्तिस्तात्पर्यस्येति किंकृतम् ।
यावत्कार्यप्रसारित्वात्तात्पर्यं न तुलाधृतम् ॥ ४ ॥

ध्वनिवादी तात्पर्य के अविश्रान्त होने पर तो तात्पर्य शक्ति का विषय मानता है, तथा उसके विश्रान्त होने पर भी अर्थान्तरप्रतीति होने पर उसे व्यङ्ग्यार्थ मानते हुए व्यञ्जना तथा ध्वनि का विषय मानता है। इस विषय में सिद्धान्त पक्षी उससे यह पूछता है कि किसी भी (अमुक) वाक्य में तात्पर्य यहीं तक है, बस इसके आगे नहीं, उसकी यहां विश्रान्ति हो जाती है, इस बात का निर्धारण किसने कर दिया है? वस्तुतः किसी भी वाक्य के वाक्यार्थ या तात्पर्य की कोई निश्चित सीमा निबद्ध नहीं की जा सकती। तात्पर्य तो जहां तक वक्ता का प्रयोजन (कार्य) होता है, वहीं तक फैला रहता है; इसलिए वह इतना ही है, इससे अधिक नहीं ऐसा तौल या माप जोख नहीं है। तात्पर्य को किसी तराजू पर रख कर नहीं कहा जा सकता, कि इतना तात्पर्य है, बाकी अन्य वस्तु। इसलिए तुम्हारा व्यङ्ग्य भी तात्पर्य ही में अन्तर्निहित हो जाता है।

भ्रम धार्मिक विस्रब्धमिति भ्रमिकृतास्पदम् ।
निर्व्यावृत्ति कथं वाक्यं निषेधमुपसर्पति ॥ ५ ॥

ध्वनिवादी 'भ्रम धार्मिक विस्रब्धः' वाली प्रसिद्ध गाथा को लेकर निम्न युक्ति के आधार तात्पर्यवादी से वार करता है कि इस गाथा में निषेधरूप अर्थ वाक्यार्थ नहीं माना जा सकता। इस गाथा में वाक्य 'भ्रमिक्रिया' की प्रतीति कराता है। नायिका धार्मिक को 'मजे से घूमो' यही कह रही है। इस गाथा का वाक्य विध्यर्थपरक ही है, अतः तात्पर्य विध्यर्थ में ही होगा। वाक्य में तो स्पष्टतः निषेध का उल्लेख नहीं, वह भ्रमणक्रिया के बोधक पद से ही युक्त है, भ्रमणनिषेध के बोधक पद का यहां प्रयोग नहीं है। इसलिए ऐसा वाक्य निषेध परक कैसे हो सकता है? अतः निषेधपरक अर्थ की प्रतीति तात्पर्य से भिन्न वस्तु है। हमारे मत में वह व्यङ्ग्यार्थ है, तथा व्यञ्जना शक्ति के द्वारा प्रतिपाद्य है।

प्रतिपाद्यस्य विश्रान्तिरपेक्षापूरणाद्यदि ।
वक्तुर्विवक्षितप्राप्तेरविश्रान्तिर्न वा कथम् ॥ ६ ॥

ध्वनिवादी के मत का खण्डन, तथा तात्पर्य वृत्ति की स्थापना का उपसंहार करते हुए धनिक सिद्धान्तपक्ष का निबन्धन कर रहे हैं:—आप लोग 'भ्रम धार्मिक विस्रब्धः' इत्यादि गाथा में केवल इसलिए विध्यर्थमात्र को तात्पर्य मान लेते हैं कि यहां अपेक्षा की पूर्णता हो जाती है। जब कोई श्रोता इस वाक्य को सुनता है, तो वह विध्यर्थरूप में अर्थ लगा लेता है, तथा उसे वाक्यार्थ पूर्ति के लिए किसी अन्य पद की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसलिए ध्वनिवादी इस विध्यर्थ में तात्पर्य की विश्रान्ति मान लेते हैं। ठीक है श्रोता की दृष्टि से यहां विश्रान्ति हो भी, तो भी वक्ता (कुल्टा नायिका) का अभिप्राय तो विध्यर्थक नहीं है। यदि विध्यर्थ तक ही अर्थ मान लें, तो वक्ता के अभिप्राय की प्रतीति न हो सकेगी, तथा वाक्य का सच्चा अर्थ तो वक्ता का अभिप्राय ही है। जब तक वक्त्री नायिका का आशय—'तुम यहां कभी न आना, नहीं तो तुम्हें शेर मार डालेगा'—ज्ञात नहीं होता, तब तक वाक्यार्थ की अविश्रान्ति क्यों नहीं होगी? वस्तुतः इस गाथा से वक्त्री कुल्टा नायिका के अभिप्राय को, निषेधरूप अर्थ को, जान लेने पर ही तात्पर्य की विश्रान्ति हो सकेगी, इसके पूर्व कदापि नहीं।

पौरुषेयस्य वाक्यस्य विवक्षापरतन्त्रता ।
वक्त्रभिप्रेततात्पर्यमतः काव्यस्य युज्यते ॥ ७ ॥' इति ।

कोई भी लौकिक या पौरुषेय वाक्य किसी न किसी विवक्षा पर आश्रित रहता है। जब

कोई वक्ता किसी भी वाक्य का प्रयोग करता है, तो वह किसी बात को कहना चाहता है। लौकिक वाक्य में तात्पर्यार्थ उसी वस्तु में होगा, जो वक्ता का अभिप्राय है। ठीक यही बात काव्य में भी घटित होती है। काव्य में रसादि अर्थ (जिन्हें ध्वनिवादी व्यङ्ग्य कहते हैं), शब्द के या कवि के अभिप्रेत हैं, अतः वे तात्पर्य ही हैं।

अतो न रसादीनां काव्येन सह व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावः। किं तर्हि भाव्यभावकसम्बन्धः? काव्यं हि भावकं, भाव्या रसादयः। ते हि स्वतो भवन्त एव भावकेषु विशिष्टविभावादिमता काव्येन भाव्यन्ते।

अतः यह सिद्ध हो गया है कि काव्य का रस के साथ व्यङ्ग्य व्यञ्जक सम्बन्ध नहीं है, न तो काव्य व्यञ्जक ही है, न रसादि व्यङ्ग्य ही। तो फिर इन दोनों में कौन सा सम्बन्ध है? काव्य तथा रस में परस्पर भाव्यभावक भाव या भाव्यभावक सम्बन्ध है। काव्य भावक है, रसादि भाव्य। सहृदय के मानस में स्थायी भाव या रस की चर्वणा होती है, इसी चर्वणा को 'भावना' भी कहते हैं। इसीके आधार पर काव्य भावक है, रस उसके भाव्य। रसादि सहृदय के हृदय में अपने आप ही पैदा होते हैं, तथा तत्तत् रस के अनुकूल विशिष्ट विभावों के द्वारा काव्य उनकी भावना कराता है।[1]

न चान्यत्र शब्दान्तरेषु भाव्यभावकलक्षणसम्बन्धाभावात् काव्यशब्देष्वपि तथा भाव्यमिति वाच्यम्—भावनाक्रियावादिभिस्तथाङ्गीकृतत्वात्। किं च मा चान्यत्र तथास्तु अन्वयव्यतिरेकाभ्यामिह तथावगमात्। तदुक्तम्—

काव्य तथा रस के भाव्यभावक सम्बन्ध के विषय में पूर्वपक्षी एक शङ्का उठा सकता है कि दूसरे शब्दों तथा उनके अर्थों में भाव्यभावक रूप सम्बन्ध नहीं पाया जाता। काव्य के शब्द भी, इतर शब्दों की ही तरह हैं, इसलिए काव्य तथा उनके अर्थ रसादि में भी भाव्यभावक लक्षण सम्बन्ध का अभाव ही होना चाहिए। धनिक का कहना है कि पूर्वपक्षी के द्वारा यह शङ्का उठाना ठीक नहीं। भावना नामक क्रिया को मानने वाले भावनावादी मीमांसकों ने 'भावना' क्रिया में भाव्यभावक सम्बन्ध माना ही है। उनके मतानुसार 'स्वर्गकामो यजेत' या 'पुत्रकामो यजेत' इत्यादि श्रुतिप्रतिपादित वाक्यों के प्रमाण के अनुसार यागादि क्रिया से स्वर्गादि

---

१. काव्य तथा रस के परस्पर सम्बन्ध, एवं विभावादि तथा रसादि के परस्पर सम्बन्ध के विषय में रसशास्त्र में चार मत विशेष प्रसिद्ध हैं। ये मत भट्ट लोल्लट, शङ्कुक, भट्ट नायक, तथा अभिनवगुप्तपादाचार्य के हैं। इन मतों का संक्षिप्त विवेचन इसी ग्रन्थ के भूमिका भाग में द्रष्टव्य है। भट्ट नायक ने व्यञ्जनावादियों का खण्डन करते हुए विभावादि एवं रस में परस्पर 'भोज्यभोजक' सम्बन्ध माना है। उन्होंने इसके लिए अभिधा के अतिरिक्त 'भावना' तथा 'भोजकत्व' इन दो व्यापारों की कल्पना की थी। भट्ट नायक के अनुपलब्ध ग्रन्थ 'हृदयदर्पण' में इसका विवेचन किया गया था। धनिक का काव्य तथा रस में भाव्यभावक सम्बन्ध मानना भट्ट नायक का ही प्रभाव है। सम्भवतः धनिक को हृदय दर्पण का भी पता हो। वैसे ध्यान से देखने पर पता चलता है कि रस व काव्य के सम्बन्ध के विषय में धनिक का कोई स्वतन्त्र मत नहीं रहा है। वह प्रमुखतः भट्ट लोल्लट के 'दीर्घदीर्घतर-व्यापार' तथा भट्ट नायक के भावना व्यापार से प्रभावित हुआ है, जिसमें धनिक ने तात्पर्यशक्ति वाला मत भी मिला दिया है, जो भट्ट लोल्लट का 'दीर्घदीर्घतर अभिधाव्यापार' ही है। एक स्थान पर धनिक शङ्कुक के भी ऋणी हैं, जहाँ वे दुष्यन्तादि को 'गुणवद्विरह' के समकक्ष रख कर शङ्कुक के 'चित्रतुरगादिन्याय' का ही आश्रय

की प्राप्ति होती है। इस प्रकार मीमांसक यागादि क्रिया तथा स्वर्गादि फल में 'भावना' क्रिया की कल्पना करते हैं। यागादि क्रिया रूप कारण के द्वारा स्वर्ग प्राप्ति रूप कार्य निष्पन्न होता है। यागादि क्रिया भावक है, स्वर्गप्राप्ति भाव्य। इस प्रकार मीमांसक दार्शनिकों ने इस सम्बन्ध को माना ही है, इसलिए यह भाव्यभावक सम्बन्ध की कल्पना शास्त्रानुमोदित है। शब्दों के अन्य लौकिक प्रयोग में, या अन्य लौकिक स्थलों पर यह भाव्यभावक सम्बन्ध नहीं होता, यह तो काव्य तथा रस के सम्बन्ध में ही घटित होता है। इस बात की पुष्टि काव्य तथा रस के परस्पर अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध से हो जाती है। काव्य में रसादि भावक पदों का प्रयोग नहीं होगा तो किसी तरह भी रस की 'भावना' (चर्वणा) न हो सकेगी, तथा उसके होने पर सहृदयहृदय में रसादि अवश्य भावित होंगे, इस अन्वयव्यतिरेक सरणि से यह स्पष्ट है कि काव्य तथा रस में भाव्यभावक सम्बन्ध है।

'भावाभिनयसम्बन्धान्भावयन्ति रसानिमान्।
यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः॥' इति।

जैसा कि कहा भी गया है —

भाव, भावों तथा अभिनय के द्वारा, अथवा भावों के अभिनय के द्वारा रसों की भावना कराते हैं, इसीलिए नाट्यप्रयोक्ता इन्हें भाव कहते हैं। इससे यह सिद्ध है कि स्थायी भाव रसों की भावना कराते हैं। अतः रस भाव्य है, यह भी स्पष्ट हो जाता है। इसके आधार पर काव्य तथा रस में भाव्यभावक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।

कथं पुनरगृहीतसम्बन्धेभ्यः पदेभ्यः स्थाय्यादिप्रतिपत्तिरिति चेत्? लोके तथाविधचेष्टायुक्तस्त्रीपुंसादिषु रत्याद्यविनाभावदर्शनादिहापि तथोपनिबन्धे सति रत्याद्यविनाभूतचेष्टादिप्रतिपादकशब्दश्रवणादभिधेयाऽविनाभावेन लाक्षणिकी रत्यादिप्रतीतिः। यथा च काव्यार्थस्य रसभावकत्वं तथाऽग्रे वक्ष्यामः।

काव्योपात्त पदों से रत्यादि स्थायी भावों की प्रतीति के विषय में पूर्वपक्षी फिर प्रश्न उठाता है कि काव्योपात्त पदों का रत्यादि भावों से कोई सम्बन्ध नहीं है, अन्य शब्दों तथा उनके अर्थों में अभिधा व्यापार इसलिए काम करता है कि वे अर्थ उन उन पदों के संकेतित अर्थ होते हैं। स्थायी काव्योपात्त शब्दों का संकेतित अर्थ तो है ही नहीं। अतः रत्यादि से कोई सम्बन्ध न होने से काव्योपात्त पद स्थायी आदि भावों या रस की प्रतीति कैसे करायेंगे? इस शङ्का का उत्तर सिद्धान्तपक्षी यों देता है। हम संसार में दो प्रेमियों को देखते हैं, या स्त्री पुरुषों के परस्पर अनुराग को देखते हैं। वे स्त्री पुरुष नाना प्रकार की प्रेमपरक चेष्टाओं से युक्त दिखाई देते हैं। इनकी ये चेष्टाएँ देखकर अविनाभाव सम्बन्ध से [illegible] रत्यादि [illegible] भी दर्शन कर लेते हैं। इन अनुरागपूर्ण चेष्टाओं को देखकर हम उनके परस्पर प्रेम को जान लेते हैं। ठीक यही बात काव्य के विषय में कही जा सकती है। काव्य में तत्तत् स्थायी भाव की चेष्टाएँ निबद्ध की जाती हैं। काव्य में प्रयुक्त शब्द इन चेष्टाओं के वाचक हैं। इस प्रकार काव्योपात्त शब्द के सुनने से चेष्टाओं की प्रतीति होती है और चेष्टाएँ अविनाभाव सम्बन्ध के द्वारा रत्यादि स्थायी भाव की प्रतीति कराती हैं। इस प्रकार काव्योपात्त शब्दों के श्रवण से अभिधेय चेष्टादि से सम्बन्ध रत्यादि की प्रतीति लाक्षणिक है, उसे लक्षणाधिगम्य मानना होगा। काव्य का वाक्यार्थ रस की भावना कैसे कराता है, इसे हम आगे बतायेंगे।

रसः स एव स्वाद्यत्वाद्रसिकस्यैव वर्तनात्।
नानुकार्यस्य वृत्तत्वात्काव्यस्यातत्परत्वतः॥ ३८॥

द्रष्टुः प्रतीतिर्व्रीडेर्ष्यारागद्वेषप्रसङ्गतः ।
लौकिकस्य स्वरमणीसंयुक्तस्येव दर्शनात् ॥ ३९ ॥

रत्यादि स्थायी भाव स्वाद्य होता है, सहृदय उसका आस्वाद करते हैं, अतः लौकिक स्वाद के विषय 'रस' की भांति यह भी रस कहलाता है। यह रस रसिक सहृदय में ही पाया जाता है, अनुकार्य राम, दुष्यन्त, सीता, या शकुन्तला में यह नहीं पाया जाता। रस का स्वाद, रस की चर्वणा रसिकों को, दर्शक सामाजिकों को, ही होती है, अनुकार्य पात्रों को नहीं। अनुकार्य पात्रों की तो केवल कथा भर ली जाती है, काव्य का प्रयोजन 'सामाजिकों को रसास्वाद कराना ही है। काव्य के अनुकार्य रामादि तो भूतकाल के हैं, उन्हें रसचर्वणा हो ही कैसे सकती है। वस्तुतः रसचर्वणा नाटकादि काव्य के द्रष्टा सामाजिक में ही मानी जा सकती है। यदि अनुकार्य रामादि में मानी जायगी, तो वे भी ठीक उसी तरह होंगे, जैसे हम आमतौर पर व्यावहारिक संसार-क्षेत्र में, अपनी नायिका से युक्त किसी नायक को देखते हैं। किन्हीं दो प्रेमी प्रेमिका को शृङ्गारी चेष्टा करते देख हमें रस प्रतीति नहीं होती, हमें या तो लज्जा होगी, या ईर्ष्या, राग या द्वेष। यदि अनुकार्य दुष्यन्तादि में रस मान लें, तो सामाजिकों को रसास्वाद नहीं हो सकेगा, प्रत्युत उनके हृदय में लज्जा, ईर्ष्या, राग या द्वेष की उत्पत्ति होगी। शृङ्गारी चेष्टा देखकर बड़े लोगों को लज्जा होगी, दूसरों को ईर्ष्यादि। अतः अनुकार्य नायकादि में रस मानने पर दोष आने के कारण सामाजिक में ही रसस्थिति माननी होगी।

काव्यार्थोपप्लावितो रसिकवर्ती रत्यादिः स्थायीभावः स इति प्रतिनिर्दिश्यते, स च स्वाद्यतां निर्भरानन्दसंविदात्मतामापाद्यमानो रसो रसिकवर्तीति वर्तमानत्वात्, नानुकार्यरामादिवर्ती वृत्तत्वात्तस्य।

काव्य के वाच्यार्थ के द्वारा उद्भावित रत्यादि स्थायी भाव जो रसिकों के हृदय में रहता है, कारिका में 'स' (वह) पद के द्वारा निर्दिष्ट हुआ है। वही भाव जब आस्वाद का विषय बनता है, सामाजिक के हृदय में अलौकिक आनन्दघन चेतना को विकसित करता है, तो रस कहलाता है, क्योंकि वह रसिक सामाजिकों में ही रहता है। नाटकादि काव्य का प्रत्येक द्रष्टा रसचर्वणा नहीं कर सकता, उसके लिए रसिक (सहृदय) होना आवश्यक है। अतः रस की स्थिति रसिक में ही होती है। रसिक तो वर्तमान है, अनुकार्य रामादि अतीत काल से सम्बद्ध हैं, अतः रस की स्थिति अनुकार्य रामादि में नहीं मानी जा सकती।

अथ शब्दोपहितरूपत्वेनावर्तमानस्यापि वर्तमानवदवभासनमिष्यत एव, तथापि तदवभासस्यास्मदादिभिरनुभूयमानत्वादसत्सामतैवाऽऽस्वादं प्रति, विभावत्वेन तु रामादेर्वर्तमानवदवभासनमिष्यत एव। किञ्च न काव्यं रामादीनां रसोपजननाय कविभिः प्रवर्त्यते, अपि तु सहृदयानानन्दयितुम्। स च समस्तभावकस्वसंवेद्य एव।

यदि चानुकार्यस्य रामादेः शृङ्गारः स्यात्ततो नाटकादौ तद्दर्शने लौकिक इव नायके शृङ्गारिणि स्वकान्तासंयुक्ते दृश्यमाने शृङ्गारवानयमिति प्रेक्षकाणां प्रतीतिमात्रं भवेन्न रसानां स्वादः, सत्पुरुषाणां च लज्जा, इतरेषां त्वसूयानुरागापहारेच्छादयः प्रसज्येरन्। एवं च सति रसादीनां व्यङ्ग्यत्वमपास्तम्। अन्यतो लब्धसत्ताकं वस्त्वन्येनापि व्यज्यते प्रदीपेनेव घटादि, न तु तदानीमेवाभिव्यञ्जकत्वाभिमतैरापादितस्वभावम्। भाव्यन्ते च विभावादिभिः प्रेक्षकेषु रसा इत्यावेदितमेव।

कोई कहे कि काव्य में तो अनुकार्य रामादि का वर्णन वर्तमान की तरह ही किया जाता है, तो ठीक है। काव्य में उपात्त शब्दों के द्वारा रामादि अनुकार्य पात्रों का रूप इस तरह उपस्थित किया जाता है कि साक्षात् रूप में वर्तमान न होने पर भी नाटकादि में वे ही वर्तमान हैं, इस तरह का आभास होता है। कवि तथा सामाजिक दोनों को ही इस प्रकार की प्रतीति [illegible] भी है, (अन्यथा रस प्रतीति न होगी)। इतना होने पर भी रामादि का वर्तमान के रूप में आभास हम लोगों (सामाजिकों) को ही होता है, अतः अनुकार्य रामादि की आस्वाद (रस) की दृष्टि से सत्ता है ही नहीं, आस्वाद की दृष्टि से वे अवर्तमान ही हैं। रामादि का वर्तमान के रूप में वर्णन, विभाव के रूप में किया जाता है, अतः वर्तमान के रूप में अवभास सामाजिकों की रस प्रतीति का कारण (विभाव) है। विभाव रूप में उनका इस प्रकार निबन्धन कवि व सामाजिक दोनों को अभीष्ट है। साथ ही यह भी बात ध्यान देने की है कि (भवभूति आदि) कवि रामादि की रस प्रतीति के लिए काव्य की रचना नहीं करते। कवि काव्य की रचना इसलिए करता है [illegible] उससे सहृदय सामाजिक आनन्दित हों, उन्हें रसास्वाद हो। इस रस का अनुभव समस्त सहृदय के स्वतः प्रमाण का विषय है।

अगर यह मान भी लिया जाय कि शृङ्गार (रस) की प्रतीति अनुकार्य रामादि को होती है, तो नाटकादि के दर्शन पर दर्शकों को वैसे ही कोई भी रसास्वाद न होगा, जैसे लौकिक प्रेमी को अपनी कान्ता से युक्त देखकर दर्शकों को केवल इतनी ही प्रतीति होती है कि यह युवक शृङ्गार से युक्त है। रसास्वाद की बात तो जाने दीजिये, ऐसी अवस्था में देखने वाले सज्जन व्यक्तियों को लज्जा होगी, क्योंकि दूसरे लोगों की शृङ्गारी चेष्टा देखना उन्हें पसन्द नहीं। दूसरे विलासी दर्शकों को ईर्ष्या, अनुराग, द्वेष होगा, शायद उन्हें यह भी इच्छा हो कि ऐसी सुन्दर नायिका का अपहरण कर लिया जाय। अतः रस को नाटकादि अनुकार्य पात्रों में नहीं माना जा सकता।

इस निष्कर्ष से यह भी निराकृत हो जाता है कि रस व्यङ्ग्य है। रस को व्यङ्ग्य मानने वाले लोगों के मत का खण्डन इस ढङ्ग से भी हो जाता है। व्यञ्जना उसी वस्तु की हो सकती है, जो पहले से ही स्वतन्त्ररूप से विद्यमान हो, तथा किसी दूसरी वस्तु से व्यञ्जित हो। उदाहरण के लिए घट की सत्ता प्रदीप से पहले ही है तथा स्वतन्त्र है, तभी तो प्रदीप घट को (अन्धकार में) व्यञ्जित करता है। रसादि पहले से ही होते तो विभावादि या काव्योपात्त शब्दादि उनकी व्यञ्जना करा सकते थे। अतः रस की पूर्व सत्ता न होने पर, व्यञ्जनावादी इसे व्यङ्ग्य नहीं मान सकते। विभावादि के द्वारा रसों की भावना (आस्वाद या चर्वणा) दर्शकों, सामाजिकों में होती है, यह बात हम पहले ही बता चुके हैं।

ननु च सामाजिकाश्रयेषु रसेषु को विभावः कथं च सीतादीनां देवीनां विभावत्वेनाऽविरोध ? उच्यते—

धीरोदात्ताद्यवस्थानां रामादिः प्रतिपादकः।
विभावयति रत्यादीन्स्वदन्ते रसिकस्य ते ॥ ४० ॥

सामाजिकों में रस की स्थिति मानने पर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि उनके विभाव कौन हैं; तथा सीता आदि पूज्य देवियों को शृङ्गारादि का विभाव मानने में दर्शकों के लिए दोष क्यों नहीं होता। इस प्रकार सामाजिकों की रसचर्वणा के विभाव कौन हैं ? तथा सीतादि को विभाव मानने में अविरोध कैसे स्थापित होगा ? इन्हीं प्रश्नों का उत्तर निम्न कारिका में दिया जाता है।

नाटकादि में वर्णित अनुकार्य रामादि तदनुकूल धीरोदात्त आदि अवस्था के

प्रतिपादक हैं। ये रामादि सामाजिकों में रत्यादि स्थायी भाव को विभावित करते हैं, रत्यादि स्थायी भाव की प्रतीति में कारण बनते हैं। ये रत्यादि स्थायी भाव ही रसिक सामाजिक के द्वारा आस्वादित किये जाते हैं।

नहि कवयो योगिन इव ध्यानचक्षुषा ध्यात्वा प्रातिस्विकीं रामादीनामवस्थामितिहा-सवदुपनिबध्नन्ति, किं तर्हि ? सर्वलोकसाधारणाः स्वोत्प्रेक्षाकृतसन्निधीः धीरोदात्ताद्यवस्थाः क्वचिदाश्रयमात्रदायिनीः (नि) बध्नन्ति।

कवि रामादि का वर्णन ठीक उसी तरह से नहीं करते, जैसा पुराणेतिहास में होता है। कवि योगियों की तरह ध्यान करके ज्ञानचक्षु के द्वारा रामादि के अतीत चरित्र का प्रत्यक्ष दर्शन करके उनकी अवस्था का हू-ब-हू वर्णन ठीक उसी तरह नहीं करते, जैसा इतिहास में पाया जाता है। तो फिर कवि कैसा वर्णन करते हैं ? कवि तो लौकिक व्यवहार के आधार पर ही उनका निबन्धन करते हैं। वे अपनी उत्प्रेक्षा (कल्पना) से रामादि में तत्तत् प्रकार की उन धीरोदात्तादि अवस्था का चित्रण करते हैं, जो किन्हीं अनुभूत रामादि (आश्रय) में कवि ने देखी है। इस प्रकार कवि अपने ही लौकिक जीवन में प्रत्यक्ष किये राजा आदि में धीरोदात्तादि अवस्था देख कर उनमें कुछ कल्पना का समावेश कर रामादि की अवस्था का निबन्धन करते हैं।

ता एव च परित्यक्तविशेषा रसहेतवः।

काव्य में वर्णित ये रामादि ही जब अपने विशेष व्यक्तित्व (रामत्वादि) को छोड़ कर सामान्य (नायकमात्र) रूप धारण कर लेते हैं, तो सहृदय के हृदय में रस प्रतीति कराने के कारण (विभाव) बन जाते हैं।

तत्र सीतादिशब्दाः परित्यक्तजनकतनयादिविशेषाः स्त्रीमात्रवाचिनः किमिवानिष्टं कुर्युः ? किमर्थं तर्ह्युपादीयन्त इति चेत् ? उच्यते—

क्रीडतां मृण्मयैर्यद्वद्बालानां द्विरदादिभिः ॥ ४१ ॥ द्वौ

स्वोत्साहः स्वदते तद्वच्छ्रोतृणामर्जुनादिभिः।

कारिका से स्पष्ट है कि सीता, शकुन्तला आदि पात्र अपने विशिष्ट व्यक्तित्व को छोड़ कर सामान्य रूप को धारण कर लेते हैं, दूसरे शब्दों में वे साधारणीकृत हो जाते हैं। इस सम्बन्ध में यह प्रश्न उठ सकता है कि काव्य में सीतादि शब्द जनकतनयादि के विशेष व्यक्तित्व को छोड़ कर केवल स्त्री मात्र का बोध कराने लगते हैं, यह मान लेने पर उनका किसी भी तरह का अनिष्ट नहीं होगा। तो फिर काव्य में उनका उपादान क्यों होता है ? जब सीता यहाँ परित्यक्त जनकतनयात्व धारण करती है, तो फिर उसके प्रति आदरादि का भाव न हो सकेगा, तथा उससे रसास्वाद भी कैसे होगा ? इसीका उत्तर देते हुए कहते हैं :

छोटे बच्चे मिट्टी के बने हुए हाथी, घोड़े आदि से खेलते हैं। वे उन्हें सच्चे हाथी, सच्चे घोड़े ही समझ कर खेलते हैं, तथा उनसे आनन्द प्राप्त करते हैं। ठीक इसी तरह काव्य के श्रोता सामाजिक भी अर्जुन आदि पात्रों के द्वारा उन पात्रों में उत्साह देख कर स्वयं उत्साह का आस्वाद करते हैं। यद्यपि अर्जुनादि, मृण्मय द्विरदादि की तरह ही अवास्तविक हैं केवल प्रतिकृति मात्र हैं, तथापि सामाजिकों को उनसे आनन्द प्राप्ति होती है।

एतदुक्तं भवति—नात्र लौकिकशृङ्गारादिवत्स्त्र्यादिविभावादीनामुपयोगः, किं तर्हि प्रतिपादितप्रकारेण लौकिकरसविलक्षणत्वं नाट्यरसानाम् ?। यदाह—'अष्टौ नाट्यरसाः स्मृताः' इति।

इस विषय में यह कहा जा सकता है कि काव्य का शृङ्गार ठीक वसी तरह नहीं है जैसा लौकिक शृङ्गार। लौकिक शृङ्गार में जैसे स्त्री आदि विभावों का प्रयोग होता है, उस तरह काव्य में नहीं होता है। तो फिर वहाँ क्या होता है? काव्य का रस (नाट्यरस) सांसारिक रस से सर्वथा विलक्षण, तथा भिन्न है, इसको हम बता चुके हैं। जैसे कहा भी है कि नाट्यरस संख्या में केवल आठ ही होते हैं।

काव्यार्थभावनास्वादो नर्तकस्य न वार्यते ॥ ४२ ॥

नर्तक (नट) को रसास्वाद होता है या नहीं, इस विषय में हमारा मत यह है कि नर्तक को भी रसास्वाद हो सकता है। हम नर्तक के काव्यार्थ भावना-रस-के आस्वाद का निषेध नहीं करते।

नर्तकोऽपि न लौकिकरसेन रसवान् भवति तदानीं भोग्यत्वेन स्वमहिलादेरग्रहणात् काव्यार्थभावनया त्वस्मदादिवत्काव्यरसास्वादोऽस्यापि न वार्यते।

नाटकादि में अनुकार्य रामादि के अनुकरणकर्ता नट भी लौकिक रस से रसयुक्त नहीं माने जा सकते, क्योंकि वे नाटक में अनुकरण करने वाली महिला को भोग्य रूप में ग्रहण नहीं कर सकते। अत उनमें लौकिक रस की स्थिति नहीं मानी जा सकती। वैसे काव्यार्थ की भावना के द्वारा नर्तक को भी रसास्वाद हो सकता है, पर उस दशा में नर्तक भी हमारी तरह सामाजिक होगा। भाव यह है यदि नर्तक सहृदय है, तो सामाजिक के रूप में, सामाजिक के दृष्टिकोण से, वह रसास्वाद कर सकता है। उसे कथमपि रसास्वाद नहीं होता; ऐसा हमारा मत नहीं है।

कथं च काव्यात्स्वानन्दोद्भूतिः किमात्मा चासाविति व्युत्पाद्यते—

स्वादः काव्यार्थसम्भेदादात्मानन्दसमुद्भवः।
विकासविस्तरक्षोभविक्षेपैः स चतुर्विधः ॥ ४३ ॥
शृङ्गारवीरबीभत्सरौद्रेषु मनसः क्रमात्।
हास्याद्भुतभयोत्कर्षकरुणानां त एव हि ॥ ४४ ॥
अतस्तज्जन्यता तेषामत एवावधारणम्।

काव्य से आनन्द कैसे उत्पन्न होता है, तथा यह आनन्द किस प्रकार का होता है, इसीको स्पष्ट करते हैं —

काव्यार्थ के ज्ञान के द्वारा आत्मा में (सहृदय के हृदय में) विशेष प्रकार के आनन्द का उत्पन्न होना स्वाद कहलाता है। यह स्वाद चार प्रकार का माना जाता है— चित्त का विकास, चित्त का विस्तार, चित्त का क्षोभ, तथा चित्त का विक्षेप। ये चारों प्रकार के मनोविकार विकास, विस्तार, क्षोभ तथा विक्षेप—क्रमशः शृङ्गार, वीर, बीभत्स तथा रौद्र रसों में पाये जाते हैं। ये चारों मनःप्रकार ही क्रमशः हास्य, अद्भुत, भय तथा करुण में पाये जाते हैं। इस प्रकार शृङ्गार तथा हास्य में विकास, वीर तथा अद्भुत में विस्तार, बीभत्स तथा भय में क्षोभ, एवं रौद्र तथा करुण में विक्षेप की स्थिति होती है। इसीलिए हास्यादि चार रसों को शृङ्गारादि चार रसों से उत्पन्न माना जाता है, तथा 'आठ ही रस हैं' इस प्रकार की अवधारणोक्ति भी इसीलिए कही गई है, क्योंकि मन की चार स्थितियों से चार शृङ्गारादि तथा चार तज्जन्य हास्यादि का सम्बन्ध घटित होता है, (नौ या दस वाली रस संख्या का नहीं)।

काव्यार्थेन = विभावादिसंसृष्टस्थाय्यात्मकेन भावकचेतसः सम्भेदे = अन्योन्यसंवलने प्रत्यस्तमितस्वपरविभागे सति प्रबलतरस्वानन्दोद्भूतिः स्वादः, तस्य न सामान्या-

रसैकत्वेऽपि प्रतिनियतविभावादिकारणजन्येन सम्भेदेन चतुर्धा चित्तभूमयो भवन्ति। तद्यथा—शृङ्गारे विकासः, वीरे विस्तरः, बीभत्से क्षोभः, रौद्रे विक्षेप इति। तदन्येषां चतुर्णां हास्याद्भुतभयानककरुणानां स्वसामग्रीलब्धपरिपोषाणां त एव चत्वारो विकासाद्याश्चेतसः सम्भेदाः, अत एव—

'शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रसः।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानकः॥'

इति हेतुहेतुमद्भाव एव सम्भेदापेक्षया दर्शितो न कार्यकारणभावाभिप्रायेण तेषां कारणान्तरजन्यत्वात्।

काव्य का वास्तविक अर्थ विभावादिकों से युक्त स्थायी भाव है, अतः काव्यार्थ शब्द से इस कारिका में विभावादियुक्त स्थायी भाव रूप अर्थ का तात्पर्य है। इस काव्यार्थ के द्वारा सहृदय के चित्त में अनुकार्य रामादि के सदृश अवस्था का संक्रमण हो जाता है। सहृदय स्थायी भाव रूप काव्यार्थ का अनुशीलन कर 'स्व' तथा 'पर' के विभाग को भूल जाता है, उसका चित्त साधारणीकृत हो जाता है। इस स्थिति में सहृदय को जिस महान् आनन्द की प्रतीति होती है, वही स्वाद (रस) कहलाता है। यह स्वाद वैसे तो सभी रसों में सामान्य रूप से पाया जाता है, फिर भी अलग-अलग रस के अलग ढङ्ग के विभाव पाये जाते हैं, इसलिए इस भेद के कारण सहृदय के चित्त की चार प्रकार की स्थितियाँ पाई जाती हैं। जैसे—शृङ्गार में विकास, वीर में विस्तर, बीभत्स में क्षोभ, तथा रौद्र में विक्षेप। शृङ्गारादि इन चार रसों से इतर हास्य, अद्भुत, भयानक, तथा करुण इन चार रसों में भी—जिनकी पुष्टि अपने-अपने विभावों के अनुसार होती है—ये ही चार विकासादि चित्तभूमियाँ क्रमशः मिलती हैं। इसीलिए शृङ्गारादि को हास्यादि का कारण इसी सम्भेद के आधार पर माना जाता है।

'शृङ्गार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत, तथा बीभत्स से भयानक रस की उत्पत्ति होती है।'

इस वचन में शृङ्गारादि को क्रमशः हास्यादि का हेतु, तथा हास्यादि को हेतुमान् माना है, इसका केवल यही कारण है कि इनमें एक सी चित्तभूमि पाई जाती है, जो दूसरे रसों में नहीं। इस भेद को बताने के लिए ही इस कार्यकारण भाव का उल्लेख हुआ है। इस कार्यकारण भाव के प्रदर्शन का यह अर्थ नहीं है कि एक उनके कारण हैं, तथा दूसरे कार्य, क्योंकि हास्यादि के कारण (विभाव) शृङ्गारादि के कारणों (विभावों) से सर्वथा भिन्न हैं।

'शृङ्गारानुकृतिर्या तु स हास्य इति कीर्तितः।'

इत्यादिना विकासादिसम्भेदैकत्वस्यैव स्फुटीकरणात्, अवधारणमप्यत एव 'द्धि' इति सम्भेदान्तराणामभावात्।

ननु च युक्तं शृङ्गारवीरहास्यादिषु प्रमोदात्मकेषु वाक्यार्थसम्भेदात् आनन्दोद्भव इति, करुणादौ तु दुःखात्मके कथमिवासौ प्रादुष्यात्? तथाहि—तत्र करुणात्मककाव्यश्रवणाद् दुःखाविर्भावोऽश्रुपातादयश्च रसिकानामपि प्रादुर्भवन्ति, न चैतदानन्दात्मकत्वे सति युज्यते। सत्यमेतत्, किन्तु तादृश एवासावानन्दः सुखदुःखात्मको यथा प्रहरणादिषु सम्भोगावस्थायां कुट्टमिते स्त्रीणाम्, अन्यश्च लौकिकात्करुणात्काव्यकरुणः, तथा ह्यत्रोत्तरोत्तरा रसिकानां प्रवृत्तिः। यदि च लौकिककरुणवद् दुःखात्मकत्वमेवेह स्यात्तदा न कश्चिदत्र

प्रवर्तेत, तत करुणैकरसानां रामायणादिमहाप्रबन्धानामुच्छेद एव भवेत्। अश्रुपातादयश्चेतिवृत्तवर्णनाकर्णनेन विनिपातितेषु लौकिकवैक्लव्यदर्शनादिवत् प्रेक्षकाणां प्रादुर्भवन्तो न विरुध्यन्ते तस्माद्रसान्तरवत्करुणस्याप्यानन्दात्मकत्वमेव।

'शृङ्गार के अनुकरण को हास्य रस कहते हैं' इस उक्ति के द्वारा विकासादि के उपभेद को ही स्पष्ट किया गया है। इसीलिए यह अवधारण भी दिया गया है कि 'रसों की संख्या आठ ही होती है,' क्योंकि चार चित्तभूमियों के आठ ही रसभेद हो सकते हैं, नौ या दस नहीं। साथ ही मन की चित्तभूमियाँ भी चार ही प्रकार की पाई जाती हैं।

रस का स्वरूप, उसकी संख्या, तथा उनकी चित्तभूमियों का निर्देश करने पर रस के आनन्द स्वरूप के विषय में एक प्रश्न उठता है। जैसा कि बताया गया है रस की स्थिति में सहृदय की चित्तवृत्ति अलौकिक आनन्द से युक्त हो जाती है, वही आनन्दास्वाद रस है। जब हम रसों की ओर देखते हैं तो हमें पता चलता है कि शृङ्गार, वीर हास्य आदि रसों (अद्भुत को भी ले सकते हैं) में देखने वाले को सुख मिलता है। ये रस सुखात्मक है अतः इन रसों वाले काव्य के अर्थ से सहृदय के मानस में आनन्दोत्पत्ति होना ठीक भी है। लेकिन यही बात करुण आदि रसों के विषय में कहना ठीक नहीं। दुःखात्मक करुण, बीभत्स, भयानक तथा रौद्र रसों से आनन्दोत्पत्ति कैसे हो सकती है? पूर्वपक्षी अपने मत को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहता है कि करुणात्मक काव्य को सुन कर रसिक व्यक्ति आँसू गिराते हैं, रोते हैं, इस प्रकार उनके हृदय में दुःख का आविर्भाव होता ही है। अगर करुणादि को आनन्दरूप माना जाय, वे आनन्दात्मक होते, तो रसिक को उनके आस्वाद के समय रोना नहीं चाहिए।

इसी शङ्का का उत्तर देते हुए वृत्तिकार धनिक सिद्धान्तपक्ष निबद्ध करते हैं —

तुम्हारा यह कहना बहुत ठीक है कि करुण काव्यों के श्रवण से रसिक लोगों को दुःख होता है, तथा रोते हैं, आँसू गिराते हैं। पर लौकिक करुणादि से काव्यगत करुणादि का भेद है। काव्यगत करुणादि दुःखपरक होते हुए भी आनन्दात्मक हैं। जैसे सुरत के समय स्त्रियों का कुट्टमित, उनके नखक्षत, दन्तक्षत, प्रहारादि रसिकों को सुख तथा दुःख से मिश्रित आनन्द प्रदान करते हैं, ठीक वैसे ही करुण रस में रसिकों को आनन्द की प्रतीति होती है। साथ ही लौकिक करुण से काव्य का करुण रस भिन्न है, इसीलिए रसिक लोग करुण काव्य के प्रति अत्यधिक प्रवृत्त होते हैं। अगर काव्यगत करुण रस भी लौकिक करुण रस की तरह दुःखात्मक ही होता, तो कोई भी व्यक्ति ऐसे काव्य का अनुशीलन न करता। ऐसा होने पर तो करुण रसपरक काव्यों—रामायण जैसे महाकाव्यों का उच्छेद ही हो जायगा। ऐसे काव्यों की कोई पूछ न होगी। पर बात दूसरी ही है। लोग रामायणादि करुण रसपरक काव्यों को बड़े चाव से पढ़ते-सुनते हैं, तथा रसास्वाद ग्रहण करते हैं, अतः करुण रस काव्य भी आनन्दोत्पत्ति अवश्य करते हैं, यह सिद्ध है। वैसे कथा के वर्णन को सुनने पर रसिक सामाजिक दुःख का अनुभव करके आँसू उसी तरह गिराता है, जैसे लौकिक व्यवहार में किसी दुखी व्यक्ति को देख कर हम लोग आँसू गिराते हैं। अतः सामाजिकों का ऐसे वर्णनों को सुन कर आँसू गिराना रस का या आनन्द का विरोधी नहीं है। इन सब बातों से स्पष्ट है कि शृङ्गारादि रसों की तरह करुण रस से भी आनन्दोत्पत्ति होती है, यह भी आनन्दात्मक है।

पहले की एक कारिका में शान्त रस का रसत्व तथा शम का स्थायित्व निषिद्ध किया गया है—'शममपि केचित् प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य'। यहाँ पर उसी शम स्थायी भाव तथा

शान्त रस के विषय में पुनः सिंहावलोकन करते हुए सिद्धान्तपक्ष का उल्लेख किया जाता है।

शान्तरसस्य चाऽनभिनेयत्वात् यद्यपि नाट्येऽनुप्रवेशो नास्ति तथापि सूक्ष्मातीतादिवस्तूनां सर्वेषामपि शब्दप्रतिपाद्यताया विद्यमानत्वात् काव्यविषयत्वं न निवार्यते अतस्तदुच्यते—

शमप्रकर्षोऽनिर्वाच्यो मुदितादेस्तदात्मता ॥ ४५ ॥

हम बता चुके हैं कि शान्त रस का अभिनय नहीं हो सकता। इसलिए नाटक में शान्तरस का प्रवेश, शान्तरस का निबन्धन नहीं होता। यद्यपि नाटक में शान्तरस नहीं पाया जाता, फिर भी सूक्ष्म, अतीत आदि सभी वस्तुओं की प्रतिपत्ति शब्द के द्वारा कराई जा सकती है, अतः वे भी काव्य के विषय तो हो ही सकती हैं। सूक्ष्म, अतीत आदि वस्तुएँ काव्य का विषय नहीं हो सकतीं, हमारा यह मत नहीं है। इसी को कारिकाकार यों स्पष्ट करते हैं :—

शम नामक स्थायी भाव का प्रकर्ष-शान्तरस अनिर्वाच्य है, इसका वर्णन नहीं किया जा सकता, क्योंकि दुःख, सुख, चिन्ता, राग, द्वेष सभी से परे है, तथा यह मुदिता, मैत्री, करुणा एवं उपेक्षा से प्रतीत होता है।

शान्तो हि यदि तावत्—

> 'न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा।
> रसस्तु शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु शमप्रधानः ॥'

इत्येवंलक्षणस्तदा तस्य मोक्षावस्थायामेवात्मस्वरूपापत्तिलक्षणायां प्रादुर्भावात्, तस्य च स्वरूपेणानिर्वचनीयता। श्रुतिरपि—'स एष नेति नेति' इत्यन्यापोहरूपेणाह। न च तथाभूतस्य शान्तरसस्य सहृदयाः स्वादयितारः सन्ति। अथापि तदुपायभूतो मुदितामैत्रीकरुणोपेक्षादिलक्षणस्तस्य च विकासविस्तारक्षोभविक्षेपरूपतैवेति तदुक्तयैव शान्तरसास्वादो निरूपितः।

शान्तरस का निम्न लक्षण माना जाता है :—

'जहाँ दुःख भी नहीं है, सुख भी नहीं है, न चिन्ता है न द्वेष, न कोई राग है, न कोई इच्छा, वह शान्तरस है, ऐसा मुनीन्द्र भरत ने कहा है। समस्त भावों में शम स्थायी भाव प्रधान होता है।'

यदि शान्तरस का यही लक्षण है, तो यह अवस्था केवल मोक्षावस्था में ही प्राप्त हो सकती है, जब कि आत्मस्वरूप की प्राप्ति हो जाती है। यह मोक्षावस्थारूप आत्मप्राप्ति स्वरूपतः अनिर्वचनीय है, उसका वर्णन करना अशक्य है। इसकी अनिर्वचनीयता का प्रमाण भगवती श्रुति है जहाँ कहा गया है कि 'वह आत्मरूप यह नहीं है, यह नहीं है'। जब शान्तरस सांसारिक विषयों से विराग पाता है, तो फिर उससे रसिक सहृदयों को—लौकिक सामाजिकों को कोई आनन्द नहीं मिलेगा। वैराग्ययुक्त शान्तरस का आस्वाद रागी लौकिक रसिक नहीं करेंगे। वैसे शान्तरस अनिर्वचनीय है, तथा उसका वर्णन नहीं हो सकता, फिर भी किसी तरह यहाँ पर शान्तरस के आस्वाद का औपचारिक निरूपण किया ही जाता है। शान्तरस के उपाय हैं चित्त की चार प्रकार की वृत्तियाँ—मुदिता, मैत्री, करुणा तथा उपेक्षा। ये चारों वृत्तियाँ चित्त की पूर्वोक्त चार भूमियों—विकास, विस्तर, क्षोभ तथा विक्षेप—का ही प्रतिरूप हैं। अतः उनके कारण शान्तरस में चारों प्रकार की चित्तभूमियों का निरूपण किया जा सकता है।

इदानीं विभावादिविषयावान्तरकाव्यव्यापारप्रदर्शनपूर्वकं प्रकरणेनोपसंहारः प्रतिपाद्यते-

पदार्थैरिन्दुनिर्वेदरोमाञ्चादिस्वरूपकैः ।
काव्याद्विभावसञ्चार्यनुभावप्रख्यतां गतैः ॥ ४८ ॥
भावितः स्वदते स्थायी रसः स परिकीर्तितः ।

अब रसादि का विवेचन कर लेने पर प्रकरण का उपसंहार करते हुए विभावादिरूप इतर काव्यव्यापारों का प्रदर्शन करते हैं —

चन्द्रमा जैसे विभाव, निर्वेद जैसे सञ्चारी भाव तथा रोमाञ्च जैसे अनुभावों के द्वारा भावित स्थायी ही रस है। काव्य में प्रयुक्त पदों का अर्थ इन्दु (चन्द्रमा) आदि विभाव परक, निर्वेद आदि भाव परक तथा रोमाञ्चादि अङ्गविकार परक होता है। ये ही चन्द्र, निर्वेद, रोमाञ्च आदि क्रमशः विभाव, सञ्चारी तथा अनुभाव के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनके द्वारा जब स्थायी रस भावित होता है, तो वह रस कहलाता है।[1]

अतिशयोक्तिरूपकाव्यव्यापाराहितविशेषैश्चन्द्राद्यैरुद्दीपनविभावैः प्रमदाप्रभृतिभिरालम्बनविभावैर्निर्वेदादिभिर्व्यभिचारिभावैः रोमाञ्चाश्रुभ्रूक्षेपकटाक्षाद्यैरनुभावैरवान्तरव्यापारतया पदार्थीभूतैर्वाक्यार्थः स्थायीभावो विभावितः = भावरूपतामानीतः स्वदते स रस इति प्राक्प्रकरणे तात्पर्यम्।

काव्य व्यापार में अतिशयोक्ति के रूप में वर्णित चन्द्रमा, नदीतीर, आदि उद्दीपनविभाव, रमणी आदि आलम्बनविभाव, निर्वेदादि व्यभिचारी भाव, रोमाञ्च, अश्रु, भ्रूक्षेप, कटाक्ष आदि अनुभावों की ही प्रतीति कराई जाती है। अतः चन्द्रादि जो काव्योपात्त शब्दों के पदार्थ हैं अपने द्वारा अविनाभाव सम्बन्ध से विभावादि की प्रतीति कराते हैं। ये चन्द्रादि विभावादि ही वाक्यार्थरूप स्थायी भाव को भावनाविषयक बनाकर आस्वाद्यरूप में प्रतिपन्न करते हैं, तो वह स्थायी भाव रस हो जाता है। भाव यह है सहृदय सामाजिक सबसे पहले काव्य में वर्णित चन्द्र, निर्वेद, अश्रु आदि विभाव, सञ्चारी भाव तथा अनुभावों को काव्योपात्त पदार्थ के रूप में ग्रहण करता है, फिर ये पदार्थ सहृदय हृदय में स्थित स्थायी भाव को भावनागम्य बनाते हैं, और सहृदय सामाजिक को आस्वादरूप आनन्द की प्राप्ति होती है। यही आस्वाद रूप आनन्द रस है। अतः रस कुछ नहीं विभावादि के द्वारा भावित (भावनाविषयीकृत) स्थायी भाव की ही परिपुष्ट दशा है।

विशेषलक्षणान्युच्यन्ते, तत्राचार्येण स्थायिनां रत्यादीनां शृङ्गारादीनां च पृथग्लक्षणानि विभावादिप्रतिपादनेनोदितानि। अत्र तु—

---

1. भूमिका भाग में हम देख चुके हैं कि भरत के भाष्यसूत्र 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः' के 'संयोगात्' पद का अर्थ अलग २ आचार्यों ने अलग २ लगाया है। भट्ट लोल्लट के मतानुसार इसका अर्थ है—उत्पाद्य-उत्पादकभाव, शङ्कुक के मत से इसका अर्थ है—अनुमाप्यानुमापकभाव, भट्ट नायक के अनुसार इसका अर्थ 'भोज्यभोजकभाव' है तथा अभिनवगुप्त या ध्वनिवादी के मत में 'व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव'। धनञ्जय 'संयोगात्' को 'भावित' पद से स्पष्ट कर 'भाव्यभावकसम्बन्ध' मानते हैं। जिस तरह लोल्लट, शङ्कुक, भट्ट नायक तथा अभिनवगुप्त के मतों को क्रमशः उत्पत्तिवाद, अनुमितिवाद, भुक्तिवाद तथा अभिव्यक्तिवाद (या व्यक्तिवाद) कहा जाता है, धनञ्जय के रसवादी मत को वैसे ही 'भावनावाद' कहा जा सकता है। पर हम बता चुके हैं कि धनञ्जय तथा धनिक का रस सम्बन्धी मत कोई स्वतन्त्र कल्पना नहीं है, अपितु भट्ट लोल्लट तथा भट्ट नायक के मतों की ही खिचड़ी है।

लक्षणैक्यं विभावैक्यादभेदाद्रसभावयोः ॥ ४७ ॥

क्रियत इति वाक्यशेषः ।

अब तक सामान्य रूप से रस तथा स्थायी भाव का विवेचन किया गया। अब आठ स्थायी भावों तथा आठ रसों का विशेष लक्षण निबद्ध करते हैं। भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में स्थायी भावों तथा रसों का *लक्षण अलग अलग किया है। इसका कारण यह है कि उन्होंने* विभावादि के वर्णन के द्वारा उनका वर्णन किया है। विभावादि के द्वारा प्रतिपादन करने █ कारण उनका पृथक् पृथक् लक्षण किया गया है। पर यहाँ हम दोनों का एक साथ ही लक्षण करते हैं।

रस तथा उसके भाव (स्थायी भाव) का विभाव (आलम्बन तथा उद्दीपन) एक ही होता है, तथा उनमें कोई भेद नहीं है, अपि तु अभेद है, क्योंकि भाव की ही परिपुष्ट स्थिति रस कही जाती है, अतः उनका लक्षण एक ही किया जाता है। भरत मुनि की तरह अलग अलग लक्षण नहीं किया गया है।

तत्र तावच्छृङ्गारः—

> रम्यदेशकलाकालवेषभोगादिसेवनैः ॥
> प्रमोदात्मा रतिः सैव यूनोरन्योन्यरक्तयोः ।
> प्रहृष्यमाणा शृङ्गारो मधुराङ्गविचेष्टितैः ॥ ४८ ॥

इत्थमुपनिबध्यमानं काव्यं शृङ्गारास्वादाय प्रभवतीति कव्युपदेशपरमेतत् ।

सबसे पहले शृङ्गार तथा उसके स्थायी रतिभाव का सोदाहरण लक्षण उपनिबद्ध करते हैं।

परस्पर अनुरक्त युवक नायक नायिका के हृदय में, रम्य देश, काल, कला, वेश, भोग, आदि के सेवन के द्वारा आत्मा का प्रसन्न होना रति स्थायी भाव है। यही रति स्थायी भाव नायक या नायिका के अङ्गों की मधुर चेष्टाओं के द्वारा एक दूसरे के हृदय में परिपुष्ट (प्रहर्षित) होकर शृङ्गार रस होता है।

इस प्रकार रम्य देशादि के द्वारा परिपुष्ट रति के उपनिबद्ध करने पर काव्य से शृङ्गार की चर्वणा होती है, इसलिए यह लक्षण कवियों के उपदेश के लिए किया गया है।

तत्र देशविभावो यथोत्तररामचरिते—

> 'स्मरसि सुतनु तस्मिन्पर्वते लक्ष्मणेन
> प्रतिविहितसपर्यासुस्थयोस्तान्यहानि ।
> स्मरसि सरसतीरां तत्र गोदावरीं वा
> स्मरसि च तदुपान्तेष्वावयोर्वर्तनानि ॥'

अब देश, काल आदि की रमणीयता रूप उद्दीपन विभाव को स्पष्ट करते हुए तत्तत् विभाव के द्वारा कैसे रति भाव का स्फुरण तथा शृङ्गार की चर्वणा होती है, इसे उदाहरणों के द्वारा स्पष्ट करते हैं।

देशरूप विभाव का उदाहरण, जैसे उत्तररामचरित नाटक में, निम्न पद्य में राम तथा सीता के परस्पर अनुराग रूप रति भाव की गोदावरीतीर रूप देश के द्वारा शृङ्गार के रूप में चर्वणा हो रही है।

हे सुन्दर शरीर वाली सीता, उस पर्वत पर लक्ष्मण के द्वारा पूजा की सभी सामग्री के प्रस्तुत कर देने के कारण मजे से रहते हुए, हमारे उन दिनों को तुम याद करती हो न। अथवा सरसतीर वाली गोदावरी को तथा उसके पास हम दोनों के इधर उधर परिभ्रमण (विहार) को याद करती हो न।

कलाविभावो यथा—

> 'हस्तैरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्यगर्थः
> पादन्यासैर्लयमुपगतस्तन्मयत्वं रसेषु ।
> शाखायोनिर्मृदुरभिनयः षड्विकल्पोऽनुवृत्ते-
> र्भावे भावे नुदति विषयान् रागबन्धः स एव ॥'

कला विभाव का उदाहरण, जैसे मालविकाग्निमित्र के इस पद्य में, जहाँ मालविका की नृत्यकला के द्वारा अग्निमित्र के हृदय में स्फुरित स्थायी भाव शृङ्गार रस के रूप में परिपुष्ट हो रहा है —

इस मालविका ने अपने उन हाथों के सञ्चालन के द्वारा भाव के अर्थ की व्यञ्जना ठीक तरह से करा दी है, जिन के सञ्चालन में जैसे शब्द (वचन) छिपे बैठे हैं। जिस तरह शब्द के सुनने पर उसके अर्थ की प्रतीति होती है, वैसे ही इसके हस्तसञ्चालन से अर्थव्यञ्जना हो रही है, मानों वचन इसके हाथों में छिपे हैं। जब यह एक क्रिया के बाद थोड़ी देर द्रुत, मध्य या विलम्बित विश्राम (लय)[1] का आश्रय लेती है, तो जैसे इसके पदन्यास ने लय को रस के साथ तन्मय बना दिया है। दर्शक इसके 'लय' तक पहुँचने पर रसमग्न हो जाता है। *हस्तसञ्चालन तथा पादन्यास के द्वारा किया गया छः प्रकार का*[2] (*शारीर, मुखज,* तथा चेष्टाकृत ये आङ्गिक के तीन प्रकार, तथा वाचिक आहार्य एवं सात्त्विक) कोमल अभिनय जो शाखा वाला[3] (हाथ के विचित्र सञ्चालन वाला) है प्रत्येक भाव के प्रकाशन के साथ साथ हृदय में विषयों को प्रेरित कर रहा है। यही अनुराग है, यही रागबन्ध या प्रेम कहा जा सकता है।

यथा च—

> 'व्यक्तिर्व्यञ्जनधातुना दशविधेनाप्यत्र लब्धाऽमुना
> विस्पष्टो द्रुतमध्यलम्बितपरिच्छिन्नस्त्रिधाऽयं लयः ।
> गोपुच्छप्रमुखाः क्रमेण यतयस्तिस्रोऽपि सम्पादिता-
> स्तत्त्वौघानुगताश्च वाद्यविधयः सम्यक् त्रयो दर्शिताः ॥'

अथवा, इस दूसरे उदाहरण में जहाँ सङ्गीत की कला के विभाव का वर्णन पाया जाता है। मृच्छकटिक का पद्य है।

सङ्गीत शास्त्र में प्रसिद्ध दस प्रकार के व्यञ्जन धातुओं पुष्प, कल, तल, निष्कोटित, उन्मृष्ट, रेफ, अनुबन्ध, अनुस्वनित, बिन्दु तथा अपमृष्ट के द्वारा वीणावादन के समय भाव की व्यञ्जना कराई गई है। वीणावादन में द्रुत, मध्य तथा लम्बित इस प्रकार तीनों तरह की गीत की लय स्पष्ट सुनाई दे रही है। लय के कालभेद में कोई गड़बड़ी नहीं है। वीणावादक ने गोपुच्छ, समा, तथा स्रोतोगता इन तीन प्रकार की यतियों में लय की प्रवृत्ति के नियमों को क्रम से सम्पादित किया है। गोपुच्छादि यतियों के प्रयोग के नियम में कोई क्रमभङ्ग नहीं हुआ है। साथ ही वीणावादन के समय तत्त्व, ओघ तथा अनुगत इन तीन प्रकार की वाद्यविधियों को

---

१ लय तीन प्रकार का होता है —क्रियानन्तरविश्रान्तिर्लयः स त्रिविधो मतः। द्रुतो मध्यो विलम्बश्च द्रुतः शीघ्रतमो मतः। द्विगुणद्विगुणौ ज्ञेयौ तस्मान्मध्यविलम्बितौ॥

२ आङ्गिको वाचिकश्चैव ह्याहार्यः सात्त्विकस्तथा। ज्ञेयस्त्वभिनयो विप्राश्चतुर्धा परिकल्पितः। त्रिविधस्त्वाङ्गिको ज्ञेयः शारीरो मुखजस्तथा। तथा चेष्टाकृतश्चैव शाखाङ्गोपाङ्गसंयुतः॥

३ विहाय त्रीनभिनयानाङ्गिकोऽत्राभिधीयते। तस्य शाखाङ्कुरौ नृत्तं प्रधाने त्रितयं मतम्। तत्र शाखेति विख्याता विचित्रा करवर्तना॥ (सङ्गीतरत्नाकर)

भी अच्छी तरह दर्शाया है। इस प्रकार समस्त व्यंजन धातुओं का, लय के त्रिप्रकार का, तीन तरह की यतियों तथा वाद्यविधियों का प्रयोग बता रहा है कि वीणा बजाने वाला व्यक्ति वीणावादन की कला में अत्यधिक निपुण है।

कालविभावो यथा कुमारसम्भवे—

'असूत सद्यः कुसुमान्यशोकः स्कन्धात्प्रभृत्येव सपल्लवानि।
पादेन नापैक्षत सुन्दरीणां सम्पर्कमाशिञ्जितनूपुरेण॥'

काल (समय) के विभावपक्ष का उदाहरण, जैसे कुमार सम्भव के तृतीय सर्ग में वसन्त के आविर्भाव के वर्णन में वसन्त के कारण पशुओं तक में रतिभाव के सञ्चार का वर्णन—

हिमालय प्रदेश में शिवजी के आश्रम के आसपास वसन्त के फैल जाने पर अशोक के वृक्ष ने शाखाओं के कंधों तक पत्तों तथा पुष्पों को एकदम उत्पन्न कर दिया। उस अशोक वृक्ष ने नूपुर से झङ्कृत सुन्दरियों के चरण की भी अपेक्षा न की। प्रायः यह प्रसिद्ध है कि अशोक में पुष्पोत्पत्ति रूप दोहद रमणियों के चरणाघात के कारण होता है। जैसा कि कहा भी जाता है—'पादाघातादशोकः'। अतः रमणियों के चरणाघात का होना आवश्यक है। किन्तु शिवजी की पार्वती के प्रति आकृष्ट करने के लिए प्रेरित काम की सहायता करने वाला वसन्त इस तरह से हिमालय में फैल गया कि वसन्त के सारे चिह्न एकदम उपस्थित हो गये। अशोक के पल्लव तथा पुष्प, जिनका आविर्भाव वसन्त ऋतु में होता है, निकल आये, तथा उनने सुन्दरियों के पादाघात की भी प्रतीक्षा न की।

इत्युपगमे—

'मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्तमानः।
शृङ्गेण संस्पर्शनिमीलिताक्षीं मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः॥'

काम के सखा वसन्त के वनमें फैल जाने पर पशु-पक्षियों में भी रति का सञ्चार होने लगा, (मनुष्यों की तो बात ही निराली है)। भँवरा अपनी प्रिया के साथ रह कर फूल के एक ही पात्र से पराग या मकरन्द का पान करने लगा, ठीक वैसे ही जैसे कोई विलासी युवक अपनी प्रिया के साथ एक ही चषक से मधुपान करता है। काला हिरण अपने स्पर्श के कारण बन्द आँखों वाली (जिसने आँखें बन्द कर ली हैं) मृगी को अपने सींग से खुजलाने लगा। यहाँ भ्रमर तथा भ्रमरी का एक पुष्प-पात्र से मधुपान करना, तथा मृग का मृगी को अपने सींग से खुजलाना तथा मृगी का उसके स्पर्श को पाकर आँखें बन्द कर लेना शृङ्गार रस के ही अनुभाव हैं।

वेषविभावो यथा तत्रैव—

'अशोकनिर्भर्त्सितपद्मरागमाकृष्टहेमद्युतिकर्णिकारम्।
मुक्ताकलापीकृतसिन्दुवारं वसन्तपुष्पाभरणं वहन्ती॥'

वेष का विभाव, जैसे कुमार-सम्भव के निम्न उदाहरण में पार्वतीरूप आलम्बन के वेष उद्दीपन विभाव का वर्णन किया गया है, जो शिवके मानस में रति को पुष्ट करता है:—

जब पार्वती शिव के चरणों में रखने कमलबीजों की माला रखने आईं, तो उनने वसन्त ऋतु के विकसित पुष्पों के आभूषणों को धारण रक्खा था। उनके ये आभूषण, जो वासन्ती कुसुमों के थे स्वर्ण या रत्नों के आभूषणों से भी बढ़ कर मनोहर थे। उसने जिन अशोक पुष्पों को पहन रक्खा था, वे पद्मराग मणि की शोभा को भी लज्जित कर रहे थे। अशोक का फूल भी लाल होता है, पद्मराग मणि भी लाल। उसके आभरणों के कर्णिकार पुष्पों में सोने की

कान्ति को खींच लिया था। ये दोनों पीले रंग के होते हैं। तथा सिन्दुवार के फूलों के द्वारा उसने मोतियों की माला बना रक्खी थी। इस तरह अशोक, कर्णिकार तथा सिन्दुवार के कुसुमों से बना पार्वती का आभरण (वसन्ताभरण) पद्मराग, सुवर्ण तथा मोतियों के बने आभूषणों-सा लग रहा था, वैसा ही नहीं, किन्तु उससे भी कहीं बढ़ चढ़ कर।

उपभोगविभावो यथा—

> 'चक्षुर्लुप्तमषीकणं कवलितस्ताम्बूलरागोऽधरे
> विश्रान्ता कवरी कपोलफलके लुप्तेव गात्रद्युतिः।
> जाने सम्प्रति मानिनि प्रणयिना कैरप्युपायक्रमै-
> र्भग्नो मानमहातरुस्तरुणि ते चेतःस्थलीवर्धितः॥'

उपभोग-विभाव, जहाँ नायक या नायिका के उपभोग विभाव के द्वारा उनकी रति की व्यञ्जना हो। जैसे निम्न पद्य में—

कोई नायिका नायक से रुष्ट थी। पर रात के समय नायकने बड़ी मान-मनौती करके उसका गुस्सा हल्का कर दिया। फलतः दोनों रतिक्रीडा में भी प्रवृत्त हुए। सुबह नायिका की सखी ने उसके शरीर पर रति के चिह्न देखे, तथा यह अनुमान लगा लिया कि नायक ने उसे खुश कर लिया है। इसी बात को सखी नायिका से कह रही है।

हे तरुणि, तुम्हारे आँखों का कज्जल-कण लुप्त हो चुका है, तुम्हारी आँखों का सारा कज्जल तो नहीं, पर उसका कुछ हिस्सा मिट गया है, यह रति से ही हो सकता है। तुम्हारे नीचे के ओठ (*अधर, न कि ऊपर का ओठ*) *की ताम्बूल के कारण उत्पन्न ललाई जैसे किसी ने निगल ली है*, अर्थात् अधर का ताम्बूलराग भी नष्ट हो गया है। तुम्हारी कवरी (केशपाश) कपोल पर इस तरह पड़ी है, जैसे थक गई हो (रति के कारण तुम ही नहीं, तुम्हारी कवरी भी थक गई); तुम्हारे केश अस्तव्यस्त हैं। और तुम्हारे शरीर की कान्ति भी जैसे नष्ट हो गई है, *शरीर की शोभा भी मन्द पड़ गई है। ये सारी बातें बताती हैं कि रात को तुमने नायक के साथ सुरतक्रीडा की है।* पर तुम तो बड़ा मान किये बैठी थी न? ऐसा प्रतीत होता है, मेरा यह अनुमान है कि हे मानिनि, तुम्हारे प्रियतम ने अनेक उपायों द्वारा, तुम्हारे चित्त की स्थली पर बढा हुआ (उगा हुआ) मान का बड़ा वृक्ष आखिर तोड़ ही गिराया। इन सारे *चिह्नों से यह स्पष्ट है कि नायक ने किसी न किसी तरह तुम्हारे गुस्से को दूर ही दिया।*

प्रमोदात्मा रतिर्यथा मालतीमाधवे—

> 'जगति जयिनस्ते ते भावा नवेन्दुकलादयः
> प्रकृतिमधुराः सन्त्येवान्ये मनो मदयन्ति ये।
> मम तु यदियं याता लोके विलोचनचन्द्रिका
> नयनविषयं जन्मन्येकः स एव महोत्सवः॥'

शृङ्गार के लक्षण में यह बताया गया है कि रति स्थायी भाव में आत्मा (हृदय) प्रसन्न रहता है, वह उल्लसित होता है। अब रति भाव की इसी विशेषता को उदाहृत करते हैं। मालती को देखने पर माधव की दशा के वर्णन के द्वारा रति के इस प्रमोदात्मक को स्पष्ट करते हैं:—

मन को प्रसन्न करने वाले, उसमें मद का सञ्चार करने वाले कई सुन्दर भाव संसार में देखे जाते हैं। नवीन चन्द्रमा की कला जैसे स्वाभाविक चातुर्य वाले अनेकों दूसरे भाव उत्कृष्ट हैं, जिनसे लोगों का मन मस्त हो उठता है। लोग उन्हें देखकर अपनी आँखों का उत्सव

मनाते हैं। पर मेरे विषय में बात ही दूसरी है। मेरे दृष्टिपथ में तो चन्द्रिका के समान नेत्रों को आह्लादित करने वाली यह मालती अवतरित हो गई है। इसलिए मालती का नयनों का विषय बनना मेरा बहुत बड़ा सौभाग्य है। मेरी तो ऐसी धारणा है कि इस जन्म में मेरे लिए केवल एक ही बात महान् उत्सव की रही है, और वह है मालती का मेरी आँखों के मार्ग से गुजरना।

युवतिविभावो यथा मालविकाग्निमित्रे—

'दीर्घाक्षं शरदिन्दुकान्तिवदनं बाहू नतावंसयोः
संक्षिप्तं निबिडोन्नतस्तनमुरः पार्श्वे प्रमृष्टे इव।
मध्यः पाणिमितो नितम्बि जघनं पादावरालाङ्गुली
छन्दो नर्तयितुर्यथैव मनसः सृष्टं तथाऽस्या वपुः॥'

युवतिविभाव, जहाँ नायिका के यौवन या उसके युवतित्व का वर्णन किया जाय। जैसे मालविकाग्निमित्र नाटक में नाचती हुई मालविका की मुद्रा का तथा उसके द्वारा स्पष्ट दिखाई पड़ते उसके यौवन का वर्णन—

नाचती हुई मालविका को देख कर अग्निमित्र कह रहा है—इसका मुख शरद् के चन्द्रमा के समान सुन्दर है, जिसमें लम्बी-लम्बी आँखें हैं। इसके दोनों हाथ कन्धों के पास से झुके हुए हैं, तथा इसका वक्षःस्थल संकुचित हो रहा है, जिसमें निबिड (घने) तथा उठे हुए स्तन दिखाई देते हैं, एवं इसके दोनों पार्श्वभाग सिमटे से हैं। मालविका का मध्यभाग (कमर) इतना पतला है, कि पाणि (मुट्ठी) से मापा जा सकता है, इसका जघनस्थल नितम्ब के भारीपन के कारण उभरा हुआ है, तथा इसके दोनों पैरों की अङ्गुलियाँ गति की (यौवनाविर्भाव के कारण, या नृत्य के कारण जनित) अस्तव्यस्तता से कुटिल (टेढ़ी) हो रही हैं। इसके सौन्दर्य को देख कर प्रसन्नता तथा खुशी से नाचते हुए मन का जैसा अभिप्राय होता है, ठीक उसी अभिप्राय के अनुरूप इसका शरीर बना हुआ है।

यूनोर्विभावो यथा मालतीमाधवे—

'भूयो भूयः सविधनगरीरथ्यया पर्यटन्तं
दृष्ट्वा दृष्ट्वा भवनवलभीतुङ्गवातायनस्था।
साक्षात्कामं नवमिव रतिर्मालती माधवं य-
द्गाढोत्कण्ठा लुलितललितैरङ्गकैस्ताम्यतीति॥'

दोनों युवकों—नायकनायिकाओं—का विभाव, जहाँ दोनों के यौवन का वर्णन किया जाय। जैसे मालतीमाधव के प्रथम अङ्क का निम्न पद्य, जहाँ माधव तथा मालती दोनों के यौवन का वर्णन किया गया है:—

समीप की गली में बार-बार घूमते हुए, साक्षात् अभिनव काम के समान सुन्दर माधव को महल के ऊँचे छज्जे से बार-बार देख कर रति के समान सुन्दर मालती अत्यधिक उत्कण्ठित होकर अपने कोमल तथा सुन्दर अङ्गों से पीड़ित रहती है। सुन्दर माधव को देख-देख कर सुन्दरी मालती उसके प्रति आकृष्ट हो गई है, तथा उसकी प्राप्ति के लिए उत्कण्ठित है, तथा इस उत्कण्ठा के कारण उसके अङ्ग विरहपीड़ा से पीड़ित हैं।

अन्योन्यानुरागो यथा तत्रैव—

'कान्त्या मुहुर्वलितकन्धरमाननं त-
दावृत्तवृन्तशतपत्रनिभं वहन्त्या।

दिग्धोऽमृतेन च विषेण च पक्ष्मलाक्ष्या
गाढं निखात इव मे हृदये कटाक्षः ॥'

नायक तथा नायिका का परस्पर अनुराग, जैसे वहीं मालतीमाधव में।

माधव अपने मित्र मकरन्द से कह रहा है। टेढ़ी टहनी वाले कमल के समान सुन्दर टेढ़ी गर्दन वाले मुख को धारण कर, जाती हुई उस सुन्दर नेत्रों वाली मालती ने एक साथ अमृत तथा विष से बुझा हुआ कटाक्ष (बाण) जैसे मेरे हृदय में खूब गहरा गड़ा दिया है। जब टेढ़ी गर्दन करके चलती हुई मालती ने मेरी तरफ तिरछी दृष्टि से देखा, तो मुझे आनन्द भी हुआ, तथा पीड़ा भी, मुझे एक साथ अमृत तथा विष से बुझे बाण की चोट का अनुभव हुआ, जैसे मेरा हृदय एक मधुमय पीड़ा का अनुभव कर रहा हो।

मधुराङ्गविचेष्टितं यथा तत्रैव—

'स्तिमितविकसितानामुल्लसद्भ्रूलतानां
मसृणमुकुलितानां प्रान्तविस्तारभाजाम्।
प्रतिनयननिपाते किञ्चिदाकुञ्चितानां
विविधमहमभूवं पात्रमालोकितानाम् ॥'

जहाँ की मधुर चेष्टायें, जैसे मालतीमाधव में ही मालती की मधुर चेष्टाओं का वर्णन—

मालती के दृष्टिपातों का मैं अनेक प्रकार से पात्र बना। मेरी ओर कई ढङ्ग से मालती ने देखा। मालती के ये दृष्टिपात कभी बन्द होते थे, और फिर विकसित हो जाते थे, उसकी भौंहों की लतायें सुशोभित हो रही थीं, तथा उसके ये नेत्र कोमल, स्निग्ध तथा कुछ-कुछ बन्द थे। मालती के ये नेत्रपात कोनों पर विस्तार वाले थे, अर्थात् कानों तक फैले हुए नेत्रों के कोनों (कनखियों) से वह देखती थी, एवं प्रत्येक नयनपात के बाद वे कुछ-कुछ आकुञ्चित हो जाते (सिमट जाते) थे। मालती ने भौंहें नचा कर दीर्घ नेत्रों के द्वारा स्निग्ध तथा कभी मन्द होते एवं कभी विकसित होते कटाक्षपात को नाना प्रकार से मेरी ओर किया।

ये सत्त्वजाः स्थायिन एव चाष्टौ
त्रिंशत्त्रयो ये व्यभिचारिणश्च।
एकोनपञ्चाशदमी हि भावा
युक्त्या निबद्धाः परिपोषयन्ति। (स्थायिनम्)
आलस्यमौग्र्यं मरणं जुगुप्सा
तस्याश्रयाद्वैतविरुद्धमिष्टम् ॥ ४६ ॥

त्रयस्त्रिंशद्व्यभिचारिणोऽष्टौ स्थायिनोऽष्टौ सात्त्विकाश्चेत्येवमेकोनपञ्चाशत्। युक्त्याऽङ्गत्वेनोपनिबध्यमाना शृङ्गारं सम्पादयन्ति। आलस्यौग्र्यजुगुप्सामरणादीन्येकालम्बनविभावाश्रयत्वेन साक्षादङ्गत्वेन चोपनिबध्यमानानि विरुध्यन्ते। प्रकारान्तरेण चाविरोधः प्राक् प्रतिपादित एव।

आठ सात्त्वज (सात्त्विक) भाव, आठ स्थायी भाव, और तैंतीस व्यभिचारी भावों—इन ४९ भावों–का काव्य में युक्तिपूर्वक निबन्धन शृङ्गार की पुष्टि करता है। शृङ्गार के अङ्ग रूप में इन ४९ भावों का युक्तियुक्त निबन्धन हो सकता है। किन्तु इस विषय में एक बात ध्यान रखने की है कि आलस्य, औग्र्य तथा मरण नामक सञ्चारी तथा

जुगुप्सा नामक स्थायी का एक ही आलम्बन विभाव को आश्रय बनाकर किया गया उपनिबन्धन विरोधी होता है।

तेंतीस व्यभिचारी, आठ स्थायी तथा आठ सात्त्विक भाव ये ४९ भाव हैं। युक्ति का अर्थ है अङ्गरूप में उपनिबद्ध होना। अङ्गरूप में निबद्ध होने पर ये शृङ्गार रस की परिपुष्टि करते हैं। आलस्य, औग्र्य, मरण, जुगुप्सा आदि का एक ही आलम्बन विभाव को आश्रय बनाकर निबन्धन, अथवा इन्हें रस का साक्षात् अङ्ग बना देना शृङ्गार रस के विरुद्ध पड़ता है। अन्य प्रकार से निबन्धन करने पर विरोध नहीं होता, इसे हम बता चुके हैं।

विभागस्तु (शृङ्गारस्य)—

अयोगो विप्रयोगश्च सम्भोगश्चेति स त्रिधा।

अयोगविप्रयोगविशेषत्वाद्विप्रलम्भस्यैतत्सामान्याभिधायित्वेन विप्रलम्भशब्द उपचरितवृत्तिर्मा भूदिति न प्रयुक्तः, तथा हि—दत्त्वा सङ्केतमप्राप्तेऽवध्यतिक्रमे नायिकान्तरानुसरणाच्च विप्रलम्भशब्दस्य मुख्यप्रयोगो वञ्चनार्थत्वात्।

शृङ्गार का विवेचन कर लेने पर अब शृङ्गार के विभाजन का उल्लेख करते हैं —

शृङ्गार रस तीन प्रकार का होता है:—अयोग, विप्रयोग तथा संयोग।

विप्रलम्भ शब्द का प्रयोग इसलिए नहीं किया गया है कि विप्रलम्भ सामान्यतः नायक व नायिका के संयोगाभाव को ही अभिहित करता है। उसके दो विशेष प्रकार पाये जाते हैं—अयोग (जो कि नायक-नायिका में पूर्वानुराग की अवस्था में पाया जाता है), तथा विप्रयोग। विप्रलम्भ शब्द इतना सामान्य है कि कहीं उसका उपचार के द्वारा दूसरा अर्थ 'प्रवञ्चनात्मक' अर्थ न ले लिया जाय, इसलिए भी अयोग तथा विप्रयोग का अलग अलग बताया गया है। जैसा कि प्रसिद्ध है विप्रलम्भ शब्द का प्रयोग, सङ्केत स्थल पर आने का वादा करके नायक के न पहुँचने पर तथा नायिका के वहाँ पहुँचने पर नायककृत प्रवञ्चना के लिए देखा जाता है। विप्रलम्भ का मुख्य प्रयोग यही है। इसीलिए वंचिता स्त्री को विप्रलब्धा कहते हैं। अतः कहीं यह अर्थ न ले लिया जाय, इसलिए 'विप्रलम्भ' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है।

तत्रायोगोऽनुरागेऽपि नवयोरेकचित्तयोः ॥ ५० ॥
पारतन्त्र्येण दैवाद्वा विप्रकर्षादसङ्गमः।

योगोऽन्योन्यस्वीकारस्तदभावस्त्वयोगः—पारतन्त्र्येण विप्रकर्षाद्दैवपित्राद्यायत्ततया सागरिकामालत्योर्वत्सराजमाधवाभ्यामिव दैवाद्गौरीशिवयोरिवासमागमोऽयोगः।

अयोग शृङ्गार की स्थिति यह है, जहाँ दो नवयुवकों (नायक-नायिका) का एक दूसरे के प्रति परस्पर अनुराग होता है, उनका चित्त एक दूसरे के प्रति आकृष्ट रहता है, किन्तु परतन्त्रता (पिता, माता आदि के कारण), या दैव, के कारण वे एक दूसरे से दूर रहते हैं, उनका सङ्गम नहीं हो पाता। अयोग शृङ्गार की स्थिति में दोनों में एक दूसरे के प्रति पूर्वानुराग की स्थिति होती है, पर उनका मिलन किन्हीं कारणों से नहीं हो पाता।

योग का अर्थ है नायक-नायिका का परस्पर समागम। इस समागम के अभाव को ही अयोग कहते हैं। यह अयोग या तो पिता-आदि के आधीन होने के कारण, परतन्त्र होने के कारण होता है, पित्रादि की अनुमति न होने से यह समागम नहीं हो पाता। जैसे रत्नावली नाटिका में सागरिका देवी वासवदत्ता के आधीन है, अतः वहाँ दोनों का योग वासवदत्ता की परतन्त्रता

के कारण नहीं हो पाता । मालतीमाधव में मालती पिता के आधीन है, तथा उसके पिता की माधव के कुल से शत्रुता है, अतः यहाँ भी पारतन्त्र्य के कारण प्रारम्भ में अयोग दशा ही रहती है । दैव के कारण नायक-नायिका के अयोग का उदाहरण शिव तथा पार्वती के अयोग भी ले सकते हैं, जहाँ शिव के प्रतिज्ञा कर लेने के कारण दैववश दोनों का समागम नहीं हो पाता, जैसा कि कुमारसम्भव के प्रथम सर्ग तक उपनिबद्ध हुआ है ।

दशावस्थः स तत्रादावभिलाषोऽथ चिन्तनम् ॥ ५१ ॥
स्मृतिर्गुणकथोद्वेगप्रलापोन्मादसञ्ज्वराः ।
जडता मरणं चेति दुरवस्थं यथोत्तरम् ॥ ५२ ॥
अभिलाषः स्पृहा तत्र कान्ते सर्वाङ्गसुन्दरे ।
दृष्टे श्रुते वा तत्रापि विस्मयानन्दसाध्वसाः ॥ ५३ ॥
साक्षात्प्रतिकृतिस्वप्नच्छायामायासु दर्शनम् ।
श्रुतिर्व्याजात्सखीगीतमागधादिगुणस्तुतेः ॥ ५४ ॥

इस अयोग शृङ्गार की दस अवस्थाएँ होती हैं —अभिलाष, चिन्तन, स्मृति, गुणकथा, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, सज्वर, जडता तथा मरण । इनकी प्रत्येक उत्तर अवस्था पहले से अधिक तीव्र होती है।अभिलाष वह अवस्था है जब कि सर्वाङ्गसुन्दर नायक के प्रति नायिका की समागमरूप इच्छा उत्पन्न होती है।यह इच्छा उसको साक्षात् देखने पर या उसके चित्र को देखने पर, अथवा उसके विषय में सुनने पर होती है । इस दशा में आश्चर्य, आनन्द, सम्भ्रम आदि भावों की प्रतीति होती । नायक या नायिका का दर्शन साक्षात् रूप से, चित्र के द्वारा, स्वप्न के द्वारा या इन्द्रजाल आदि माया के द्वारा हो सकता है । अथवा वह सखियों आदि के गीत, या मागध आदि के गुणस्तवन के सुनने के बहाने से भी हो सकता है ।

अभिलाषो यथा शाकुन्तले—

'असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः ।
सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ॥'

अभिलाष का उदाहरण, जैसे अभिज्ञान शाकुन्तल में शकुन्तला को देखने पर दुष्यन्त की उसके प्रति इच्छा हो जाती है —

यह सुन्दरी तापसकन्या निस्संदेह क्षत्रिय के द्वारा परिणयन के योग्य है, क्योंकि मेरा पवित्र मन इसके प्रति अभिलाष युक्त हो रहा है । सन्देह के स्थलों में उत्कृष्ट तथा पवित्र चरित्र वाले व्यक्तियों की अन्तःकरण-वृत्तियाँ ही प्रमाण होती हैं । मुझे अब तक इसके विषय में यह सन्देह था कि यह ब्राह्मणकन्या है या क्षत्रियकन्या है । यदि यह ब्राह्मणकन्या होती, तो क्षत्रिय इससे विवाह कर नहीं सकता, पर मेरा मन इसके प्रति अभिलाष युक्त हो रहा है। मेरा मन अत्यधिक पवित्र है, अतः मेरा मन इस बात का प्रमाण है कि यह क्षत्रिय के द्वारा विवाह करने योग्य अवश्य है।

विस्मयो यथा—

'स्तनावालोक्य तन्वङ्ग्याः शिरः कम्पयते युवा ।
तयोरन्तरनिर्मग्नां दृष्टिमुत्पाटयन्निव ॥'

विस्मय (आश्चर्य) का उदाहरण, जैसे—
उस कोमल अङ्गों वाली सुन्दरी के स्तनों को देखकर (वह) युवक सिर को कँपाने

लगता है, मानो उसके स्तनों के बीच में फँसी हुई अपनी दृष्टि को जबर्दस्ती बाहर निकाल रहा हो। इस नायिका के स्तनों का विस्तार-भार तथा उसके द्वारा अनुमित काठिन्य की कल्पना कर, तथा उनके आलिङ्गनयोग्यत्व को जान कर युवक अत्यधिक आश्चर्य चकित हो जाता है, वह आश्चर्य से सिर हिलाने लगता है।

आनन्दो यथा विद्धशालभञ्जिकायाम्—

> 'सुधाबद्धग्रासैरुपवनचकोरैः कवलितां
> किरञ्ज्योत्स्नामच्छां लवलिफलपाकप्रणयिनीम्।
> उपप्राकाराग्रं प्रहिणु नयने तर्कय मना-
> गनाकाशे कोऽयं गलितहरिणः शीतकिरणः॥'

आनन्द, जैसे राजशेखर की विद्धशालभञ्जिका नाटिका में नायक नायिका को देखकर आनन्दित हो जाता है। इसकी व्यञ्जना नायक की इस उक्ति से हो रही है:—

जरा इस परकोटे के अगले हिस्से पर तो दृष्टि डालो। कुछ अनुमान तो लगाओ कि आकाश के बिना ही, इस परकोटे पर बिना हिरन वाला (जिसका हिरण का कलङ्क गल गया है), यह चन्द्रमा कौन है। यह चन्द्रमा चारों ओर स्वच्छ चाँदनी को छिटका रहा है, और लवलीलता के पके फलों के समान श्वेत इस चन्द्रिका को अमृत का ग्रास समझ कर ग्रहण करने वाले, उपवन के चकोरों के द्वारा उसका पान किया गया है।

यहाँ नायिका के चन्द्रमा के समान सुन्दर मुखमण्डल को देखकर नायक यह तर्क कर रहा है कि आकाश के बिना ही परकोटे पर चन्द्रमा कैसे हो सकता है, और वह भी फिर निष्कलङ्क चन्द्रमा। नायिका के मुख को चन्द्रमा समझ कर तथा उसकी कान्ति को चन्द्रिका समझ कर उपवन के चकोर उसकी ओर टकटकी लगाये हैं, और उसकी कान्ति का पान कर रहे हैं, इसके द्वारा भ्रान्तिमान् अलङ्कार की प्रतीति होती है।

साध्वसं यथा कुमारसम्भवे—

> 'तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसाङ्गयष्टि-
> र्निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती।
> मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः
> शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ॥'

सम्भ्रम, जैसे शिव को सामने देखकर कुमारसम्भव में वर्णित पार्वती की दशा—

शिव को अपने सामने देखकर सरस अङ्गों वाली हिमालय की पुत्री पार्वती काँपने लग गई। उस स्थान से चले जाने के लिए उठाये हुए एक पैर को धारण करती हुई पार्वती इतनी सम्भ्रान्त हो गई कि वह मार्ग में पर्वत के द्वारा रोक दिये जाने के कारण चञ्चल तथा व्याकुल नदी के समान न तो वहाँ से जा ही सकी न वहाँ ठहर ही सकी।

यथा वा—

> 'व्याहृता प्रतिवचो न सन्दधे गन्तुमैच्छदवलम्बितांशुका।
> सेवते स्म शयनं पराङ्मुखी सा तथापि रतये पिनाकिनः॥'

अथवा, जैसे कुमारसम्भव में ही पार्वती की इस अवस्था का वर्णन—

जब शङ्कर उसे पुकारते थे, तो वह उत्तर ही नहीं देती थी, जब शङ्कर उसके आँचल को पकड़ लेते थे, तो वह उठकर जाना चाहती थी, और एक शय्या पर सोते समय वह दूसरी ओर मुँह करके सोती थी। इस तरह यद्यपि वह शङ्कर की रतिक्रीडा में विरोध ही करती थी, किन्तु फिर भी इन क्रियाओं के द्वारा शङ्कर में रति (अनुराग) को ही उत्पन्न करती थी।

सानुभावविभावास्तु चिन्ताद्याः पूर्वदर्शिताः ।

गुणकीर्तनं तु स्पष्टत्वान्न व्याख्यातम् ।

चिन्ता आदि का तो हम अनुभाव व विभावों के साथ पूरी तरह वर्णन पहले ही कर चुके हैं। आचार्यों ने प्रायः इन्हीं दस अवस्थाओं का निदर्शन किया है। वैसे इन अवस्थाओं के अनेक प्रकार देखे जा सकते हैं और उनका वर्णन महाकवियों के प्रबन्धों में मिल सकता है।

यहाँ गुणकीर्तन का अलग से लक्षण या व्याख्या नहीं है, इसका कारण यह है कि वह स्पष्ट है। महाकवियों के प्रबन्धों में जो दूसरी दशायें पाई जाती है, उनका दिङ्मात्र निदर्शन यहाँ किया जाता है।

दशावस्थत्वमाचार्यैः प्रायोवृत्त्या निदर्शितम् ॥ ५५ ॥
महाकविप्रबन्धेषु दृश्यते तदनन्तता ।

दिङ्मात्रं तु—

दृष्टे श्रुतेऽभिलाषाच्च किं नौत्सुक्यं प्रजायते ॥ ५६ ॥
अप्राप्तौ किं न निर्वेदो ग्लानिः किं नातिचिन्तनात् ।

शेषं प्रच्छन्नकामितादि कामसूत्रादवगन्तव्यम् ।

क्या प्रिय के दर्शन या श्रवण से जनित अभिलाषा से औत्सुक्य पैदा नहीं होता, प्रिय के न मिलने पर निर्वेद तथा उसके विषय में अत्यधिक चिन्तन से ग्लानि उत्पन्न नहीं होती क्या? इस तरह अभिलाष दशा में औत्सुक्य, निर्वेद तथा ग्लानि की अवस्था भी पाई जाती है।

अयोग की दशा में छिप कर अनुराग किया जाता है, तथा दूसरी जो बातें पाई जाती हैं, उनका ज्ञान वात्स्यायन के कामसूत्र से प्राप्त करना चाहिए।

अथ विप्रयोगः—

विप्रयोगस्तु विश्लेषो रूढविस्रम्भयोर्द्विधा ॥ ५७ ॥
मानप्रवासभेदेन, मानोऽपि प्रणयेर्ष्ययोः ।

प्राप्तयोरप्राप्तिर्विप्रयोगस्तस्य द्वौ भेदौ—मानः प्रवासश्च । मानविप्रयोगोऽपि द्विविधः—प्रणयमान ईर्ष्यामानश्चेति ।

विप्रयोग या वियोग शृङ्गार में नायक तथा नायिका का समागम नहीं होता। यह समागमाभाव एक बार समागम हो लेने के बाद की दशा का है। यह वियोग या तो बहुत अधिक (रूढ) हो सकता है, या खाली प्रेम का ही एक बहाना हो सकता है। इसके अनुसार यह दो तरह का हो जाता है प्रवास रूप वियोग, जो रूढ होता है, जब कि नायक विदेश में होता है, तथा मानरूप वियोग, जब प्रियकृत अपराध के कारण नायिका मान किये बैठी रहती है। मानपरक वियोग या तो प्रेम के कारण होता है, या ईर्ष्या के कारण।

मिले हुए नायक नायिका का अलग हो जाना विप्रयोग (वियोग) कहलाता है। इसके दो भेद हैं:—मान तथा प्रवास। मान भी दो तरह का होता है—प्रणयमान तथा ईर्ष्यामान।

तत्र प्रणयमानः स्यात्कोपावसितयोर्द्वयोः ॥ ५८ ॥

---

१. 'कोपावेशितयो' इति पाठान्तरम् ।

प्रेमपूर्वको वशीकारः प्रणयः, तद्भङ्गो मानः प्रणयमानः स च द्वयोर्नायकयोर्भवति ।
तत्र नायकस्य यथोत्तररामचरिते—

'अस्मिन्नेव लतागृहे त्वमभवस्तन्मार्गदत्तेक्षणः
सा हंसैः कृतकौतुका चिरमभूद्गोदावरीसैकते ।
आयान्त्या परिदुर्मनायितमिव त्वां वीक्ष्य बद्धस्तया
कातर्यादरविन्दकुड्मलनिभो मुग्धः प्रणामाञ्जलिः ॥'

नायक नायिका में से एक के या दोनों के कोप युक्त होने पर, क्रुद्ध रहने पर प्रणयमान वाला विप्रयोग होता है।

प्रेमपूर्वक दूसरे को वश में करना प्रणय कहलाता है। इस प्रणय को भङ्ग करने वाला मान प्रणयमान कहलाता है। वह नायक तथा नायिका में पाया जाता है। नायक के प्रणयमान का उदाहरण, जैसे उत्तररामचरित के इस पद्य में राम का मान—

वनदेवी वासन्ती राम को पुरानी बातें याद दिला रही है। ठीक इसी लताकुञ्ज में तुम सीता के मार्ग को देखते हुए, उसकी प्रतीक्षा कर रहे थे। उधर गोदावरी के तीर पर गई हुई सीता, नदी की रेती पर हंसों से खेलने लग गई थी, और इसीलिए देर हो गई थी। जब वह लौटकर आई तो उसने तुम्हें इस तरह देखा, जैसे तुम क्रुद्ध से हो। इसलिए तुम्हें प्रसन्न करने के लिए उस सीता ने कातरता के साथ कमल की कली के समान हाथों की अञ्जलि बांध कर तुम्हें भोले ढङ्ग से प्रणाम किया था।

नायिकाया यथा श्रीवाक्पतिराजदेवस्य—

'प्रणयकुपितां दृष्ट्वा देवीं ससम्भ्रमविस्मित-
स्त्रिभुवनगुरुर्भीत्या सद्यः प्रणामपरोऽभवत् ।
नमितशिरसो गङ्गालोके तया चरणाहता-
ववतु भवतस्त्र्यक्षस्यैतद्विलक्षमवस्थितम् ॥'

नायिका का प्रणयमान, जैसे श्रीवाक्पतिराजदेव के इस पद्य में—

तीनों लोकों के पूज्य महादेव ने जब देवी पार्वती को प्रणयमान के कारण क्रुद्ध देखा, तो वे सम्भ्रम तथा आश्चर्य से युक्त होकर, डर के मारे सिर झुका कर एकदम प्रणाम करने लगे, जिससे पार्वती प्रसन्न हो जाय। पर महादेव के सिर को नीचा कर लेने पर पार्वती ने गङ्गा (पार्वती की सौत) को देख लिया। तब तो वह और अधिक क्रुद्ध हो गई, तथा उसने अपना चरण महादेव [illegible] सिर पर गिराया। इससे महादेव बड़े लज्जित हुए। तीन आँखों वाले महादेव का यह लज्जित होना आप लोगों की रक्षा करे।

उभयः प्रणयमानो यथा—

'पणअकुविआण दोह्ण वि अलिअपसुत्ताण माणइन्ताणम् ।
णिच्चलणिरुद्धणीसासदिण्णअण्णाण को मल्लो ॥'

('प्रणयकुपितयोर्द्वयोरप्यलीकप्रसुप्तयोर्मानवतोः ।
निश्चलनिरुद्धनिःश्वासदत्तकर्णयोः को मल्लः ॥')

नायक तथा नायिका दोनों का प्रणयमान, जैसे इस गाथा में—

बताओ तो सही, प्रणयमान किये बैठे, झूठे ही सोये हुए, दोनों मानी प्रिय तथा प्रिया में, जिनने बिना हिले डुले अपने श्वास रोक रक्खे हैं, तथा कानों को एक दूसरे के निःश्वास

को सुनने के लिए, यह जानने के लिए वह सोया है या नहीं, खड़े कर रखे हैं—कौन अधिक मल्ल (जोरदार) है। नायक तथा नायिका दोनों एक सा मान किये बैठे हैं तथा झूठमूठ सो रहे हैं। इस तरह का मान करने में जोरदार कौन है यह निर्णय करना कठिन है, दोनों ही मान करने में बड़े प्रबल हैं।

> स्त्रीणामीर्ष्याकृतो मानः कोपोऽन्यासङ्गिनि प्रिये।
> श्रुते वाऽनुमिते दृष्टे, श्रुतिस्तत्र सखीमुखात् ॥ ५९ ॥
> उत्स्वप्नायितभोगाङ्कगोत्रस्खलनकल्पितः।
> त्रिधाऽनुमानिको, दृष्टः साक्षादिन्द्रियगोचरः ॥ ६० ॥

ईर्ष्यामानः पुनः स्त्रीणामेव नायिकान्तरसङ्गिनि स्वकान्ते उपलब्धे सत्यन्यासङ्गः श्रुतो वाऽनुमितो दृष्टो वा (यदि) स्यात्। तत्र श्रवणं सखीवचनात्तस्या विश्वास्यत्वात्।

प्रिय के किसी दूसरी नायिका के प्रति आसक्त होने पर स्त्रियों में जो क्रोध होता है, वह ईर्ष्याकृत मान होता है। यह नायक की अन्यासक्ति या तो स्वयं आँखों से देखी हो, अथवा वह अनुमान कर ले (नायक के शरीर पर परस्त्री सम्भोगादि चिह्न आदि देखकर इसका अनुमान कर ले) अथवा किसी के मुख से सुन ले। इस सम्बन्ध में प्रिय की अन्यासक्ति की श्रुति सखी के मुँह से हो सकती है।

प्रिय की अन्यासक्ति का अनुमान तीन तरह से हो सकता है—या तो नायक स्वप्न में उस अन्य नायिका का नाम ले ले, या फिर नायिका उसके शरीर पर अन्य स्त्री भोग के चिह्न देख ले, या नायक गलती से ज्येष्ठा को पुकारते समय उस कनिष्ठा का नाम ले बैठे (गोत्र स्खलित कर बैठे)। उसका अन्य नायिका से प्रेम दृष्टरूप में तब होगा कि जब कि नायिका स्वयं अपने आँखों से देखले, या कानों से उन्हें प्रेमालाप करते हुए सुन ले।

ईर्ष्यामान केवल स्त्रियों में ही पाया जाता है (नायकों में नहीं)। नायक को किसी दूसरी नायिका को प्रेम करते देखकर, सुनकर, या अनुमान करके यह ईर्ष्यामान होता है। इसमें सुनना सखी के वचनों से होगा, क्योंकि सखी विश्वस्त होती है, इसलिए झूठ नहीं कह सकती।

यथा ममैव—

> 'सुभ्रु त्वं नवनीतकल्पहृदया केनापि दुर्मन्त्रिणा
> मिथ्यैव प्रियकारिणा मधुमुखेनास्मासु चण्डीकृता।
> किं त्वेतद्विमृश क्षणं प्रणयिनामेणाक्षि कस्ते हितः
> किं धात्रीतनया वयं किमु सखी किंवा किमस्मत्सुहृत् ॥'

मानवती नायिका को नायक कह रहा है। हे सुन्दर भौंहें वाली सुन्दरी, बता तो सही बुरी सलाह देने वाले किस व्यक्ति ने जो बाहर से मीठी मीठी बातें करने वाला है, और झूठे ही तुम्हारा प्रिय करने वाला है, तुम्हारे प्रिय कार्य करने का दिखावा करता है, मक्खन के समान कोमल हृदय वाली तुम्हें हमारे प्रति मानवती (चण्डी) बना दिया है। जरा तुम यह तो सोच लो, कि तुम्हारे सारे प्रिय व्यक्तियों में तुम्हारा सच्चा हितैषी कौन है—तुम्हारा सच्चा हितैषी, तुम्हारी धाय की लड़की है, या हम हैं, या फिर तुम्हारी सखी है, या हमारे मित्र।

उत्स्वप्नायितो यथा रुद्रस्य—

> 'निर्मग्नेन मयाऽम्भसि स्मरभरादाली समालिङ्गिता
> केनालीकमिदं तवाद्य कथितं राधे मुधा ताम्यसि।

इत्युत्स्वप्नपरम्परासु शयने श्रुत्वा वचः शार्ङ्गिणः

सव्याजं शिथिलीकृतः कमलया कण्ठग्रहः पातु वः ॥'

उत्स्वप्नायित, जहाँ नायक स्वप्न में परनायिका का नाम ले बैठे, और नायिका उसे सुन ले। जैसे, रुद्र कवि के इस पद्य में—

पानी में डूबे हुए मैंने काम के बोझे के कारण किसी तरह उस सखी का आलिङ्गन कर लिया था, हे राधे, तुमसे यह झूठी बात कि मेरा प्रेम उस सखी से है, किसने कह दी, तुम बिना बात ही क्यों दुःखी हो रही हो। निद्रा के समय स्वप्न में कहे गये विष्णु (कृष्ण) इन वचनों को सुनकर किसी न किसी बहाने से लक्ष्मी (रुक्मिणी) ने अपने हाथ को उनके कण्ठ से हटा लिया, कण्ठग्रह को शिथिल कर दिया। इस तरह से कमला के द्वारा शिथिलित विष्णु का कण्ठग्रह तुम्हारी रक्षा करे।

भोगाङ्कानुमितो यथा—

'नवनखपदमङ्गं गोपयस्यंशुकेन

स्थगयसि पुनरोष्ठं पाणिना दन्तदष्टम्।

प्रतिदिशमपरस्त्रीसङ्गशंसी विसर्पन्

नवपरिमलगन्धः केन शक्यो वरीतुम्॥'

भोगाङ्कानुमित अन्यासक्ति, जैसे शिशुपालवध के एकादश सर्ग के इस पद्य में—

कोई नायिका अपराधी नायक के शरीर पर परस्त्री सम्भोग के चिह्न देखकर उसे झिड़कती कह रही है। तुम इस वस्त्र से नायिका के नखक्षत से युक्त अङ्ग को छिपा रहे हो; तथा उसके दाँतों से काटे हुए अधरोष्ठ को हाथ से ढक रहे हो। पर यह तो बताओ, अन्य स्त्री सम्भोग की सूचना देता हुआ, चारों दिशाओं में फैलता हुआ यह नवीन सुगन्ध किस ढङ्ग से छिपाया जा सकता है। यह गन्ध ही बता रहा है कि तुम अन्य नायिका का उपभोग करके आ रहे हो।

गोत्रस्खलनकल्पितो यथा—

'केलीगोत्तक्खलणे विकुप्पए केअवं अआणन्ती।

दुट्ठ उअसु परिहासं जाआ सच्चं विअ परुण्णा॥'

('केलीगोत्रस्खलने विकुप्यति कैतवमजानन्ती।

दुष्ट पश्य परिहासं जाया सत्यमिव प्ररुदिता॥')

गोत्रस्खलन के द्वारा अनुमित अन्यासक्ति, जैसे निम्न गाथा में—

कोई नायिका नायक के गोत्रस्खलन को सुनकर रोने लगी है। यह देखकर सखी कह रही है। हे अन्यासक्त दुष्ट, मजाक तो देखो, तुम्हारी पत्नी सचमुच की तरह रो रही है क्रीडा के समय तुम्हारे गोत्रस्खलन के कारण, छल को न जानती हुई वह मान कर रही है।

दृष्टो यथा श्रीमुञ्जस्य—

'प्रणयकुपितां दृष्ट्वा देवीं ससम्भ्रमविस्मित-

स्त्रिभुवनगुरुर्भीत्या सद्यः प्रणामपरोऽभवत्।

नमितशिरसो गङ्गालोके तया चरणाहता-

ववतु भवतस्त्र्यक्षस्यैतद्विलक्षमवस्थितम्॥'

दृष्ट अन्यासक्ति, जैसे वाक्पतिराज मुञ्ज का यह पद्य—

तीनों लोकों के पूज्य महादेव ने जब देवी पार्वती को प्रणयमान के कारण कुपित देखा,

तो वे सम्भ्रम तथा आश्चर्य से युक्त होकर, डर के मारे सिर झुकाकर, एकदम प्रणाम करने लगे, जिससे पार्वती प्रसन्न हो जाय। पर महादेव के सिर को नीचा कर लेने पर, पार्वती ने गङ्गा (पार्वती की सौत) को देख लिया। तब तो वह और अधिक कुपित हो गई, तथा उसने अपने चरण को महादेव के सिर पर मार गिराया। इससे महादेव बड़े लज्जित हुए। तीन आँखों वाले महादेव का यह लज्जित होना आप लोगों की रक्षा करे।

एषाम्—

> यथोत्तरं गुरुः षड्भिरुपायैस्तमुपाचरेत्।
> साम्ना भेदेन दानेन नत्युपेक्षारसान्तरैः ॥ ६१ ॥

एषाम् = श्रुतानुमितदृष्टान्यसङ्गप्रयुक्तानामुक्तानां मानानां मध्ये उत्तरोत्तरं मानो गुरुः=क्लेशेन निवार्यो भवतीत्यर्थः। तम्=मानम्। उपाचरेत्=निवारयेत् ॥ ६१ ॥

> तत्र प्रियवचः साम, भेदस्तत्सख्युपार्जनम्।
> दानं व्याजेन भूषादेः, पादयोः पतनं नतिः ॥ ६२ ॥
> सामादौ तु परिक्षीणे स्यादुपेक्षावधीरणम्।
> रभसत्रासहर्षादेः कोपभ्रंशो रसान्तरम् ॥ ६३ ॥
> कोपचेष्टाश्च नारीणां प्रागेव प्रतिपादिताः।

श्रुत से लेकर दृष्ट अन्यासक्ति तक प्रत्येक परवर्ती प्रमाण से सिद्ध नायक की अन्यासक्ति पूर्ववर्ती से अधिक कठिन होता है। नायिका के इस ईर्ष्यामान को छः तरह से हटाया जा सकता है—साम, भेद, दान, नति (प्रणाम), उपेक्षा, या रसान्तर (अन्य रस के द्वारा)। मधुर प्रिय वचनों का प्रयोग साम नामक उपाय है। उसकी सखी का सहारा लेना भेद है, तथा गहने आदि के बहाने खुश कर लेना दान है। पैरों पर गिरना नति कहलाता है। यदि सामादि चार उपाय काम न करें तो नायिका के प्रति उदासीनता बरतना, उपेक्षा कहलाती है। शीघ्रता में उत्पन्न भय तथा हर्ष आदि के द्वारा कोप को नष्ट कर देना रसान्तर कहलाता है। स्त्रियों की कोपचेष्टाओं का वर्णन तो हम बता ही चुके हैं।

तत्र प्रियवचः साम यथा ममैव—

> 'स्मितज्योत्स्नाभिस्ते धवलयति विश्वं मुखशशी
> दृशस्ते पीयूषद्रवमिव विमुञ्चन्ति परितः।
> वपुस्ते लावण्यं किरति मधुरं दिक्षु तदिदं
> कुतस्ते पारुष्यं सुतनु हृदयेनाद्य गुणितम् ॥'

प्रिय वचनों का प्रयोग साम कहलाता है, जैसे धनिक का स्वयं का यह पद्य—

हे सुन्दर अङ्गों वाली प्रिये, तेरा मुखरूपी चन्द्रमा सारे संसार को अपनी मुस्कराहट की चाँदनी से श्वेत बना देता है, तेरी दृष्टि जैसे चारों तरफ अमृत का झरना गिराती है, तेरा यह शरीर सब दिशाओं में मधुर सौन्दर्य (लावण्य) को बिखेर रहा है। इन सब बातों को देखते आश्चर्य होता है कि आज तेरे हृदय के साथ कठोरता का सम्बन्ध कहाँ से हो गया!

यथा वा—

> 'इन्दीवरेण नयनं मुखमम्बुजेन
> कुन्देन दन्तमधरं नवपल्लवेन।

अङ्गानि चम्पकदलैः स विधाय वेधाः
कान्ते कथं रचितवानुपलेन चेतः ॥'

अथवा, जैसे इस पद्य में—

हे सुन्दरी, उस ब्रह्मा ने तेरे नेत्रों को नील कमल से, मुख को लाल कमल से, दाँतों को कुन्द-कली से, अधर को नई लाल कोंपल से, तथा अङ्गों को चम्पे की पंखुड़ियों से बनाकर हृदय (चित्त) को पत्थर से ■ बनाया ?

नायिकासखीसमावर्जनं भेदो यथा ममैव—

'कृतेऽप्याज्ञाभङ्गे कथमिव मया ते प्रणतयो
धृताः स्मित्वा हस्ते विसृजसि रुषं सुभ्रु बहुशः ।
प्रकोपः कोऽप्यन्यः पुनरयमसीमाद्य गुणितो
वृथा यत्र स्निग्धाः प्रियसहचरीणामपि गिरः ॥'

नायिका की सखी के द्वारा उसे वश में करने की चेष्टा भेद कहलाता है। भेद का उदाहरण जैसे धनिक का ही निम्न पद्य—

नायक मानवती नायिका से कह रहा है । हे सुन्दर भौंहों वाली रमणी, आज्ञा का भङ्ग कर देने पर भी मैंने किसी तरह तुम्हें कई बार प्रणाम किया था और तब तुम हँसकर गुस्से को हाथों हाथ छोड़ देती थी । ऐसा अनेकों बार हुआ है । पर इस बार तो पता नहीं, तुम्हारा यह गुस्सा दूसरे ही ढङ्ग का है, यह अत्यधिक बढ़ा चढ़ा तथा निःसीम दिखाई पड़ रहा है, जिस क्रोध में प्रिय सखियों के मधुर स्नेहपूर्ण वचन भी व्यर्थ हो गये हैं । पहले तो मैं चरणों में गिरकर ही तुम्हें खुश कर लिया करता था, पर इस बार तो सखियों का अनुनय भी व्यर्थ हो रही है, पता नहीं आज ऐसी अधिक क्रुद्ध क्यों हो रही हो ?

दानं व्याजेन भूषादेर्यथा माघे—

'मुहुरुपहसितामिवालिनादै-
र्वितरसि नः कलिकां किमर्थमेनाम् ।
वसतिमुपगतेन धाम्नि तस्याः
शठ कलिरेष महांस्त्वयाद्य दत्तः ॥'

आभूषण आदि के बहाने से दान के द्वारा प्रसन्न करने की चेष्टा, जैसे शिशुपालवध के सप्तम सर्ग में—

कोई नायक रात भर दूसरी नायिका के साथ रहा । जब वह लौट कर आया तो नायिका मान किये थी । उसे प्रसन्न करने के लिए वह किसी लता की कलिका को उसको सजाने के लिए देना चाहता है । उसे कलिका देते हुए देख कर खंडिता नायिका व्यङ्ग्य सुनाते हुए कह रही है—हे शठ, भौंरों के गुञ्जन से मानों उपहसित (जिसकी हँसी उड़ाई गई है), इस कली को हमें बार-बार क्यों दे रहा है ? अरे दुष्ट, उस नायिका के घर पर रात भर रह कर तूने पहले ही हमें इस महान् दुःख तथा कलेश को (कलि को) दे दिया है ।

पादयोः पतनं नतिर्यथा—

'णेउरकोडिविलग्गं चिहुरं दइअस्स पाअपडिअस्स ।
हिअअं माणपउत्थं उम्मोअन्ती ■ च्चिअ कहेइ ॥'
(नूपुरकोटिविलग्नं चिकुरं दयितस्य पादपतितस्य ।
हृदयं मानपदोत्थमुन्मुक्तमित्येव कथयति ॥)

नायिका के पैरों पर गिरना नति कहलाता है—जैसे इस गाथा में—

प्रिया के पैरों पर गिरे हुए, प्रिय के केश, जो प्रिया के नूपुरों में उलझ गये हैं, इस बात की सूचना दे रहे हैं, कि नायिका के मानी हृदय की अब मान से छुटकारा मिल गया है।

उपेक्षा रसदपधीरणं यथा—

> 'किं गतेन नहि युक्तमुपैतुं नेश्वरे परुषता सखि साध्वी।
> आनयैनमनुनीय कथं वा विप्रियाणि जनयन्ननुनेयः॥'

प्रिय के प्रति उदासीनता दर्शाना उपेक्षा कहलाता है, जैसे—

किसी नायिका के पास अपराधी प्रिय आता है, पर वह मान किये बैठी है। उसे मनाने के लिए नायक अनेक उपाय करता है, पर व्यर्थ जाते हैं। तब वह वहाँ से उपेक्षा दिखा कर चला जाता है। उसके चले जाने पर नायिका का मान ठण्डा पड़ता है और वह अपनी सखी (दूती) को उसे दुग्ध कर लाने को कह रही है। वह चला भी गया तो क्या, उसके पास जाना भी ठीक नहीं है, क्योंकि उसने अपराध किया है। पर इतना होने पर भी वह समर्थ है, सब कुछ उचित अनुचित कार्य कर सकता है। इसलिए समर्थ के प्रति कठोरता दिखाना, उसके प्रति अब भी मान किये बैठा रहना, ठीक नहीं है। हे सखि, तुम जाओ और किसी तरह उसे मना कर के लाओ, अथवा हम लोगों का अपराध करने वाले व्यक्ति (नायक) को मनाया भी कैसे जा सकता है?

रभसत्रासहर्षादि रसान्तरात्कोपभ्रंशो यथा ममैव—

> 'अभिव्यक्तालीकः सकलविफलोपायविभव-
> श्चिरं ध्यात्वा सद्यः कृतकृतकसंरम्भनिपुणम्।
> इतः पृष्ठे पृष्ठे किमिदमिति सन्त्रास्य सहसा
> कृताश्लेषां धूर्तः स्मितमधुरमालिङ्गति वधूम्॥'

भय हर्ष आदि के द्वारा किसी दूसरे रस की उत्पत्ति के कारण क्रोध का शान्त होना, जैसे धनिक का यह स्वरचित पद्य—

नायक का अपराध प्रकट हो गया है, इसलिए नायिका बड़ा मान किये है। नायक कई प्रकार से उसे मनाने के उपाय करता है, लेकिन वह असफल होता है। इसके बाद वह उसे प्रसन्न करने का कोई तरीका सोचने के लिए बड़ी देर तक सोचविचार करता है। फिर तरीका सोच लेने पर एक दम झूठे डर का बड़ी निपुणता से बहाना करके वह 'यह पीछे क्या है, यह इधर पीछे क्या है' इस तरह नायिका को एक दम डरा देता है। इससे डर कर नायिका उसकी ओर झुकती है, वह मुस्कराहट व मधुरता के साथ आलिङ्गन करती [illegible] नायिका का आलिङ्गन करता है।

अथ प्रवासविप्रयोगः—

> कार्यतः सम्भ्रमाच्छापात्प्रवासो भिन्नदेशता ॥ ६४ ॥
> द्वयोस्तत्राश्रुनिःश्वासकार्श्यलम्बालकादिता।
> स च भावी भवन् भूतस्त्रिधाद्यो बुद्धिपूर्वकः ॥ ६५ ॥

आद्यः कार्यजः समुद्रगमनसेवादिकार्यवशप्रवृत्तौ बुद्धिपूर्वकत्वाद्भूतभविष्यद्वर्तमानतया त्रिविधः।

अब प्रवासजनित विप्रयोग का लक्षण निबद्ध करते हैं:—

किसी काम से, किसी गड़बड़ी से, या शाप के कारण नायक-नायिका का अलग-

अलग रहना, उनका भिन्न-भिन्न देश में स्थित होना, प्रवास विप्रयोग है। इसमें नायक तथा नायिका दोनों ही में अश्रु, निश्वास, दुर्बलता, बालों का न सँवारे जाने के कारण लम्बा होना, आदि अनुभाव पाये जाते हैं। यह प्रवास विप्रयोग तीन तरह का होता है—भावी (भविष्यत्), भवत् (वर्तमान) तथा भूत; जब कि प्रवास होने वाला हो, हो रहा हो, या हो चुका हो।

इसमें पहले दश का नायक का प्रवास किसी कारण से होता है; जैसे नायक समुद्रयात्रा में गया हो अथवा बड़ी नौकरी आदि के लिए विदेश गया हो। यह प्रवास भी बुद्धि के अनुसार तीन तरह का होता है—भूत, भविष्यत् तथा वर्तमानरूप इन्हीं के उदाहरणों को क्रमशः बताते हैं:—

तत्र यास्यत्प्रवासो यथा—

'होन्तपहिअस्स जाआ आउच्छणजीअधारणरहस्सम्।
पुच्छन्ती भमइ घरं घरेसु पिअविरहसहिरीआ॥'
(भविष्यत्पथिकस्य जाया आयुःक्षणजीवधारणरहस्यम्।
पृच्छन्ती भ्रमति गृहाद्गृहेषु प्रियविरहसहीका॥)

पहला उदाहरण यास्यत्प्रवास का है, जब कि प्रिय विदेश गया नहीं है, किन्तु जाने वाला है—प्रिय के भावी विरह की आशङ्का से दुखी भावी पथिक की पत्नी पड़ोस के लोगों से पति के चले जाने पर जीवन को धारण करने के रहस्य के बारे में पूछती हुई घर-घर घूम रही है।

गच्छत्प्रवासो यथाऽमरुशतके—

'प्रहरविरतौ मध्ये वाह्नस्ततोऽपि परेऽथवा
दिनकृते याते वास्तं नाथ त्वमद्य समेष्यसि।
इति दिनशतप्राप्यं देशं प्रियस्य यियासतो
हरति गमनं बालालापैः सबाष्पगलज्जलैः॥'

गच्छत्प्रवास, जब कि पति विदेश जा रहा है। इसका उदाहरण जैसे अमरुकशतक का यह पद्य—

'हे नाथ, तुम एक पहर के बाद, या दिन के मध्याह्न में, या अपराह्न में, या सूर्य के अस्त होने तक तो लौट आओगे न,' आँसुओं को गिराते हुए सजल नेत्रों से इस प्रकार के वचन कहती हुई नायिका बड़े दूर (सौ दिन में प्राप्य) देश को जाने की इच्छा वाले प्रिय का जाना रोक रही है।

यथा वा तत्रैव—

'देशैरन्तरिता शतैश्च सरितामुर्वीभृतां काननै-
र्यत्नेनापि न याति लोचनपथं कान्तेति जानन्नपि।
उद्ग्रीवश्चरणार्धरुद्धवसुधः कृत्वाऽश्रुपूर्णे दृशौ
तामाशां पथिकस्तथापि किमपि ध्यात्वा चिरं तिष्ठति॥'

अथवा वहीं अमरुकशतक के निम्न पद्य में—

प्रिया अनेकों देशों, सैकड़ों नदी व पहाड़ों वाले जङ्गलों से अन्तर्हित है, और यत्न करने पर भी वह दृष्टिगोचर नहीं हो सकती, इस बात को पथिक भलीभाँति जानता है। पर इतना जानने पर भी गरदन ऊँची करके, आँखों में आँसू भरे हुए, तथा आधे चरण के द्वारा पृथ्वी

को एक करके (उस ओर आधा पाँव उठाकर) वह प्रवासी नायक उस देश की दिशा की ओर पता नहीं क्या सोचता हुआ बड़ी देर तक खड़ा रहता है।

गतप्रवासो यथा मेघदूते—

'उत्सङ्गे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणां
मद्गोत्राङ्कं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा ।
तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथंचिद्-
भूयो भूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती ॥',

आगच्छदागतयोस्तु प्रवासाभावादेष्यत्प्रवासस्य च गतप्रवासाऽविशेषात्त्रैविध्यमेव युक्तम् ।

गतप्रवास, जब प्रिय विदेश चला गया हो, जैसे मेघदूत में—

हे मेघ, मेरे घर पहुँच कर तुम प्रिया को इस दशा में पाओगे। वह अपनी गोद में या किसी मैले कुचैले कपड़े पर वीणा को रख कर उसके ही द्वारा बनाए हुए मेरे नाम से अङ्कित गीत (पद) को गाने की इच्छा कर रही होगी। पर उसी समय उसे मेरी याद आ गई होगी, इसलिए वह रोने लगी होगी। आँसुओं से गीली वीणा को किसी तरह सँवार कर अपने द्वारा बनाये हुये गीत की मूर्च्छना को बार-बार भूलती हुई, वह तेरे दृष्टिपथ में अवतरित होगी।

कुछ लोग प्रवास के और भी भेद मानते है—जैसे आगतपतिका, आगच्छत्पतिका, तथा एष्यत्पतिका। किन्तु ये भेद मानना ठीक नहीं। आगतपतिका तथा आगच्छत्पतिका में प्रवास विप्रयोग का अभाव ही है, क्योंकि संयोग हो चुका है, या हो रहा है। एष्यत्पतिका का समावेश गतप्रवास में हो ही जाता है। अतः प्रवास के तीन भेद मानना ही ठीक जान पड़ता है।

द्वितीयः सहसोत्पन्नो दिव्यमानुषविप्लवात् ।

उत्पातनिर्घातवातादिजन्यविप्लवात् परचक्रादिजन्यविप्लवाद्वा बुद्धिपूर्वकत्वादेकरूप एव संभ्रमजः प्रवासः यथोर्वशीपुरूरवसोर्विक्रमोर्वश्यां यथा च कपालकुण्डलापहृतायां मालत्यां मालतीमाधवयोः ।

सम्भ्रमजनित प्रवास वह होता है, जहाँ दैवी या मानुषी विप्लव के कारण नायक-नायिका एक दम एक दूसरे से वियुक्त कर दिये गये हों।

उत्पात, बिजली गिरना, तूफान आना आदि की गड़बड़ी से, या किसी दूसरे राजा के आक्रमण से, बुद्धिपूर्वक नियोजित प्रवास सम्भ्रमजनित प्रवास कहलाता है। जैसे विक्रमोर्वशीय में पुरुरवा और उर्वशी का वियोग, अथवा जैसे मालती के कपालकुण्डला के द्वारा हर लिये जाने पर मालती तथा माधव का वियोग।

स्वरूपान्यत्वकरणाच्छापजः सन्निधावपि ॥ ६६ ॥

यथा कादम्बर्यां वैशंपायनस्येति ।

मृते त्वेकत्र यत्रान्यः प्रलपेच्छोक एव सः ।
व्याश्रयत्वान्न शृङ्गारः, प्रत्यापन्ने तु नेतरः ॥ ६७ ॥

यथेन्दुमतीमरणादजस्य करुण एव रघुवंशे, कादम्बर्यां तु प्रथमं करुण आकाशसरस्वतीवचनादूर्ध्वं प्रवासशृङ्गार एवेति ।

---

१. 'निराश्रयात्' इति पाठान्तरम् ।

नायक तथा नायिका के समीप होने पर भी जहाँ उनका स्वरूप—उनका स्वभाव या रूप-शाप के कारण बदल दिया जाय, वह शापज प्रवास कहलाता है। जैसे कादम्बरी में शाप के कारण वैशम्पायन (पुण्डरीक) तथा महाश्वेता का वियोग।

प्रवास विप्रयोग तथा करुण का भेद बताते हुए कहते हैं—एक व्यक्ति (नायक या नायिका) के मर जाने पर जहाँ दूसरा व्यक्ति प्रलाप करे, वहाँ प्रवास विप्रयोग नहीं माना जा सकता, वहाँ तो शोक भाव तथा करुण रस ही होगा। जब आलम्बन ही विद्यमान नहीं है, तो वहाँ शृङ्गार नहीं माना जा सकता है। किन्तु मरण के बाद भी दैवी शक्ति से पुनः जीवित हो जाने पर करुण नहीं होगा।

उदाहरण के लिए रघुवंश के आठवें सर्ग में इन्दुमती के मरने [illegible] अज का विलाप करुण ही है, (प्रवास विप्रयोग नहीं)। कादम्बरी में पहले तो करुण है, किन्तु आकाशवाणी के सुन लेने के बाद पुण्डरीक तथा महाश्वेता का वियोग प्रवास शृङ्गार ही है।

तत्र नायिकां प्रति नियमः—

प्रणयायोगयोरुत्का, प्रवासे प्रोषितप्रिया।
कलहान्तरितेर्ष्यायां विप्रलब्धा च खण्डिता ॥ ६८ ॥

अब इस सम्बन्ध में नायिकाओं के नियम का निबन्धन करते हैं। प्रणयमान में नायिका विरहोत्कण्ठिता होती है। प्रवास विप्रयोग की दशा में वह प्रोषितप्रिया होती है, तथा ईर्ष्यामान वाले विप्रयोग में वह कलहान्तरिता या विप्रलब्धा या खण्डिता होती है। इस तरह विप्रयोग की दशा में नायिका की पाँच प्रकार की अवस्थाओं का निर्देश किया गया है।

अथ संभोग —

अनुकूलौ निषेवेते यत्रान्योन्यं विलासिनौ।
दर्शनस्पर्शनादीनि स संभोगो मुदान्वितः ॥ ६९ ॥

यथोत्तररामचरिते—

'किमपि किमपि मन्दं मन्दमासत्तियोगा-
दविरलितकपोलं जल्पतोरक्रमेण।
अशिथिलपरिरम्भव्यापृतैकैकदोष्णो-
रविदितगतयामा रात्रिरेव व्यरंसीत् ॥'

अयोग तथा विप्रयोग की विवेचना के बाद अब सम्भोग का लक्षण निबद्ध करते हैं।—

जहाँ नायक व नायिका एक दूसरे के अनुकूल होकर, विलासपूर्ण होकर, दर्शन, स्पर्शन आदि का परस्पर उपभोग करते हैं, वहाँ प्रसन्नता तथा उल्लास से युक्त सम्भोग होता है।

जैसे उत्तररामचरित नाटक में राम तथा सीता का सम्भोग शृङ्गार—

हे सीते, तुम्हें याद है वह वही स्थल है, जहाँ हम दोनों एक दूसरे के पास अपने कपोलों को सटाकर सो रहे थे, तथा पता नहीं क्या क्या क्रमरहित (बिना सिलसिले की) बातें कर रहे थे। हमने अपने एक एक हाथ से एक दूसरे को घना आलिङ्गन कर रक्खा था तथा हम पुलकित हो रहे थे। इस तरह एक दूसरों को हाथ से आलिङ्गन कर तथा एक दूसरे के कपोल से कपोल सटाकर, सोये हुए तथा बातें करते हुए हमने सारी रात गुजार दी। रात की पहरों के व्यतीत होने की भी खबर हमें न रही कि कितनी रात गुजर चुकी है। इस तरह रात ही गुजर गई, पर हमारी बातें समाप्त न हुईं।

अथवा। 'प्रिये किमेतत्—

विनिश्चेतुं शक्यो न सुखमिति वा दुःखमिति वा
प्रमोहो निद्रा वा किमु विषविसर्पः किमु मदः।
तव स्पर्शे स्पर्शे मम हि परिमूढेन्द्रियगणो
विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च कुरुते॥'

अथवा, जैसे वहीं—

हे प्रिये, यह क्या है। मैं इस बात का निर्णय ही नहीं कर पाता कि यह तुम्हारा स्पर्श मेरे लिए सुख है या दुःख, यह मोह है या नींद की बेहोशी है। अथवा तुम्हारा स्पर्श होने पर मेरे शरीर में विष का संचार हो रहा है, या कोई नशा फैल रहा है। तुम्हें स्पर्श करने पर, तुम्हारे कर स्पर्श पर, मेरे हृदय में एक विशेष प्रकार का विकार उत्पन्न होता है, जो मेरी इन्द्रियों को निष्क्रिय बना देता है, अन्तस् को जड़ बना देता है, तथा जलन (ताप) उत्पन्न करता है।

यथा च ममैव—

'लावण्यामृतवर्षिणि प्रतिदिशं कृष्णागरुश्यामले
वर्षाणामिव ते पयोधरभरे तन्वङ्गि दूरोन्नते।
नासावंशमनोज्ञकेतकतनुर्भ्रूपत्रगर्भोल्लसत्-
पुष्पश्रीस्तिलकः सहेलमलकैर्भृङ्गैरिवापीयते॥'

अथवा, जैसे धनिक के स्वय के इस पद्य में—

कोई नायक नायिका की यौवनश्री की वृद्धि का वर्णन करता हुआ चाटूक्ति का प्रयोग कर रहा है। हे कोमल अङ्गों वाली सुन्दरी, हर दिशा में लावण्यरूपी अमृत को बरसाने वाले, तथा कृष्णागुरु की पत्र रचना से काले तेरे स्तन का भार खूब उठा हुआ है, जैसे हर दिशा में अमृत को बरसाने वाले काले मेघ (आकाश में) उठ आये हों। तेरे स्तनों के भार के उठ जाने पर ये तेरे बालरूपी भौंरे नाकरूपी बाँस से अथवा नाक के कारण सुन्दर केतक के समान रङ्ग वाले, भौंहों की पत्तुड़ियों से सुशोभित पुष्प की शोभा वाले इस तिलक-तिलक के समान रस तुम्हारे नाक के तिलक पुष्प के रस का जैसे पान कर रहे हैं।

चेष्टास्तत्र प्रवर्तन्ते लीलाद्या दश योषिताम्।
दाक्षिण्यमार्दवप्रेम्णामनुरूपाः प्रियं प्रति॥ ७०॥

ताश्च लीलादयो नायकप्रकाशे दर्शिताः।

इस सम्भोग शृङ्गार में नायिकाओं में प्रिय के प्रति लीला आदि दस चेष्टाएँ पाई जाती हैं। ये चेष्टाएँ दाक्षिण्य, मृदुता तथा प्रेम के उपयुक्त होती हैं।

इनका विवेचन उदाहरणसहित नायकप्रकाश (द्वितीय प्रकाश) में कर दिया गया है।

रमयेच्चाटुकृत्कान्तः कलाक्रीडादिभिश्च ताम्।
न ग्राम्यमाचरेत्किंचिन्नर्मभ्रंशकरं न च॥ ७१॥

ग्राम्यः सम्भोगो रङ्गे निषिद्धोऽपि काव्येऽपि न कर्तव्य इति पुनर्निषिध्यते। यथा रत्नावल्याम्—

'स्पृष्टस्त्वयैष दयिते स्मरपूजाव्यापृतेन हस्तेन।
उद्भिन्नापरमृदुतरकिसलय इव लक्ष्यतेऽशोकः॥' इत्यादि।

नायकनायिकाकैशिकीवृत्तिनाटकनाटिकादिलक्षणायुक्तं कविपरम्परावगतं स्वयमौचित्यसम्भावनानुगुण्येनोत्प्रेक्षितं चानुसन्दधानः सुकविः शृङ्गारमुपनिबध्नीयात्।

नायक को नायिका के साथ कला, क्रीडा आदि साधनों से रमण करना चाहिए। नायक को रमण करते समय उसकी चाटुकारिता करनी चाहिए, तथा कोई भी ऐसा व्यवहार नहीं करना चाहिए जो ग्राम्य हो या नर्म (शृङ्गार) को नष्ट करने वाला।

ग्राम्य सम्भोग रङ्गमञ्च पर निषिद्ध है ही पर काव्य में भी निषिद्ध है इसलिए इसका निषेध पुनः किया गया है। शृङ्गार का उपनिबन्धन, जैसे रत्नावली में—

'हे प्रिये सागरिके, कामदेव की पूजा में व्यस्त तेरे हाथ से छूता हुआ यह अशोक ऐसा मालूम पड़ता है, जैसे इसमें फिर कोई अत्यधिक कोमल किसलय निकल आया हो।'

नायक, नायिका, कैशिकी वृत्ति, नाटक, नाटिका आदि के लक्षणों से युक्त, कविपरम्परा से प्राप्त, अथवा कवि के स्वयं के द्वारा औचित्य के अनुसार उपनिबद्ध शृङ्गार का प्रयोग कवि को काव्य में करना चाहिए।

अथ वीरः—

> वीरः प्रतापविनयाध्यवसायसत्त्व-
> मोहाविषादनयविस्मयविक्रमाद्यैः।
> उत्साहभूः स च दयारणदानयोगा-
> त्त्रेधा किलात्र मतिगर्वधृतिप्रहर्षाः॥ ७२॥

प्रतापविनयादिभिर्विभावितः करुणायुद्धदानाद्यैरनुभावितो गर्वधृतिहर्षामर्षस्मृतिमतिवितर्कप्रभृतिभिर्भावित उत्साहः स्थायी स्वदते=भावकमनोविस्तारानन्दाय प्रभवतीत्येष वीरः। तत्र दयावीरो यथा नागानन्दे जीमूतवाहनस्य, युद्धवीरो वीरचरिते रामस्य, दानवीरः परशुरामबलिप्रभृतीनाम्—'त्यागः सप्तसमुद्रमुद्रितमहीनिर्व्याजदानावधिः' इति।

(वीर रस)

प्रताप, विनय, कार्यकुशलता, बल, मोह, अविषाद, नय, विस्मय, तथा शौर्य आदि विभावों से वीर रस की पुष्टि होती है। यह वीर रस उत्साह नामक स्थायी भाव से भावित होता है तथा दयावीर, रणवीर तथा दानवीर इस तरह तीन तरह का होता है। इसमें मति, गर्व, धृति तथा प्रहर्ष ये सञ्चारी विशेष रूप से पाये जाते हैं।

प्रताप विनय आदि विभावों के द्वारा उत्पन्न, करुणा, युद्ध, दान आदि अनुभावों के द्वारा व्यक्त, एवं गर्व, धृति, हर्ष, अमर्ष, स्मृति, मति, वितर्क आदि व्यभिचारी भावों के द्वारा भावित उत्साह स्थायी भाव जब सहृदय के मन का विस्तार कर उन्हें आनन्दित करे, उनके द्वारा आस्वादित होता है, तो वह वीर रस के रूप में परिपुष्ट होता है। दयावीर का उदाहरण, जैसे नागानन्द नाटक में जीमूतवाहन की वीरता (दयावीरता); युद्धवीर जैसे महावीरचरित में रामचन्द्र का उत्साह, तथा दानवीर जैसे परशुराम, बलि आदि लोगों का दानसम्बन्धी उत्साह। जैसे परशुराम के लिए राम कहते हैं:—'सातों समुद्रों तक फैली हुई पृथ्वी को निष्कपटरूप से दान देना आपके त्याग का परिचायक है।'

> 'रावणग्रन्थिविमुक्तसन्धि विकसद्वक्षःस्फुरत्कौस्तुभं
> निर्यन्नाभिसरोजकुड्मलकुटीगम्भीरसामध्वनि।

प्राप्तार्थिसमुत्सुकेन बलिना सानन्दमालोकितं
पायाद्वः क्रमवर्धमानमहिमाश्चर्यं मुरारेर्वपुः ॥'

दानवीर का ही एक उदाहरण देते हैं —दानवराज बलि से दान लेते समय भगवान् वामन ने अपने शरीर को विराट्रूप में परिवर्तित कर लिया। उनके छोटे छोटे शरीर के जोड़ों की सन्धियाँ खुल पड़ीं, वे लम्बे होने लगे, उनके बढ़ते हुए वक्षःस्थल पर कौस्तुभमणि चमकने लगी, और उनकी नाभि से निकलते हुए कमल के कुड्मल की कुटी से (वहाँ बैठे हुए ब्रह्मा की) गम्भीर वेदगान की ध्वनि सुनाई देने लगी। अपने अनुकूल दानपात्र को पाकर अत्यधिक उत्सुक दानवराज बलि भगवान् विष्णु के शरीर को आनन्द से देखने लगे। इस तरह बलि के द्वारा आनन्दित होकर देखा हुआ, धीरे धीरे बढ़ते हुए महत्त्व तथा आश्चर्य वाला मुरदैत्य के शत्रु भगवान् विष्णु का विराट्रूप शरीर आप लोगों की रक्षा करे।

यथा च ममैव—

'लक्ष्मीपयोधरोत्सङ्गकुङ्कुमारुणितो हरेः ।
बलिरेष स येनास्य भिक्षापात्रीकृतः करः ॥'

विनयादिषु पूर्वमुदाहृतमनुसन्धेयम्। प्रतापगुणावर्जनादिनापि वीराणां भावात्त्रैव प्रायोवादः। प्रस्वेदरक्तवदननयनादिक्रोधानुभावरहितो युद्धवीरोऽन्यथा रौद्रः।

अथवा जैसे धनिक का स्वयं का पद्य—

यह दानवराज बलि ही था, जिसके आगे जाकर विष्णु भगवान् ने अपने उस हाथ को, जो लक्ष्मी के स्तनों के कुङ्कुम से अरुण हो गया था, भिक्षा का पात्र बनाया।

विनय आदि के उदाहरण हम धीरोदात्त नायक के पक्ष में दे चुके हैं। पुराने विद्वानों के मतानुसार वीर के प्रताप वीर, गुणवीर, आवर्जन वीर आदि भेद भी होते हैं। युद्धवीर वहीं है, जहाँ आश्रय में प्रस्वेद आना, मुँह का लाल हो जाना, नेत्रों का लाल होना आदि क्रोध के अनुभाव न पाये जायँ। यदि ये अनुभाव पाये जायेंगे, तो वहाँ वीर रस न होगा, रौद्र रस होगा।

अथ बीभत्सः—

बीभत्सः कृमिपूतिगन्धिवमथुप्रायैर्जुगुप्सैकभू-
रुद्वेगी रुधिरान्त्रकीकसवसामांसादिभिः क्षोभणः ।
वैराग्याज्जघनस्तनादिषु घृणाशुद्धोऽनुभावैर्वृतो
नासावक्त्रविकूणनादिभिरिहावेगार्तिशङ्कादयः ॥ ७३ ॥

अत्यन्ताहृद्यैः कृमिपूतिगन्धिप्रायविभावैरुद्भूतो जुगुप्सास्थायिभावपरिपोषणलक्षण उद्वेगी बीभत्सः। यथा मालतीमाधवे—

'उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं प्रथममथ पृथूच्छोफभूयांसि मांसा-
न्यंसस्फिक्पृष्ठपिण्डाद्यवयवसुलभान्युग्रपूतीनि जग्ध्वा ।
आर्तः पर्यस्तनेत्रः प्रकटितदशनः प्रेतरङ्कः करङ्का-
दङ्कस्थादस्थिसंस्थं स्थपुटगतमपि क्रव्यमव्यग्रमत्ति ॥'

कृमि (कीड़े), बुरी दुर्गन्ध, वमन आदि विभावों से, जुगुप्सा स्थायी भाव से उत्पन्न होने वाला बीभत्स उद्वेगी बीभत्स होता है। खून, अँतड़ियाँ, हड्डियाँ, तथा चर्बी व मांस आदि विभावों से क्षोभण बीभत्स उत्पन्न होता है। जघन, स्तन आदि के प्रति वैराग्य के कारण उत्पन्न घृणा से शुद्ध बीभत्स होता है। बीभत्स रस के अनुभाव नाक को टेढ़ा करना, सिकोड़ना आदि हैं, तथा सञ्चारी भाव आवेग, अर्ति, शङ्का, आदि हैं।

अत्यधिक बुरे तथा असुन्दर, कीड़े, दुर्गन्ध आदि विभावों के द्वारा उत्पन्न, जुगुप्सा स्थायी भाव की पुष्टि उद्वेगी बीभत्स कहलाता है। जैसे मालतीमाधव के श्मशानाङ्क में श्मशान के इस वर्णन में—

देखो तो सही, यह दरिद्र प्रेत पहले तो खाल से चमड़े को उखाड़ रहा है। चमड़े को उखाड़-उखाड़ कर कन्धे, कूल्हे, पीठ आदि के अङ्गों में मिले से मांस, अत्यधिक फूले हुए, बड़ी बुरी दुर्गन्ध वाले, मांस को खा रहा है। उसे खाकर आँखें फैलाता हुआ, यह दीन दरिद्र प्रेत, जिसके दाँत साफ दिखाई दे रहे हैं, अङ्क में रक्खे हुए शव से, हड्डी के बीच से निकाले हुए हथेली पर रखे मांस को भी आनन्द से खा रहा है।

रुधिरान्त्रकीकसवसामांसादिविभावः क्षोभणो बीभत्सो यथा वीरचरिते—

'अन्त्रप्रोतबृहत्कपालनलकक्रूरक्वणत्कङ्कण-
प्रायप्रेङ्खितभूरिभूषणरवैराघोषयन्त्यम्बरम्।
पीतोच्छर्दितरक्तकर्दमघनप्राग्भारघोरोल्लस-
द्व्यालोलस्तनभारभैरववपुर्दर्पोद्धतं धावति॥'

खून, अँतड़ियाँ, चर्बी, हड्डी, मांस आदि विभावों से क्षोभण बीभत्स उत्पन्न होता है। जैसे महावीरचरित के निम्न पद्य में—

राम को देख कर ताड़का राक्षसी उनकी ओर दौड़ती आ रही है। इस पद्य में उसीका वर्णन है। ताड़का राक्षसी ने अँतड़ियों के धागे में बड़े-बड़े कपालों की माला को पो रक्खा है, इन कपालों की नलियों में अत्यधिक भीषण शब्द करते हुए घुँघरू लगे हैं, और उनके हिलने से उन कपालों के भूषणों के शब्द से ताड़का सारे आकाश को शब्दायमान बना रही है। जब ताड़का आती है, तो अँतड़ियों में पोये हुए कपालों की घुँघरुओं की आवाज सारे आकाश में व्याप्त हो जाती है। (राम को देख कर) यह ताड़का अपने दोनों स्तनों को हिलाती हुई उनकी ओर बड़ी उद्धतता के साथ दौड़ती है। उस समय उसका शरीर, पीकर फिर से उगले हुए खून के कीचड़ से सने हुए अत्यधिक चञ्चल स्तनों के बोझ से बड़ा डरावना लगता है। इस तरह डरावने शरीर वाली, ताड़का, आकाश को भूषणों से शब्दित करती हुई बड़ी तेजी से दौड़ रही है।

रम्येष्वपि रमणीजघनस्तनादिषु वैराग्याद्घृणा शुद्धो बीभत्सो यथा—

'लालां वक्त्रासवं वेत्ति मांसपिण्डौ पयोधरौ।
मांसास्थिकूटं जघनं जनः कामग्रहातुरः॥'

न चायं शान्त एव विरक्तः—यतो बीभत्समानो विरज्यते।

रमणियों के सुन्दर जघनस्थल तथा स्तन आदि अङ्गों के प्रति वैराग्य के कारण जो घृणा पाई जाती है, वह शुद्ध बीभत्स है, जैसे—

काम के द्वारा आविष्ट आतुर व्यक्ति, मुँह की लाला को सुख की मदिरा समझता है, मांस के पिण्डों को स्तन मानता है, तथा मांस और हड्डी के उठे हुए हिस्से को जघन देखा जाय तो रमणियों के कोई अङ्ग सुन्दर नहीं बल्कि मांस, हड्डी आदि कुत्सित पदार्थ हैं।

इस पद्य में वैराग्य शान्त रस ही नहीं है। वस्तुतः यहाँ पर बीभत्स ही है किन्तु यही तो विराग (वैराग्य) का कारण है।

अथ रौद्रः—

क्रोधो मत्सरवैरिवैकृतमयैः पोषोऽस्य रौद्रोऽनुजः
क्षोभः स्वाधरदंशकम्पभ्रुकुटिस्वेदास्यरागैर्युतः।
शस्त्रोल्लासविकत्थनांसधरणीघातप्रतिज्ञाग्रहै-
रत्रामर्षमदौ स्मृतिश्चपलतासूयौग्र्यवेगादयः ॥ ७४ ॥

मात्सर्यविभावो रौद्रो यथा वीरचरिते—

'त्वं ब्रह्मवर्चसधरो यदि वर्तमानो
यद्वा स्वजातिसमयेन धनुर्धरः स्याः।
उग्रेण भोस्तव तपस्तपसा दहामि
पक्षान्तरस्य सदृशं परशुः करोति ॥'

(रौद्र रस)

मत्सर, अथवा वैरी के द्वारा किये गये अपकार आदि कारणों (विभावों) से क्रोध उत्पन्न होता है। इसी क्रोध स्थायी भाव का परिपोष रौद्र रस है, जिसका साथी क्षोभ है। शस्त्र को बार-बार चमकाना, बड़ी डींगें मारना, जमीन पर चोट मारना, प्रतिज्ञा करना आदि इसके अनुभाव हैं। रौद्र रस में अमर्ष, मद, स्मृति, चपलता, असूया, औग्र्य, वेग आदि सञ्चारी भाव पाये जाते हैं।

मात्सर्य विभाव से उत्पन्न रौद्र, जैसे महावीरचरित के इस पद्य में (परशुराम की उक्ति है।)

अगर तुम ब्रह्मतेज को धारण करने वाले हो, ब्राह्मण हो; अथवा यदि तुम अपनी जाति के व्यवहार के अनुकूल धनुर्धारी बने हो; तो दोनों दशा में मैं तुम्हारे तेज [illegible] खण्डन करने में समर्थ हूँ। तुम्हारे तपस्वी ब्राह्मण होने पर, मैं अपने उग्र तप से तुम्हारे तप को जला दूँगा (जलाता हूँ), और तुम धनुर्धारी क्षत्रिय हो तो (दूसरी दशा में) मेरा परशु तुम्हारे उपयुक्त आचरण करेगा। यदि तुम क्षत्रिय हो, तो मैं तुम्हें इस परशु से जीत कर, मौत के घाट उतार दूँगा।

वैरिवैकृताद्यथा वेणीसंहारे—

'लाक्षागृहानलविषान्नसभाप्रवेशैः
प्राणेषु वित्तनिचयेषु च नः प्रहृत्य।
आकृष्टपाण्डववधूपरिधानकेशाः
स्वस्था भवन्तु मयि जीवति धार्तराष्ट्राः ॥

इत्येवमादिविभावैः प्रस्वेदरक्तवदननयनाद्यनुभावैरमर्षादिभिर्व्यभिचारिभिः क्रोधपरिपोषो रौद्रः, परशुरामभीमसेनदुर्योधनादिव्यवहारेषु वीरचरितवेणीसंहारादेरनुगन्तव्यः।

शत्रु के द्वारा कृत अपकार के कारण जनित रौद्र, जैसे वेणीसंहार की भीमसेन की इस उक्ति में—

लाक्षागृह में आग लगा कर, विष का भोजन देकर, तथा सभा में अपमान करके हम पाण्डवों के प्राणों पर, तथा सम्पत्ति पर कौरवों ने अत्यधिक प्रहार किया है। यही नहीं, उन्होंने पाण्डवों की पत्नी द्रौपदी के वस्त्र तथा बालों को भी खींचा है। इस प्रकार हमारा अत्यधिक अपकार करने वाले कौरव, मुझ भीमसेन के जिन्दे रहते कुशल कैसे रह सकते हैं।

इस तरह के विभावों के द्वारा जनित, प्रस्वेद, रक्तवदन, रक्तनयन आदि अनुभावों, तथा अमर्ष आदि व्यभिचारियों के द्वारा उत्पन्न क्रोध स्थायी भाव ही परिपुष्ट होकर रौद्र रस बनता है। परशुराम, भीमसेन, दुर्योधन आदि के व्यवहार रौद्र रस के उदाहरण हैं। इनको हम वीरचरित, वेणीसंहार आदि नाटकों में देख सकते हैं।

अथ हास्यः—

विकृताकृतिवाग्वेषैरात्मनोऽथ परस्य वा।
हासः स्यात्परिपोषोऽस्य हास्यस्त्रिप्रकृतिः स्मृतः॥ ५७॥

आत्मस्थान् विकृतवेषभाषादीन् परस्थान् वा विभावानवलम्बमानो हासस्तत्परिपोषात्मा हास्यो रसो द्व्यधिष्ठानो भवति, स चोत्तममध्यमाधमप्रकृतिभेदात्त्रिविधः।

(हास्य रस)

स्वयं या दूसरे के आकार, वाणी, तथा वेष में विकार देख कर हास की उत्पत्ति होती है। इस हास स्थायी भाव का परिपोष हास्य रस कहलाता है। इस हास्य रस की तीन प्रकृतियाँ तीन भेद होते हैं।

अपने विकृत वेष, भाषा आदि को, या दूसरे के विकृत वेष, भाषा, आदि को देख कर, इन विभावों के द्वारा जनित स्थायी भाव हास, जब परिपुष्ट होता है, तो हास्य रस होता है। यह हास्य रस उत्तम, मध्यम तथा अधम इन तीन प्रकृतियों के आधार पर वक्ष्यमाण छः रूप धारण होता है।

आत्मस्थो यथा राघवः—

'जातं मे परुषेण भस्मरजसा तच्चन्दनोद्धूलनं
हारो वक्षसि यज्ञसूत्रमुचितं क्लिष्टा जटाः कुन्तलाः।
रुद्राक्षैः सकलैः सरत्नवलयं चित्रांशुकं वल्कलं
सीतालोचनहारि कल्पितमहो रम्यं वपुः कामिनः॥'

आत्मस्थ वेषादि का विकार देख कर उत्पन्न हास्य, जैसे रावण की इस उक्ति में—

मेरे शरीर पर लगी हुई इस कठोर भस्म से चन्दन की भूषा की गई है। यह तपस्वी का बाना-यज्ञोपवीत-वक्षःस्थल पर हार का काम कर रहा है। ये उलझी हुई लम्बी जटायें कोमल कुन्तल हैं। इन सारे रुद्राक्षों से शरीर पर रत्नों के कड़ों की तुलना की जा सकती है; तथा यह वल्कल वस्त्र सुन्दर रेशमी वस्त्र बना हुआ है। सीता के नेत्रों का आकर्षण करने वाला कितना सुन्दर शृङ्गारी (काम सम्बन्धी) वेष कामी रावण ने (मैंने) धारण किया है। जिस तरह कोई कामी किसी रमणी को आकृष्ट करने के लिए सुन्दर वेषभूषा धारण करता है, ठीक वैसे ही मैंने इस संन्यासी के वेष को बना रक्खा है।

परस्थो यथा—

> 'भिक्षो मांसनिषेवणं प्रकुरुषे ? किं तेन मद्यं विना
> किं ते मद्यमपि प्रियम् ? प्रियमहो वाराङ्गनाभिः सह ।
> वेश्या द्रव्यरुचिः कुतस्तव धनम् ? द्यूतेन चौर्येण वा
> चौर्यद्यूतपरिग्रहोऽपि भवतो ? नष्टस्य काऽन्या गतिः ? ॥'

किसी दूसरे व्यक्ति के आकार आदि के विकार को देख कर उत्पन्न हास्य, जैसे निम्न पद्य में—

हे भिक्षुक क्या तुम मांस का सेवन करते हो ? तो फिर तुम्हारे मद्य के बिना कैसे काम चलता होगा ? क्या तुम्हें मदिरा भी प्यारी है ? पर मदिरा तो वेश्याओं के सम्पर्क होने पर ही अच्छी लगती है । वेश्याएँ तो पैसे को प्यार करती हैं, धन के प्रति आसक्त रहती हैं, तुम नङ्गधड़ङ्ग भिखारी के पास पैसा कहाँ से आता है ? पैसा तुम्हारे पास या तो जुएँ से आ सकता है, या चोरी से, तुम कोई औचित्योपार्जन का कार्य, व्यवसायादि तो करते नहीं । तुम जैसे भिक्षुक को भी चोरी, जुआरी का व्यसन है क्या ? एक बार (समाज तथा आचरण से) नष्ट व्यक्ति के पास दूसरा चारा ही क्या है ?

(इस पद्य में प्रश्नोत्तर को एक ही व्यक्ति का माना जा सकता है, या फिर प्रश्न किसी दूसरे का, और उत्तर भिक्षुक का स्वयं का ।)

> स्मितमिह विकासिनयनम्, किञ्चिल्लक्ष्यद्विजं तु हसितं स्यात् ।
> मधुरस्वरं विहसितम्, सशिरःकम्पमिदमुपहसितम् ॥ ७६ ॥
> अपहसितं सास्राक्षम्, विक्षिप्ताङ्गं भवत्यतिहसितम् ।
> द्वे द्वे हसिते चैषां ज्येष्ठे मध्येऽधमे क्रमशः ॥ ७७ ॥

उत्तमस्य स्वपरस्थविकारदर्शनात् स्मितहसिते, मध्यमस्य विहसितो-पहसिते, अधमस्यापहसितातिहसिते । उदाहृतयः स्वयमुत्प्रेक्ष्याः ।

यह हास्य तीन प्रकृतियों के अनुसार छः तरह का होता है। स्मित हास्य वह है, जहाँ खाली नेत्र ही विकसित हों । हसित वह है, जहाँ दाँत कुछ कुछ नजर आ जायँ । मधुर स्वर में हँसना विहसित कहलाता है, तथा सिर को हिलाकर हँसना उपहसित होता है । आँखों में आँसू भर आवें, इस तरह हँसना अपहसित होता है, तथा अङ्गों को फेंक कर हँसना अतिहसित कहलाता है । इनमें दो दो प्रकार के हसित क्रमशः ज्येष्ठ, मध्यम तथा अधम प्रकृति के होते हैं ।

अपने व दूसरे के विकार को देखकर स्मित व हसित होना उत्तम हास्य है, विहसित तथा उपहसित होना मध्यम है, तथा अपहसित या अतिहसित होना अधम । उदाहरण अपने आप समझे जा सकते हैं ।

व्यभिचारिणश्चास्य—

> निद्रालस्यश्रमग्लानिमूर्च्छाश्च सहचारिणः (व्यभिचारिणः)

इस हास्य रस के व्यभिचारी निम्न हैं—

निद्रा, आलस्य, श्रम, ग्लानि तथा मूर्च्छा ये व्यभिचारी भाव हास स्थायी भाव के सहचर हैं ।

अथाद्भुतः—

> अतिलोकैः पदार्थैः स्याद्विस्मयात्मा रसोऽद्भुतः ॥ ७८ ॥
> कर्मास्य साधुवादाश्रुवेपथुस्वेदगद्गदाः ।
> हर्षावेगधृतिप्राया भवन्ति व्यभिचारिणः ॥ ७९ ॥

लोकसीमातिवृत्तपदार्थवर्णनादिविभावितः साधुवादाद्यनुभावपरिपुष्टो विस्मयः स्थायिभावो हर्षावेगादिभावितो रसोऽद्भुतः । यथा—

> 'दोर्दण्डाञ्चितचन्द्रशेखरधनुर्दण्डावभङ्गोद्यत-
> टङ्कारध्वनिरार्यबालचरितप्रस्तावनाडिण्डिमः ।
> द्राक्पर्यस्तकपालसम्पुटमिलद्ब्रह्माण्डभाण्डोदर-
> भ्राम्यत्पिण्डितचण्डिमा कथमसौ नाद्यापि विश्राम्यति ॥'

इत्यादि ।

(अद्भुत रस)

अलौकिक पदार्थों के दर्शन श्रवणादि से अद्भुत रस उत्पन्न होता है, जो विस्मय नामक स्थायी भाव का परिपोष है। साधुवाद (उस पदार्थ की प्रशंसा करना), आँसू आना, काँपना, गद्गद हो जाना, इसके अनुभाव हैं। अद्भुत रस में हर्ष, आवेग, धृति आदि व्यभिचारी पाये जाते हैं।

लोकसीमा को अतिक्रान्त करने वाले अलौकिक पदार्थ के वर्णन आदि से जनित, साधुवाद आदि अनुभावों के द्वारा परिपुष्ट विस्मय स्थायी भाव हर्ष आदि व्यभिचारियों के सहचर होने पर अद्भुत रस के रूप में परिणत होता है।

रामचन्द्र के धनुष तोड़ने पर लक्ष्मण कह रहे हैं। अभी तो आर्य रामचन्द्र के द्वारा शिवधनुष को तोड़ दिये जाने की टङ्कारध्वनि, पता नहीं, क्यों विश्रान्त नहीं हो रही है। राम ने अपने दोनों भुजदण्डों से शिवजी के धनुष को चढ़ाकर उसे तोड़ दिया है और इससे यह टङ्कारध्वनि उत्पन्न हुई है। यह ध्वनि ऐसी प्रतीत होती है, जैसे आर्य रामचन्द्र के बालचरित की प्रस्तावना का डिण्डिम घोष हो—यह ध्वनि बालक राम में ही इतना बल है, इसकी सूचना दे रही है। इस धनुष की टङ्कार ध्वनि ही कपालों के सम्पुट से बने बने हुए इस ब्रह्माण्डरूपी भाण्ड के बीच घूमकर तथा गूँज गूँज कर और अधिक गम्भीर हो गई है।

अथ भयानकः—

> विकृतस्वरसत्त्वादेर्भयभावो भयानकः ।
> सर्वाङ्गवेपथुस्वेदशोषवैचित्यलक्षणः[1] ।
> दैन्यसम्भ्रमसम्मोहत्रासादिस्तत्सहोदरः ॥ ८० ॥

रौद्रशब्दश्रवणाद्रौद्रसत्त्वदर्शनाच्च भयस्थायिभावप्रभवो भयानको रसः, तत्र सर्वाङ्गवेपथुप्रभृतयोऽनुभावाः दैन्यादयस्तु व्यभिचारिणः ।

(भयानक रस)

किसी व्यक्ति के स्वर, शरीर, आदि का डरावनापन देखकर भय नामक स्थायी भाव होता है, उसी का परिपोष भयानक रस है। इसके अनुभाव हैं—सारे शरीर का

१ 'वैवर्ण्य-' इत्यपि पाठः।

काँपना, पसीना छूटना, मुँह सूखना, मुँह का पीला पड़ना, चिन्ता होना आदि। इसमें दैन्य, सम्भ्रम, सम्मोह, त्रास आदि व्यभिचारी पाये जाते हैं, वे इसके सहोदर हैं।

रौद्र शब्द के सुनने या रौद्र शरीर के देखने पर जनित भय स्थायी भाव से भयानक रस उत्पन्न होता है। इसमें शरीर का काँपना आदि अनुभाव होते हैं, तथा दैन्य आदि व्यभिचारी।

भयानको यथा—

'शस्त्रमेतत्समुत्सृज्य कुब्जीभूय शनैः शनैः।
यथातथागतेनैव यदि शक्नोषि गम्यताम् ॥'

यथा च रत्नावल्या प्रागुदाहृतम्—'नष्टं वर्षवरै' इत्यादि।

भयानक का उदाहरण, जैसे इस पद्य से—

इस शस्त्र को छोड़कर, धीरे धीरे कुबड़े की तरह झुक कर, जिसी भी तरह यहाँ से जा सको, तो तुम चले जाओ।

अथवा, जैसे रत्नावली में बन्दर के वाजिशाला से छूटने पर अन्तःपुर की भगदड़ का वर्णन—'नष्टं वर्षवरै' आदि जिसका उदाहरण पहले दिया जा चुका है।

यथा च—

'स्वगेहात्पन्थानं तत उपचितं काननमथो
गिरिं तस्मात्सान्द्रद्रुमगहनमस्मादपि गुहाम्।
तदन्वङ्गान्यङ्गैरभिनिविशमानो न गणय-
त्यराति: कालीये तव विजययात्राचकितधीः ॥'

अथवा, जैसे इस पद्य में—

तुम्हारी विजययात्रा से चकित बुद्धिवाला शत्रु राजा डरकर घर से मार्ग पर, मार्ग से घने जङ्गल में, वहाँ से भी घने पेड़ों से घिरे पर्वत पर, तथा पर्वत से गुफा में जाकर छिप गया है। वहाँ भी जाकर वह अपने अङ्गों को अङ्गों में समेट लेने पर भी वह नहीं गिन पाता, यह नहीं सोच पाता, [illegible] तुम्हारे डर से कहाँ छिपे। घर से भागते भागते पर्वत की गहन गुफा तक पहुँच जाने पर भी उसका भय नहीं मिटा है, वह अभी तक भी तुम्हारे डर से, [illegible] कहीं विजययात्रा में प्रवृत्त तुम्हारी सेना वहाँ न भी पहुँच जाय, छिपने को ही सोचा करता है।

अथ करुण—

इष्टनाशादनिष्टाप्तौ शोकात्मा करुणोऽनु तम्।
निःश्वासोच्छ्वासरुदितस्तम्भप्रलपितादयः ॥ ८१ ॥
स्वापापस्मारदैन्याधिमरणालस्यसम्भ्रमाः।
विषादजडतोन्मादचिन्ताद्या व्यभिचारिणः ॥ ८२ ॥

इष्टस्य बन्धुप्रभृतेर्विनाशादनिष्टस्य तु बन्धनादेः प्राप्त्या शोकप्रकर्षज: करुण, तम-न्विति तदनुभावनिःश्वासादिकथनम्, व्यभिचारिणश्च स्वापापस्मारादय।

(करुण रस)

इष्ट वस्तु के नाश पर या अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति पर उत्पन्न शोक स्थायी भाव की पुष्टि करुण रस है। निःश्वास, उच्छ्वास, रुदित, स्तम्भ, प्रलपित आदि इस रस के

१ 'अप्तो' इति पाठान्तरम्।

अनुभाव हैं। करुण रस में स्वाप, अपस्मार, दैन्य, व्याधि, मरण, आलस्य, सम्भ्रम, विषाद, जडता, उन्माद, चिन्ता आदि व्यभिचारी भाव पाये जाते हैं।'

इष्ट वल्लभ आदि के नाश से, या अनिष्ट, कैद आदि, की प्राप्ति होने से शोक का परिपोष करुण होता है। इसमें उसमें निःश्वासादि अनुभाव तथा स्वाप, अपस्मार आदि व्यभिचारी भाव पाये जाते हैं।

इष्टनाशात्करुणो यथा कुमारसंभवे—

> 'अयि जीवितनाथ जीवसीत्यभिधायोत्थितया तया पुरः।
>
> ददृशे पुरुषाकृति क्षितौ हरकोपानलभस्म केवलम्॥'

इत्यादि रतिप्रलापः। अनिष्टावाप्तेः सागरिकाया बन्धनाद्यथा रत्नावल्याम्।

इष्टनाश से उत्पन्न करुण जैसे कुमारसम्भव के रतिविलाप में—

'हे स्वामी, हे प्राणनाथ, तुम जीवित तो हो न,' इस तरह चिल्ला कर खड़ी हुई रति ने अपने सामने देखा, तो महादेव के क्रोधरूपी अग्नि से जलाई हुई पुरुष के आकार वाली भस्म को ही पृथ्वी पर पड़ा पाया, उसकी केवल राख भर दिखाई पड़ी।

अनिष्ट प्राप्ति से, जैसे रत्नावली नाटिका में सागरिका के कैद हो जाने से।

> प्रीतिभक्त्यादयो भावा मृगयाक्षादयो रसाः।
>
> हर्षोत्साहादिषु स्पष्टमन्तर्भावान्न कीर्तिताः॥ ८३॥

स्पष्टम्।

> षट्त्रिंशद्भूषणादीनि सामादीन्येकविंशतिः।
>
> लक्ष्यसंध्यन्तराख्यानि[1] सालङ्कारेषु तेषु च॥ ८४॥

'विभूषणं चाक्षरसंहतिश्च शोभाभिमानौ गुणकीर्तनं च' इत्येवमादीनि षट्त्रिंशत् (विभूषणादीनि) काव्यलक्षणानि 'साम भेदः प्रदानं च' इत्येवमादीनि संध्यन्तराण्येकविंशतिरुपमादिष्वलङ्कारेषु हर्षोत्साहादिषु चान्तर्भावान्न पृथगुक्तानि।

॥ इति धनञ्जयकृतदशरूपकस्य चतुर्थः प्रकाशः समाप्तः॥



कुछ लोग प्रीति, भक्ति आदि को स्थायी भाव मानते हैं तथा मृगया, जुआ आदि को रस मानते हैं। इनका समावेश हर्ष, उत्साह आदि स्थायी भावों में हो ही जाता है। अतः इनका पृथक् विवेचन करना ठीक नहीं समझा गया है।

काव्य के ३६ भूषणों, २१ प्रकार के साम, भेद आदि सन्ध्यन्तरों आदि का भी अलग से विवेचन तथा लक्षण नहीं किया गया है। इसका कारण यह है कि अलङ्कारयुक्त हर्षोत्साहादि भावों में ही इनका भी समावेश हो जाता है।

'भूषण, अक्षरसंहति, शोभा, अभिमान, गुणकीर्तन' आदि ३६ विभूषण, जो कि काव्य-लक्षण भी कहलाते हैं; तथा 'साम, भेद, प्रदान' आदि २१ सन्ध्यन्तर; इन दोनों का अन्तर्भाव

---

१. 'लक्ष्मसन्ध्यन्तराख्यानि' इत्यपि पाठः।

श्लोकः	पृष्ठम्
किं गतेन नहि युक्त-	२६८
किं धरणीए मिअङ्को	५१
किमपि किमपि मन्दम्	२७१
कुलबालिआए पेच्छइ	९६
कृतगुरुमहदादिक्षोभ-	६०
कृतेऽप्याज्ञाभङ्गे	२६७
कुशाश्वान्तेवासी जयति	६८
कृष्टा केशेषु भार्या	५२
केलीगोत्तक्खलणे	२६५
कैलासोद्धारसार-	८३
कोपात्कोमललोलबाहु-	१०६
कोऽपि सिंहासनस्याधः	१५०
क्रोधो यत्र भ्रुकुटिरचना	१०६
क्रोधान्धैर्यस्य मोक्षात्	६२
क्वचित्ताम्बूलाक्तः	१०४
क्षिप्तो हस्तावलग्नः	२०३
खर्वग्रन्थिविमुक्तसन्धि-	२७३
गमनमलसं शून्या दृष्टिः	१३४
चक्षुर्लुप्तमषीकणम्	२५६
चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदा	२२, २६
चलति कथंचित्पृष्टा	२००
चाणक्यनाम्ना तेनाथ	७२
चित्रवर्तिन्यपि नृते	१२६
चिररतिपरिखेदप्राप्तनिद्रा	११८
चूर्णिताशेषकौरव्यः	४४
जगति जयिनस्ते ते	२५६
जं किं पि पेच्छमाणं	१२०
जन्मेन्दोरमले कुले	४९
जातं मे पुरुषेण भस्म	२७७
जीयन्ते जयिनोऽपि	१३८
ज्ञातिप्रीतिर्मनसि न कृता	४८
ज्वलतु गगने रात्रौ रात्रौ	१२४
ढोउरकोडिविलग्गं	२६७
तं वीक्ष्य वेपथुमती	२६१
तं चिअ वअणं ते च्चेअ	१२०
तत उदयगिरेरिवैक एव	७८
ततश्चाभिज्ञाय	१९२
तथा व्रीडाविधेयापि	१२३
तदवितथमवादीर्यन्मम	१३२
तनुत्राणं तनुत्राणं	२०१
तवास्मि गीतरागेण	१४५
तह झत्ति से पअत्ता	१२०
तह दिट्ठं तह भणिअं	१२४
तां प्राङ्मुखीं तत्र निवेश्य	१२१
ताव च्चिअ रइसमए	१००
तावन्तस्ते महात्मानः	१८८
तिष्ठन्भाति पितुः पुरः	७९
तीर्णे भीष्ममहोदधौ	४४
तीव्रः स्मरसंतापः	३८
तीव्राभिषङ्गप्रभवेन	१९९
तेनोदितं वदति याति	१२४
त्यक्त्वोत्थितः सरभसम्	४९
त्यागः सप्तसमुद्रमुद्रितमही-	२७३
त्रय्यात्राता यस्तवायम्	७५
त्रस्यन्ती चलशफरी	१११
त्रैलोक्यैश्वर्यलक्ष्मी	८३
त्वचं कर्णः शिबिर्मांसम्	७४
त्वं जीवितं त्वमसि मे	१४२
त्वं ब्रह्मवर्चसधरः	२७६
दाक्षिण्यं नाम बिम्बोष्ठि	११६
दिअहं खु दुक्खिआए	१२२
दीर्घाक्षं शरदिन्दुकान्ति	२५७
दुःशासनस्य हृदयक्षतजा	२७
दुल्लहजणाणुराओ लज्जा	२९
दूराद्वीयो धरणीधराभम्	१४६
दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि	१०८
दृष्टिः सालसतां बिभर्ति	९७, ११९
दृष्टिस्तृणीकृतजगत्त्रयसत्त्वसारा	९३
दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे	१०७, १३४
देव्वा पसिअ णिअत्तसु	१२३
देव्या मद्वचनाद्यथा	५४
दैवे वर्षसहस्रशनपवन-	२०२
देशैरन्तरिता शतैश्च	२६९
दोर्दण्डाञ्चितचन्द्रशेखर-	२७९
द्रक्ष्यन्ति न चिरात्सुप्तम्	५२, १५३
द्वीपादन्यस्मादपि	१२, १७, १४४
धृतायुधो यावदहम्	४१
न खलु वयममुष्य	१०१
न च मेऽवगच्छति यथा	११५
न जाने संमुखायाते	१०४
नन्वेष राक्षसपतेः स्खलितः	२०७
न पण्डिता साहसिकाः	२००
न मध्ये संस्कारम्	९९
नवजलधरः संनद्धोऽयम्	२०६

श्लोकः	पृष्ठम्
नवनखपदमङ्गम्	११२, १७४, २६५
नष्टं वर्षवरैर्मनुष्यगणना	१३८
नान्दीपदानि रतिनाटक-	१२७
निःश्वासा वदनं दहन्ति	११३
निजपाणिपल्लवतटस्खलनात्	११२
निद्रार्धमीलितदृशो	१६०
निर्मग्नेन मयाऽम्भसि	२६४
निर्वाणवैरिदहनाः	१४७
नूनं तेनाद्य वीरेण	५१
न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः	१६४
पक्ष्माग्रग्रथिताश्रुबिन्दु-	१६०
पथ्यानां मन्यसेऽस्माकम्-	४६
पटालग्ने पत्यौ नमयति	१६८
पणअकुविआण दोण्हवि	२६३
पत्यु शिरश्चन्द्रकलामनेन	१६१
परिच्युतस्तत्कुचकुम्भमध्यात्	३२
परिणदियगृधीणामेव	३४
पशुपतिरपि तान्यहानि	२०८
पादाङ्गुष्ठेन भूमिम्	१३८
पित्रोर्विधातुं शुश्रूषाम्	८०
पुण्या ब्राह्मणजातिः	८२
पुरस्तन्व्या गोत्रस्खलन-	१९२
पूर्यन्तां सलिलेन	५३
पौलस्त्यपीनभुजसंपदु-	२०२
प्रणयकुपितां दृष्ट्वा देवीम्	१७३, १७४, २६३, २६५
प्रणयविशदां दृष्टिं वक्त्रे	३७
प्रथमजनिते बाला मन्यौ	९८
प्रयत्नपरिबोधितः	४१
प्रसीदत्यालोके किमपि	८६
प्रसीदेति ब्रूयामिदमसति	३३
प्रहरकमपनीय	१९७
प्रहरविरतौ मध्येवाह्नः	२६१
प्राप्ताः श्रियः सकलकाम-	१८३
प्राप्ता कथमपि दैवात्	३२
प्राप्य मन्मथरसादति-	१८७
प्रायश्चित्तं चरिष्यामि	१९४, ९२
प्रारब्धा तरुपुत्रकेषु	२०१
प्रार्थ्यते न खलु	७६
प्रारम्भेऽस्मिन्स्वामिनः	१२, १४, १८
बाले नाथ विमुञ्च	१०१
बाह्वोर्बलं न विदितम्	७५
ब्राह्मणातिक्रमत्यागः	८३, १९४
भूत भूतनकूष्माण्ड-	९४
भम धम्मिअ वीसद्धो	२२८
भिक्षो मांसनिषेवणम्	२७८
भुक्ता हि मया गिरयः	१५६
भूमौ क्षिप्त्वा शरीरम्	५८
भूयः परिभवक्षान्ति-	२३
भूयो भूयः सविधनगरी-	२५७
भ्रूभङ्गे सहसोद्गता	१२३
मखशतपरिपूतं गोत्र-	५०, ७८
मज्झ पइण्णा एसा	५१
मत्तानां कुसुमरसेन	१५१
मथ्नामि कौरवशतं समरे	२१
मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे	२२५
मध्याह्नं गमय त्यज श्रमजलम्	१३२
मन्थायस्तार्णवाम्भः	१९
मनोजातिरनाधीनां	१४९
महु एहि किं णिवालअ	११८
मा गर्वमुद्वह कपोलतले	११२
मातः कं हृदये निधाय	१२६
मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य	२१२
मुनिरयमथ वीरस्तादृशः	१६२
मुहअ सामलि होई	१८२
मुहुरुपहसितामिवालिनादैः	२६७
मृगरूपं परित्यज्य	२०२
मृगशिशुदृशस्तस्याः	११७
मेदश्छेदकृशोदरं लघु	१५७
मैनाकः किमयं रुणद्धि	१९४
यत्सत्यव्रतभङ्गभीरुमनसा	२४
यदि परगुणा न क्षम्यन्ते	१९२
यद्ब्रह्मवादिभिरुपासित-	७३
यद्वत्प्रयोगविषये	७६
यद्विस्मयस्तिमितम्	२२
यातु यातु किमनेन	१०२
यातो विक्रमबाहुरात्म-	६१
यातोऽस्मि पद्मनयने	८
यान्त्या मुहुर्वलितकन्धर-	२२
युष्मच्छासनलङ्घनाम्भसि	११२
ये चत्वारो दिनकर-	७६
येनाक्रम्य मुखानि	४७
ये बाहवो न युधि	१८४
योगानन्दयशः शेषे	७२

रक्षो नाहं न भूतम् ५५
रम्भा चाङ्गा दिनिखदा १५१
रतिक्रीडाद्यूते कथमपि १२६
राज्ञो विपद्बन्धुवियोगदुःखम् १८४
राज्यं निर्जितशत्रु- ७३, १८७
राम राम नयनाभिराम ७८
रोषो मूर्ध्नि निधाय १४४
लक्ष्मीपयोधरोत्सङ्ग- २७२
लघुनि तृणकुटीरे ११६
लग्नापल्लवतपसाहणाइं ९६
लाक्षागृहानलविपान्न- १४८, २७६
लाक्षालक्ष्म ललाटपट्टम् ८७
लाला वक्त्रासवं वेत्ति २७५
लावण्यकान्तिपरिपूरित- २२१
लावण्यमन्मथविलास- ५८
लावण्यामृतवर्षिणि २७२
लीनेव प्रतिबिम्बितेव ११५
लुलितनयनताराः १८५

वत्सस्याभयवारिधेः २०३
वयमिह परितुष्टाः १८७
वाताहतं वसनमाकुलमुत्तरीयम् २०१
विनिकषणरणत्कठोरदंष्ट्रा २०८
विनिर्वेतुं शक्यः ११६, २७२
विरम विरम वह्ने २०४
विरोधो विश्रान्तः प्रसरति ४८
विवृण्वती शैलसुतापि २२८
विसृज सुन्दरि १३३
विस्तारी स्तनभार एष- ९७
वृद्धास्ते न विचारणीय- ४७
वृद्धोऽन्धः पतिरेष मञ्चक- १८९
वैव इसेभदवदनी १८२
व्यक्तिर्व्यञ्जनधातुना २५४
व्याहृता प्रतिवचो न २६१
शठाऽन्यस्याः काञ्चीमणि- ८६
शब्दप्रयोगसुरलीकलहे १३५
शस्त्रमेतत्समुत्सृज्य २८०
शास्त्रेषु निष्ठा सहजश्च ११७
शिरामुखैः स्यन्दत एव ७१, ९५
शीतांशुर्मुखमुत्पले ३९
शोकं स्त्रीवन्नयनसलिलैः ५२
श्रीरेषा पाणिरप्यस्याः ३३
श्रीहर्षो निपुणः कविः १४६
श्रुताप्सरोगीतिरपि ११८
श्रुत्वायातं बहिः कान्तम् ९२,
श्लाघ्याशेषतनुं सुदर्शनकरः २१८
सकलरिपुजयाशा ५४, १५३
सखि स विजितो वीणा ११२
सचं जाणइ दट्ठं सरि ११७
सच्छिन्नबन्धद्रुतयुग्यशून्यम् २०४
सततमनिवृतमानसम् १५७
सद्यश्छिन्नशिरः १८८
सन्तः सच्चरितोदयव्यसनिनः १५७
सम्भ्रमं करकिसलया १२८
समारूढा प्रीतिः ३९
संप्राप्तेऽवधिवासरे ११५
सरसिजमनुविद्धम् १२२
सव्याजं तिलकालकान् १२७
सव्याजैः शपथैः प्रियेण ४८
सहभृत्यगणं सबान्धवम् २६
सहसा विदधीत न क्रियाम् २००
सालोए चिअ सूरे ११२
सुधाबद्धग्रासैरुपवनचकोरैः २६१
सुभ्रु त्वं नवनीतकल्पहृदया २६४
स्तनतटमिदमुत्तुङ्गम् १०३
स्तनावालोक्य तन्वङ्ग्याः २६०
स्तिमितविकसितानाम् २५८
स्नाता तिष्ठति कुन्तलेश्वरसुता ८८
स्पृष्टस्त्वयैव दयिते २०२
स्फूर्जद्वज्रसहस्रनिर्मित- ७४, ९१
स्मरदवथुनिमित्तं गूढम् १२६
स्मरनवनदीपूरेणोढा १००
स्मरसि सुतनु तस्मिन् २५३
स्मितज्योत्स्नाभिस्ते २६६
स्वगेहात्पन्थानं तत- २८०
स्वसुखनिरभिलाषः ८०
स्वेदाम्भः कणिकाश्रिते १०२
हंस प्रयच्छ मे कान्ताम् १५६
हरस्तु किञ्चित्परिलुप्तधैर्यः ११९
हर्म्याणां हेमशृङ्गश्रियमिव ४७
हसितमविचारमुग्धं ९६
हस्तैरन्तर्निहितवचनैः २५४
हावहारि हसितं वचनानाम् ११६
हृन्मर्मभेदिपतदुत्कटकङ्क- ११६
हेरम्बदन्तमुसलोल्लिखितैक- १३६
होन्तपहिअस्स जाआ २६९
ह्रिया सर्वस्यासौ हरति १८६